बिपन चंद्र

आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद

आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद

आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद

बिपन चंद्र

अनुवादक
एन.ए. खान 'शाहिद'

भूमिका

मैंने इन लेखों में आधुनिक भारत के इतिहास की दो प्रमुख घटनाओं—उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद—के कुछ पहलुओं का बारीकी से अध्ययन करने का प्रयास किया है। इन लेखों को एक खोज के रूप में लिखा गया है और ये दोनों विषयों के विस्तृत अध्ययन में प्रारंभिक रेखाचित्रों के रूप में कार्य करेंगे। इन में किसी प्रकार के सुनिश्चित अथवा पूर्ण उत्तर देने का दावा भी नहीं किया गया है। यदि वे पाठक को यह महसूस कराने में सफल होते हैं कि जो प्रश्न उठाए गए हैं, वे महत्वपूर्ण हैं और जो पद्धति अपनाई गई है वह सफल है तो मेरा उद्देश्य सार्थक हो जाएगा। ये लेख इस विश्वास पर भी आधारित हैं कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों, राजनीतिक विकासों और बौद्धिक प्रयासों का अध्ययन तब ही अर्थपूर्ण हो सकता है जब उनका एक साथ पारस्परिक अंतर्संबंधों की दृष्टि से अध्ययन किया जाए। राजनीति, अर्थशास्त्र और विचारधारा के मध्य, राज्य की संरचना, सरकारी नीति और आर्थिक उद्देश्यों के बीच और किसी अंदोलन के सामाजिक आधार, उसके लक्ष्यों, विचारों और इसके नेतृत्व के मध्य जो निकट संबंध है, वह किसी अन्य विषय के अध्ययन से इतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के अध्ययन से।

इस विषय में एक नई पद्धति की जरूरत इसलिए भी है क्योंकि लगभग पिछले 150 वर्षों से दोनों विषय-वस्तुओं के लेखन पर इतिहास लेखन की औपनिवेशिक विचारधारा का प्रभुत्व रहा है। इससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ा है कि अधिकांश लेखक भारतीय ही रहे हैं। जहां तक राष्ट्रवाद के अध्ययन का संबंध था, इस विचारधारा के विरोध में एक छोटी सी विचारधारा अवश्य विकसित हुई, लेकिन उसमें भी या तो राष्ट्रीय नेतृत्व का गुणगान किया गया या फिर उसने स्वयं को आंदोलन के प्रमुख नेताओं के राजनीतिक विचारों और गतिविधियों के अध्ययन तक ही सीमित रखा। आंदोलन के सामाजिक चरित्र, उसकी उत्पत्ति और विकास की अवस्थाओं, सामाजिक समर्थन और लोकप्रिय भागीदारी की प्रकृति, तैयार किए गए अथवा प्रयोग किए गए दांवपेचों और रणनीतियों और यहां तक कि उसके वास्तविक बौद्धिक इतिहास का भी उपयुक्त ढंग से अध्ययन नहीं किया गया। इसमें संदेह नहीं है कि इसके कुछ अपवाद भी रहे हैं, उदाहरण के लिए, ए.आर. देसाई, आर. पाम दत्त और 1920 और 1930 के दशक में अन्य अर्थशास्त्रियों की रचनाएं। परंतु, पिछले कुछ वर्षों से ही कुछ भारतीय, सोवियत और जापानी विद्वानों ने एक अलग प्रकार के प्रश्न पूछना आरंभ किया है। ब्रिटिश और अमरीकी विद्वानों ने भी नई और लाभकारी रचनाएं लिखी हैं। दुर्भाग्य से, इनमें से अधिकांश में उपनिवेशवाद की असलियत की अनदेखी

करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और इसलिए उनमें राष्ट्रीय आंदोलन का सही विश्लेषण नहीं किया जाता।

भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों में विकासात्मक प्रक्रियाओं को आरंभ करने, विकास की उपलब्ध रणनीतियों में से सही रणनीति का चयन करने और इस प्रकार उनके पिछड़ेपन के कारणों का अध्ययन करने के लिए उपनिवेशवाद के अध्ययन की जरूरत महसूस की गई। अकसर इन देशों में विकास के अवरोधों को पूंजीवाद-पूर्व, उपनिवेशवाद-पूर्व अथवा पारंपरिक पिछड़ेपन के अवशेषों के रूप में देखा जाता है। इन अवरोधों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते समय भी, उसमें उपनिवेशवाद की भूमिका को शामिल नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त दूसरे महायुद्ध के बाद के काल में लिखी गई इतिहास और अर्थशास्त्र की रचनाओं में उपनिवेशवाद के नए समर्थक सामने आए हैं। इनमें से कुछ लेखकों ने उपनिवेशवाद को आधुनिकीकरण के एक प्रयास के रूप में चित्रित किया है, जो अतीत के बोझ, और पारंपरिक पिछड़ेपन के कारण सफल नहीं हो सका (दूसरा निबंध उन्नीसवीं सदी के भारतीय आर्थिक इतिहास की पुनर्व्याख्या इनमें से एक लेखक, मौरिस डी. मौरिस के विचारों की समीक्षा करता है)। इसी प्रकार, दूसरे लेखकों ने औपनिवेशिक युग को आधुनिकता से पूर्व के संक्रमण काल के रूप में देखा है।

इसमें संदेह नहीं है कि औपनिवेशिक काल में भारत में आधारभूत परिवर्तन हुए। और इसी वजह से, राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात उनने जिन प्रारंभिक परिस्थितियों में विकास की प्रक्रिया आरंभ की, वे उपनिवेशवाद-पूर्व की परिस्थितियों से भिन्न थी। वे वास्तव में, औपनिवेशिक युग की देन थीं। इसलिए, विकास की किसी भी अर्थपूर्ण रणनीति को उपनिवेशवाद के तंत्र की एक संपूर्ण समझ के साथ-साथ इस बोध पर भी आधारित होना चाहिए कि इस तंत्र को प्रतिस्थापित करने के लिए कौन सी नीति अपनाई जाए। प्रथम लेख *उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण में उपनिवेशवाद की संरचना* और विभिन्न अवस्थाओं में इस संरचना की उत्पत्ति की बात कही गई है और यह सुझाव दिया गया है कि आधुनिक भारतीय इतिहास का अध्ययन करन के लिए यह पद्धति एक अधिक उपयोगी ढांचा प्रदान करती है। विद्वानों ने इस दिशा में अपने प्रयास आरंभ कर दिए हैं। परंतु, इस संरचना को पूर्ण रूप से समझने और उन विविध रास्तों और संबंधों, जिनके माध्यम से इस संरचना को गति मिली, को जानने के लिए आवश्यक बौद्धिक साधन उपलब्ध नहीं हैं। तथापि, हमें यह मानना होगा कि औपनिवेशिक हितों, नीतियों, राज्य और उसकी संस्थाओं, संस्कृति और समाज, विचार और विचारधाराओं और व्यक्तित्वों को औपनिवेशिक संरचना की सीमाओं के अंदर ही देखा जाना है, क्योंकि उनके अंतर्संबंधों में ही औपनिवेशिक संरचना की परिभाषा निहित है।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्ध-भाग में प्रारंभिक राष्ट्रवादियों और साम्राज्यवादी

लेखकों तथा प्रशासकों ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति और औपनिवेशिक नीतियों, और आर्थिक विकास की उचित परिभाषा और रणनीतियों पर गहराई से चर्चा की। तीसरा लेख *भारतीय आर्थिक विकास पर ब्रिटिश और भारतीय विचार– 1858-1905* इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि एक आदर्श उपनिवेश के रूप में भारत का रूपांतरण आधुनिकीकरण, आर्थिक विकास, और जहां भी आवश्यक हुआ, विदेशी पूंजी की सहायता से उद्योग और कृषि में पूंजीवाद के प्रतिरोपण के नाम से किया गया। राष्ट्रवादी लेखकों ने विकास के समकालीन औपनिवेशिक सिद्धांतों की गहन समीक्षा की और उपनिवेशवाद के प्रति पहली बार एक संपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। निश्चित रूप से राष्ट्रवादी समीक्षा अपने आप में एक महत्वपूर्ण कदम थी और यदि उसे आगे विकसित किया जाता तो उपनिवेशवाद और आर्थिक विकास का एक अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता था। यह भी सत्य है कि आज वह समीक्षा पर्याप्त नहीं है। आज उसे आगे बढ़ाने की जरूरत है। इसके लिए औपनिवेशिक इतिहास लेखन अथवा अर्थशास्त्रीय लेखन की दिशा में पीछे लौटने की जरूरत नहीं है।

चौथे निबंध *प्रारंभिक राष्ट्रवादी गतिविधि में निरंतरता और परिवर्तन के तत्व* में मैंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बुनियादी तत्वों, विशेषकर, 'दबाव-समझौता-दबाव' की रणनीति और एक दीर्घयुगीय चरणाबद्ध विकास पर विचार किया है। विभिन्न चरणों में आंदोलन के सामाजिक चरित्र पर भी चर्चा की गई है।

भारतीय सामाजिक विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता, जो इसे दूसरे औपनिवेशिक देशों के विकास से अलग करती है, वह एक आत्मनिर्भर पूंजीवादी वर्ग का उदय और विकास है, जो ब्रिटिश पूंजी के एक अधीनस्थ अथवा एक एजेंट के रूप में विकसित नहीं हुआ। इसके राष्ट्रीय आंदोलन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने थे। एक ओर तो, विशेषकर 1918 के पश्चात, आंदोलन को इस शाक्तिशाली वर्ग का समर्थन मिला, और दूसरी ओर इसने राष्ट्रीय नेतृत्व में रूढ़िवादी तत्वों को दृढ़ता प्रदान की और पी.सी.पी. रणनीति अथवा साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के गैर-क्रांतिकारी मार्ग को प्रधानता मिली। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय आंदोलन को सामने रख कर 'भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद-1947 से पूर्व' और 'जवाहरलाल नेहरू और पूंजीपति वर्ग, 1936' निबंधों में पूंजीपति वर्ग की भूमिका पर चर्चा की गई है। दूसरे निबंध में यह बताया गया है कि आंदोलन की मूल रणनीति के प्रश्न पर राष्ट्रीय नेतृत्व के अंदर वामपंथी चुनौती को रोकने का इस वर्ग के नेतृत्व ने सफल प्रयास किया। राष्ट्रीय आंदोलन के मौलिक साम्राज्य-विरोध और पूंजीपति वर्ग के प्रत्यक्ष विदेशी नियंत्रण से मुक्ति का सामान्य रूप से, 1947 के बाद के सामाजिक विकास पर और विशेष रूप से, साम्राज्यवाद के प्रति सरकारी नीति पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ना था। इस पक्ष की 'आधुनिक भारत और साम्राज्यवाद' शीर्षक के अंतर्गत संक्षेप में चर्चा की गई है।

जबकि राष्ट्रीय आंदोलन का एक उपयुक्त सामाजिक अथवा वर्ग विश्लेषण अभी होना है, फिर भी आरंभ से ही एक छोटा रास्ता अपना कर यह बताने की प्रवृत्ति रही है कि राष्ट्रवाद 'मध्यम वर्गों' अथवा संभ्रांत वर्गों का एक षड्यंत्र था, और इन वर्गों ने उसे अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया। 1884 से 1886 के बीच रहे वायसराय, डफरिन ने इस धारणा को फैलाया। उसके कथनों की 'लार्ड डफरिन और भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व का चरित्र' लेख में समीक्षा की गई है। '1920 के दशक में उत्तरी भारत में क्रांतिकारी आतंकवादियों का वैचारिक विकास', 'लेनिन और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन' और 'जवाहरलाल नेहरू और पूंजीपति वर्ग' 1936 में, मैंने राष्ट्रीय संघर्ष की वैकल्पिक विचारधाराओं और रास्तों के विकास पर चर्चा की है, जो विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में सफल नहीं हो सके।

बीसवीं सदी के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की एक प्रमुख कमजोरी यह थी कि अपने धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के बावजूद वह विभाजनकारी सांप्रदायिक तत्वों के विरुद्ध संघर्ष करने में असफल रहा। 'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और सांप्रदायिक समस्या' पर लिखे गए निबंध में इस असफलता के कुछ कारणों पर विचार किया गया है।

1947 से पूर्व राष्ट्रवादी नेतृत्व को जिस प्रमुख समस्या का सामना करना पड़ा वह राष्ट्र और राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसानों का एकीकरण था। जिस ढंग से इस कार्य को करने का प्रयास किया गया उस पर 'समकालीन भारत में कृषक-वर्ग और राष्ट्रीय एकीकरण' में विचार किया गया है। इस लेख में इन समस्याओं पर भी विचार किया गया है जो 1947 के बाद किसानों के बीच भारी असमानता के कारण किसान आंदोलनों का गहन अध्ययन करने वालों के सामने आई।

तिलक की राजनीतिक भूमिका के कुछ पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए प्रधान और भागवत द्वारा लिखित तिलक की जीवनी को भी शामिल किया गया है। इन पहलुओं के संबंध में बहुत भ्रम हैं। दूसरे, वैरिंगटन मूर की रचना 'सोशल आरीजिन आफ डिक्टेटरशिप एंड डेमोक्रेसी' की भी समीक्षा की गई है। मूर की पुस्तक उन समाजशास्त्रियों की असफलता पर एक टिप्पणी है, जो अच्छा इरादा रखने के बावजूद भारत, चीन और अन्य उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में उपनिवेशवाद की ऐतिहासिक भूमिका को नहीं समझ सके हैं।

इन वर्षों में अनेक मित्रों और विद्यार्थियों ने मेरी सहायता की और विभिन्न अवस्थाओं के दौरान मैंने इन लेखों पर उनके साथ चर्चा की। उनमें रोमिला थापर, मोहित सेन, रणधीर सिंह और हरबंस मुखिया ने लेखों की रूपरेखा को पढ़कर अपने बहुमूल्य सुझाव दिए।

मेरी पत्नी, उषा ने इन लेखों को प्रत्येक रूप में पढ़ा, उनमें सुधार किए और प्रत्येक अवस्था में मेरी सहायता की।

बिपन चंद्र

अनुक्रम

अध्याय एक

उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण

पिछले तेईस वर्षों में शैक्षिक और गैर-शैक्षिक क्षेत्रों में इस विषय पर काफी विस्तार से बहस हुई है और इसमें काफी रुचि भी ली गई है कि भारत को आर्थिक अविकास की वर्तमान स्थिति से किस प्रकार बाहर निकाला जाए। अन्य समाजशास्त्रियों के साथ-साथ इतिहासकारों ने भी इस बहस में अपना योगदान दिया है। हालांकि इतिहासकारों के रूप में हम हमेशा ऐसी स्थिति में नहीं होते कि वर्तमान कठिनाइयों को दूर करने के उपाय बता सकें, फिर भी जो लोग वर्तमान के निर्माण में लगे हुए हैं, हम उन्हें यह बता सकते हैं कि इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई और इसमें क्या संभावनाएं निहित हैं।

आज ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विकास की समस्या को देखने की आवश्यकता सारे विश्व में व्यापक रूप से महसूस किया जा रहा है। इस संबंध में आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन का महत्व इस वजह से और भी अधिक है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के आर्थिक विकास (पूंजीवादी अथवा समाजवादी) की प्रक्रिया और स्वरूप एक बड़ी हद तक, विरासत में मिले हुए ढांचे पर निर्भर करते हैं। अथवा विरासत में मिले अविकास के ढांचे अथवा आर्थिक विकास की उन रणनीतियों और नीतियों पर निर्भर करते हैं जो विरासत में मिले ढांचे से प्रभावित होती हैं। इतिहासकारों के नाते हमें यह प्रश्न पूछने होंगे : वे कौन सी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक शक्तियां थीं, जिन्होंने 1947 से पूर्व आर्थिक विकास को अवरुद्ध किया? वे किस प्रकार उत्पन्न हुए अथवा विकसित किए गए। उनका अंतर्संबंध क्या था? दूसरे शब्दों में, उनका इतिहास क्या था?[1] इसलिए, भारत के विकास के लिए नीतियां और कार्यक्रम निर्मित करने से पूर्व उसके अविकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना जरूरी है।

तथापि, यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि दूसरे महायुद्ध के पश्चात अविकसित देशों, जिनमें भारत भी है, की आर्थिक विकास की समस्या पर अर्थशास्त्रियों और आर्थिक इतिहासकारों में जो गहरी बहस हुई, उसने आरंभ से ही लगभग एक गैर-ऐतिहासिक मोड़ ले लिया। इस बहस में स्वतंत्रता के समय की भारत की स्थिति को उन देशों के पूंजीवाद-पूर्व और औद्योगीकरण पूर्व की स्थितियों के समतुल्य मानने की प्रवृत्ति रही, जो आज आर्थिक रूप से विकसित हैं। इसका अर्थ यह था कि भारत का अविकास अपने चरित्र से पारंपरिक था अथवा ब्रिटिश शासन से पूर्व पारंपरिक अतीत का एक अवशेष था। आधारभूत मान्यता यह है कि आज के विकसित पूंजीवादी

देश भी कभी आज के भारत के तरह अविकसित और पिछड़े हुए थे। फिर यह घोषित किया जाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण का मुख्य लक्ष्य होना है और सफल उदाहरणों का अनुसरण करना है। वास्तव में, कुछ लेखक यह सुझाव देते हैं कि औपनिवेशिक शासकों ने भारत को आधुनिक बनाने का प्रयत्न तो किया, परंतु परंपराओं का नियंत्रण होने के कारण उन्हें बहुत कम सफलता मिली। इनका मानना है कि यह असफलता राष्ट्रवाद के उदय और अंत में आजादी की ओर ले गई। वे कहते हैं कि अब भारत सरकार ब्रिटिशों द्वारा अधूरा छोड़े हुए आधुनिकीकरण के कार्य को पूरा करने में लगी हुई है। इसलिए यह कहा जाता है कि आज भारत आधुनिकता से पहले के संक्रमण की स्थिति में है।

कभी-कभी दोनों स्थितियों के अंतर का अनुभव किया जाता है, परंतु संरचनात्मक अंतर की पहचान नहीं की जाती और यह माना जाता है कि इतिहास के साथ उनका संबंध अधिक नहीं है। प्रति व्यक्ति आय अथवा भूमि–मनुष्य के अनुपात के अंतर को आकस्मिक, परिस्थितिवश अथवा 'आधुनिकता-पूर्व' के अंतर माना जाता है। ये अंतर केवल मात्रात्मक हैं और वे पिछड़ेपन की गहराई का प्रदर्शन करते हैं, वे किसी प्रारूप के अथवा संरचनात्मक अथवा 'गुणात्मक' अंतर नहीं हैं।[2] इसके फलस्वरूप, इस विषय पर लिखे गए अधिकांश साहित्य में भारत को एक पूंजीवाद-पूर्व, अथवा औद्योगीकरण-पूर्व, अथवा पारंपरिक, और ज्यादा से ज्यादा एक दोहरे चरित्र वाला समाज माना गया है, जो आंशिक रूप से पारंपरिक और आधुनिक है और इस कारण 'अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' के साथ जिसके संबंध कमजोर थे।

वास्तव में, यह धारणा बुनियादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से गलत है। क्योंकि 1947 से पूर्व का भारत पूंजीवाद-पूर्व का अथवा पारंपरिक अथवा दोहरे चरित्र वाला देश था। यह मान लेना भी एक ऐतिहासिक गलती है कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत परिवर्तन की प्रक्रिया से नहीं गुजरा अथवा वह बुनियादी तौर पर परंपरावादी ही रहा। 18वीं शताब्दी के मध्य से और विशेषकर 19वीं शताब्दी के आरंभ से ही भारत का संसार के आधुनिक पूंजीवाद के साथ धीरे-धीरे एकीकरण हुआ, हालांकि उसकी स्थिति एक अधीनस्थ, औपनिवेशिक देश की थी।

इस प्रकार भारत ब्रिटिश शासन के अंतर्गत मुगल काल के भारत जैसा नहीं था, और न ही उसका पिछड़ापन मुगल काल के पिछड़ेपन जैसा था क्योंकि आजादी और मुगल काल के इस अंतराल में वह औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की एक लंबी प्रक्रिया से होकर गुजरा।[3] न ही उसकी स्थिति आज के विकसित देशों की पूंजीवाद-पूर्व की स्थिति जैसी थी, क्योंकि इन देशों को भारत जैसी औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ा। वह औद्योगीकरण से पूर्व का देश भी नहीं था, क्योंकि उसने औद्योगिक पूंजीवाद के पूर्ण प्रभाव को महसूस किया था, हालांकि इस प्रक्रिया में उसका औद्योगीकरण नहीं हुआ था। इसके अलावा, उसका अपना एक औद्योगिक

पूंजीपति वर्ग भी था। यहां इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारत में उपनिवेशवाद ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद जैसी ही एक आधुनिक ऐतिहासिक घटना था—वास्तव में, दोनों साथ-साथ ही विकसित हुए।[4] इसके अतिरिक्त, औपनिवेशिक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व के पूंजीवाद का एक अंग थीं, इसे (विश्वीय पूंजीवाद को) एक विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में लिया जाना चाहिए, क्योंकि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्थाएं इसी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग थीं। वह ऐतिहासिक प्रक्रिया जो इस औपनिवेशिक एकीकरण अथवा आधुनिकीकरण के इस स्वरूप की ओर ले गई, वे ही, यदि आंद्रे, गुंडर फ्रेंक के संक्षिप्त और सारगर्भित वाक्यांश का प्रयोग किया जाए तो, "भारत को उसके विकास अथवा 'अविकास के विकास' की ओर ले गई।"

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है, "यदि भारत पर औपनिवेशिक शासन न होता तो क्या भारत का विकास अधिक हो सकता था?" ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है, परंतु वर्तमान संदर्भ में इसकी उपयुक्तता नहीं है।[5] यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि मुगल काल में पूंजीवाद का स्वतंत्र विकास क्यों नहीं हुआ बल्कि यह है कि जब उस समय के सर्वाधिक विकसित औद्योगिक राष्ट्र ने लगभग 200 वर्षों तक भारत पर शासन किया तब पूंजीवाद का विकास क्यों नहीं हुआ। वास्तव में, औद्योगिक क्रांति केवल एक ही देश में हुई, दूसरे देशों को उसके 'सृजन' करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्होंने केवल उसे 'उधार' ले लिया। यह प्रश्न इतिहासकारों के लिए और भी प्रासंगिक है क्योंकि इस चरण में ब्रिटिश शासकों को किसी प्रकार का भ्रम नहीं था, जैसा कि मैंने पहले ही संकेत दिया है।[6] विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ भारत का एकीकरण, एक आदर्श उपनिवेश और एक आदर्श अविकसित देश के रूप में उसका रूपांतरण, आधुनिकीकरण, आर्थिक विकास और पूंजीवाद के प्रतिरोपण के आधार पर 19वीं शताब्दी के दौरान हुआ था।[7]

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था को एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत करने की गलती का आधार यह विश्वास है कि ब्रिटिश शासन के तहत भारत आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से पिछड़ा हुआ था और इसीलिए वह गैर-आधुनिक परंपरावादी और पूंजीवाद-पूर्व का देश था। परंतु पिछड़ेपन की ये विशेषताएं केवल परंपरागत भारतीय समाज तक ही सीमित नहीं रखी गईं, जो कि मुगल काल के उत्कर्ष के समय समकालीन मापदंडों के आधार पर काफी विकसित था। ये विशेषताएं एक आधुनिक साम्राज्यी राज्य के एक आधुनिक उपनिवेश की भी विशेषताएं हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के पिछड़े पहलू भारतीय इतिहास के समृद्धि के दौर के अवशेष न होकर आधुनिक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के सुनियोजित एवं सुगठित अंग थे। देश का आधुनिकीकरण करने में देशीय भारतीय पूंजीवाद की अक्षमता का भी यह अर्थ नहीं था कि वह परंपरावादी था और उस पर परंपराएं हावी थीं, बल्कि इसका अर्थ यह था कि यह अक्षमता

भी स्वयं उपनिवेशवाद की उसी प्रक्रिया का उत्पाद थी, जिसने भारत में पूंजीवाद को जनम दिया था।

मूल तथ्य यह है कि जिस सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रिया से ब्रिटेन का औद्योगिक विकास और सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई थी, उसी प्रक्रिया ने भारत अर्थात इस उपनिवेश में आर्थिक अविकास और सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को जनम दिया और उन्हें कायम रखा। दोनों देश एक दूसरे से जुड़े हुए थे और वे लगभग दो सदियों तक एक सामान्य, एकीकृत विश्वीय आर्थिक व्यवस्था में भागीदार रहे, परंतु इसके जो निष्कर्ष सामने आए वे पूर्णतया असमान और परस्पर विपरीत थे। वे न तो आकस्मिक थे और न ही किसी ब्रिटिश वायसराय अथवा दूसरे व्यक्ति की शत्रुता, अथवा भारतीयों या संस्थाओं की किसी विशेष मूर्खता अथवा ऐतिहासिक प्रवृत्ति का परिणाम थे। पूंजीवाद का यह असमान विकास—एक भाग का विकास और दूसरे का अविकास और व्यवस्था के विकास के लाभों का असमान वितरण—आधुनिक पूंजीवाद की एक बुनियादी विशेषता रहा है। आरंभ से ही, पूंजीवाद का विकास उपनिवेशों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति को अवरुद्ध करके ही हुआ है—उन देशों की प्रगति को अवरुद्ध करके जो उसके विकास में सहायक रहे हैं। इसलिए यह कोई आकस्मिक और न ही कोई असाधारण ऐतिहासिक घटना थी कि पूंजीवाद से किसी भी प्रकार से लाभान्वित हुए बिना अथवा औद्योगिक क्रांति में भागीदारी किए बिना भारत का विश्वीय-पूंजीवाद के साथ एकीकरण हो गया। उसका आधुनिकीकरण और अविकास साथ-साथ शुरू हुए।

वास्तव में यदि संकीर्ण दृष्टि से न देखकर अविकास अथवा पिछड़ेपन और विकास की संभावनाओं का निर्धारण किया जाता है तो वह इसी आधार पर होना चाहिए कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना (जिसमें बाद में बौद्धिक विकास के प्रतिमानों को भी शामिल कर लिया जाता है) के मद्देनजर एकीकरण और औपनिवेशिक आधुनिकीकरण का स्तर क्या था। इसका यह भी अर्थ है कि विकास की क्षमता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था में औपनिवेशिक स्वरूप का एकीकरण किस हद तक भंग होता है। संभवतः इन्हीं दोनों कारणों से एक आदर्श अपनिवेश, आजादी की पूर्वसंध्या पर औपनिवेशिक देशों में सर्वाधिक विकसित देश, भारत ने 'शांतिपूर्ण ढंग' से स्वतंत्रता प्राप्त करने की वजह से पूर्व तथा नए औद्योगिक केंद्रों से अपने 'मैत्रीपूर्ण' संबंधों को कायम रखा और उसे एक औद्योगिक क्रांति को जारी रखने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। भारत की तुलना में एक अर्ध-औपनिवेशिक देश चीन, जो कि कम विकसित था और जिसका विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ पूर्णरूप से एकीकरण भी नहीं हुआ था, औद्योगिक क्रांति जारी रखने में सफल रहा।[8] और 1949 में वह (चीन) विश्व की पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्णतया अलग हो गया और उसने समाजवादी मार्ग पर चलने

का निर्णय कर लिया।

इसलिए मैं यहां यह सुझाव देना चाहूंगा कि जैसा कि ऊपर कहा गया है आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन का तरीका, अर्थात, विभिन्न चरणों द्वारा उसकी आधुनिक औपनिवेशिक संरचना की उत्पत्ति की प्रक्रिया और विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ उसके एकीकरण और उन शक्तियों के उदय का अध्ययन जो इस संरचना के विरोध में वजूद में आए, सामान्य रूप से ऐतिहासिक शोध और विशेष रूप से भारत के अविकास की प्रकृति और उसकी ऐतिहासिक जड़ों को समझने में अत्यंत लाभप्रद सिद्ध होगा।

विकास के संबंध में अपनाई जाने वाली वर्तमान रणनीतियों के संदर्भ में इस ढंग से किए गए अध्ययन के अच्छे परिणाम सामने आएंगे। जबकि यूरोपीय पूंजीवाद के लिए पूर्व-परिस्थितियां सामंतवाद और पूंजीवाद से पूर्व समय की देन थी, आज के भारत के लिए पूर्व-परिस्थिति मुगल भारत की नहीं बल्कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और समाज ने प्रदान की है जो कि विश्व पूंजीवाद का अभिन्न अंग थे। दूसरे शब्दों मे, भारत में राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास इस औपनिवेशिक ढांचे में करना होगा न कि पारंपरिक आधुनिकीकरण के ढांचे से।

औपनिवेशिक घटनाक्रम का पूर्ण और विस्तृत विश्लेषण करने के लिए हमारे वर्तमान ऐतिहासिक संसाधन पर्याप्त नहीं हैं। परंतु, इस पद्धति से हमें, कम से कम सही प्रश्नों को पूछने में सहायता मिलेगी। 19वीं शताब्दी के राष्ट्रवादी भारतीय लेखकों, जैसे दादा भाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे, जी.वी. जोशी और आर.सी. दत्त ने इस पद्धति की बुनियाद डाली। आधुनिक बौद्धिक और राजनीतिक इतिहास में वे ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम औपनिवेशिक रूपांतरण के संबंध में ऐसा व्यापक दृष्टिकोण अपनाया।[9] 1940 के दशक में आर. पाम दत्त ने औपनिवेशिक भारत के अध्ययन के लिए एक व्यापक विश्लेषणात्मक ढांचे को और आगे विकसित किया।[10] तथापि, उस ढांचे को आगे विकसित करने अथवा आनुभविक और विश्लेषणात्मक अध्ययन के द्वारा उसमें परिवर्तन करने के बजाए 1947 के पश्चात भारतीय विद्वानों ने इस ढांचे की बड़ी तेजी से अनदखी की।

मैं यहां यह सुझाव नहीं दे रहा हूं कि भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के आंतरिक ढांचे और संस्थाओं और सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के विकास का ऐतिहासिक और समकालीन विकासात्मक दृष्टिकोण से कोई महत्व नहीं है। तथापि यह विकास साम्राज्यवाद के साथ निरंतर प्रभाव और उसके प्रभुत्व के कारण नहीं हुआ, बल्कि वह उपनिवेशवाद के विकास का एक अभिन्न अंग था, और उपनिवेशवाद के ढांचे को सही रूप से समझे बिना उसका उपयुक्त तरीके से अध्ययन नहीं किया जा सकता।[11] वास्तव में समाज की आंतरिक संरचना पर औपनिवेशिक ढांचे का प्रभुत्व था। और सबसे ज्यादा हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपनिवेशवाद ही—

हालांकि वह विकास के रास्ते की अकेली अड़चन नहीं था—पिछली दो शताब्दियों में इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध बना। दूसरे शब्दों में, औपनिवेशिक ढांचे को उखाड़ फेंकना, अर्थात औपनिवेशिक तत्वों के बिना अर्थव्यवस्था और समाज का पुनर्गठन, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए एक अनिवार्य शर्त थी, हालांकि वह पर्याप्त नहीं थी।

हम यह सुझाव भी नहीं देते कि आधुनिक भारतीय इतिहास की सभी समस्याओं पर विचार करते समय उपनिवेशवाद के विश्लेषण पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना चाहिए अथवा प्रत्येक संदर्भ में उसे शामिल किया जाना चाहिए। हमारा सुझाव यह है कि उस काल पर किए जाने-वाले ऐतिहासिक अध्ययन में उसे निरंतर एक पृष्ठभूमि के रूप में लिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक प्रमुख विकास उपनिवेशवाद के ढांचे के अंतर्गत ही हुआ। वर्तमान इतिहास की किसी भी प्रमुख समस्या पर विचार करते समय हम उपनिवेशवाद की भूमिका की अनदेखी नहीं कर सकते। अन्यथा, इसके फलस्वरूप हमारे यहां उसी प्रकार का शोधकार्य होता रहेगा जैसा कि हाल के वर्षो में होता रहा है। जिनमें रूढ़िवाद, उदारवाद, परिवर्तनवाद, राष्ट्रवाद और सभी प्रकार के 'आधुनिकीकरण' के विचारों और विचारधाराओं को प्रशासनिक नीति और राजनीतिक गतिविधि से सिद्धांतों के रूप में लिया गया है।

वास्तव में उपनिवेशवाद के अध्ययन में आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रत्येक क्षेत्र को शामिल करना होगा। औपनिवेशिक आधुनिकीकरण में न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था बल्कि सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक जीवन-शैलियां भी शामिल हैं। उसमें एक संपूर्ण संसार लुप्त हो गया, एक संपूर्ण सामाजिक ढांचा खो गया। एक नया सामाजिक ढांचा वजूद में आया जो अपने जनम के समय से ही स्थिर और पतनशील था। एक जाने-पहचाने वाक्यांश के उदाहरण द्वारा यह कहा जा सकता है कि भारत को पूरी तरह से एक औपनिवेशिक "सांस्कृतिक क्रांति" की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। तथापि, आंशिक रूप से समय और स्थान की अवश्यकताओं और बौद्धिक सुविधा और आंशिक रूप से, जैसा कि फर्नीवल ने कहा, "औपनिवेशिक संबंध मुख्यतः आर्थिक होते हैं" के मद्देनजर मैंने स्वयं को उपनिवेशवाद के कुछ आर्थिक पहलुओं तक ही सीमित रखा है। परंतु, भारतीय समाज की औपनिवेशिक संरचना के दूसरे पहलुओं पर भी इसी प्रकार के विश्लेषण को लागू किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए, मैं यहां गैर-आर्थिक क्षेत्रों में कुछ दिलचस्प समस्याओं का हवाला दे सकता हूं, जिन पर आज भी शोध और विश्लेषण की आवश्यकता है। एक नई प्रतिष्ठा व्यवस्था अथवा विरासती "सफलता की सीढ़ी" प्रशासनिक मशीनरी की भ्रष्टाचार पर आधारित संरचना और सामान्य व्यक्तियों के प्रति, अवहेलना, शत्रुता और दमनकारी रवैया, पुरानी वफादारियों और मूल्यों का विघटन जो हमें बड़ी तेजी से सामाजिक संकीर्णता और आदर्शहीनता की ओर ले गया है, एक ऐसे बुद्धिजीवी

वर्ग का उदय जो एक ओर तो औपनिवेशिक समाज में आशा की एक किरण और उसके पुनर्गठन का पक्षधर था और दूसरी ओर उसने अर्थव्यवस्था और राजनीति के क्षेत्र में उसके विरुद्ध संघर्ष करते हुए बौद्धिक क्षेत्र में उसका अनुगामी बनना स्वीकार किया।

वास्तविकता यह है कि गैर-आर्थिक क्षेत्रों में इस प्रकार के विश्लेषण की संभवतः अधिक आवश्यकता है, जहां परंपरा की अपेक्षा आधुनिकीकरण का माडल अधिक सफल हुआ है।

II

यह धारणा कि अतीत में भारत का जितना भी औद्योगिक विकास हुआ वह भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण के फलस्वरूप व्यापार और पूंजी-निवेश के माध्यम से हुआ, इस ऐतिहासिक घटना के कारण खारिज हो जाती है कि भारतीय औद्योगिक विकास में मुख्य प्रगति विशेषकर उन कालों में हुई जब भारत के औपनिवेशिक आर्थिक संबंध विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ अस्थायी रूप से कमजोर हो गए थे अर्थात समाप्त हो गए थे। दूसरी ओर, जब ये संबंध मजबूत हुए तो उनसे पिछड़ेपन और स्थिरता में वृद्धि हुई। भारत के मामले में, 20वीं शताब्दी के दौरान विदेश-व्यापार और विदेशी पूंजी के आगमन में तीन बार कटौती हुई अथवा विघ्न पड़ा, अर्थात, दोनों महायुद्धों और 1929-1934 में भारी मंदी के दौरान। फिर भी प्रत्येक अवसर पर उत्पादन में कमी आने के बजाए उसमें और वृद्धि हुई; वास्तव में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की जड़ें और गहरी हो गई।[12] दूसरी ओर, जैसे ही "अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था" ने संबंधों की पुनर्स्थापना पर जोर डालना शुरू किया, भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपने लाभों के प्रति खतरा महसूस होने लगा और उसने शीघ्र ही राष्ट्रीय आंदोलन को अपना समर्थन देना आरंभ कर दिया, जो उस समय इन संबंधों को तोड़ने के लिए वचनबद्ध हो चुका था।[13]

संक्षेप में, प्रथम महायुद्ध का भारत पर यह प्रभाव पड़ा[14] : 'विकास की गाड़ी के इंजन', विदेशी व्यापार में बड़ी तेजी से कमी आई;[15] इसके फलस्वरूप, देशीय बाजार, हालांकि वह अत्यंत संकुचित था, भारतीय उद्योगों के लिए उपलब्ध हो गया और सरकार पर यह दवाव डाला गया कि वह अपनी सामान्य और युद्ध की आवश्यकताओं के लिए देशीय बाजार से ही माल खरीदे। कृषि-संबंधी उत्पादों के निर्यात में कमी के कारण कच्चे माल की तुलना में निर्मित वस्तुओं की कीमत में काफी वृद्धि हुई।[16] ब्रिटिश पूंजी-आयात की प्रक्रिया में अस्थायी रूप से ढीलापन आ गया। 1919 से 1922 के दौरान असहयोग आंदोलन का उदय हुआ जिसमें स्वदेशी और बहिष्कार के कार्यक्रम भी शामिल थे, जिन्हें हमारे संदर्भ में, विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के

साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के एकीकरण को कमजोर बनाने वाले औजारों के रूप में देखा जाना चाहिए।

इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय पूंजीवाद ने जो कि अन्यथा कमजोर था प्रगति की ओर अपना कदम बढ़ाया। केवल यह ही नहीं बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इसी काल में भारतीय पूंजीवाद की मजबूत बुनियादें रखी गई। परंतु, वह अपनी दूसरी बुनियादी कमियों के कारण इस स्थिति का पूर्ण लाभ नहीं उठा सका, जो ब्रिटिश पूंजीवाद के साथ उसके औपनिवेशिक एकीकरण के कारण उत्पन्न हुई थीं, अर्थात देश में मशीन निर्माण करने वाले उद्योग नहीं थे और वही युद्ध जिसने विकास के अवसर प्रदान किए थे उसी की वजह से मिल की मशीनों और दूसरी वस्तुओं का आयात बंद हो गया।[17] इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के पश्चात औद्योगिक विकास की दबी हुई भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी और भारतीय पूंजीवाद परिस्थिति का पूर्ण लाभ नहीं उठा सका।

भारतीय पूंजीवादी गतिविधि पर युद्ध के प्रमुख प्रभाव को सारणी नं. 1 (पृष्ठ 9) में प्रदर्शित किया गया है।

इन वर्षों में भारतीय पूंजीपतियों ने भी भारी मुनाफा कमाया। उदाहरण के लिए 1915 और 1922 के दौरान सूती वस्त्र उद्योग ने औसतन 53 प्रतिशत लाभांश वितरित किया।

धीरे-धीरे, ब्रिटेन और पूंजीवादी संसार युद्ध के नुकसान से उभरे और इनके साथ भारत के आर्थिक संबंध फिर से कायम हो गए। 1921 के पश्चात विदेश-व्यापार में भी सुधार हुआ[19] और यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि भारतीय उद्योग ने बड़ी मात्रा में ब्रिटिश पूंजी को अपनी ओर आकृष्ट किया।[20] इसके अतिरिक्त भारतीय उद्योग में होने वाले अधिक मुनाफे की वजह से और आयात को प्रोत्साहित करने के लिए रुपए-पाउंड-स्टर्लिंग की विनियम दर भी बढ़ा दी गई। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था का ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण हुआ और उस पर विदेशी प्रभुत्व होने के कारण भारतीय उद्योगों को नुकसान उठाना पड़ा। भारतीय अर्थव्यवस्था में फिर से गतिरोध आने के कारण उसे एक बार फिर "आधुनिक के बजाए संक्रमणकालीन अर्थव्यवस्था" कहा जाने लगा।[21] भारतीय उद्योगों में आए इस गतिरोध को सारणी नं. 2 (पृष्ठ 10) में प्रदर्शित किया गया है।

भारत में पंजीकृत नई कंपनियों की पूंजी के सूचकांक में भी भारी कमी आई।[22]

विशेषकर सूती वस्त्र उद्योग में बहुत अधिक मंदी आई[23] जो कि भारतीय पूंजीपतियों का मुख्य उपक्रम था। उत्पादन में निरंतर वृद्धि होती रही और उसकी क्षमता में भी वृद्धि हुई।[24] इतना होने के बावजूद लाभ में भारी गिरावट आई।[25] इस काल के आरंभ में लोहा और इस्पात उद्योग तो लगभग समाप्ति के निकट पहुंच गए।[26] शुल्कों द्वारा संरक्षण मिलने पर ही उसकी स्थिति में सुधार आया। इस प्रकार

सारणी नं. 1

	1914	1915	1916	1917	1918	1919	1920	1921
मिलें (संख्या)	495	484	482	478	475	619	717	740
मिलें : शेयर पूंजी (करोड़ों में)	309	314	331	353	367	395	485	648
खानें : (संख्या)	207	210	222	240	270	336	366	386
खानें : शेयर पूंजी (करोड़ों में)	123	118	118	124	135	151	167	317
सूती धागा (करोड़ पौंड)	652	723	681	661	615	636	660	694
सूती वस्त्र उत्पाद* (करोड़ पौंड)	277	352	378	381	350	384	368	403
लोहा(000 टन)**	235	242	245	248	247	317	311	368
स्टील (000 टन)**	67	76	93	114	130	134	113	125
कागज (000 टन)	28.7	30.4	31.9	31.9	31.4	30.9	29.4	28.7
सीमेंट (000 टन)	1	18	39	74	84	87	91	133
कोयला (करोड़ टन में)	16.5	17.1	17.3	18.2	20.7	22.6	18.0	19.3
पटसन मिलो में खपत की मात्रा (लाख टन)	24.0	28.1	27.6	26.5	25.0	25.4	27.3	21.20
भारतीय संयुक्त पूंजी बैंकों में जमा राशि (करोड़ रुपए में)	18.36							80.16

स्रोत : शास्त्री, अंतिम पंक्ति को छोड़कर जिसे विमल सी घोष की *ए स्टडी आफ दि इंडियन मनी मार्केट*, 1943, पृ. 17.

*सूती उद्योग की यह शाखा 1910 से 1914 तक लगभग निष्क्रिय रही। प्रतिवर्ष उत्पादन 2460(1910), 2670(1911), 2670 (1912), 2740 (1913), लाख पौंड था, शास्त्री, पृ. 91.

**उद्योग ने पूर्ण क्षमता से कार्य किया. मशीनों के आयात के अभाव में वह संभवतः अधिक विस्तृत नहीं हो पाए. फिर भी उसने बहुत अधिक लाभ कमाया. युद्ध के तुरंत बाद, उद्योग ने उत्पादन-क्षमता विकसित की और वितीय संकट में फंस गया।

सारणी नं. 2

	1921	1922	1923	1924	1925	1926	1927	1928	1929
मिलें(संख्या)	740	755	748	739	738	738	741	754	761
मिलें : शेयर पूंजी (करोड़ रु. में)	748	726	747	742	726	722	714	720	716
खानें :(संख्या)	386	374	364	358	344	338	330	327	335
खानें : शेयर पूंजी (करोड़ रु. में)	317	402	418	416	418	420	400	402	396
सूती धागा (करोड़ पौंड)	694	706	617	719	686	807	809	648	834
सूती वस्त्र उत्पाद (करोड़ पौंड)	403	405	402	459	465	539	568	446	562
कच्चा लोहा*(000 टन)	368	320	490	673	880	920	1140	1052	1392
इस्पात* (000 टन)	125	112	151	248	320	360	429	276	412
कागज(000 टन)	28.7	23.9	26.0	25.7	28.6	32.1	33.9	38.1	40.8
सीमेंट(000 टन)	133	151	244	264	361	388	478	558	561
कोयला(लाख टन)	19.3	19.0	19.7	21.2	20.9	21.0	22.1	22.5	23.4
चीनी(000 टन)	75.4	74.1	94.7	67.4	91.4	120.2	119.8	99.1	111.0
मिलों में पटसन की खपत की मात्रा (लाख मन)	21.2	23.1	25.0	27.6	26.7	26.8	28.2	29.4	31.2
भारतीय संयुक्त पूंजी बैंको में जामा राशि (करोड़ रु. में)	80.2	65.0	47.7	55.2	57.9	63.2	64.3	66.4	66.3

स्रोत : शास्त्री, अंतिम पंक्ति को छोड़कर जो सुब्रामनियम और हाम्फ्रे की *रीसेंट सोशल एंड इकोनामिक ट्रेंड्स इन इंडिया,* 1946 पर आधारित हैं.

*1924 में लोहा और इस्पात उद्योग को शुल्क से सुरक्षा प्रदान की गई.

विश्व पूंजीवाद के साथ फिर से एकीकरण होने के बाद न केवल युद्ध के दौरान आई गति में धीमापन आया बल्कि इस काल में कमाए गए मुनाफे के हाथ से निकल जाने का खतरा भी महसूस होने लगा। इससे भारतीय पूंजीपति वर्ग और विश्व की केंद्र-शक्ति के मध्य अंतर्विरोध और अधिक गहरा हो गया। शक्तिशाली सामूहिक राष्ट्रवादी आंदोलन का मुकाबला करते हुए ब्रिटिश सरकार ने हिचकिचाहटपूर्ण संरक्षण की नीति अपना कर और अन्य रिआयतें देकर भारतीय पूंजीपतियों को प्रसन्न करने का निर्णय किया।

1922-1929 के दौरान जो गतिरोध आया वह 1929-1934 के दौरान आई भारी मंदी से बिलकुल विपरीत था, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आए व्यवधान के कारण स्वर्ण-मानक समाप्त हो गया। एक बार फिर भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश पकड़ ढीली हो गई। भारत के विदेश-व्यापार में बड़ी तेजी से कमी आई और देशीय बाजार, जो अन्यथा संकुचित हो रहा था, भारतीय उद्योगों के लिए उपलब्ध हो गया।[27] विदेशी पूंजी निवेश में कमी आई और 1931 के पश्चात उसका पूर्णतया बहिर्गमन हुआ।[28] विश्व की केंद्र शक्ति के साथ आर्थिक संबंधों में आई गिरावट का एक महत्वपूर्ण परिणाम सामने आया। साम्राज्यी संबंधों से वजूद में आई और विदेशी व्यापार में लगी वाणिज्यिक पूंजी का क्षेत्र अचानक संकुचित हो गया। इसी प्रकार, कृषि में आए संकट के कारण औपनिवेशिक आर्थिक ढांचे से उपजी सूदखोरी के धंधे में लगी पूंजी का क्षेत्र भी संकुचित हो गया। भूमि भी अब पूंजी-निवेश का आकर्षक केंद्र नहीं रही। इसलिए, विश्व की केंद्र शक्ति के साथ संबंधों में आई शिथिलता ने वाणिज्य और सूदखोरी में लगी पूंजी को दूसरे उद्योगों में जाने को विवश कर दिया, हालांकि उन में लाभ की दर कम थी। जब विदेश-व्यापार में पूंजी-निवेश के रास्ते बंद हो गए तो उद्योगपतियों को कमाए गए मुनाफे को पुनः मौजूदा उद्योगों में ही लगाना पड़ा।

शुल्क संबंधी नीति में भी इसी समय एक परिवर्तन हुआ। कृषि से होने वाली आमदनी में आई भारी गिरावट को रोकने के लिए सरकार ने चीनी और सूती वस्त्र उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया, ताकि मंदी से प्रभावित कृषक वर्ग भारत में उदीयमान वामपंथी आंदोलन से न जुड़ जाए। इसी प्रकार, इन उद्योगों के साथ-साथ दूसरे उद्योगों को भी सरकारी संरक्षण प्रदान किया गया ताकि वाणिज्यिक बुर्जुआ वर्ग को राष्ट्रवादी संघर्ष को अधिक सक्रिय समर्थन देने से रोका जा सके।[29] इसके अतिरिक्त, संकटकालीन मंदी के वर्षों में स्वदेशी और बहिष्कार के साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम से देशीय उद्योगों को सामाजिक संरक्षण भी प्राप्त हुआ। कुछ उद्योगों को इस तथ्य से भी मदद मिली कि कृषि संबंधी कच्चे माल के मूल्यों में औद्योगिक उत्पादों के मूल्यों की तुलना में अधिक कमी आई।[30]

मंदी और अपगमन के वर्षों के दौरान औद्योगिक उत्पादन के सारण नं. 3 (पृष्ठ 12) में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी नं. 3

	1929	1930	1931	1932	1933	1934	1935	1936	1937
मिलें(संख्या)	761	764	786	790	845	874	924	....	....
मिलें : शेयर पूंजी(करोड़ रु. में)	716	677	684	700	705	689	671	....	....
खानें :(संख्या)	335	333	331	325	384	391	399	......	....
खानें :शेयर पूंजी(करोड़ रु. में)	386	388	390	390	406	399	404	......	....
सूती धागा (करोड़ पौंड)	834	867	966	1016	921	1001	1058	1054	1160
सूती वस्त्र उत्पाद(करोड़ पौंड)	562	590	672	695	646	737	761	782	864
कच्चा लोहा(000 टन)	1392	1175	1056	913	1058	1320	1452	1540	1621
इस्पात* (000 टन)	412	434	450	427	531	604	646	667	660
कागज (000 टन)	40.8	39.8	40.7	40.6	43.4	44.5	47.6	45.5	57.1
सीमेंट (000 टन)	561	570	583	586	642	848	886	997	1170
चीनी	111	152	228	370	575	617	982	1131	947
कोयला(लाख टन में)	23.4	23.8	21.7	20.2	19.8	22.1	23.0	22.6	25.0
पटसन मिलों में पटसन की खपत की मात्रा(लाख टन)	31.2	22.2	20.8	21.2	21.0	22.2	24.4	29.5	32.6
भारतीय संयुक्त पूंजी बैंको में जामा राशि (करोड़ रुपए में)	66.3	67.7	66.2	76.2	76.4	81.9	89.7	103.6	108.6
भारतीय बीमा कंपनियों का बीमे का धंधा(करोड़ रु. में)	17.3	16.5	17.8	19.7	24.8	28.9	32.8	37.8	41.7

स्रोत : शास्त्री, दो पंक्तियां को छोड़ कर जो सुब्रामनियम और हाम्फ्रे से ली गई हैं.

* इस्पात उद्योग को जो कमजोर और अप्रभावी संरक्षण मिला था वह 1927 में ब्रिटिश इस्पात को दी गई साम्राज्यी तरजीह तथा इसी वर्ष आयात शुल्क में कमी और टाटा को मिलने वाली आर्थिक सहायता को वापिस लेने से प्रभावहीन हो गया.

इस प्रकार मंदी के युग में, जबकि समस्त पूंजीवादी संसार में औद्योगिक उत्पादन में गिरावट आ रही थी और देशीय बाजार इतना अधिक संकुचित हो गया था कि लोग अपनी चांदी और सोने के आभूषण बेचने को विवश हो गए थे—स्थानीय बाजार पर आधारित भारतीय उद्योग न केवल मंदी के दुष्परिणामों से सुरक्षित रहे—जो किसी भी मानक से कम उपलब्धि नहीं थी—बल्कि वे अपना विकास करने और दूसरे क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में भी सफल रहे। इसके अतिरिक्त, नए उद्योग के प्रमुख क्षेत्रों के लिए भारतीयों ने ही पूंजी उपलब्ध कराई।[33] यहां भी उल्लेखनीय है कि 1930 के दशक में ही चीनी, सीमेंट, माचिस और इस्पात उद्योगों की भी मजबूत बुनियाद रखी गई। वास्तव में, प्रथम महायुद्ध के दौरान ही भारतीय पूंजीवाद की बुनियाद पड़ी, मंदी के दौरान ही उसका पूर्ण विकास हुआ, जब उसने विश्व की केंद्रीय शक्ति की आर्थिक और राजनीतिक कठिनाइयों का लाभ उठाते हुए अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। यही वे वर्ष हैं जब आधुनिक भारतीय पूंजीपतियों के कई प्रमुख समूहों—बिड़ला, डालमियां, जैन, सिंघानिया, थापर इत्यादि ने औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश किया। यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि निर्यात बाजार की पूर्ति करने वाले उद्योगों की स्थिति भिन्न थी। उन पर मंदी का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।[34]

जैसा कि सारणी नं. 3 से प्रदर्शित होता है भारतीय उद्योगों को मंदी के बाद आए गतिरोध से कोई नुकसान नहीं हुआ।[35] यह इस वजह से हुआ क्योंकि 1934 के बाद विश्व पूंजीवाद पूरी तरह से संभल नहीं पाया और बड़ी तेजी से उसका विघटन हुआ। इसके अतिरिक्त, प्रमुख पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाएं शीघ्र ही हथियार बनाने की होड़ में शामिल हो गईं। विशेषकर, भारत के विदेश व्यापार और कृषि-उत्पादों की कीमतों में मंदी बरकरार रही। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी वाणिज्यिक, औद्योगिक, सट्टा व्यापार और सूदखोरी में लगने वाली पूंजी का अब उद्योग में निवेश होने लगा। पूंजी का आयात भी महत्वहीन हो गया।

दूसरे महायुद्ध की स्थितियां भी पहले महायुद्ध जैसी ही थीं, सिवाय इसके कि युद्ध सामग्री की खरीद, विदेशी सैनिकों का जमाव और भारतीय सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति अधिक बड़े स्तर पर की गई।[36] इसके अतिरिक्त बाजार में एक बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमाए रखने वाला जापान भी अब मैदान में नहीं था। किसी नई ब्रिटिश पूंजी का प्रवेश नहीं हुआ, बल्कि जो पुरानी पूंजी थी वह भी भारत से बाहर जाने लगी। कुछ समय के लिए अंतर्राष्ट्रीय संबंध लगभग टूट गया। इसका परिणाम सर्वविदित है। औद्योगिक उत्पादन में आई तेजी को सारणी नं 4 (पृष्ठ 14) में दिखाया गया है।

सारणी नं. 4

	1938	1944
सूती उत्पाद (करोड़ पौंड)	864 (1937 के आंकड़े)	1,200
सूती धागा (करोड़ पौंड)	1,160 (1937 के आंकड़े)	1,651
तैयार इस्पात (लाख टन)	.726	.923
सीमेंट (लाख टन)	1.512	2.044
चीनी (लाख हंड्रडवेट)	13.36	22.439
कागज (करोड़ हंड्रडवेट)	1.184	2.001
बिजली (करोड़ यूनिट)	2,533 (1939 में)	3,823
भारतीय संयुक्त पूंजी के बैंकों में जमा राशि(करोड़ रुपए में)	106.81	359.89 (1943 में)
भारतीय बीमा कंपनियों का बीमे का नया धंधा (करोड़ रुपए में)	46.68	65.23 (1943 में)

स्रोत : सुब्रामनियम और होम्फ्रे, पृष्ठ 42-44, 56/1937 के सूती धागे और सूती उत्पाद के आंकड़े शास्त्री से लिए गए हैं.

भारतीय पूंजीपतियों ने भारी मुनाफा कमाया।[37] इसके अतिरिक्त, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने भारत में अपने वित्तीय आधार को काफी मजबूत कर लिया और इस संबंध में ब्रिटिश पूंजी को भी काफी पीछे छोड़ दिया।[38] यह अनुमान लगाया गया है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में निवेश की वृद्धि राष्ट्रीय आय का सात या आठ प्रतिशत थी।[39]

इस प्रकार भारतीय पूंजीपति वर्ग ने युद्धोत्तर काल में अधिक मजबूती और आशंकाओं के साथ प्रवेश किया। एक ओर तो, उसने जैसा कि देश के प्रमुख औद्योगिक पूंजीपतियों द्वारा 1934 में बनाए गए बंबई प्लान के अध्ययन से ज्ञात होता है, निवेश के अवसरों को स्वागत किया, और दूसरी ओर, उसे यह डर भी था कि ब्रिटिश पूंजी अपनी दशा में सुधार लाने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था से जोड़ने का भरसक प्रयत्न करेगी।[40] इसलिए, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने भारी उद्योग लगाने की मांग उठाई, चाहे उसे सरकार के स्वामित्व में ही क्यों न लगाया जाए। साथ ही उसने राज्य द्वारा आयोजन और राज्य द्वारा सीधी और सक्रिय सहायता की मांग रखी।[41] उसने विदेशी पूंजी के नए प्रवेश का भी विरोध किया और उसमें तत्कालीन प्रभाव को कम करने की भी मांग रखी। इस प्रकार जी.डी. बिड़ला ने मांग रखी कि

"भारत में लगी समस्त ब्रिटिश पूंजी को वापस भेज दिया जाए"[42] और भारतीय व्यापार मंडल के अध्यक्ष, एम.ए. मास्टर ने चेतावनी दी : "इस देश में नई ईस्ट इंडिया कंपनियों को स्थापित करने की जगह भारत इस बात को तहजीह देगा कि उसका औद्योगिक विकास ही न हो........ इनसे भारत की आर्थिक आजादी को खतरा होगा"।[43] बंबई प्लान में सीधे विदेशी पूंजी निवेश का प्रावधान नहीं था और इसमें यह प्रस्ताव रखा गया था कि पूंजी निवेश में से केवल सात प्रतिशत विदेशी ऋण के रूप में निवेश किया जाए।[44]

भारत में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विकास आर्थिक आधुनिकीकरण के तत्वों का परिणाम नहीं था, जिनका विदेशी पूंजी निवेश और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता था और जिन्होंने—यदि पूंजीवाद को एक विश्व-व्यवस्था के रूप में देखा जाए—ब्रिटेन में तथा आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे शाही उपनिवेशों में विकास को बढ़ावा दिया और भारत के अविकास को बढ़ाया। बल्कि, इस प्रकार का विकास तब हुआ जबकि औपनिवेशिक आधुनिकीकरण के तत्व कमजोर हो गए।[45] वास्तव में, भारतीय पूंजीवाद का विकास सीमित और अपूर्ण रहा।[46] इसका कारण यह था कि यह विकास औपनिवेशिक संबंधों की परिधि के भीतर ही हुआ। दोनों महायुद्धों और मंदी से केवल विश्व की केंद्रीय शक्ति के साथ सबंधों में शिथिलता आई, यह संबंध हमेशा स्पष्ट और मौजूद रहे। उपनिवेशवाद में संरचना न तो कभी टूटी और न इसमें परिवर्तन आया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में केवल औद्योगिक विकास हुआ, औद्योगिक क्रांति नहीं हुई।[47] देश एक अविकसित अर्थव्यवस्था का आदर्श नमूना बना रहा।

इसके साथ ही, सीमित औद्योगिक विकास से अर्थव्यवस्था में निहित विकास की संभावनाओं का भी पता चला। जब भी अवसर आया, उपक्रमी पीछे नहीं हटे, और न ही नैतिक आदर्शों (आध्यात्मवाद, वैराग्य इत्यादि), जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, भारतीयों द्वारा निवेश के अर्ध-सामंती तरीकों को तरजीह देने की अंतर्निष्ट प्रवृत्ति, औद्योगिक श्रम की कमी और इसी प्रकार की दूसरी रूढ़िवादी मान्यताओं ने (जिन्हें अकसर अतीत में और आज भी अविकास का कारण बताया जाता है) किसी प्रकार अड़चन पैदा की।

III

भारत जैसे देशों के अविकास की प्रकृति को समझने के लिए एक दिलचस्प तरीका अपनाया गया है, जिसे "प्रारंभिक स्थितियों की पद्धति" कहा जा सकता है। मैं, औपनिवेशिक स्थिति की वास्तविकता को समझने के लिए इस पद्धति की समीक्षा करूंगा। यह पद्धति जिसे एक नए रूप में साइमन कुजनेट्स ने प्रतिपादित किया,

बुनियादी आर्थिक सूचकों अथवा विशेषताओं अथवा प्रारंभिक स्थितियों के अंतर को रेखांकित करती है, जहां से आजादी के बाद और वर्तमान विकसित देशों के औद्योगिक विकास के पूर्व की प्रारंभिक स्थितियों में अविकसित देशों (जिनमें भारत भी सम्मिलित है) को अपना विकासात्मक कार्यक्रम आरंभ करना पड़ा।[48] इस पद्धति से विश्लेषण आरंभ करना अत्यंत लाभकारी होगा। इससे दोनों प्रकार की प्रारंभिक स्थितियों का आधारभूत अंतर स्पष्ट होता है और यह भी प्रदर्शित होता है कि अतीत में विकसित देशों ने विकास के जिन तरीकों और नीतियों का अनुसरण किया वे पूर्ण रूप से अविकसित देशों पर लागू नहीं होते और उन्हें अपनी एक विकासात्मक रणनीति स्वयं तैयार करनी चाहिए।[49] इस पद्धति के समर्थक डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टो और दूसरे विद्वानों की कड़ी आलोचना करते हैं जो यह मान कर चलते हैं कि अविकसित देश आज भी उसी स्थिति में हैं जिसमें कभी विकसित देश थे, और वे इस मान्यता के आधार पर समस्या का सर्वमान्य हल तलाश करने का प्रयत्न करते हैं।[50] यह आश्चर्य का विषय है कि दोनों प्रारंभिक स्थितियों के अंतर का आकलन केवल तकनीकी-आर्थिक (कार्यात्मक) या मात्रात्मक पहलुओं तक ही सीमित रहता है।[51] दोनों स्थितियों के संरचनात्मक अंतर, बुनियादी असमानताओं और ऐतिहासिक उत्पत्ति की या तो चर्चा ही नहीं होती या फिर उनकी अवहेलना कर दी जाती है। वे अपना वायदा पूरा नहीं करते और बड़ी चालाकी से दोनों स्थितियों के अंतर को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अविकसित देशों की वर्तमान दशा के लिए जिम्मेदार ठहरा देते हैं। उनमें से कुछ प्रारंभिक स्थितियों की विकास की बाधाओं के रूप में चर्चा करते हैं। इससे उनका तात्पर्य यह होता है कि यह बाधाएं नहीं हैं और वे ही अविकास और पिछड़ेपन का मुख्य कारण हैं।[52] कुजनेट्स ने ऐतिहासिक विरासत पर वल तो दिया है, परंतु उसने उपनिवेशवाद की भूमिका को शामिल नहीं किया है। अलेकजेंडर गरशेंकरन ऐतिहासिक संदर्श में "प्रारंभिक स्थितियां और आर्थिक पिछड़ेपन" का अध्ययन करने का वायदा करता है, परंतु उसका 'परिप्रेक्ष्य' पिछड़ेपन की मात्रा से आगे नहीं बढ़ता।[53]

भारत की अविकास की संरचना को समझने के दृष्टिकोण से और उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति, कारणत्व और आर्थिक आधारों के संबंध में प्रारंभिक स्थितियों में अंतर के प्रश्न को गलत तरीके से उठाया गया है। सार्थक परिणाम निकालने और इतिहास से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए, एक ओर तो ब्रिटिश-पूर्व के अतीत और औपनिवेशिक युग की शुरुआत की प्रारंभिक स्थितियों और दूसरी ओर विकसित देशों में औद्योगिक क्रांति की प्रारंभिक स्थितियों की तुलना की जानी चाहिए। इसलिए सर्वप्रथम मैं कुजनेट्स और दूसरे विद्वानों द्वारा प्रतिपादित प्रारंभिक स्थितियों के अंतर का उल्लेख करूंगा और फिर संक्षेप में यह बताऊंगा कि ब्रिटिश-पूर्व के भारत पर ये अंतर किस हद तक लागू होते हैं।

वर्तमान भारत और दूसरे अविकसित देशों की प्रारंभिक स्थितियों को निम्नलिखित

अर्थों में अधिक प्रतिकूल माना जाता है : (1) प्रतिव्यक्ति कम आयु; (2) बचत अथवा अधिशेष अथवा अर्थव्यवस्था में निवेश योग्य पूंजी की कमी (यह प्रतिव्यक्ति आय में कमी के कारण है जो कि स्वयं वित्त की कमी और आगे बताए गए दूसरे कारणों का परिणाम है); (3) प्रति व्यक्ति भूमि की उपलब्धता की कमी अथवा कृषि में बेरोजगारी; (4) कृषि में कम उत्पादकता, जिसकी वजह से शहरी क्षेत्रों में बिक्री योग्य कृषि-अधिशेष कम मात्रा में उपलब्ध होता है; (5) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता; (6) जनसंख्या का घनत्व और जनसंख्या की ऊंची विकास दर; (7) संचार साधनों का निम्न स्तर और उसके फलस्वरूप आंतरिक व्यापार का निम्न स्तर; (8) बाजार अथवा मुद्रा संबंधी अर्थव्यवस्था अथवा मुद्रीकरण क्षेत्र का नीचा स्तर; (9) कर्ज देने वाली और वित्तीय संस्थाओं की उपलब्धता में कमी; (10) आर्थिक क्षेत्र में अच्छे प्रदर्शन का अभाव; (11) लोगों का निम्न सांस्कृतिक स्तर, जिसकी दक्षता के निम्न स्तर और साक्षरता की दर इत्यादि में अभिव्यक्ति होती है, जिसके फलस्वरूप कुशल कारीगरों और तकनीकी कामगारों की कमी है; (12) कमजोर राजनीतिक ढांचा, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो अस्थिरता और असुरक्षा बनी रहती है और दूसरी ओर "सरकार और जनसंख्या के हितों के बीच परस्पर क्रिया का अभाव बना रहता है"; (13) सभ्यता की विरासत में विभिन्नता (एक ओर तो नवजागरण, प्रोटेस्टेंट और धर्मनिरपेक्ष, क्रांति एक पूंजीवादी भावना और 1800 से पूर्व पूंजीवादी संस्थाओं का अभाव और दूसरी ओर सामंती अथवा अर्ध-सामंती ढंग की सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का प्रचलन; (14) आर्थिक विकास में हानिकारक सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताएं और प्रवृत्तियां; (15) उद्योग और प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर; (16) औपनिवेशिक विरासत।[54] इशीकावा और मिर्डल ने कुछ और अंतर भी बताए हैं, जो मेरे विचार में अधिक अर्थपूर्ण हैं; (17) कृषि योग्य भूमि में निवेश का अभाव, जैसे बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई और पानी का विकास; (18) औद्योगीकरण के एक कार्यक्रम को वित्तीय सहायता देने में कृषि की अक्षमता, जैसी कि मेजी जापान में थी; (19) विश्व-व्यापार की बढ़ती हुई परिस्थितियां, जिनसे अविकसित देशों का दूसरे देशों में निर्यात प्रतिबंधित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप मुद्रो-विनिमय का संकट उत्पन्न हो जाता है और वे मशीनरी और कच्चे माल का आयात करने की स्थिति में नहीं होते; (20) तकनीकों और प्रौद्योगिकी की अत्यधिक जटिलता, जिनके लिए आधुनिक इंजीनियरों और वैज्ञानिकों, कारखानों की जरूरत होती है। इसके लिए आरंभ में ही बड़े पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है, जिसे जुटाने में इन देशों को कठिनाई होती है। इसके साथ ही एक विस्तृत बाजार की भी आवश्यकता होती है, जिसका इन गरीब देशों में अभाव होता है; (21) ऐसे उपनिवेशों का अभाव, जिनके बाजारों, लोगों और संसाधनों का शोषण किया जा सके।

यदि हम प्रारंभिक स्थितियों के इस अंतर को मुगलकालीन भारत अथवा 19वीं

शताब्दी के आरंभ से भारत में प्रचलित स्थितियों के संदर्भ में देखें तो हम पाएंगे कि उनमें से अधिकांश की तुलना नहीं हो सकती और यह कि भारत और यूरोप के विकसित देशों और जापान की उद्योगीकरण-पूर्व की प्रारंभिक स्थितियों में ज्यादा अंतर नहीं था;[55] कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मुगलकालीन भारत में पूंजीवाद स्वयं विकसित नहीं हो पाया और अंग्रेज उस पर विजय पाने में सफल हुए;[56] उनमें से कुछ स्थितियों को लाभप्रद दिशा में मोड़ा गया और औमनिवेशिक ढांचे को लागू करने में उनका प्रयोग किया गया;[57] और, अंत में दूसरी स्थितियां इस कारण उत्पन्न हुई क्योंकि औपनिवेशिक भारत उदीयमान तकनीकी शक्तियों का लाभ उठाने में असफल रहा।[58] इस प्रकार सामाजिक दृष्टिकोण और मान्यताओं के अतिरिक्त, वर्तमान में भारत के आर्थिक अविकास में उनकी भूमिका पर मैं बाद में चर्चा करूंगा, आज की प्रतिकूल प्रारंभिक स्थितियां औपनिवेशिक युग में विकसित हुईं, अर्थात जिस युग में "बाहर से आधुनिकीकरण का आक्रमण हुआ",[59] और विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण हुआ।[60] मैं यहां यह स्पष्ट कर दूं कि मेरा उद्देश्य गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं है ताकि साम्राज्यवाद को दोषी ठहराया जा सके, उन आंतरिक कारणों और शक्तियों का बचाव किया जा सके जिन्होंने विकास के रास्ते में बाधाएं उत्पन्न कीं; न ही मेरा इरादा पश्चिमवाद विरोधी भावनओं को व्यक्त करना है। अविकसित देशों के नेताओं, विद्वानों और निवासियों पर इस भावना से ग्रस्त होने का संदेह किया जाता है।[61] मेरा उद्देश्य अतीत और वर्तमान को समझना और इतिहास के माध्यम से वर्तमान पर प्रकाश डालना है। इसके अतिरिक्त, अविकास के स्वरूप (प्रारंभिक स्थितियों) और उसके ऐतिहासिक कारणों के संपूर्ण प्रश्न का विकास की रणनीति से गहरा संबंध है, जिसका सामयिक महत्व है।

इसमें संदेह नहीं है कि संशोधित प्रारंभिक स्थितियों की पद्धति हमें यह नहीं बताती कि यह अंतर किस प्रकार वजूद में आए,[62] अर्थात, वह यह नहीं बताती कि एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पारंपरिक भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की क्या प्रक्रिया थी और न ही वह यह स्पष्ट करती है कि इस अंतर के संरचनात्मक आयाम क्या हैं। परंतु, यह कुछ हद तक विषय को स्पष्ट कर देती है और हम यह प्रश्न पूछने की स्थिति में आ जाते हैं : ब्रिटिश शासन के पिछले 150 वर्षों में विकास क्यों नहीं हुआ?

सिवाय इसके कि जब स्वयं प्रारंभिक स्थितियों को अविकास के कारणों के रूप में देखा जाता है अथवा जब अविकसित स्थिति को पुरातन माना जाता है, उपनिवेशवाद के अलावा तीन कारणों को मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया जाता है।

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि जातिप्रथा और संयुक्त परिवार और प्रचलित मान्यताओं, विश्वासों, मूल्यों और परंपराओं जैसी आंतरिक सामाजिक संस्थाओं ने विकास में बाधा उत्पन्न की; उन्होंने विशेष रूप से मजदूरों, कास्तकारों, उपक्रमियों

और जो बचत कर सकते थे, उनके व्यवहार को प्रभावित किया। इस व्याख्या को अधिकांश अर्थशास्त्रियों और आर्थिक इतिहासकारों द्वारा बड़े अनमने ढंग से ऐतिहासिक व्याख्या के एक खेदजनक प्रयत्न और एक प्रकार के अवशेष के रूप में स्वीकार किया जाता है।[63] हाल के वर्षों में इस व्याख्या को काफी असंतोषजनक माना गया है। समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने यह प्रदर्शित किया है कि भारत में आर्थिक विकास और सामाजिक संस्थाओं, मान्यताओं और परंपराओं के बीच मुश्किल से ही सह-संबंध है।[64] इसे भली भांति स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा भारतीय पूंजीपति वर्ग में मुनाफा कमाने और जोखिम उठाने के गुणों के अभाव के कारण नहीं बल्कि आर्थिक अवसरों की अनुपलब्धता के कारण हुआ है। इनके अभाव में ही वे व्यापार और खूदखोरी करते हैं। परंतु, जैसा कि मैंने दूसरे खंड में संकेत किया है कि पूंजीपति वर्ग को जब भी फायदा नजर आया वह उद्योगों में धन लगाने से नहीं चूका।[65] धीरे-धीरे, यह भी स्पष्ट हो गया है कि मान्यताएं और संस्थाएं भी स्थिर नहीं रही हैं और उन्होंने स्वयं को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप बना लिया है। कभी-कभी, इस प्रश्न को सामाजिक और आर्थिक क्रांतियों से मिला दिया जाता है जिनके रास्ते में ये मान्यताएं और संस्थाएं अवश्य ही बाधा उत्पन्न करती हैं।[66]

दूसरे, यह सुझाव दिया जाता है कि अतीत के पिछड़ेपन का बोझ इतना भारी था कि बाहर से आया आधुनिकीकरण उसे हटाने में प्रभावकारी नहीं हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि इस धारणा को गरशेंकरन के इस सिद्धांत से बल मिला है कि औद्योगीकरण-पूर्व की स्थिति में विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार का पिछड़ापन था। जापान अथवा रूस की तुलना में, यह माना जाता है, कि भारत में बहुत अधिक पिछड़ापन था और भारत को उन्नति के रास्ते पर चलने के लिए बहुत अधिक तैयारी की आवश्यकता थी।[67] इस बात का कोई सबूत नहीं है कि भारत में सदियों से पिछड़ेपन का इतना अधिक बोझ था।[68] यहां गरशेंकरन ने भी गलती की है। उसने पिछड़ेपन से संबंधित मात्रात्मक सिद्धांत का प्रयोग यह बताने के लिए नहीं किया है कि कुछ देश औद्योगिक क्रांति लाने में क्या असफल रहे, बल्कि उसने यह बताया है कि विभिन्न देशों में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के साधनों का प्रयोग किया गया।

तीसरी व्याख्या क्षरण के सिद्धांत पर आधारित है : अर्थात, औपनिवेशिक आधुनिकीकरण का सकारात्मक प्रभाव तो पड़ा, परंतु उसके दुर्भाग्यपूर्ण विदेशी चरित्र, शासकों की शोषक मानसिकता, देशी सामाजिक दृष्टिकोण इत्यादि के कारण बड़े पैमाने पर क्षरण हुआ।[69] हालांकि इस व्याख्या में उपनिवेशवाद के प्रति एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है, परंतु वह अपनी प्रकृति के अनुसार तकनीकी और आर्थिक कारणों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। फिर भी, हालांकि कारणत्व के एक सिद्धांत के रूप में उसका महत्व अत्यंत सीमित है, लेकिन वह औपनिवेशिक

अर्थव्यवस्था की अंदरूनी कारगुजारी का पता लगाने के लिए एक जटिल और आकर्षक तरीके का ज्ञान अवश्य कराती है।

यदि इन तीनों व्याख्याओं को अपर्याप्त कह कर खारिज कर दिया जाए, तब हमारे सामने केवल एक ही कारण बचा रहता है : उपनिवेशवाद की भूमिका। उपनिवेशवाद को अविकास का एक कारण मान लेना, निश्चित रूप से, भारत के राजनीतिक विकास और इतिहासशास्त्र के अध्ययन में एक महत्वपूर्ण घटना थी। परंतु, आज यह उस काल को ऐतिहासिक रूप से समझने और विकासात्मक नीति की चर्चा में अधिक सहायक नहीं होती।[70] आज, मुश्किल से ही कोई प्रमुख लेखक उपनिवेशवाद की भूमिका अथवा औपनिवेशिक विरासत का हवाला दिए बिना इतिहास की समस्याओं अथवा अविकास का बहस करता है। परंतु, आज भी बहुत से लेखक उसे केवल बहुत से कारणों में से एक कारण मानते हैं और मुश्किल से ही उसके आर्थिक प्रभाव की जांच अथवा विश्लेषण करते हैं।[71] उनकी समीक्षा अकसर उपनिवेशवाद के राजनीतिक और शासन संबंधी पहलुओं तक सीमित रहती है।[72]

इसलिए, इतिहासकारों को भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास के संबंध में सामान्य रूप से और अविकास के संबंध में विशेष रूप से उपनिवेशवाद की भूमिका की चर्चा करनी है। हम देखते हैं कि यहां भी विभिन्न दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। एक प्रमुख दृष्टिकोण, जिसे उदारवादी-परिवर्तनवादी समीक्षा का नाम दिया जा सकता है—विकसित पूंजीवादी देशों के लेखकों के मामले में स्पष्ट उदारवादी अथवा परिवर्तनवादी और भारतीय लेखकों के संबंध में उदारवादी-राष्ट्रवादी—19वीं शताब्दी के आरंभ से ही प्रचलित रहा है।[73] इस दृष्टिकोण के प्रतिपादक उपनिवेशवाद की असफलता को स्वीकार करते हैं और खुले रूप से उसकी आलोचना करते हैं। यह समीक्षा बुनियादी तौर पर औपनिवेशिक राज्य की नकारात्मक भूमिका से संबंधित है, जैसा कि उसकी नीतियों से जाहिर होता है। उदाहरण के लिए, उदारवादी औद्योगीकरण को रोकने और विकास में बाधा उत्पन्न करने के लिए, औपनिवेशिक राज्य की भूमिका की आलोचना करते हैं।[74] वे स्पष्ट शब्दों में आर्थिक शोषण की ओर संकेत करते हैं। यह समीक्षा अविकास के लिए औपनिवेशिक सरकार को जिम्मेदार ठहराती है और बताती है कि उसने आंतरिक पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया में अपना सक्रिय और सकारात्मक सहयोग नहीं दिया । यदि और अधिक स्पष्ट कहा जाए तो उसने ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू किए गए मुक्त व्यापार पर अधिक ध्यान दिया; वह भारतीय उद्योगों को शुल्क-संरक्षण प्रदान करने में असफल रही और उसने उद्योगों को वित्तीय सहायता देकर, उनके द्वारा निर्मित माल की खरीद करके और ऋण देने वाली संस्थाओं को प्रोत्साहन देकर उनकी सीधी सहायता नहीं की, उसने सिंचाई के प्रति भी एक नकारात्मक नीति अपनाई।[75] समझदारी के अभाव, रंग और नसली भेदभाव, नौकरशाही और राज्य के विदेशी चरित्र, मुक्त व्यापार के प्रति ब्रिटिश-समर्पण और ब्रिटेन में उन शक्तिशाली

वर्गों के हितों को इन औपनिवेशिक नीतियों का कारण माना गया है जो औपनिवेशिक सरकार को भेदभावपूर्ण नीतियों का अनुशरण करने के लिए बाध्य करते थे।[76] इस प्रकार उदारवादी, बुनियादी तौर पर, उपनिवेशवाद के आलोचक हैं; वे आर्थिक विकास के अभाव का मुख्य कारण उपनिवेशवाद को बताते हैं। निस्संदेह, औपनिवेशिक सरकार की नीतियां विकास-विरोधी थीं और राज्य के समर्थन के अभाव ने—जो संभवतः ब्रिटेन सहित सभी देशों में विकास का सबसे शक्तिशाली औजार है—एक बड़ी हद तक भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास को बाधित किया। इस दृष्टिकोण से उदारवादी पद्धति को एक ऐतिहासिक वैधता तो मिलती ही है, साथ ही वह उसे विश्लेषण का एक उपयोगी साधन भी बनाता है। लेकिन, यह पद्धति मामले की हद तक पहुंचने में सहायक नहीं होती क्योंकि वह ब्रिटिश शासन के अंतर्गत अविकास की प्रक्रिया की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं करती। वह साम्राज्यवाद द्वारा लाए गए परिवर्तनों, नवनिर्मित संस्थाओं के ताने-बाने और उससे उत्पन्न कारणों, विकास की अड़चनों (जो निश्चित रूप से विश्व-पूंजीवाद के साथ भारत के एकीकरण का उत्पाद थीं न कि सरकारी नीति का) पर ध्यान नहीं देती, बल्कि उनसे ध्यान हटाती है। यहां भी कहा जा सकता है कि क्योंकि उदारवादी लेखक औपनिवेशिक संरचना का विश्लेषण करने में असफल रहे, इसलिए उन्हें औपनिवेशिक नीति को दोषी ठहराने के लिए विवश होना पड़ा।[77] औपनिवेशिक नीति पर ही अपना ध्यान केंद्रित करने के कारण उदारवादी लेखक भारत में विभिन्न वर्गों पर उपनिवेशवाद के प्रभाव की भिन्नता को समझने, और विभिन्न वर्गों के एक दूसरे के साथ और उनके साम्राज्यवाद के साथ संबंधों को समझने में असफल रहे। स्वातंत्र्योत्तर भारत में, शोधकार्य और वर्तमान के लिए नीति-निर्धारण में इससे बहुत कमी आई है।

उपनिवेशवाद की उदारवादी समीक्षा इस विश्वास की ओर ले गई कि यदि एक बार विदेशी शासकों से राजनीतिक अथवा राज्य-सत्ता हथिया ली जाए और नई सत्ता देशीय आर्थिक प्रयत्नों को अपना पूर्ण समर्थन देने लगे तो धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था से औपनिवेशिक तत्वों का लोप हो जाएगा। नया, स्वतंत्र राज्य विकास और आधुनिकीकरण की उन सभी शक्तियों को मुक्त छोड़ देगा जिन्हें उपनिवेशवाद ने 'बंदी' बना लिया था। एक बार यदि विकास के नए इंजन अर्थात, राज्यकीय योजना आयोग का आधुनिकीकरण के पुराने तत्वों अर्थात, सामान्य रूप से 'विश्वीय बाजार तत्वों' और विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और विदेशी पूंजी से सहयोग हो जाए तो विकास का विस्तृत मार्ग खुल जाएगा, भले ही विकास की गति इतनी तीव्र न रहे जितनी की तथाकथित 'अधिनायकवादी' समाजवादी राज्यों में थी। इस पद्धति का एक वैचारिक पक्ष भी था। इतिहास और सिद्धांत के संदर्भ में, औपनिवेशिक प्रश्न पर अब जनता का ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता नहीं थी। यह कहा गया कि साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा की सकारात्मक और रचनात्मक भूमिका समाप्त हो चुकी है और अब पूरी

तरह से राज्य द्वारा प्रायोजित विकास की विचारधारा को उसका स्थान लेना चाहिए। पुरानी विचारधारा का प्रयोग अब विदेश नीति के लिए राजनीतिक समर्थन जुटाने और चुनावों के समय ही किया जा सकता था; परंतु अब बुद्धिजीवियों के लिए उसका कोई महत्व नहीं था। इतिहास की भांति अर्थशास्त्र में भी केवल इस बात की आवश्यकता थी कि राजकीय नियोजन की नई विचारधारा को सामयिक पूंजीवाद, और विश्व बाजार की शक्तियों, अर्थात पूंजीवाद की समकालीन संरचना के साथ जोड़ दिया जाए।[78]

उदारवादियों द्वारा राज्य की भूमिका पर बल देने के कारण ही अंशतः भारतीय विद्वानों ने 1947 के पश्चात उपनिवेशवाद की संरचना को समझने की पद्धति का परित्याग कर दिया, जिसे दादा भाई नौरोजी, जी.बी. जोशी और आर.सी. दत्त[79] ने आरंभ किया था और आर. पामदत्त ने आगे विकसित किया था और जो जवाहरलाल नेहरू, के.एस. शेलवंकर, एच. बैंकटसुब्बैया और ए.आर. देसाई जैसे लेखकों के लिए भी दिलचस्पी का विषय रही थी।[80] चूंकि उपनिवेशवाद के सारतत्व को औपनिवेशिक राज्य की नीति के रूप में देखा गया, उपनिवेशवाद के संबंध में यह मान लिया गया कि 15 अगस्त 1947 को ही उसकी मृत्यु हो गई है। वे समाजशास्त्री, जो पहले साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के प्रभाव में आकर उपनिवेशवाद के अध्ययन पर कुछ ध्यान देते थे, अब तकनीकी आर्थिक प्रश्न पूछ कर विकास की सरकारी नीति तैयार करने में सहायक सिद्ध हो सकते थे। उन्हें, अब जैसा की पॉल बारन ने कहा है, "ऐसे तत्वों का अध्ययन करना था, जिनका कि निरीक्षण किया जा सके"। उन्हें अंतर्संबंधों की अनदेखी करनी थी। अब यह समझा जाने लगा कि आधुनिक इतिहासकार का काम भी मुख्यतः आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से सक्रिय और निष्क्रिय सामाजिक और आर्थिक सूचकों के विकास का अध्ययन करना था—जैसे जनसंख्या में वृद्धि, शहरीकरण, कृषि अथवा औद्योगिक प्रौद्योगिकी में प्रगति अथवा अवनति, जातीय आंदोलन, विशिष्ट वर्गों का विकास इत्यादि। वास्तव में, यहां मैं यह सुझाव नहीं दे रहा हूं कि ये अध्ययन के लिए उचित अथवा उपयोगी विषय नहीं हैं। मेरा मतलब यह है कि इस समय हमारे सीमित बौद्धिक संसाधनों के मद्देनजर उनका अध्ययन आधुनिक भारत के इतिहास में शोध के लिए कोई मौलिक आधार प्रदान नहीं करेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के प्रथम (सैद्धांतिक) अध्याय में आजादी के बाद के नए दृष्टिकोण का एक दिलचस्प उदाहरण मिलता है।[81] इस अध्याय का शीर्षक 'दि प्राब्लम ऑफ दि डवलपमेंट' और इसमें 'सामाजिक-आर्थिक ढांचे' को बदलने अथवा 'सामाजिक संस्थाओं और संबंधों को फिर से समायोजित' करने के संबंध में कुछ बातें कही गई हैं,[82] परंतु उपनिवेशवाद अथवा अर्थव्यवस्था और समाज के विरासत में मिले औपनिवेशिक ढांचे के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। हाल के अतीत से संबंधित केवल यह टिप्पणी की गई है कि भारत में "अवरुद्ध",

"सीमित" और "आंशिक" विकास हुआ है[83] इसलिए जरूरी बात यह है कि "योजना के द्वारा बहुमुखी विकास किया जाए, जो अब स्वतंत्रता के कारण संभव हो गया है"। संरचनात्मक पक्ष में इस संक्षिप्त उल्लेख के बाद इस सैद्धांतिक मार्गदर्शक अध्याय के बाकी भाग में योजना की प्रक्रिया के तकनीकी पहलुओं, जैसे बचत और पूंजी-निर्माण के प्रश्नों पर चर्चा की गई है। योजना के दस्तावेज में कहीं भी औपनिवेशिक ढांचे को उखाड़ फेंकने अथवा विश्व की केंद्रीय शक्ति से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के संबंधों को तोड़ने का जिक्र नहीं किया गया है। इसके विपरीत, पूंजी निर्माण और विकास की प्रक्रिया के विदेशी पूंजी को एक महत्वपूर्ण भूमिका दी गई है।[84] यह सच है कि इस (दस्तावेज) में विदेशी सहायता के खतरों के विरुद्ध चेतावनी भी दी गई है, परंतु खतरा केवल "अंतर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र नीति अपनाने में देश की सामर्थ्य से है",[85] अर्थात यह एक राजनीतिक खतरा है। इस प्रकार एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की संरचना में विदेशी पूंजी की भूमिका के संबंध में पूर्ण अनभिज्ञता का प्रदर्शन किया गया है। इसके बाद "विदेशी पूंजी के आगमन का स्वागत किया गया है।" अंत में, दस्तावेज में आर्थिक विकास में राज्य की निर्णायक भूमिका पर बल दिया गया है।[86]

बहरहाल, उपनिवेशवाद राजनीतिक नियंत्रण अथवा औपनिवेशिक नीति से भी बहुत कुछ अधिक था। निःसंदेह, औपनिवेशिक राज्य औपनिवेशिक व्यवस्था का एक अंग था; वह एक ऐसा औजार था जिसके द्वारा इस व्यवस्था को लागू किया जाता था, और औपनिवेशिक नीतियों ने औपनिवेशिक ढांचे को विकसित करने और उसे कायम करने में सहायता की। परंतु, औपनिवेशिक राज्य और औपनिवेशिक नीतियां उपनिवेशवाद का सारतत्व नहीं थीं। उपनिवेशवाद भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज का विश्व के पूंजीवाद के साथ पूर्ण और जटिल एकीकरण था, जिसने, लगभग दो सदियों के दौरान उन्हें अपने शिकंजे में जकड़ लिया था। इसलिए, भारत के अविकास का मूल कारण औपनिवेशिक नीतियां न होकर उसका एक व्यापार और पूंजी के माध्यम से विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ उसके विशेष प्रकार के 'संपर्क' थे। औपनिवेशिक नीति 'विश्व-बाजार की शक्तियों' के साथ भारत के संपर्कों को सीमित रखने के लिए नहीं बल्कि उसे 'अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' का एक पूर्ण मगर असमान सदस्य बनाने के लिए जिम्मेदार थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक स्वतंत्रता से स्वतः ही अर्थव्यवस्था में कोई नया परिवर्तन नहीं आया। वह केवल नई सरकारी नीतियां अपनाने के लिए ऐसी राजनीतिक परिस्थितियां उत्पन्न कर सकती थी जिन्हें अब औपनिवेशिक ढांचे को तोड़ने अथवा उसका विघटन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता था। परंतु, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और समाज को तोड़ने अथवा पुनर्गठन के कार्य को एक सचेत क्रिया होना था, उसमें सक्रियता दिखानी थी, और इसके लिए इस बात की

पूर्ण जानकारी लेना जरूरी था कि भारत और संसार के दूसरे भागों में उपनिवेशवाद की कार्यविधि क्या थी।

आधुनिक भारत के इतिहासकारों को पहले भी और आज भी इसी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। हमें औपनिवेशिक काल में अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और बौद्धिक संरचना के अविकास की गहरी जड़ों की जानकारी लेना जरूरी है, ताकि उन विभिन्न तरीकों और कड़ियों का पता लगाया जा सके जिनके द्वारा भारत का विश्व-पूंजीवाद के साथ एकीकरण हुआ।

औपनिवेशिक नीतियों के संबंध में, मैं केवल यह संकेत करूंगा कि जब उन्हें औपनिवेशिक संरचना के आधार-स्तंभ के रूप में देखा जाता है तब ही उनका समुचित अध्ययन किया जाता है। ऐसा करने से, उनके सीमित दायरे को छोड़कर, तंत्र के विभिन्न अंगों को दोष देने अथवा उनकी प्रशंसा करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। न ही शोधकर्ता का कार्य घटनाक्रम से जुड़े राजनेताओं और प्रशासकों के लेखन, भाषणों, अधिकारिक रिकार्डों अथवा निजी पत्रों, उद्देश्यों और विचारधाराओं का मूल्यांकन करना रह जाएगा। इस प्रकार के अध्ययन से यह प्रतीत होने लगता है कि औपनिवेशिक नीति, प्रशासन और प्रशासक औपनिवेशिक ढांचे के समर्थक भी थे और उसकी सीमाओं में बंधे हुए भी थे। इन्हीं सीमाओं के अंदर, विविध प्रकार की नीतियां थीं, जिन्हें उन्हीं लोगों ने तैयार और कार्यान्वित किया जो मानव भी थे, जो बहुत ऊंचाई तक उठ भी सकते थे और वहुत नीचे गिर भी सकते थे।

IV

अंत में, मैं यह कहना चाहूंगा कि यदि उपनिवेशवाद को भारत के आधुनिक ऐतिहासिक विकास में एक विशिष्ट ऐतिहासिक चरण अथवा युग के रूप में देखा जाए जो कि पारंपरिक ब्रिटिश-पूर्व के समाज और अर्थव्यवस्था, और आधुनिक पूंजीवादी अथवा समाजवादी समाज और अर्थव्यवस्था के अंतराल में आया था, तो उसके अध्ययन में काफी सहायता मिलेगी। औपनिवेशिक समाज न तो पुरातन समाज का रूपांतरण अथवा विकृत रूप है, न ही वह आंशिक रूप से आधुनिक समाज है और न ही समाज की संक्रमणकालीन अवस्था है।[87] वह सकारात्मक और नकारात्मक विशेषताओं का बेमेल और दुर्भाग्यपूर्ण सम्मिश्रण भी नहीं है।[88] वह एक 'संपूर्ण' संरचना,[89] एक विशिष्ट सामाजिक (व्यवस्था का) निर्माण अथवा एक (उपव्यवस्था) उप-निर्माण है, जिनमें अर्थव्यवस्था और समाज पर मूल रूप से एक विदेशी पूंजीपति वर्ग का नियंत्रण होता है, जो एक उपनिवेश(अथवा अर्ध-उपनिवेश) में एक अधीनस्थ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक ढांचे के द्वारा कार्य करता है, जिसके रूपों में विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में पूंजीवाद के ऐतिहासिक विकास की अवस्थाओं के

अनुरूप परिवर्तन होता रहता है।[90]

मैं यहां विश्वास के साथ कह सकता हूं कि ब्रिटिश शासन ने प्राचीन समाज के आर्थिक और राजनीतिक आधार को तहस नहस कर दिया था। उसने उत्पादन के पुराने पूंजीवाद-पूर्व के तरीके को समाप्त कर दिया,[91] परंतु, इससे एक नई पूंजीवादी व्यवस्था आरंभ नहीं हुई, उसके बजाए उत्पादन का एक नया औपनिवेशिक तरीका वजूद में आया। उदाहरण के लिए 1793 के पश्चात आरंभ की गई पट्टेदारी व्यवस्था ने पुराने भूमि-संबंधों को पूर्णरूप से उलट दिया। नए कृषि-संबंधी ढांचे को उपनिवेश की आवश्यकताओं और उसके द्वारा प्रोत्साहित आर्थिक शक्तियों के प्रभाव के अनुरूप विकसित किया गया; वह निश्चित रूप से अर्ध-सामंतवादी तो था, परंतु वह फिर भी नया था; वह पुराने ढांचे का विस्तार नहीं था।[92] वास्तव में, भारतीय सामाजिक ढांचे में सभी स्तरों पर नए संबंधों, नए वर्गों—एक नए आंतरिक वर्ग ढांचे—को विकसित किया गया, जो उपनिवेशवाद का उत्पाद होने के साथ-साथ उससे पूर्ण रूप से एकताबद्ध थे। भ्रम केवल ऐतिहासिक स्थिति की जटिलता से उत्पन्न होता है। विश्व-पूंजीवाद एक विशिष्ट व्यवस्था है और उपनिवेशवाद इस व्यवस्था का एक आधारभूत अंग है। फिर भी उपनिवेशवाद की अपनी अलग विशेषताएं हैं। इसलिए, हमें साम्राज्यवाद—उपनिवेशवाद की एक ही व्यवस्था—के दो रूपों पर विचार करना है, एक उपनिवेश में और दूसरा उपनिवेश के शक्ति केंद्र में।

1947 के पश्चात इसी औपनिवेशिक चरण से भारत को एक नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने की प्रक्रिया आरंभ करनी थी। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मुख्य कार्य औपनिवेशिक काल में आरंभ हुए संक्रमण को पूरा करना नहीं बल्कि औपनिवेशिक व्यवस्था के संक्रमण से एक नई व्यवस्था अथवा इतिहास के चरण में प्रवेश करना था। कोई भी संक्रमणकालीन चरण उससे पूर्व और बाद के चरण से भिन्न होता है। इसके साथ ही, एक संक्रमणकालीन चरण का सारतत्व यह भी है कि वह दोनों दिशाओं में अग्रसर होता है। वह एक नई अवस्था में आगे भी जा सकता है और पुरानी अवस्था में वापस भी आ सकता है। एक अलग सामाजिक व्यवस्था के रूप में उपनिवेशवाद की पहचान आधुनिक भारत के इतिहासकारों को उनके शोधकार्य के लिए एक बेहतर 'संरचनात्मक माडल' तैयार करने में तो सहायक होगी ही, साथ ही वह उपनिवेशवाद की मूलभूत विशेषताओं की उत्पत्ति के विश्लेषण द्वारा पिछले चरण में जाने से रोकने में भी सहायक होगी।

इसलिए, उपरोक्त पद्धति और वह पद्धति जो आधुनिक भारतीय इतिहास को दो ध्रुवों—परंपरा और आधुनिकता, पूंजीवाद-पूर्व और पूंजीवाद अथवा औद्योगीकरण-पूर्व और औद्योगीकरण के अर्थों में देखती है—में से एक को चुनना अतीत के अध्ययन और भविष्य के निर्माण दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आधुनिकीकरण के अस्पष्ट और असंगत सिद्धांत से इतिहास के अध्ययन में कोई सहायता नहीं मिलती। दूसरी

ओर, जिस प्रकार कि 19वीं शताब्दी के दौरान आधुनिकीकरण ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद के विकास और भारत में उपनिवेशवाद के विकास और अविकास का प्रतीक था, उसी प्रकार आज आधुनिकीकरण समाजवाद अथवा एक अविकसित पूंजीवाद का प्रतीक बन सकता है, जिसे निरंतर प्रतिगमन की ओर संक्रमण और नव-उपनिवेशवाद से खतरा है। इसके विपरीत, यदि विश्व के पूंजीवाद के साथ हमारे अतीत के आर्थिक संबंध 'नियंत्रित अविकास' का प्रतीक थे, तब इसका हल यह नहीं है कि उसकी वैश्विक पूंजीवाद के साथ एकीकरण किया जाए बल्कि हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम उसके प्रभाव के दुष्चक्र को तोड़ कर उसे बाहर निकलें। परंतु, ऐसा कह कर मैं राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अनधिकारिक प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा हूं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. आर्थिक विकास का विशेष रास्ता अपनाने के दृष्टिकोण से भी इस प्रश्न का उत्तर अत्यंत महत्वपूर्ण है. आज अकसर यह भी स्वीकार किया जाता है कि हमारे देश के संरचनात्मक आधार में परिवर्तन होना चाहिए और यह कि कुछ आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में भी तबदीली करनी पड़ेगी. परंतु यहां विवादपूर्ण और महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि : कौन सी संस्थाओं में दबदीली की जाए.
2. देखिए नीचे खंड III.
3. और इसी एक कारण से, मुगलकालीन भारत, वास्तविक पारंपरिक भारत, आज के अविकसित भारत से भिन्न था. आज जिन्हें 'पारंपरिक' भारतीय अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, समाज, संस्कृति और बौद्धिक जीवन माना जाता है, वे वास्तव में आधुनिक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था इत्यादि हैं. जैसा कि एक वर्तमान लेखक ने कहा है : "पारंपरिक सामंतवादी ढांचे की बात करना वर्तमान इतिहास को प्राचीन इतिहास समझने के भ्रम के समान है". जोसेफ आर. गसफील्ड, "ट्रेडिशन एंड मार्डर्निटी : मिसप्लेस्ड पोलरिटीज इन दी स्टडी आफ सोशल चेंज". *अमेरिकन जर्नल आफ सोशलॉजी*, जनवरी 1967, पृ. 353.
4. जैसा कि जे.एस. फर्नीवेल ने कहा : "आधुनिक भारत का विकास आधुनिक यूरोप के साथ हुआ". *कालोनियल पालिसी एंड प्रेक्टिस*, 1956, पुनर्मुद्रण, पृ. 537-38.
5. इस विषय पर अर्थपूर्ण बहस के लिए दखिए आर. पाम दत्त, *इंडिया टुडे*, 1949, पृ. 95-96; के.एस. शेलवंकर, *दि प्राब्लम आफ इंडिया*, 1940, पृ. 136-44; इरफान हबीब, *पोटेंशियलिटीज आफ कैपिटलिस्ट डवलपमेंट इन द इकानॉमी आफ मुगल इंडिया*, 1968, इंक्वायरी नं. 15; सतीश चंद्रा, *वाई डिड एन इंडस्ट्रीयल रिवोल्यूशन नाट टेक प्लेस इन इंडिया, 1968, मीमियोग्राफ*; पाल ए. बारन, *दि पालिटिकल इकानामी आफ ग्रोथ*, 1962 इंडियन संस्करण, 179-80, पृ. 191-92; एस.सी. झा, *स्टडीज इन डवलपमेंट आफ कैपिटलिज्म इन इंडिया*, 1963, अध्याय I, II.
6. देखिए, *ब्रिटिश एंड इंडियन आइडियाज आफ इंडियन इकानामिक डवलपमेंट*, 1858-1905, इसी खंड में.
7. इस संबंध में पुरानी व्यवस्था को जारी रखने के विचार को शोध की दृष्टि से भी अनुमति नहीं दी जा सकती. अपनी प्रकृति से ही पूंजीवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था थी. एक ओर तो उसे अपने लिए विश्व के बाजारों को विकसित करना था, और दूसरी ओर, उसने पूंजीवाद-पूर्व के समाजों के

सामने दो विकल्प रखे : अर्थात, या तो पूंजीवादी हो जाओ या फिर उपनिवेशों अथवा अर्ध-उपनिवेशों के रूप में पूंजीवादी व्यवस्था का एक अंग हो जाओ. इसलिए, कभी भी ऐतिहासिक प्रश्न यह नहीं था कि यदि भारत में प्राचीन व्यवस्था कायम रहती, तब क्या होता. पूंजीवाद के उदय ने केवल भारत के लिए ही नहीं बल्कि सभी देशों के लिए इस विकल्प को समाप्त कर दिया. भारत को या तो रूस अथवा जापान की भांति एक स्वतंत्र पूंजीवादी देश अथवा विश्व पूंजीवाद का एक औपनिवेशिक अंग होना था. देखिए अन्य समकालीन शक्तिशाली साम्राज्यों, चीन और तुर्की का क्या हश्र हुआ. यह भी देखिए कि लातीनी अमरीका में स्पेन और पुर्तगाल के स्वतंत्र भूतपूर्व-उपनिवेशों का क्या अंजाम हुआ.

8. 1949 में, भारत की 40,000 मील लंबी रेलवे लाइन के विपरीत चीन में केवल 14,000 मील लंबी रेलवे लाइन थी, यह तथ्य आधुनिक काल में औपनिवेशिक एकीकरण और आधुनिकीकरण के स्तर का मुख्य उपकरण और सूचक है.
9. देखिए बिपन चंद्रा, *दि राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया,* 1966, विशेष रूप से अध्याय 15.
10. *इंडिया टुडे,* 1949.
11. उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आंदोलन ने अपनी मुख्य शक्ति, कारणतत्व और प्रेरणा, और वस्तुपकर ऐतिहासिक वैधता मुख्यतः औपनिवेशिक प्रक्रिया और समाज पर उसके प्रभाव से प्राप्त की. यही कारण है कि वे लोग जो एक बुनियादी आर्थिक ढांचे के रूप में—राजनीतिक और नसली प्रभुत्व को छोड़कर—उपनिवेशवाद के वस्तुपरक अस्तित्व को मान्यता नहीं देते, वे यह मानते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन का विकास मुख्य रूप से, देशीय विशिष्ट वर्ग की आवश्यकताओं के कारण हुआ. निस्संदेह, यह परंपरा पुरानी है. देखिए जान स्ट्रेची, *इंडिया,* 1893, और वी. क्रोल, *इंडियन अनरेस्ट,* 1910, इस परंपरा का वैचारिक आधार आज भी वही है : अर्थात ब्रिटिश शासकों ने अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद आर्थिक प्रभुत्व और अविकास लाने के बजाए आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया आरंभ की, जिसकी वजह से धीरे-धीरे भारतीयों के विकास और औपनिवेशिक ढांचे के बीच मूल अंतर्विरोध उत्पन्न हुआ.
12. भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की बुनियादें भी 1873-96 की मंदी के दौरान डाली गई, जबकि रुपए के विनिमय मूल्यों में आई गिरावट ने भारतीय बाजारों में ब्रिटिश माल की स्पर्धा करने की स्थिति को कमजोर बना दिया था, पूंजी के आयात को और अधिक कठिन बना दिया था, और पिछड़े सुदूर पूर्व से संबंध मजबूत हो गए थे.
13. दोनों महायुद्धों के दौरान औद्योगिक विकास में प्रगति और साम्राज्यी आर्थिक संबंधों के बीच इस संबंध को जी. इ. हुबर्ड (*ईस्टर्न इंडस्ट्रियलाइजेशन एंड इट्स इफैक्ट आन दि वेस्ट,* 1938), आर. पाम दत्त, के.एल. मिचेल (*इंडस्ट्रियलाइजेशन आफ वेस्टर्न पैसीफिक,* 1942) और एन.एम.एस. शास्त्री (*ए स्टेटिस्टीकल स्टडी आफ इंडियन डवलपमेंट,* 1947) ने स्पष्ट देखा था. मिचेल (पृ. 7), शास्त्री (पृ. 5), और फर्नीवेल (पृ. 348) को भी विकास और मंदी के बीच संबंध नजर आया. अभी हाल ही में ए. गुंडर फ्रैंक ने इस तथ्य को एक परिकल्पना के रूप में प्रस्तुत किया है. देखिए *दि डवलपमेंट और अंडरडवलपमेंट, मंथली रिव्यु,* सितंबर 1966 और *कैपीटलिज्म एंड अंडरडवलपमेंट इन लैटिन अमरीका,* 1967, पृ. 149.
14. प्रथम महायुद्ध में 1914-21 तक के वर्ष सम्मिलित हैं, क्योंकि तब तक भारतीय उद्योगों पर युद्ध के प्रभाव को महसूस किया गया. इसके अतिरिक्त ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और पूंजी को भी युद्ध के प्रभाव से निकलने में कुछ समय लगा.
15. पी. रेड, *इंडियाज फारेन ट्रेड सिंस 1870,* 1934, पृ. 116.

16. कपास के लिए देखिए शास्त्री, पृ. 174.
17. जापान ने जिसके सामने कोई इस प्रकार की अड़चन नहीं थी, भारत की युद्धकालीन मांगों को पूरा करने का काम शीघ्र ही अपने हाथों में ले लिया.
18. वेरा एन्सटी, *दि इकानामिक डवलपमेंट आफ इंडिया,* 1946 दूसरा संस्करण पृ. 267, पा.टि. 4.
19. हालांकि जो लाभ हुआ वह शायद ही कभी भारत के युद्ध-पूर्व आंकड़ों से आगे गया हो, पी. रे, पृ.116 और 126.
20. ए.के. बनर्जी की गणना के अनुसार भारत में शुद्ध विदेशी पूंजी का आयात 1921 में 37 करोड़, 1922 में 55.3 करोड़ और 1923 में 38.7 करोड़ था. तथापि 1923 के पश्चात यह राशि कम हो गई और 1924 मे 6.7 करोड़ और 1925 में 4.1 करोड़ रह गई. यदि आयात-निर्यात के आधार पर गणना की जाए तो यह राशि अधिक जान पड़ती है। 1921 में 87.47 करोड़, 1922 में 63.50 करोड, 1923 में, 9.36 करोड़ और 1924 में 40.37 करोड़. ए.के. बनर्जी, *इंडियाज बैलेंस आफ पेमेंट्स,* 1963, पृ. 195, 200.
21. वी. एंस्टे., 'इंट्रोडक्शन'.
22. यदि 1914 में 100 को आधार मान लिया जाए तो सूचकांक इस प्रकार था :

ब्रिटिश भारत में जारी नई पूंजी

1914	1921	1922	1923	1924	1925	1926	1927
100	221	121	51	40	31	45	29

स्टेटिस्ट, 6 अगस्त 1927, आर. पामदत्त में उद्धरण, पृ. 148.

23. वेरा एंस्टे के शब्दों में (उन्होंने 1929 में लिखा) 1919-21 में बाजार में आई तेजी से उत्पन्न हुआ संकट जिसके बाद बाजार टूटा और घोर मंदी आई... 1922-23 का काल औद्योगिक छटनी और पुनर्गठन का काल था .... पृ. 220.
24. वही, पृ. 266 पा.टि. डी.आर. गाडगिल, *इंडस्ट्रियल इवोल्यूशन आफ इंडिया,* 1948 पुनर्मुद्रण, पृ. 232, पा.टि..
25. 1923 में बंबई मिल का शुद्ध लाभ 1922 में 388 लाख से घटकर 33 लाख रह गया और 1924 में 92 लाख और 1925 में 134 लाख का नुकसान हो गया. वेरा एंस्टी, पृ. 267.
26. 1922-23 और 1923-24 के दौरान उसने किसी लाभांश का भुगतान नहीं किया और 1925 आते-आते इसका 100 रुपए का शेयर घटकर 10 रुपए रह गया, वही पृ. 245, आर. पी. दत्त, पृ. 149.
27. जी.इ. हूबर्ड, पृ. 254.
28. ए.के. बनर्जी की दो गणनाओं के अनुसार, 1929 से 1931 तक विदेशी पूंजी का शुद्ध आयात क्रमशः 19.46 करोड़ और 44.92 करोड़ था, और 1931 से 1938 तक शुद्ध निर्यात क्रमशः 30.35 करोड़ और 23.37 करोड़ था (पृ. 200).
29. संसार में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थिति कमजोर हो जाने की वजह से भी इस रिआयत को हासिल करने में सहायता मिली. अब बहुत से भारतीय उद्योग ब्रिटिश उत्पादों के साथ स्पर्धा न करके जापान, जर्मनी, डच, इंडोनेशिया इत्यादि के उत्पादों के साथ स्पर्धा कर रहे थे. साम्राज्यी वरीयता के कारण ब्रिटिश स्थिति को सुरक्षा प्रदान की गई थी.
30. सूती वस्त्रों और चीनी के लिए देखिए, शास्त्री पृ. 174-75.
31. तैयार माल, चीनी और मिट्टी के तेल की खपत में गिरावट के लिए देखिए सुब्रामनियम और होम्फ्रे, पृ. 78.
32. इस प्रकार चीनी के काम में लगे भारतीय मजदूरों में भारतीय पूंजी का हिस्सा 87 प्रतिशत था, और सीमेंट में लगभग 70 प्रतिशत था. कागज में भारतीय हिस्सा कुल उत्पाद का 66 प्रतिशत था. एम.

किडरन, *फारेन इंवेस्टमेंट इन इंडिया,* 1965, पृ. 42.

33. सुब्रामनियम और होम्फ्रे, पृ. 56, 60 और 61.
34. पटसन, चाय और कायले के साथ भी ऐसा ही था. इसके लिए कच्चे लोहे और इस्पात की स्थिति बड़ी दिलचस्प थी. देशीय बाजार पर आधारित इस्पात का उत्पादन बढ़ गया, जबकि कच्चे लोहे का उत्पाद, जिसका 40 प्रतिशत मंदी से पूर्व निर्यात किया जाता था, घट गया और उसमें स्थिरता आ गई.
35. फिर भी यह उल्लेखनीय है कि कुल मिलाकर विकास की दर ऊंची नहीं थी.
36. सरकार द्वारा देशीय माल की खरीद 1938 में 5.6 करोड़ से बढ़कर 21.1 करोड़, 1939 में 78 8 करोड़, 1940 में 196 करोड़, 1942 में 247.8 करोड़ 1943 में 133.4 करोड़, ओर 1944 में 145.8 करोड़ हो गई. वही, पृ. 79.
37. वही पृ. 67 और आर.पी. दत्त पृ. 172.
38. जबकि 1914 में विदेशी बैंक में कुल जमा का 70 प्रतिशत था और 1930 में 57 प्रतिशत था, 1947 तक उनका हिस्सा गिरकर 17 प्रतिशत रह गया. किड्रान, पृ. 42.
39. बी.एन. दातार और आई.जी. पटेल, "एम्पलायमेंट ड्यूरिंग सैकेंड वर्ल्ड वार", *इंडियन एकानामिक रिव्यु,* खंड 3, नं. 1 फरवरी 1956, पृ. 16.
40. किड्रान, पृ. 66.
41. परषोतम दास ठाकुरदास, जे.आर.डी. टाटा, जी.डी. बिड़ला और अन्य, *ए ब्रीफ मैमोरेंडम आउटलाईनिंग ए प्लान आफ इकानामिक डवलपमेंट इन इंडिया,* 1944.
42. किड्रान, पृ. 65.
43. *ईस्टर्न इकानामिस्ट,* 18 मई 1945, पृ. 658.
44. विदेशी ऋण भी तब ही लेने थे जब उनसे 'विदेशी प्रभाव' न बढ़े अथवा और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि जब उन से विदेशी निहित स्वार्थो का हस्तक्षेप न हो. पृ. 46 और 48.
45. इसके अतिरिक्त यह कोई असाधारण घटना नहीं थी जैसा कि केट मिचेल, जे.एम. फर्नीवेल और ए. गुंडर फ्रैंक के अध्ययन से स्पष्ट होता है. यह घटना चीन, इंडोनेशिया, बर्मा, लातीनी अमरीका, अर्थात सारे औपनिवेशिक संसार में घटी.
46. इस प्रकार, आधुनिक फैक्टरियों में रोजगार पाने वाले मजदूरों की संख्या 1931 में 1,340, 675 और 1944 में 2,522,753 थी. सुब्रामनियम और होम्फ्रे, पृ. 30.
47. औद्योगिक तेजी के इन तीन कालों के बावजूद भारत के अनुद्योगीकरण और संरचनात्मक अविकास की प्रक्रिया जारी रही. इस प्रकार, कृषि में कार्यरत भारत की जनंसख्या 1901 में 69.58 प्रतिशत से वढ़कर 70.26 प्रतिशत और 1951 में 72.01 प्रतिशत हो गई. जे. कृष्णमूर्ति, *दि इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्टरी रिव्यु,* जनवरी 1965, खंड II, नं. 1, पृ. 50.
48. साइमन कुजनेट्स, "प्रजेंट अंडरडवलप्ड कंट्रीज एंड पास्ट ग्रोथ", उनके *इकानामिक ग्रोथ एंड स्ट्रकचर,* में, सेलेक्टेड ऐसेज, इंडियन एडीशन, 1969 (इसके पश्चात कुजनेट्स I के रूप में उल्लेखित) और अंडरडवलप्ड कंट्रीज *एंड दि प्री-इंडस्ट्रियल फेज इन दि एडवांस्ड कंट्रीज* (इसके पश्चात कुजनेट्स II के रूप में उल्लेखित) ए.एन. अग्रवाल और एस.पी. सिंह के *दि इकानामिक्स आफ डवलपमेंट,* गैलेक्सी बुक संस्करण, 1963 में. और देखिए शिगेरू, इशीकावा, *इकानामिक डवलपमेंट इन एशियन पर्सपेकटिव,* 1967, गुनर मिर्डल, *एशियन ड्रामा,* पैंगुइन संस्करण, 1968, अध्याय 14. विकास की अर्थव्यवस्था के सबंध में नुर्कले का मार्गदर्शक ग्रंथ, *प्राब्लम्स आफ कैपीटल फारमेश इन अंडरडवलप्ड कंट्रीज* इसी पद्धति पर आधारित है.
49. कुजनेट्स I पृ. 177 और 191-33; कुजनेट्स II, पृ. 151-53; इशीकावा, पृ. 1,2 : गुनर मिर्डल,

पृ. 673-74 और 16-24 भी.

50. उदाहरण के लिए देखिए मिर्डल, पृ. 674-76, 679, 703-4, इशीकावा भी देखिए, पृ. 4, पा.टि.
51. इस प्रकार मिर्डल लिखता है कि "जैसा की साइमन कुजनेट्स जैसे विद्वानों ने प्रदर्शित किया है विकास का तुलनात्मक विश्लेषण करने में शोधकार्य में जिन संभावित मूल्यों की खोज की जा सकती है वे विभिन्न क्षेत्रों की परिवर्तनशीलता का महत्व अथवा आकार, धंधे और प्रदेश के अनुसार आय का परिवर्तनशील वितरण, अथवा क्षेत्रीय बचत, पूंजीनिवेश, पूंजी उत्पादन के अनुपातों, आबादी की प्रवृत्ति, शहरीकरण के रूप में वितरण है. वह कहते हैं कि इसी वजह से यह पद्धति एक सर्वमान्य समाधान की ओर न ले जाकर एक सीमित अंतर्दृष्टि की ओर ले जाती है.' पृष्ठ 1856-57. वह इस प्रकार की सर्वमान्य संरचनात्मक व्याख्याओं के लिए कम्युनिस्ट विरोधी, रोस्टोव और मार्क्सवादियों की भर्त्सना करता है. देखिए पृ. 184 पा. टि. और पृ. 674 और देखिए कुजनेट्स I, पृ. 177.
52. इस विचार की एक व्याख्या नुर्कसे द्वारा दिया गया वाक्यांश है : "एक देश इसलिए गरीब है क्योंकि वह गरीब है". पृ. 4.
53. ए. गर्शेनकरन, *इकानामिक बैकवर्डनेस इन हिस्टोरिकल पर्सपेकटिव,* प्रेगर संस्करण, 1965.
54. पा.टि. 48 में संदर्भ देखिए. और देखिए एच. लेवंस्टीन, *इकानामिक बैकवर्डनेस एंड इकानामिक ग्रोथ,* 1962 पुनर्संस्करण, पृ. 15 पा.टि., जी. मियर, *लीडिंग इश्यु इन इकानामिक डवलपमेंट* पृष्ठ 43 पा. टि., जी मियर, "लिमिटेड इकानामिक डवलपमेंट", अग्रवाल और सिंह में; और जे. वाइनर, "दि इकानामिक्स आफ डवलपमेंट", अग्रवाल और सिंह में.
55. प्रारंभिक स्थिति संख्या नं. (1) के लिए देखिए ब्रज नारायन, *इंडियन इकानामिक लाइफ पास्ट एंड प्रजेंट,* 1929, पृ. 2 पा.टि.; आर.के. मुखर्जी, *दि इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया, 1600-1800,* पृ. 54; एस.जे. पटेल, *इकानामिक डिस्टेंस बिटवीन नेशंस, ऐसेज आफ इकानामिक ट्रांजिशन,* 1965 में. (2) के लिए वाणिज्यिक पूंजी में भारी जमाव की मात्रा के लिए देखिए हबीब, पृ. 57. पा.टि. एस. चंद्रा, पृ. 3; एन.सी. सिनहा, *स्टडीज इन इंडोब्रिटिश इकानामी हंड्रेड इयर्स एगो,* 1946, पृ. 17-23; एन.के. सिनहा, *दि इकानामिक हिस्ट्री आफ बंगाल,* खंड 1, 1961 संस्करण, पृ. 148 पा.टि., खंड III, 1970, अध्याय 5; वी.आई. पावलोव, *दि इंडियन कैपीटलिस्ट क्लास,* 1964, अध्याय III. (3) के लिए देखिए हबीब, पृ. 3; एच.एच. मान, *लैंड एंड लेबर इन ए दक्कन विलेज* (पिंपली सौदागर), 1947, पृ. 46 और (जातेगांव वधरक), 1921, पृ. 42. (4) कृषि उत्पादकता के लिए देखिए हबीब, पृ. 4 (इसके अतिरिक्त जैसा की हबीब ने संकेत किया है, जबकि उपजाऊ भूमि की प्रचुरता के कारण प्रति श्रमिक उत्पादकता अधिक थी, एवं प्रारंभिक स्थिति के रूप में प्रति एकड़ उत्पादकता अधिक महत्वपूर्ण नहीं है); वालकर भी देखिए, *रिपोर्ट आन दि इंप्रूवमेंट आफ इंडियन एग्रीकल्चर,* 1891, आर. सी. दत्त में उद्धरण पृ. 206-7, क्रय योग्य अधिशेष के लिए यह उल्लेखनीय है कि 19वीं शताब्दी के दौरान भारत खाद्य और कृषि संबंधी कच्चे माल का निर्यात करता था. (5) देखिए हबीब, पृ. 41; एस. चंद्रा, पृ. 2. 1851 तक औद्योगीकरण न होने के कारण लंबे समय तक केवल 61.1 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी. (6) बिलकुल लागू नही होता. (7) के लिए, आंतरिक व्यापार के लिए देखिए, आर.के. मुखर्जी, पृ. 117-19; हबीब पृ. 59; सड़कों के संबंध में टी. मौरीसन, *दि इकानामिक ट्रांजिसन इन इंडिया,* 1911, पृ. 22-23. (8) के लिए देखिए हबीब, पृ. 8, 11 और 12, 65.(9) के लिए देखिए हबीब, पृ. 61-63; (10) के लिए देखिए हबीब; आर.सी. दत्त *दि इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया,* खंड 1, 1956, पुनर्मुद्रण, अध्याय 12, 13, *एन्स्टी,* पृ. 5; टी. राय चौधरी और अन्य द्वारा लिखित, *दि इंडियन इकानामी इन दि नाइनटींथ सेंचुरी, ए सिम्पोजियम,* पृ. 79 पा.टि., बैंजामिन हिजिंग, वेस्टर्न *एंटरप्राइज एंड दि इकानामिक डवलपमेंट आफ साउथईस्ट*

एशिया, पैसिफिक अफेयर्स, मार्च 1955, खंड 31 संख्या 1, पृ. 761. (11) दस्तकारी के लिए देखिए, वी.वी. भट्ट, *आस्पेक्ट्स आफ इकानामिक चेंज एंड पालिसी इन इंडिया, 1800-1960,* पृ. 14-18 ; कार्ल मार्क्स, *ऑन कालोनियलिज्म,* दूसरा संस्करण, पृ. 87, *इंडस्ट्रीयल कमीशन रिपोर्ट* 1915, पृ. 6; संस्कृति के सामान्य स्तर के लिए देखिए, *मैलकम एंड मुनरो,* आर.पी. दत्त में उद्धरण खंड 1, पृ. 259-60, मिर्डल भी देखिए, पृ. 695. (12) देखिए हबीब, पृ. 58; एस.चंद्रा, पृ. 1. (15) भारत निश्चित रूप से विज्ञान और प्रौद्योगिकी में पिछड़ा हुआ था परंतु वह स्थिर नहीं था. हबीब, *टेक्नीकल चेंजेज एंड सोसाइटी,* 1969, वह उद्योग और सगठन में भी इतना अधिक पिछड़ा हुआ नहीं था; मिर्डल, पृ. 453-54; एस. चंद्रा, पृ. 3-4; हिंजिंस, पृ. 76, (18) यह उल्लेखनीय है कि कृषि से इतना अधिशेष प्राप्त हो जाता था कि अंग्रेजों को 1756 के बाद साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए लड़े गए युद्धों के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध हो गया. उनके पास 19वीं सदी के दौरान संसार का सबसे महंगा सैनिक और नौकरशाही तंत्र था. रेल निर्माण और आधुनिकीकरण के दूसरे उपायों पर किए गए खर्च को भी इसी अधिशेष के कारण वहन किया गया. (19) ब्रिटिश-पूर्व काल में और 19वीं सदी के दौरान भी भारत का विदेश-व्यापार व्यापक था ओर उसे निर्यात से भारी बचत होती थी.

56. प्रारंभिक परिस्थितियों नं. 13 और 15 पर लागू होता है.
57. 12, 13, 18 और 19 पर लागू होता है.
58. इन विशेष अर्थो में यह 10, 15, 17 और 20 पर लागू होता है (इस अंतिम पहलू को इशीकावा ने बड़े स्पष्ट तरीके से प्रस्तुत किया है. (पृष्ठ 23, 359, 369-70 और 384-85) और मिर्डल (पृ. 692-95).
59. मिर्डल, पृ. 704.
60. वास्तव में, जब औपनिवेशिक आधुनिकीकरण जारी था तब कुछ प्रारंभिक परिस्थितियां अनुकूल रहीं : 1918 के पश्चात अव भारत को एक उपनिवेश का दर्जा दे दिया गया तो नकारात्मक प्रारंभिक परिस्थितियां उभर आई.
61. उदाहरण के लिए देखिए जे. वाइनर, पृ. 31, कुजनेट्स. I पृ. 182; लेबेंस्टिन, पृ. 31, और देखिए, एम.एन. श्रीवास्तव, *सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया,* 1966, पृ. 51.
62. हालांकि इससे हमें उन अंतरों को बिना प्रमाण के स्वीकार करने के बजाए उस प्रक्रिया का अध्ययन करने का संकेत मिलता है.
63. देखिए एन्स्टी, पृ 2 पा.टि. 175-76; बुकानन, अध्याय II; डी.आर. गाडगिल, *इकानामिक पालिसी एंड डवलपमेंट,* 1955, पृ. 153-55; एन.वी. सोवानी, "नान इकानामिक आस्पेक्ट्स आफ इंडियाज इकानामिक डवलपमेंट", *एडमिनिस्ट्रेशन एंड इकानामिक डवलपमेंट इन इंडिया* में, संपादक ब्रेवेंटी एंड स्पेंगलर, 1963; यू.एन., *मैसर्ज फार दी डवलपमेंट आफ अंडरडवलप्ड कंट्रीज,* 1951, पृ. 13-15; के. डेविस, *इकानामिक ग्रोथ ब्राजील, इंडिया, जापान,* संपादक कुजनेट्स, मूर और स्पेंगलर, 1955; कुजनेट्स I, पृ. 183-84; लेब्रेंस्टिन, पृ. 31 पा.टि. मिर्डल, पृ. 690-91, 1872-73.
64. देखिए जासेफ आर. गसफील्ड, पृ. 351 पा.टि. : *स्ट्रक्चर एंड चेंज इन इंडियन सोसाइटी,* संपादक मिलटन सिंगर और वर्नार्ड एस. काहन : मौरिस डी. मौरिस : "वैल्यूज एज एन आब्सटेकल टू इकानामिक ग्रोथ इन साउथ एशिया : एन हिस्टोरिकल्स सर्वे" *जर्नल आफ इकानामिक हिस्टरी,* खंड 27, संख्या 4, दिसंवर 1967; किडरन, पृ. 22; लेवकोविस्की, पृ. 243-45. हबीब को भी देखिए पृ. 47.
65. किडरन भी देखिए पृ. 41-42. ब्रिटिश पूर्व उपक्रमी ऊर्जा के लिए देखिए पा.टि. 55(2) में ऊपर दिया गया उदाहरण. 18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के आरंभ में इस ऊर्जा में प्रगति के लिए देखिए एन.सी. सिनहा, पृ. 23, पा.टि. इस विषय पर सामान्य चर्चा के लिए देखिए पाल बारन, पृ. 275-81.

66. एक उदाहरण दिया जा सकता है. सामान्य व्यक्तियों द्वारा सामाजिक, निजी और भाग्यवाद की स्थितियों के प्रति समर्पण का रवैया औपनिवेशिक और सामाजिक प्रश्नों के विरुद्ध संघर्ष में एक नकारात्मक पद्धति की अभिव्यक्ति करता है; परंतु वह पूंजीवाद के विकास और औपनिवेशिक आधुनिकता में अत्यंत सहायक है. विज्ञान, तर्क और ज्ञानवर्धन (और उपयोगतावाद) के दौर में प्रारंभिक फैक्टरी मालिकों ने पादरियों और इंगले के चर्च की सहायता से श्रमिकों को इस रवेए के प्रति काफी प्रोत्साहित किया.
67. मौरिस डी. मौरिस "टूवर्डस ए रिइंटरप्रेटेशन आफ नाइनटींथ सेंचुरी इंडियन इकानामिक हिस्टरी", पुनर्मुद्रण *इंडियन इकानामी इन दि नाइनटींथ सेंचुरी* में; *ए सिंपोजियम*, टी. राय चौधरी और अन्य, पृ. 2 पा.टि. 13-14. 19वीं शताब्दी के दौरान भारत पर लिखने वाले सभी ब्रिटिश लेखकों का विचार था कि केवल वे ही उस समय के संक्रमण को समझते थे. उदाहरण के लिए देखिए, डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर, *इंडिया आफ दि कुइन एंड अदर ऐसेज*, 1903 पृ. 135 पा.टि.; जान ऐडी, पृ. 89; *दि पावर्टी आफ इंडिया, वैस्टमिनिस्टर रिव्यु*, संख्या 1887, पृ. 990-1001, 1004; कर्जन, *स्पीचेज*, खंड 4, 1906, पृ. 37.
68. मुगल-पूर्व भारत की प्रारंभिक स्थितियों पर मेरी संपूर्ण बहस इसी तथ्य को प्रदर्शित करती है. उत्पादन के सामाजिक संबंधों की सामंती संरचना और राज्य-सत्ता संभवतः अक्षमता का कारण थी. दोनों को ब्रिटेन ने समाप्त कर दिया. भारत का नया शासक वर्ग, वास्तव में, बुर्जुआ वर्ग था, और वह अपने स्वभाव से अत्यंत आधुनिक था. टी. रायचौधरी भी देखिए, "ए रिइंटरप्रेटेशन आफ नाइनटींथ सेंचुरी इंडियन इकानामिक हिस्टरी", जिसका पा.टि. संख्या 67, पृ. 79-88 में ऊपर उल्लेख किया गया है.
69. यह भी एक 'अविशिष्ट' कारण है. अग्रवाल और सिंह में मेइर, पृ. 67-68 बेरिल पृ. 24 और आगे. इ.ए.जी. राबिंसन बेरिल में, पृ. 218. चूंकि उनका ग्रंथ कोशीय प्रकार का है और उसमें सभी प्रकार की ऐतिहासिक सिद्धांतों की व्याख्याओं का समावेश है, इसलिए यह कहना कठिन है कि मिर्डल का वास्तविक सैद्धांतिक आधार क्या है. परंतु, मेरा विचार है कि अंत में उन्हें क्षरण के सिद्धांत का प्रवर्तक ही माना जाएगा.
70. मैं, वास्तव में, साम्राज्यवाद की महिमा का गुणगान करने वाले विचारकों की अनदेखी कर रहा हूं जिन के व्यक्तिगत बौद्धिक विकास के लिए इस तथ्य को स्वीकार करना उपयोगी हो सकता है.
71. देखिए, कुजनेट्स, I, पृ. 182; कुजनेट्स II, पृ. 141 और 151-52, इशीकावा, पृ. 364.
72. उदाहरण के लिए देखिए, लेबेंस्टीन, पृ. 103; कुजनेट्स, पृ. 182-83.
73. इसके आरंभिक प्रवर्तक जेम्स मिल, जान ब्राइट, डब्ल्यू.एस. केन, ए.ओ. हैनरी, हैनरी काटन और ए.के. कानल जैसे व्यक्ति थे.
74. मिर्डल, पृ. 455-56; बेरिल, पृ. 238-40; मियर, पृ. 70-74; डब्ल्यू.एस. निकोलस बेरिल में, पृ. 352. वी. एस. लोकनाथन, *दि इंडियन इकानामिक सिस्टम*, काल्विन बी. हूवर में, संपादित; *इकानामिक सिस्टम आफ कामनवेल्थ*, 1962, पृ. 263. प्रारंभिक उदारवादी विचार के लिए देखिए, डी.एच. बुकानन, *दि डवलपमेंट आफ कैपिटल इंटरप्राइज इन इंडिया*, 1934, अध्याय 19.
75. यह कहा जाता है कि भारत में इसकी शुरुआत रानाडे और उनके समर्थकों ने की. देखिए, बिपन चंद्रा, पृ. 112 और आगे, और अध्याय 14. 1947 से पूर्व राष्ट्रवादी लेखन का यही सारतत्व था. इस विचार पर दो हाल ही के वक्तव्यों के लिए देखिए वी.वी. भट्ट, पृ. 2-6, 36 और आगे, 58-60, और 70 और टी. रायचौधरी, *दि इंडियन इकानामी (1905-1947)*, आर. सी. मजूमदार द्वारा संपादित *स्ट्रगल फार फ्रीडम*, में 1969, पृ. 566.
76. बुकानन, अध्याय 14, देखिए माइंट, पृ. 108-9 (वह वास्तव में इस विचार से सहमत नहीं है).

77. दादा भाई नौरोजी द्वारा उदारवादी दृष्टिकोण की समय से पूर्व की गई समीक्षा अर्थात, उपनिवेशवाद को औपनिवेशिक नीति और राज्य की भूमिका के रूप में देखने के लिए देखिए बिपन चंद्रा, पृ. 699, 703-6. उदारवादी दृष्टिकोण के कारण मूल विश्लेषण में बुरी तरह असफल होने के लिए देखिए फर्नीवल, *कालोनियल पालिसी एंड प्रैक्टिस*, जो आज भी इस क्षेत्र में एक भरोसेमंद ग्रंथ स्वीकार किया जाता है. भारतीय लेखकों के मामले में, पूंजीपति वर्ग के हित और पूंजीवाद के प्रति उनके दृष्टिकोण के कारण भी कठिनाइयां आई हैं. केवल समाजवादियों द्वारा ही उपनिवेशवाद के बुनियादी पूंजीवादी की आलोचना की जा सकती थी. दूसरे लोगों ने अपना ध्यान औपनिवेशिक पालिसी पर केंद्रित किया जिससे भारत में साम्राज्यवाद-विरोध को पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना से अलग रखा जा सके.
78. यह कार्य इस तथ्य से और भी सरल हो गया कि कींस के सिद्धांत पर आधारित नई व्यवस्था में राज्य की भूमिका को मान्यता दी गई है.
79 प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने भी मात्रात्मक विश्लेषण के साथ शुरुआत की; उन्होंने सर्वप्रथम शासकों के उद्देश्यों ओर उसके पश्चात उनकी नीतियों पर चर्चा की और अंत में उन्होंने इस ढांचे के संबंध में प्रश्न पूछना आरंभ किया, जिस पर ये नीतियां आधारित थीं. उन्हें 'संरचनात्मक, अथवा मूल प्रश्न इसलिए पूछने पड़े क्योंकि उन्हें विकास के उस मार्ग के प्रति अपने रवैए को निर्धारित और परिभाषित करना था. जिसका कि भारतीय अर्थव्यवस्था अनुशरण कर रही थी, अर्थात, अर्थव्यवस्था की औपनिवेशिक संरचना. देखिए बिपन चंद्रा अध्याय 15.
80. इस परित्याग की शुरुआत औपनिवेशिक काल में ही हो गई थी. इसे भारत के विख्यात आर्थिक इतिहासकार और अर्थशास्त्री वी.जी. काले ने आरंभ किया था. पहला, औपनिवेशिक वैचारिक ढांचे के प्रति अपनी वचनबद्धता के कारण, एक ओर तो उन्हें उपनिवेशवाद की समीक्षा करने में कठिनाई आई और दूसरी ओर, वैचारिक प्रतिष्ठा के लिए यह जरूरी था कि वे उन व्यक्तियों का बौद्धिक आदर प्राप्त करें जो उन के समकक्ष थे. इसलिए उनके लिए ब्रिटेन में प्रचलित वैचारिक सीमाओं में बांधे रहना आवश्यक था. दूसरे शब्दों में, अपने राष्ट्रवाद के बावजूद वे ब्रिटेन के बौद्धिक चिंतन के पिछलग्गू बने रहे. उपनिवेशवाद को एक औपनिवेशिक नीति के रूप में देखने और उसकी आलोचना करने से ही राष्ट्रवाद और उनकी बौद्धिक विचारधारा और 'सुरक्षा' की भावना के बीच अंतर्विरोध को समाप्त किया जा सकता था. इस प्रकार वे उदारवादियों—ब्रिटेन में उपनिवेशवाद के लेबर आलोचकों के साथ जुड़ सकते थे. दूसरे कारण पर, अर्थात, पूंजीवाद से आगे देखने में उनकी असफलता पर पहले ही पा.टि. 77 में चर्चा की जा चुकी है. मैं, यह भी संकेत करना चाहूंगा कि बाद के जिन चार लेखकों का ऊपर जिक्र किया गया है, अपने लेखन के समय औपनिवेशिक शैक्षिक व्यवस्था से बाहर थे और समाजवाद के प्रति वचनबद्ध थे. मेरे विचार में, केवल बी.एन. गांगुली ने 1958 में एक ढांचे के रूप में उपनिवेशवाद को समझने का शैक्षिक प्रयत्न किया. देखिए उनका लेख, "इंडिया—ए कालोनियल इकानामी (1757-1947)", *इनक्वायरी*, पुरानी शृंखला, संख्या 1.
81. योजना आयोग, भारत सरकार, *दि फर्स्ट फाइव ईयर प्लान*, 1952, इस दस्तावेज पर आयोग के अध्यक्ष, जवाहरलाल नेहरू, के हस्ताक्षर हैं.
82. वही, पृ. 7.
83. वही, पृ. 9-12. इस दस्तावेज के अनुसार, औपनिवेशिक काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विकास हुए; आधुनिक औद्योगीकरण का आर्थिक जीवन के पारंपरिक प्रतिमानों पर प्रभाव जिसके फलस्वरूप दस्तकारी का सर्वनाश हो गया और भूमि पर दबाव बढ़ गया; खेती के प्रति व्यक्ति उत्पादकता में कमी; लोगों में एक कारुणिक संतोष के रवैए का विकास; आर्थिक अधिशेष को आयात की वस्तुएं खरीदने के लिए खर्च किया जाने लगा और विशेषकर विदेशी वाणिज्यिक हितों की रक्षा

के लिए रेलों का निर्माण हुआ; उद्योग का अति सीमित विकास, सरकार की एक अधिक सकारात्मक नीति के कारण मंदी के काल में पूंजी निर्माण में वृद्धि, और उत्पादकों के पक्ष और किसानों के विरुद्ध व्यापार की शर्तों में परिवर्तन और कृषि में गिरावट. वही, पृ. 28-29.

84. वही, पृ. 26, 473-78.
85. वही, पृ. 26.
86. वही, पृ. 31-32.
87. संक्रमणकालीन *अर्थव्यवस्था* का सिद्धांत देखिए, डी.आर. गाडगिल, *इंडस्ट्रीयल डवलपमेंट आफ इंडिया,* पृ. 1-2; टी. मौरीसन, *दि इकानामिक ट्रांजीशन आफ इंडिया; एन्स्टी,* प्रस्तावना और अध्याय 17 यह उत्तर नहीं देते कि किस प्रकार का संक्रमण? अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि उपनिवेशवाद से अलग हुए बिना, औपनिवेशिक भारत एक 'आधुनिक' अथवा औद्योगिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में विकसित हो सकता था. आधुनिक अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र, और समाजशास्त्र की विचारधाराएं यही भूल करती हैं क्योंकि इस समस्या की परिभाषा ही गलत होती है. उनके प्रतिमान में केवल दो सामाजिक व्यवस्थाओं का अस्तित्व होता है—पारंपरिक और आधुनिक. इसके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक काल को या तो परंपरा के काल या आधुनिकता की ओर संक्रमण के एक काल या कुछ मामलों में, स्वयं आधुनिकता के रूप में देखा जाता है.
88. ऐसा भी नहीं है कि सकारात्मक भूमिका एक काल और नकारात्मक भूमिका दूसरे काल से संबंधित है. वह आरंभ से ही 'अविकास' उत्पन्न कर रही थी.
89. उपनिवेशवाद के इसी गुण के कारण उसका विघटन संघर्ष के बिना संभव नहीं हे. राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन इस संघर्ष में सहायक तो होता है, परंतु यह परिवर्तन स्वयं इस विघटन की ओर नहीं ले जाता.
90. इस वात पर जोर दिया जाना चाहिए. औद्योगिक पूंजीवाद का लगभग अभाव और उद्योग में 'विकास की शून्य दर' आधुनिक उपनिवेशवाद के लिए जरूरी आधार नहीं है. कच्चे माल का निर्यात और तैयार माल का आयात जैसे पारंपारिक लक्षण भी उपनिवेशवाद की परिभाषा के लिए पर्याप्त नहीं है. शांति के केंद्र-देश की पूंजी का निवेश अधिक होना भी जरूरी नहीं है. उपनिवेशवाद का सार यही है कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था विश्व के साम्राज्यवादी भाग के अधीन हो, जो औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की मूल प्रवृत्तियों को निश्चित करने में सक्षम हो. इसी कारण से, आधुनिक समय में उपनिवेशवाद न केवल औद्योगिक रूप से पिछड़े अथवा अर्ध-सामंती देशों पर बल्कि विकसित अथवा विकासशील पूंजीवादी देशों पर भी थोपा जा सकता है.
91. इस पर सर्वप्रथम 1853 में कार्ल मार्क्स ने ध्यान दिया. उसने लिखा : "इंगलैंड ने भारतीय समाज के समस्त ढांचे को ध्वस्त कर दिया है—*यह ब्रिटेन द्वारा शासित भारत को, उसकी तमाम प्राचीन परंपराओं और उसके समस्त इतिहास से अलग करता है."* पृ. 34. उसने घोषणा की कि ब्रिटेन ने भारत में 'महानतम सामाजिक क्रांति' पैदा की है (पृ. 38-39). पृ. 84 भी देखिए.
92. देखिए, एस.जे. पटेल, *एग्रीकल्चर लेबरर्स इन माडर्न इंडिया एंड पाकिस्तान ऐसेज आन इकानामिक ट्रांजिशन* में; रामकृष्ण मुखर्जी, *दि डाइनामिक्स आफ ए रूरल सोसाइटी*; 1957, अध्याय 1. मार्क्स ने 1853 में (पृ. 80) यही कहा था.

अध्याय दो

उन्नीसवीं सदी के भारत के आर्थिक इतिहास की पुनर्व्याख्या

यह बात बिलकुल सही है कि 19वीं सदी के भारत के आर्थिक इतिहास की सही पुनर्व्याख्या ऐतिहासिक और सामयिक दोनों कारणों से अत्यंत महत्वपूर्ण है। विकसित देशों की तुलना में भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और इस पिछड़ेपन के कारणों को समझने के लिए यह (पुनर्व्याख्या) बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर आर्थिक और राजनीतिक उपचार किए जा सकते हैं। आज जिन आर्थिक नीतियों में से हमें चुनाव करना है, उनमें से प्रत्येक नीति की भारत पर पड़े ब्रिटिश प्रभाव, और देशीय सामाजिक-आर्थिक ढांचे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच संवाद से उत्पन्न संरचनात्मक कमजोरियों के संबंध में अपनी अलग-अलग धारणाएं एवं सोच है। वैचारिक दृष्टि से देखा जाए तो 19वीं सदी के भारतीय इतिहास पर एक बड़े स्तर पर खोज अभी हाल में ही आरंभ हुई है। जिन अनुमानों को आधार बनाकर खोज की जा रही है और जिस प्रकार के प्रश्न उठाए जा रहे हैं, उनका इसके परिणामों पर निश्चय ही स्थायी प्रभाव पड़ेगा। मैंने डा. मौरिस[1] की व्याख्या को विस्तृत बहस के लिए इस वजह से चुना है क्योंकि उन्होंने इस विषय से संबंधित दो विचारों का व्यापक रूप से खुलासा किया है।

I

किसी भी लेखक की रचना की विस्तृत समीक्षा करते समय उसकी रचना के शीर्षक से आरंभ करना गलत नहीं होगा। देखना यह है कि डा. मौरिस इस विषय पर एक नई व्याख्या अथवा पुनर्व्याख्या की दिशा में कहां तक गए हैं?

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के दौरान दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के अर्थशास्त्रियों और आर्थिक इतिहासकारों में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत में हुई आर्थिक प्रक्रिया की प्रकृति पर बहस होती रही। इनमें से एक विचारधारा ने घोषणा की कि भारत अधिक समृद्धशाली हो रहा था और ब्रिटेन द्वारा स्थापित (एक लंबी अराजकता के बाद) कानून और व्यवस्था, अत्यंत ईमानदार और संसार में अत्यंत कुशल नौकरशाही द्वारा चलाए जा रहे प्रशासन, रेलों के विकास, वाणिज्यिक विकास, विशेषकर विदेशी वाणिज्य, सिंचाई और कृषि क्षेत्र में वृद्धि के कारण

वह (भारत) आर्थिक विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था। इसके बजाए, दूसरी विचारधारा के समर्थकों का विश्वास था कि ब्रिटिश शासन न तो औद्योगिक विकास, अथवा एक औद्योगिक क्रांति अथवा आर्थिक विकास की ओर ले गया और न ही सामान्य व्यक्तियों के जीवन में कोई आर्थिक सुधार हुआ; यह कि ब्रिटिश शासन से देश में आर्थिक परिवर्तन तो हुए, लेकिन कोई आर्थिक विकास नहीं हुआ, और यह कि, दूसरी ओर, ब्रिटिश शासन एक व्यवस्था के रूप में धीरे-धीर, देश के आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण में प्रमुख बाधा बन गया, और यदि भारत को अपना विकास करना था तो ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना एक आवश्यक, हालांकि पर्याप्त नहीं, शर्त थी।

भारत के आर्थिक इतिहास और उसकी विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं के विद्यार्थी होने के नाते हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखें। और जब हमारा झुकाव दूसरी विचारधारा के समर्थकों को राष्ट्रवादी कहने की ओर हो—मैं उन्हें साम्रज्यवाद-विरोधी कहना ज्यादा पसंद करूंगा[2]—तो हमें पहली विचारधारा के अस्तित्व को भी स्वीकार करना चाहिए, जिसे साम्राज्यवादी विचारधारा कहा जा सकता है। स्ट्रैची बंधु, जनरल चेसनी और लार्ड कर्जन (और बहुत से दूसरे अधिकारी) और बाद में टी. मौरीसन, जी.एफ. सिर्रास, एल.सी.ए. नालेस और कुछ कम हद तक बेरा एन्सटे साम्राज्यवादी विचारधारा के प्रमुख प्रवक्ताओं में रहे हैं। हम इस वर्गीकरण को प्रामाणिक भले ही न मानें, परंतु इसे हम उस विचारधारा का द्योतक अवश्य मान सकते हैं। ऐसे वर्गीकरण से किसी भी दृष्टिकोण अथवा पद्धति की वैधता अथवा अवैधता सिद्ध नहीं होती। लेकिन इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है 'राष्ट्रवादी' शब्द का विपरीत शब्द 'वस्तुपरक' न होकर 'साम्राज्यवादी'[3] है, विशेष रूप से आधारभूत प्रश्न पर कोई बीच का रास्ता नहीं निकल सकता—दोनों में से एक की वैधता को स्वीकार करना होगा।

अब यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि मौरिस 19वीं सदी के आर्थिक इतिहास की एक नई व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं, बल्कि थोड़ी सी अधिक आधुनिक आर्थिक शब्दावली के प्रयोग द्वारा पुनः वर्णन कर रहे हैं। परंतु, यह भी उन्होंने एक सीमा तक ही किया है क्योंकि उन्होंने जो आर्थिक ढांचा प्रस्तुत किया है वह मुक्त व्यापार का ही ढांचा है, जिसकी उस समय के अधिकांश सरकारी और गैर-सरकारी लेखक में अभिव्यक्ति होती है।[4] वास्तव में, हम यहां इस बात पर जोर नहीं दे रहे हैं कि जो मौरिस ने कहा है वह गलत है। निश्चित रूप से पुराने सिद्धांतों को केवल इसलिए गलत नहीं कहना चाहिए कि वह वे पुराने हैं। परंतु उन्हें नई व्याख्याओं के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

इस बात से बड़ा आश्चर्य होता है कि मौरिस अपने बौद्धिक ऋण, अथवा इस व्याख्या में अपने पूर्ववर्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करने में झिझकते हैं। वे, आरंभ

में ही, यह कहते हैं कि आर्थिक लेखकों के दो वर्ग रहे हैं : "भारतीय लेखक 19वीं सदी के पतन के कारण के रूप में, विशेष रूप से, ब्रिटिश शासन के शोषक पहलुओं पर जोर देते हैं। पश्चिमी लेखक—शोषण की बात को स्वीकार नहीं करते—कहते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था औद्योगिक क्रांति के लाभों का फायदा नहीं उठा पाई और इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में 'दूसरी दुनिया' के प्रति अधिक मोह था और वह विभिन्न जातियों में विभाजित था'' (पृष्ठ 607)। परंतु, ब्रिटिश आर्थिक और प्रशासनिक रचनाओं के एक विद्यार्थी को शीघ्र ही यह अहसास हो जाएगा कि दूसरा दृष्टिकोण केवल बचाव के लिए अथवा अपनी बात से पीछे हटने के लिए अपनाया गया एक रास्ता है। विशेषकर, 19वीं सदी में प्रमुख दृष्टिकोण ब्रिटिश राज के परोपकारी और लाभप्रद होने पर आधारित था और इसके अनुसार उत्पादन को तत्कालीन निम्न स्तर और जीवन स्तर के उच्च न होने का मुख्य कारण यही था कि जब ब्रिटिश शासन आरंभ हुआ तब भारत में दोनों प्रकार के स्तर इससे भी कम थे।

दूसरे मौरिस ने साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा का इतना खंडन नहीं किया है जितना कि उसका खाका खींचा है और हंसी उड़ाई है, और अकसर उसे बचकाना कह कर खारिज किया है। उदाहरण के लिए, वे लिखते हैं कि "दोनों प्रकार की व्याख्याएं कुछ आंतरिक अंतर्विरोधों से ग्रस्त है, और जब उन्हें सरलतम आर्थिक कसौटियों पर कसा जाता है तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है" और यह कि "इनमें से किसी भी व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण आधार नहीं है, क्योंकि कोई ऐसा ठोस शोध-कार्य नहीं हुआ जिन पर इनके परिणाम आधारित हों"(पृष्ठ 608)।[5] इन साधारण आर्थिक उपकरणों के अतिरिक्त मौरिस इस प्रकार के वक्तव्य भी देते हैं जिनसे हमें ऐसे उपकरणों की उपयोगिता और अस्तित्व पर भी संदेह होने लगता है, अथवा यह कि उनके द्वारा मूल साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा का खंडन समीक्षात्मक दृष्टिकोण से सही प्रतीत नहीं होता। मैं, आरंभ में ही इस बात पर जोर देना चाहूंगा कि साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों ने जिन मुद्दों को उठाया वे इतने बुनियादी और गहराई से सोचे समझे गए मुद्दे थे कि उन्हें इतना साधारण नहीं माना जा सकता और आसानी से रद्द नहीं किया जा सकता। यह उनकी मूल-पद्धति पर विस्तार से विचार करने का स्थान नहीं है, परंतु इतना संकेत किया जा सकता है कि उन्होंने जिस प्रमुख मुद्दे को उठाया वह प्रतिव्यक्ति आय अथवा हस्त-शिल्प की बर्बादी का नहीं बल्कि आर्थिक विकास का मुद्दा था। उन्होंने जो मुख्य प्रश्न उठाए वे ये थे : 1858 के पश्चात ब्रिटिश शासन आर्थिक विकास के लिए हानिकारक अथवा उपयुक्त था, और जिस आर्थिक संरचना की उत्पत्ति में ब्रिटिश राज ने सहायता की है वह विकास में सहायक था अथवा नहीं? जब उन्होंने देखा कि भारत सफलतापूर्वक औद्योगीकरण के रास्ते पर नहीं चल रहा था तो उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों नहीं हुआ, वे कौन से कारण थे जो प्रगति में बाधक थे और इसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की क्या भूमिका

थी? भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना और उसके निर्माण और उसे कायम रखने में ब्रिटिश भूमिका की संपूर्ण जांच करने के पश्चात ही उन्होंने ब्रिटिश राज के काल को शोषण, पतन और हताशा काल कह कर पुकारा। उन्होंने कभी भी ब्रिटिश शासन की यह कह कर आलोचना नहीं की थी कि वह पुरानी व्यवस्था को जारी नहीं रख रहा था, बल्कि इसलिए आलोचना की क्योंकि वह नए, अर्थात, आधुनिक आर्थिक विकास को लाने में असफल हुआ था। उन्होंने वास्तव में, उन्हीं मुद्दों को उठाया जिन्हें दूसरे महायुद्ध के बाद पश्चिमी विकास के अर्थशास्त्रियों ने उठाया था। इसके अतिरिक्त, बाद के लेखकों में से केवल कुछ ही ऐसी सुविधाजनक स्थिति में हैं जिनमें आर्थिक विचारों को सामाजिक-आर्थिक वातावरण के साथ जोड़ने और अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं को एक साथ देखने और समझने की क्षमता है, ताकि इस प्रकार उसका एक संबद्ध चित्र प्रस्तुत किया जा सके। अंत में, ये लेखक साम्राज्यवाद-विरोधी हो गए। वे यह विश्वास करने लगे कि देश का औद्योगीकरण होने से पहले ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाना चाहिए। अपने विश्लेषण में, उन्होंने मिल, लिस्ट और कैरी और बाद में मार्क्स, मार्शल और कींस की समकालीन आर्थिक सिद्धांतों का प्रयोग किया। उन्होंने समकालीन विकासशील देशों और समाजों,—केवल ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और यू.एस. ए. ही नहीं—बल्कि जापान और आगे चलकर सोवियत संघ के अनुभव का उपयोग करने का भी प्रयत्न किया।

दिलचस्प बात यह है कि अंत में मौरिस ने भी संरचनात्मक विश्लेषण के मूल सिद्धांत को स्वीकार किया है, क्योंकि वे लिखते हैं : "हाल के वर्षो में अर्थशास्त्री आर्थिक विकास की गति के एक तरीके के रूप में उत्पादन का आकलन करने में इतने व्यस्त रहे हैं कि उन्होंने उन संरचनात्मक परिवर्तनों की अनदेखी कर दी है जिनसे एक अर्थव्यवस्था को अवश्य गुजरना होता है—अर्थात, वे परिवर्तन जो प्रारंभिक स्थिति में उत्पादन में बाधक प्रतीत होते हैं"(पृष्ठ 618 पा.टि.)। परंतु 19वीं सदी के आर्थिक इतिहास की पुनर्व्याख्या करते समय वे अपनी इस हिदायत को भूल गए हैं, क्योंकि उन्होंने 19वीं सदी में विकसित हुए आर्थिक ढांचे के किसी भी पहलू अथवा वास्तविक आर्थिक विकास की प्रक्रिया में हुए संरचनात्मक परिवर्तनों के संबंध पर कोई चर्चा नहीं की है। उन्होंने कृषि संबंधी ढांचे, अथवा कृषि में उत्पादन के तरीकों, पूंजीपति वर्ग की संरचना, अथवा बचत करने और निवेश करने वाले वर्गों के गठन अथवा उनके बचत और निवेश करने के तरीके, मशीनों अथवा पूंजीगत वस्तुओं अथवा औद्योगिक प्रयत्नों के प्रौद्योगिक आधार, विदेशी और देशीय पूंजी के मध्य संबंध, देशीय बाजार का ढांचा अथवा मांग, समाज द्वारा किए गए पूरक व्यय (यातायात के साधन, शिक्षा, तकनीकी जानकारी आदि) और भारत के आर्थिक जीवन से उनके संबंध इत्यादि जैसी मूल समस्याओं पर विचार नहीं किया है। उन्होंने जिस प्रमुख आर्थिक समस्या पर विचार किया है वह प्रति व्यक्ति आय का विकास अथवा राष्ट्रीय उत्पाद की

एक ही दिशा में स्थूल प्रगति है (उपरोक्त उद्धरण में उन्होंने इस समस्या को यदि पूर्णरूप से अर्थहीन नहीं, परंतु कम महत्वपूर्ण अवश्य बताया है) और फिर 'सरल आर्थिक कसौटी' के आधार पर यह मान लिया है कि कानून और व्यवस्था, शांति, उदारवादी राज्य की स्थापना, यातायात के विकास, कम से कम भारत को विश्व बाजार के साथ जोड़ने की हद तक, और वाणिज्य के विकास से आर्थिक विकास की समस्या हल हो जाएगी। मुझे डर है कि संरचनात्मक परिवर्तन और आर्थिक विकास की समस्याएं इससे कहीं ज्यादा जटिल हैं।

मौरिस के इस विश्वास से कि साम्राज्यवाद-विरोधी विचारक 19वीं सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था के विघटन और पतन के सिद्धांत में विश्वास करते थे, यह स्पष्ट हो जाता है कि वे संभवतः साम्राज्यवादी और गैर-साम्राज्यवादी विचारधारा के बीच चल रही परंपरागत बहस के मूल मुद्दे को पूर्ण रूप से नहीं समझते हैं। वे इस प्रश्न पर अपनी स्वीकृति के साथ मार्क्स का उद्धरण देते हैं। हम नहीं जानते कि वे इस उद्धरण से क्या साबित करने की आशा करते हैं। क्योंकि मार्क्स ने न केवल यह कहा कि "बुर्जुआ उद्योग और वाणिज्य एक नए संसार की इन भौतिक परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं",[6] बल्कि इसी लेख में उन्होंने यह भी कहा है कि :

> विवशता के तहत अंग्रेजी बुर्जुआ वर्ग जो कुछ करेगा, उससे न तो लोगों को आजादी मिलेगी और न ही भौतिक रूप से उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, क्योंकि यह केवल उत्पादक शक्ति के विकास पर ही नहीं, बल्कि लोगों के द्वारा उस शांति को अपने हाथों में लेने पर निर्भर करता है—ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग द्वारा वितरित नए तत्वों से भारतीय समाज तब तक लाभान्वित नहीं हो सकेगा जब तक कि स्वयं ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग नए शासक वर्गों का स्थान न ले ले, और जब तक कि हिंदू स्वयं इतने शक्तिशाली नहीं हो जाते कि वे ब्रिटिश गुलामी से निजात पा लें।[7]

यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश साम्राज्यवाद-विरोधी लेखक मार्क्स से सहमत होंगे। बिना किसी अपवाद के वे सब यह स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजों ने कुछ संरचनात्मक तबदीलियां आंरभ कीं और सभी इन परिवर्तनों को पश्चिम से एक प्रगतिशील हवा के रूप में स्वागत करते हैं। वास्तव में, वे सभी ब्रिटिश राज्य की 'रचनात्मक' भूमिका पर बल देने के लिए अतीत की ओर मुड़ते हैं।[8] उन्होंने कभी भी केवल इसी बात के लिए ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं की कि उसने पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था को भंग कर दिया, बल्कि इस वजह से आलोचना की कि उसने नई व्यवस्था की रचना और निर्माण में देरी की और बाधाएं उत्पन्न कीं। आर.सी. दत्त, दादाभाई नौरोजी और रानाडे से लेकर जवाहरलाल नेहरू और आर.पी. दत्त तक साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों ने "आर्थिक गिरावट" जैसे शब्दों का प्रयोग हस्तशिल्प में

आई गिरावट के अर्थों में नहीं बल्कि भारत के औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण में आई स्थिरता के संदर्भ में किया है। उनमें से किसी ने भी ब्रिटिश-पूर्व के आर्थिक ढांचे की बर्बादी की निंदा की है, सिवाय इसके कि एक भले इंसान की तरह उन्होंने उस व्यवस्था को बड़े प्रेम और हमदर्दी के साथ याद किया है। उदाहरण के लिए, मार्क्स ने 'बेचारे हिंदू' के पुराने संसार के लुप्त हो जाने पर यही कहा है। पहली पीढ़ी के राष्ट्रवादी लेखकों ने भी परंपरागत आर्थिक अथवा अहस्तक्षेप की नीति को केवल उसकी अत्यधिक आधुनिकता के कारण इसलिए अस्वीकार नहीं किया क्योंकि उससे पुरानी व्यवस्था भंग होती थी। उन्होंने, वास्तव में, उसे इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि उसके लागू होने से भारत में "पुरानी विरासतों और अंतर्निष्ट कमजोरियां" और "सामंतवाद और हैसियत की प्राचीन दासता" जारी रहतीं।[9] वास्तव में, उनकी लड़ाई हमेशा अतीत पर न रह कर वर्तमान—वर्तमान दरिद्रता, उद्योगों के अभाव, और उनके वर्तमान उपचारों पर केंद्रित रही। उन्होंने पुराने उद्योगों की बर्बादी की आलोचना भी यह संकेत देने के लिए की कि अतीत में भारतीय हितों की अनदेखी की गई, ताकि वर्तमान हितों पर अधिक ध्यान दिया जा सके। और भारतीय उद्योगों की बर्बादी पर उनकी आलोचना क्या थी? यह कि पुराने उद्योगों के उद्योगीकरण के नए प्रतिमानों के रूप में निर्बाध संक्रमण में सहायता नहीं की गई।[10]—यह आलोचना किसी भी आर्थिक सिद्धांत के अनुसार उपयुक्त न थी।

इससे पूर्व कि हम मौरिस की नई व्याख्या पर सिलसिलेवार चर्चा करें, एक और सामान्य बात कहना मुनासिब होगा।

आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहासकारों के सामने मूल प्रश्न यह है : 1947 में भारत इतना अधिक पिछड़ा क्यों था, वह आर्थिक विकास अथवा "उड़ान भरने" से इतना दूर क्यों था? 1818 से 1947 के बीच भारत और ब्रिटेन के बीच आर्थिक दूरी घटने के बजाए क्यों बढ़ती गई? भारतीय अर्थव्यवस्था ने आर्थिक विकास क्यों नहीं किया, जबकि यू.एस.ए., फ्रांस, जर्मनी, कनाडा, इटली, रूस और जापान तक में आर्थिक विकास हुआ? इससे कुछ ऐसे प्रश्न उठते हैं, जिनमें लगभग सभी प्रमुख साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों की दिलचस्पी थी : ब्रिटिश नीतियों, ब्रिटिश भारतीय प्रशासन और राजनीतिक ढांचे और भारतीय सामाजिक आर्थिक ढांचे पर ब्रिटेन के प्रभाव का आर्थिक विकास की समस्या से क्या संबंध है? मौरिस ने इन तीनों प्रश्नों का सही ढंग से उत्तर नहीं दिया है। और, मौरिस के नए विश्लेषण के अर्थों में, आर्थिक विकास के अभाव को समझना और भी कठिन हो जाता है। उनके अनुसार (क) भारत में "उन्नीसवीं सदी के उदारवादी राष्ट्र-राज्य का एक ढांचा था" (यह एक ऐसा लाभ था जो रूस, जापान, जर्मनी, और आधे समय तक फ्रांस को नहीं मिला); (ख) एक सरकार जिसका उद्देश्य—समाज की भलाई था" (मुझे आश्चर्य है कि क्या रूस अथवा जापान अथवा किसी दूसरी सरकार के संबंध में भी ऐसा कहा जा सकता था!); एक

सामाजिक ढांचा जो आर्थिक विकास में बाधक नहीं था (देखिए बंबई के श्रमिकों के संबंध में उनका लेखन और पा.टि संख्या 17, पृष्ठ 610); प्रचुर मात्रा में फालतू भूमि (उनका अपना विश्लेषण); आबादी अधिक नहीं थी (उनके अनुसार ब्रिटिश राज के आने तक युद्ध, अकाल और 'अराजकता' ने भारत की आबादी को नियंत्रण में रखा। और 19वीं सदी के दौरान उसमें बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई); बढ़ती हुई प्रति व्यक्ति आय जिस में बढ़ता हुआ प्रति व्यक्ति कृषि और औद्योगिक उत्पादन सम्मिलित था(उनका अपना विचार) जिसमें से बचत करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी। कम से कम उन्होंने इस प्रकार की किसी कठिनाई की ओर संकेत नहीं किया है; वस्तुओं और सोने चांदी के विदेश व्यापार में भारी अधिशेष; कानून और व्यवस्था; "एक उच्च स्तर के स्थायित्व, प्रमाणिकता और कार्यकुशलता का प्रशासन" (पृष्ठ 611); "सड़क और रेल यातायात की एक अच्छी व्यवस्था" (पृष्ठ 611); तर्कसंगत कर व्यवस्था और वाणिज्यिक नियम (पृष्ठ 611); और हम यह अपनी ओर से जोड़ सकते हैं कि संसार के सर्वाधिक विकसित देश का मार्गदर्शन भी था। वास्तव में प्रारंभिक राष्ट्रवादी लेखकों की भी यही मान्यताएं थीं; परंतु उन्होंने शीघ्र ही जीवन की वास्तविकताओं को पहचान लिया। उन्होंने धीरे-धीरे, राज के आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप को पहचाना और यह कहना आरंभ कर दिया कि ब्रिटिश नीतियां साम्राज्यवादी (शोषक और उद्योग-विरोधी) थीं; ब्रिटिश प्रशासन विकास की प्रवृत्तियों (सार्वजनिक सेवा, वित्तीय प्रशासन, राज्यकीय सहायता का अभाव) का विरोधी था। राष्ट्रीय बचत और पूंजी पर विदेशी कब्जा था, और आर्थिक ढांचा कृषि (अधिक करारोपण, जमींदारी, साहूकारी, राष्ट्रीय बाजार का प्रतिबंध) और उद्योग (विदेशी पूंजी का प्रमुख, मशीनी उद्योग का अभाव, सामाजिक पूरक व्यय का लगभग अभाव) आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा था। यह साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा की राजनीतिक अर्थव्यवस्था है न कि "विघटन का एक अपरिपक्व सिद्धांत" (पृष्ठ 607, पा.टि. संख्या 5)। दूसरी ओर, राज के समकालीन पक्षधरों, स्ट्रैची बंधुओं और दूसरों ने अराजकता की समाप्ति, कानून व्यवस्था और न्याय, कुशल प्रशासन, राज के परोपकारी चरित्र, व्यापार के विकास, रेलों के निर्माण, और खेती किए जाने वाले क्षेत्रों में विकास से होने वाले लाभों पर बल दिया । उन्होंने यह दावा किया कि प्रगति हुई थी, यह कि भारतीय यूरोपवासियों अथवा अंग्रेजों से भी बदतर स्थिति में थे। उन्होंने 'स्थिर विकास के सिद्धांत' को पूर्णतया नकार दिया। परंतु, जब उन्होंने भारत की घोर दरिद्रता को देखा तो उन्होंने इसके लिए भारत के आकार, ब्रिटिश-पूर्व के पिछड़ेपन, भारतीयों की बढ़ती हुई कुप्रवृत्तियों, उनके सामाजिक संगठनों, रीति-रिवाजों, आदतों, जलवायु और मौसम (मानसून की अनिश्चितता) और प्राकृतिक संसाधनों की कमी को दोषी ठहराया।[11] उनमें से कुछ ने ब्रिटिश लोकतंत्र को निर्बाध व्यापार अपनाने के सिद्धांत के लिए दोषी ठहराया।

मौरिस में मूल प्रश्न की अनदेखी करने की प्रवृत्ति है, परंतु जब वे स्पष्टीकरण देने को विवश हो जाते हैं तो 20वीं सदी से पहले की साम्राज्यवादी धारणाओं का ही सहारा लेते हैं।

II

उन्नीसवीं सदी में भारत के आर्थिक विकास के मूल कारण क्या हैं? मौरिस कहते हैं कि सर्वप्रथम आबादी के विकास की दर अधिक नहीं थी और इसलिए "अर्थव्यवस्था पर आबादी में वृद्धि की ऊंची दर का दबाव नहीं था" (पृष्ठ 611)। पृष्ठ 608 पर (पा.टि. संख्या 7) आबादी के विकास को आर्थिक विकास का प्रतीक माना गया था, पृष्ठ 611 पर इसके विकास की कम दर विकास और समृद्धि का एक कारण है। इस तर्क के अनुसार सत्रहवीं सदी में समृद्धि अधिक थी, क्योंकि कानून और व्यवस्था अच्छी होने के साथ-साथ आबादी का बोझ कम था। परंतु, वास्तव में, इस विषय पर बेकार में ही चर्चा की गई है क्योंकि उन्नीसवीं सदी के विकास की अर्थशास्त्र के विश्लेषण में उसकी कोई भूमिका नहीं है। आबादी के विस्तार की ऊंची और नीची दरें दोनों प्रकार से अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं। 19वीं सदी की जनसंख्या से संबंधित स्थिति में यह संभावना रही होगी कि आबादी के विस्तार की दर अधिक होने से आर्थिक विकास की दर भी अधिक रही होगी, और आबादी के विकास की दर कम होने से आर्थिक विकास की दर भी कम रही होगी। आबादी के विकास की ऊंची और नीची दरों को, एक हद तक, आर्थिक स्थिरता अथवा आर्थिक गिरावट से भी जोड़ा जा सकता है।

इस संदर्भ में हम यह संकेत भी दे सकते हैं कि उपरोक्त कारणों से मौरिस के "साधारण आर्थिक उपकरणों" की वैधता संदिग्ध प्रतीत होने लगती है। पृष्ठ 608, पा.टि. संख्या 7, पर उन्होंने जनसांख्यिकी सिद्धांत का प्रयोग उस सिद्धांत को नकारने के लिए किया है जिसे वे "निरंतर और स्थायी कष्टों का सिद्धांत कहते हैं। उनका कहना है कि यह सिद्धांत "दो आधारभूत प्रमाणों, अर्थात, आबादी के विकास और लंबे जीवन काल की संभावना को स्वीकार नहीं कर सकता।" दुर्भाग्यवश, आज हमारे बीच में ऐसे विशेषज्ञ मौजूद हैं, जो 'बढ़ती हुई आबादी' को आज गरीबी का सबसे बड़ा कारण मानते हैं, और यह स्वीकार किया जा सकता है कि आज बहुत से ऐसे देश हैं जहां आर्थिक विकास अथवा विस्तार के बिना आबादी में वृद्धि हुई है। माल्थस के सिद्धांत पर आधारित जिन बाधाओं का मौरिस जिक्र करते हैं वे कैवल गंभीर स्थितियों में, फसलें खराब होने, अकाल और बीमारियों के कारण आती है। वास्तव में, यह सुन कर बड़ा आश्चर्य होता है कि आधुनिक काल में आर्थिक स्थिरता और बढ़ती हुई गरीबी की स्थिति में आबादी में वृद्धि की दर 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष से

अधिक नहीं हो सकती। दूसरे 'लंबे जीवन-काल की संभावना' का सबूत कहां है? के. डेविस ने जीवन-काल की संभावना और मृत्यु दर की निम्नलिखित सारणी प्रस्तुत किया है।[12]

अवधि	आयु की संभावना	मृत्यु दर
1871-1881	24.6	
1881-1891	25.0	41.3
1891-1901	23.8	44.4
1901-1911	22.9	42.6
1911-1921	20.1	48.6
1921-1931	26.8	36.3
1931-1941	31.8	31.2

इस प्रकार 1921 तक जीवन की संभावना में कोई वृद्धि नहीं हुई, इसमें कमी ही आई। इसी प्रकार 1921 के बाद ही मृत्यु दर कम हुई; 1921 के बाद शिशु मृत्यु दर में भी गिरावट आई।[13] इस प्रकार उपरोक्त खंडन निराधार साबित हो जाता है। दूसरी ओर, आबादी में वृद्धि 0.4 प्रतिशत की दर से नहीं बल्कि 1 प्रतिशत की दर से हुई, जबकि जी. ब्लाइन के अनुमान के अनुसार जो कि 1955 में प्रकाशित हुआ, प्रति व्यक्ति खाद्य उत्पादन का सूचकांक 1916-17 से 1925-26 की अवधि में 90 था, 1936-37 से 1945-46 के दौरान गिरकर 68 रह गया (1883-84 से 1895-96 के लिए 100 को आधार मानने पर)।[14] ब्लाइन के हाल ही के अनुमान के अनुसार 1911-1941 के दौरान प्रति व्यक्ति खाद्य की उपलब्धता में 29 प्रतिशत की दर से गिरावट आई।[15] इसी प्रकार, ब्लाइन के 1955 के आंकड़ों के अनुसार प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन 1916-17 से 1925-26 में 98 से गिरकर 1936-37 से 1945-46 में 80 रह गया।[16] उनके हाल ही के अध्ययन के अनुसार प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन में 1921 से 1931 तक 4 प्रतिशत और 1931 से 1941 तक 10 प्रतिशत की गिरावट आई।[17] इसी प्रकार, यह उल्लेख किया जा सकता है कि इस काल में शिशु-मृत्यु दर और मृत्यु दर में कमी आई और औसत जीवन की संभावना में वृद्धि हुई, जबकि व्यक्तिगत समृद्धि के प्रत्येक सूचकांक में गिरावट आई।[18]

यह जनसांख्यिकीय उदाहरण यह प्रदर्शित करने के लिए जरूरी समझा गया है कि "सामान्य आर्थिक उपकरण" न तो इतने अधिक प्रभावशाली है और न उन्हें लागू करना इतना सरल है जितना कि मौरिस ने पृष्ठ 608 और पा.टि. संख्या 7 में प्रदर्शित किया है। न ही वे आसानी से दूसरे लेखकों की बातों को हवा में उड़ा सकते हैं। और न ही वे लेखक इतने मूर्ख थे कि ऐसी बातें कहते जिनको "साधारण आर्थिक

उपकरणों" की कसौटी पर जांचते ही खारिज कर दिया जाता।[19]

आबादी के बाद एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कारण सामने आता है : "ब्रिटिश राज ने उन्नीसवीं सदी के उदारवादी राष्ट्र-राज्य के राजनीतिक ढांचे का आरंभ किया (पृष्ठ 611)। यहां मौरिस स्ट्रैची बंधुओं से भी आगे निकल गए हैं, क्योंकि उन्होंने राज को पूर्ववासियों के अनुकूल एक परोपकारी निरंकुशवाद कहा था। अब किसी टिप्पणी की जरूरत नहीं है।

मौरिस अपने पूरे लेख में इस बात पर आग्रह करते नजर आते हैं कि कानून और व्यवस्था और 'कुशल प्रशासन' यह बताए बिना कि 'कुशल' किसे कहते हैं—एक कारण था जिससे आर्थिक विकास हुआ होगा (पृष्ठ 611)। इसलिए, यहां यह संकेत देना जरूरी है कि इन दोनों अथवा कानून और व्यवस्था और आर्थिक समृद्धि में ऐसा कोई सह-संबंध नहीं है। यह स्पष्ट है कि अराजकता के वातावरण में आर्थिक विकास नहीं हो सकता, परंतु यह जरूरी नहीं है कि अराजकता न होने की स्थिति में आर्थिक विकास हो।[20] यह सब इस पर निर्भर करता है कि कानून और व्यवस्था का प्रयोग किसलिए किया जाता है। इतिहासकार को समृद्धि और विकास पर प्रशासन के प्रभाव का विश्लेषण करना होता है।[21] हम यह मानकर नहीं चल सकते कि इसका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता ही है। वास्तव में, केवल आर्थिक विकास और खुशहाली के लिए ही नहीं बल्कि किसी भी व्यवस्थित शोषण के लिए कानून और व्यवस्था का होना एक बुनियादी आवश्यकता है। आखिर, मुगलों ने भारत में आर्थिक विकास किए बिना, कानून और व्यवस्था को कायम रखा था।[22] और मुगल साम्राज्य का पतन इसलिए नहीं हुआ कि कानून और व्यवस्था में गिरावट आ गई थी, बल्कि इसलिए हुआ कि साम्राज्य आर्थिक रूप से कमजोर हो गया था।[23]

मौरिस के अनुसार, विकास के दृष्टिकोण से, ब्रिटिश शासन का दूसरा सकारात्मक पहलू यह था कि "करारोपण और वाणिज्यिक नियमों को तर्कसंगत बनाया गया" (पृष्ठ 611)। परंतु वास्तविकता यह है—और इसे यदि सभी ने नहीं तो अधिकांश शोधकर्ताओं ने स्वीकार किया है—कि भू-राजस्व व्यवस्था को तर्कसंगत बनाए जाने के फलस्वरूप कृषकों की कठिनाइयों में वृद्धि हो गई और उनकी बचत समाप्त हो गई। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ऐसा ही हुआ और उसका अंत आते-आते अन्य समस्याएं भी पैदा हो गईं। इसी प्रकार, वाणिज्यिक नियमों को केवल 1840 के दशक में ही तर्कसंगत बनाया गया। उस समय तक, जैसा कि आर.सी. दत्त ने प्रदर्शित किया है आंतरिक कस्टम शुल्क भारत के आंतरिक व्यापार और उद्योग में बाधा उत्पन्न करते थे। 1870 के दशक में कस्टम शुल्कों को तर्कसंगत बनाए जाने का ही राष्ट्रवादियों ने मुख्य शिकायत का मुद्दा बनाया।

वास्तव में, एक वैकल्पिक सिद्धांत के आधार पर, जैसा कि साम्राज्यवाद विरोधी लेखकों ने भी किया, यह कहा जा सकता है कि तर्कसंगत करारोपण, वाणिज्यिक

प्रतिमान, कानून और व्यवस्था, और उस समय की न्यायिक व्यवस्था ने भू-संबंधी ढांचे को (सभी अर्थों में) प्रतिगामी बना दिया।[24]

इसके पश्चात, मौरिस सड़कों और रेल यातायात की महत्वपूर्ण व्यवस्था के विकास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। परंतु जहां तक सड़कों का प्रश्न है, उनका कोई खास विकास नहीं हुआ।

दूसरी ओर, रेलमार्गों का बड़ी तेजी से निर्माण हुआ। तथापि, यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि उनके निर्माण और भारत की आर्थिक आवश्यकताओं में कोई सामंजस्य नहीं था, कि उनका निर्माण दूसरे सामाजिक और औद्योगिक खर्चों में कटौती कर के किया गया, यह कि उनके विपरीत और अग्रगामी संबंधों का ब्रिटेन में सकारात्मक प्रभाव हुआ[25], यह कि उनका प्रदर्शनात्मक प्रभाव काफी सीमित था और आर्थिक विकास पर जो उनका प्रभाव पड़ना चाहिए था वह नहीं पड़ा। उन्होंने एक 'परिवृत्त' अर्थव्यवस्था को जनम दिया, और वे इतना भारत के विकास का साधन नहीं थी जितना कि उसके शोषण का।[26] वास्तव में, इस पहलू पर इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों ने काफी चर्चा की है। फिर भी, इस विषय पर एक नया विश्लेषण स्वागत योग्य है।

III

मौरिस को संदेह है कि उन्नसीवीं सदी के दौरान प्रति व्यक्ति प्रति एकड़ कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई (पृष्ठ 612)। यह संदेह तीन बातों पर आधारित है।

प्रथम, उनका विचार है कि कृषि की जाने वाली भूमि में होने वाली घटा-बढ़ी में कमी आई और अधिक भूमि कृषि-योग्य बनाई गई। इसमें संदेह नहीं है कि कृषि-अधीन क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ। परंतु यह प्रक्रिया समय और क्षेत्र की दृष्टि से असमान थी। इसके अतिरिक्त, क्या यह वृद्धि भूमि पर आबादी के दबाव के अनुरूप थी अथवा नहीं, यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। मौरिस इस विषय पर चर्चा नहीं करते कि क्या ग्रामीण बचत और कृषि में किए जाने वाले निवेश में भी कोई वृद्धि हुई। वास्तव में, इस पर कोई सीधा प्रमाण उपलब्ध नहीं है। शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में देश के अधिकतर बड़े भागों में भू-राजस्व की वसूली नहीं हुई। ऋणग्रस्तता का निर्बाध और निरंतर विस्तार और इस शताब्दी के दौरान साहूकारों और महाजनों की बढ़ती तादाद से संकेत मिलता है कि ग्रामीण बचतों और निवेश में कोई निरंतर अथवा सामान्य वृद्धि नहीं हुई, जो थोड़ी बहुत बचत होती थी वह सरकारी मांग, जमीन पर दबाव, जमींदारों और साहूकारों के कारण समाप्त हो गई, जबकि अकाल और अभावों के कारण—जिनके निराकरण के लिए कुछ नहीं किया गया—शुद्ध बचत तो समाप्त हुई ही, साथ ही शुद्ध घाटा भी हुआ, और इसलिए इस प्रक्रिया से मुश्किल

से ही कोई आर्थिक विकास अथवा कोई लाभ हुआ।

दूसरा, मौरिस कहते हैं कि प्रति एकड़ औसत उत्पादन में वृद्धि हुई (पृष्ठ 612)। इस विश्वास के, जो कि उन्नीसवीं सदी के प्रचलित मत के विपरीत हैं, क्या आधार हैं?

(i) राजनीतिक स्थिरता। परंतु, इसका प्रति एकड़ उत्पादकता पर अल्पकालिक अथवा तत्कालिक प्रभाव हो सकता है। इसका दीर्घकालिक प्रभाव नहीं हो सकता और मौरिस, आखिर, एक संपूर्ण सदी में विद्यमान प्रवृत्ति पर चर्चा कर रहे हैं।

(ii) "बेहतर प्रौद्योगिकी" का समावेश (पृष्ठ 612)। ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह साबित हो सके कि उन्नीसवीं सदी में उत्पादन के तरीकों और तकनीकों में कोई परिवर्तन किए गए हों। वास्तव में, ब्रिटिश शासन की मुख्यतया इसी कारण आलोचना की जाती है। मेरी जानकारी में, किसी भी आर्थिक इतिहासकार अथवा लेखक अथवा प्रशासक ने ऐसा दावा नहीं किया है। दूसरी ओर, यह विश्वास करना कठिन है कि मौरिस जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं उनका अर्थ नहीं जानते। इसलिए हमें उनके कथन के लिए प्रमाण की प्रतीक्षा करनी होगी।

इस विषय में मौजूदा परिणाम इस प्रकार हैं :

(क) *उपकरण :* मशीनरी की तो बात अलग है, 1951 में 931,000 लोहे के हल और लकड़ी के हल 3,17,80,000 थे।[27] 1891-1941 तक के काल के संबंध में ब्लाइन कहते हैं : "जो उपकरण प्रयोग में लाए जाते थे उनमें बहुत कम परिवर्तन हुआ"।[28]

(ख) *उर्वरक :* ब्लाइन के अनुसार : "सामान्यतः रासायनिक उर्वरक के प्रयोग से होने वाले लाभों की जानकारी नहीं थी और उनका प्रयोग भी न के बराबर था। आयात, जिसकी मात्रा का काफी सही अनुमान लगाया जा सकता था, 1898-99—1923-24 के दौरान प्रतिवर्ष औसतन 2000 टन से कम था—यह भी एक बिडंबना है कि उर्वरक माल, अधिकतर जानवरों की हड्डियों और मछली की खाद का निर्यात आयात के मुकाबले में कहीं अधिक था"।[29] ब्लाइन यह संकेत भी करते हैं कि 'मलमूत्र के खाद' के प्रयोग में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई।[30]

(ग) *बीज :* 1922-23 में केवल समूची खेती योग्य भूमि पर उगाई गई फसल में 1.9 प्रतिशत में अच्छे बीजों का प्रयोग किया गया। 1938-39 तक यह बढ़कर 11.1 प्रतिशत हो गया।[31]

(घ) *कृषि-संबंधी शिक्षा :* यह इस बात का सूचक है कि तकनीकी परिवर्तन किस सीमा तक हुआ। 1916 में भारत में कृषि विद्यालयों की संख्या 5 थी और

> उनमें 445 विद्यार्थी थे। एक निम्न स्तर का स्कूल भी था जिसमें 14 विद्यार्थी थे।[32] जैसा कि विदित है, ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार नहीं के बराबर था।

इस प्रकार, उन्नीसवीं सदी में भारतीय कृषि में प्रयोग की जाने वाली प्रौद्योगिकी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा तब हुआ जबकि भारत पर उस देश का शासन था जो कृषि के क्षेत्र में सबसे विकसित देश था।

शायद मौरिस केवल सिंचाई की बात रहे हैं। सिंचाई को मुश्किल से ही नई प्रौद्योगिकी का एक तत्व कहा जा सकता है। सिंचाई के संबंध में भारतीयों को सदियों से जानकारी थी; वास्तव में, मौरिस कहते हैं कि भारतीय सभ्यता "निश्चित सिंचित कृषि" पर आधारित थी। परंतु, जो क्षेत्र सिंचाई के अंतर्गत आते थे उनमें निस्संदेह कुछ विकास हुआ था। आर.सी. दत्त ने ऐसे क्षेत्रों की गणना भी की है, परंतु उन्होंने यह संकेत भी दिया है कि कुल मिलकर उन्नीसवीं सदी में ऐसे क्षेत्रों की संख्या अधिक नहीं थी। जब आंकड़े संकलित कर लिए जाते हैं तो हमें नए विचार भी मिलते हैं। परंतु 1891-92 में, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जिसे भारत का सबसे बड़ा भू-भाग कहा जा सकता है—1.5 प्रतिशत से भी कम क्षेत्र में सिंचाई उपलब्ध थी; मध्य प्रांत में 3.3 प्रतिशत, मद्रास में 24.3 प्रतिशत, संयुक्त प्रांत में 29.3 प्रतिशत, बंबई और सिंध में 12.8 प्रतिशत, पंजाब, देहली और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में 38.2 प्रतिशत क्षेत्र में सिंचाई होती थी।[33] यहां यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि भूमि-उपयोग व्यवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके विपरीत, उस काल में ऐसे कारकों पर ध्यान दिया जा सकता है जिनसे प्रति एकड़ उत्पादकता में कमी आ सकती थी। जोत की भूमि का विभाजन और विखंडीकरण बढ़ रहा था।[34] पट्टेदार और बटाईदार काश्तकारों की संख्या में वृद्धि हो रही थी।

तीसरा, मौरिस का विश्वास है कि वाणिज्यीकरण प्रति एकड़ उत्पादकता में सहायक था। यहां एक बार फिर प्रथम प्रश्न यही है कि वाणिज्यिक खेती में कितनी वृद्धि हुई। 1891-92 में, कुल 16 करोड़ 80 लाख एकड़ भूमि में से केवल 2 करोड़ 79 लाख एकड़ भूमि अर्थात 16.5 प्रतिशत भूमि पर खादेतर फसलें उगाई गईं। इससे प्रकट होता है कि यह विचार कि वाणिज्यीकरण से कृषि का बहुत विकास हुआ, सही नहीं है, विशेषकर यदि हम इस बात को भी ध्यान में रखें कि भारतीय पूर्व में भी वाणिज्यिक फसलें उगाते थे जिनमें गुड़, तिलहन, पटसन, मूंगफली और मसाले भी सम्मिलित थे (मुगल काल से तुलना काफी दिलचस्प सिद्ध होगी)।[35]

इसके अतिरिक्त, वाणिज्यीकरण से न तो उन्नत प्रौद्योगिकी आरंभ हो सकती थी और न हुई। इससे केवल भूमि का विशेषीकरण हो सकता है, अर्थात, जीवनप्रद फसलें उगाई जाने वाली अच्छी भूमि पर वाणिज्यिक फसलें उगाई जा सकती हैं। हम जानते हैं कि किसी भी स्थिति में श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी आरंभ नहीं की गई। वाणिज्यीकरण

ने तो पूंजीवादी कृषि को भी बढ़ावा नहीं दिया। अकसर उससे पट्टेदारी और बटाईदारी में वृद्धि हुई। भारत में वाणिज्यीकरण का अर्थ केवल विक्रय के लिए फसलें उगाना था। साथ ही, ऐसी परिस्थितियों में जबकि वाणिज्यीकरण मालगुजारी और लगान के भार और महंगी फसल उगाने के उद्देश्य से लागू किया गया हो, तो वह काश्तकारों के लिए शक्ति का स्रोत नहीं बनता, बल्कि उसका उद्देश्य शहरीक्षेत्र और विदेशी शासन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों और काश्तकारों से अधिक लाभ कमाना होता है। काश्तकार को 'विशेषीकरण' के लिए विवश किया जाता है और उससे न तो उसकी किसी प्रकार से सहायता होती है और न संस्थागत परिवर्तन होते हैं। वह शोषण का एक औजार बन जाता है और काश्तकार बाजार की शक्तियों, व्यवस्था और उतार-चढ़ाव का शिकार होकर और अधिक गरीब हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसा ही हुआ। और बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण और सिंचाई के सभी लाभ सरकार, जमींदारों, साहूकारों, व्यापारियों और विदेशी निर्यातकों को मिले, क्योंकि सिंचाई की ऊंची दरों के कारण काश्तकार वाणिज्यिक फसलें उगाने को विवश हो गए थे। काश्तकार स्वयं को हमेशा गहरे कर्ज में डूबा हुआ पाता था और अपनी खेती में सुधार करने की स्थिति में नहीं होता था।

मौरिस ने, इस संदर्भ में इस प्रश्न के महत्व की पूर्ण रूप से अनदेखी कर दी है : कृषि से उत्पन्न अधिशेष पर कौन कब्जा कर रहा था और उसका किस प्रकार उपयोग कर रहा था? क्या उस अधिशेष के कुछ भाग का साहूकारी के व्यवसाय, जमीन की खरीद और शोषक-वर्गों द्वारा उपयोग के अतिरिक्त, कृषि और उद्योग में पुनः निवेश हुआ? वास्तव में, यही समस्या का सार था। आर.सी. दत्त, रानाडे, जोशी, दादा भाई नौरोजी और बाद में राधाकमल मुखर्जी और आर.पी. दत्त ने इस समस्या पर विचार किया और उसका समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न किया। उनके समाधान कुछ भी रहे हों, वे कम से कम एक सही दिशा में बढ़ रहे थे।[36]

इस प्रकार, कानून और व्यवस्था अथवा वाणिज्यीकरण में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे प्रति एकड़ अथवा प्रति व्यक्ति उत्पादकता में वृद्धि हो। यह बात अलग है कि कृषि-संबंधी ढांचे और आर्थिक संरचना पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। असल बात यह है कि जो प्रगति हुई वह नजर आए। आर्थिक इतिहास अथवा साधारण आर्थिक उपकरणों में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके आधार पर हम ऐसा होने की कल्पना कर सकें।

वस्तुतः जिन तीन बातों से कृषि-उत्पादकता में वृद्धि हो सकती थी, वे ये थीं : (क) पूंजी निवेश, (ख) प्रति एकड़ श्रम निवेश का तीव्रीकरण, (ग) सामाजिक प्रोत्साहन। यदि इस तथ्य के मद्देनजर रखा जाए कि किसान के हाथ से भूमि निकल रही थी और उसकी हालत बदतर हो रही थी, तो कृषि क्षेत्र और उत्पादकता में वृद्धि का कारण आर्थिक सिद्धांत के आधार पर वही हो सकता है जिसका ऊपर (ख) में

उल्लेख किया गया है और जो भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण उत्पन्न होता है।[37] यह अलग बात है भूमि-मनुष्य का अनुपात इतना ज्यादा हो कि श्रम को अतिरिक्त निवेश से भी उत्पादकता में वृद्धि न हो। परंतु, ऐसी स्थिति में खाद्य-आपूर्ति आबादी में वृद्धि और समृद्धि का प्रतीक नहीं बनती, बल्कि आबादी में वृद्धि और भूमि पर दबाव की प्रतिक्रिया खाद्य की उपलब्धता बढ़ाने के मानवीय प्रयास के रूप में होती है। यह स्थिति, स्थिर अर्थव्यवस्था का प्रतीक होती है। साथ ही, जैसा कि राष्ट्रवादियों ने संकेत दिया कि कृषि उत्पादकता में यह वृद्धि भारत को ब्रिटेन का एक कृषि-संबंधी पश्च प्रदेश बनाने की ब्रिटिश इच्छा को प्रतिबिंबित करती थी, ताकि भारत अपने कृषि उत्पादन में वृद्धि करके ब्रिटेन की कच्चे माल और खाद्य संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और उसके औद्योगिक उत्पादों और पूंजी के लिए एक बाजार के रूप में कार्य कर सकें। आखिर सभी क्षेत्रों में गतिरोध उत्पन्न करना साम्राज्यवादी आर्थिक हितों के अनुरूप नहीं था, यह अलग बात है कि उनकी नीतियों का यही अप्रत्यक्ष परिणाम सामने आया और इसके फलस्वरूप ऐसा अंतर्विरोध उत्पन्न हुआ जिसमें साम्राज्यवाद को उलझना पड़ा।

IV

संभवतः जिस विषय पर पुनर्लेखन पर मौरिस ने सबसे अधिक जोर दिया है वह भारतीय हस्तशिल्प की बर्बादी और देश का सापेक्षिक ग्रामीणीकरण का प्रश्न है। यहां दो बातों पर एक बार फिर जोर देना ठीक रहेगा : (1) मैं पहले ही यह संकेत कर चुका हूं कि यह प्रश्न साम्राज्यवाद-विरोधी पद्धति के लिए महत्वपूर्ण नहीं था। इसका ध्यान आर्थिक ढांचे पर ब्रिटिश-प्रभाव की ओर अधिक था और वे हस्तशिल्प के विनाश को अधिक महत्व नहीं देते थे। उन्हें आर्थिक जीवन की गुणवत्ता में ज्यादा और वस्तुओं की अल्पकालिक उपलब्धता में कम दिलचस्पी थी। (2) इस प्रश्न पर अपने पुनर्लेखन में मौरिस ने विशुद्ध 'संदेह' व्यक्त किए हैं या फिर अटकलों से काम लिया है, या 'आर्थिक उपकरणों' पर भरोसा किया है, लेकिन कोई भी गुणात्मक अथवा मात्रात्मक साक्ष्य अथवा सबूत प्रस्तुत नहीं किया है।

आर.सी. दत्त और दूसरे लेखकों ने अपने दृष्टिकोण के पक्ष में बड़ी मात्रा में समकालीन प्रमाण एकत्रित और प्रकाशित किए हैं जिनमें निचले स्तर के ब्रिटिश, अधिकारियों (जो मौके पर मौजूद थे और जानकार थे), उच्च अधिकारियों (जिन्होंने भारतीय ग्रामीण और कसबाती क्षेत्रों में अपना जीवन बिताया था और जिन्होंने प्रारंभिक ब्रिटिश प्रभाव और आर्थिक परिवर्तनों को निकट से देखा था), गवर्नरों और गवर्नर जनरलों, विद्वान अधिकारियों, समकालीन पर्यटकों, ब्रिटिश और भारतीय व्यापारियों, सरकारी जांच कमीशन और सरकारी रिकार्डों के साक्ष्य भी सम्मिलित हैं। मुझे इन

साक्ष्यों को दोहराने की आवश्यकता नहीं है। आर.सी. दत्त, जी.वी. जोशी, बी.डी. बसु, डी.आर. गाडगिल, आर.पी. दत्त और दूसरे लेखकों ने बड़ी मात्रा में इन साक्ष्यों को प्रकाशित किया है। अभी हाल ही के विद्वान लेखकों, अर्थात आर.डी. चोकसी, रमन राव, शारदा राजू, एन.के. सिनहा और एच.आर. घोषाल ने इसी प्रकार की सामग्री के आधार पर ऐसे ही निष्कर्ष निकाले हैं। हेराल्ड मान और जे.सी. जैक द्वारा पूर्व में गांवों पर किए गए अध्ययन में भी इसी प्रकार के तथ्य सामने आए हैं। उदाहरण के लिए, आई.सी.एफ. के एक सदस्य और राज के पक्षधर साक्षी, जे.सी. जैक (जिन्होंने यह घोषणा की कि उनका लेखन राज के लाभों को सिद्ध करने के विचार से प्रेरित हुआ था और उन्होंने यह भी कहा था कि फरीदपुर का किसान इटली के किसान से बदतर स्थिति में था) ने लिखा : "बुनकरी जो, एक सशक्त उद्योग हुआ करता था आंशिक रूप से फैक्टरी अथवा विदेशों में बने कपास के वस्त्रों के आयात और आंशिक रूप से मलेरिया के कारण हुई बर्बादी से नष्ट हो गया था।"[38] यहां इस तथ्य को साबित करने के लिए दोबारा साक्ष्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। दस्तकारों की बर्बादी एक स्थापित तथ्य है और उसके पक्ष में साक्ष्यों की कमी नहीं है। जिस बात पर बल दिया जाता है वह यह है कि ठोस, गुणात्मक अथवा मात्रात्मक साक्ष्य प्रस्तुत किए बिना इसका खंडन करना अथवा खिल्ली उड़ाना ठीक नहीं है। जब कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य प्रस्तुत की जाती है, तो हम एक के मुकाबले में दूसरे प्रमाण की श्रेष्ठता के संबंध में बहस कर सकते हैं। निस्संदेह, पुराने तथ्यों की दोबारा जांच की जानी चाहिए और यदि उन्हें गलत पाया जाए तो उनका परित्याग कर देना चाहिए। हम हमेशा नए आंकड़ों की खोज में रहते हैं और पुराने आंकड़ों की दोबारा जांच करते हैं।[39] निस्संदेह, हम पूर्व विश्लेषण को आधार बना कर खोज की नई दिशाएं भी निर्धारित कर सकते हैं। परंतु कोई भी केवल ''आर्थिक तर्कों'' के आधार पर तथ्यों का खंडन अथवा पुनर्विश्लेषण नहीं कर सकता, अटकलों और संदेहों की तो बात ही अलग है।

मैं एक बार फिर जोर देना चाहूंगा : यह सही नहीं है कि मौरिस जिस मत का विरोध कर रहे हैं, वह एक "सैद्धांतिक परंपरा" अथवा राष्ट्रवादी पूर्वधारणा पर आधारित है। वह अनेक प्रमाणों पर आधारित है—वास्तव में इस संबंध में यही एक मात्र प्रमाण है। मौरिस ने इस विचार का खंडन करते हुए किसी भी प्रकार का सांख्यिकी अथवा गुणात्मक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।[40]

यहां, मैं आर्थिक इतिहास में गुणात्मक प्रमाण के प्रयोग के संबंध में भी कुछ कहना चाहूंगा। इसमें संदेह नहीं है कि जब भी मात्रात्मक प्रमाण उपलब्ध होता है और उसका सांख्यिकी विश्लेषण संभव हो सकता है, तो उससे एक विश्वसनीय आधार बन जाता है और इस संदर्भ में यह बहुत ही अच्छा होता यदि दस्तकारों और शिल्पियों पर ब्रिटिश शासन के प्रभाव का पता लगाने के लिए गांव, जिले और कस्बे के दस्तावेजों

का उपयोग किया जाता। परंतु जब तक इस प्रकार के आंकड़े उपलब्ध न हो, तब तक गुणात्मक प्रमाण का प्रयोग किया जाना चाहिए। हालांकि उसका प्रयोग करते समय इसकी समीक्षा करनी होगी और यह भी ध्यान रखना होगा कि उससे केवल व्यापक धारणामूलक नतीजे ही सामने आएंगे। इसके अतिरिक्त, अकसर गुणात्मक प्रमाण गलत और विकृत आंकड़ों से श्रेष्ठ होता है।[41] इस संदर्भ में इस बात का केवल वैचारिक महत्व है क्योंकि मौरिस ने आर.सी. दत्त और दूसरे लेखकों के प्रमाण को गलत साबित करने के लिए कोई आंकड़े, यहां तक कि गलत आंकड़े भी नहीं दिए हैं।

इस बात को मद्देनजर रखते हुए कि हमारी चर्चा का विषय आर्थिक इतिहास नहीं बल्कि आर्थिक तर्क है, अब हम मौरिस के आर्थिक सिद्धांतस्थापन पर बहस कर सकते हैं। इसी वजह से इस विषय पर कोई सही बहस सामने नहीं आएगी क्योंकि मौरिस उन्नीसवीं सदी के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, मुक्त प्रतिस्पर्धा और आत्म-हित में किए गए आर्थिक विकास के सिद्धांत को मान्यता देते हैं, जबकि मैं प्रारंभिक भारतीय राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादी पद्धति (और संभवतः युद्धोत्तर विकास की पद्धति) में विश्वास करता हूं, जो आर्थिक विकास को व्यक्तियों और फर्मों के आर्थिक उद्देश्यों के संपूर्ण संवाद के परिणाम, और सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक संरचना के रूप में देखती है। इसमें एक महत्वपूर्ण अंतर उत्पन्न होता है : उन्नीसवीं सदी की धारणा के अनुसार, छोटी अवधि में कुल उत्पाद (अथवा कुल आय) में वृद्धि आर्थिक प्रगति है, जबकि बाद की धारणा आर्थिक प्रक्रिया की 'गुणवत्ता' और उसके दीर्घकालिक प्रभावों को अधिक महत्व देती है। वह औद्योगीकरण और उसे निरंतर जारी रखने की अनवरत प्रक्रिया और न्यूनतम दर पर उसे जारी रखने की क्षमता को आर्थिक विकास की पहचान मानती है।

पृष्ठ 612 पर मौरिस लिखते हैं : "जबकि ब्रिटिश वस्त्र भारतीय हथकरघा उत्पादों से स्पर्धा कर रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है कि कीमतों में गिरावट के बावजूद मशीन से निर्मित धागे के कारण रेशीय हथकरघा क्षेत्र की स्पर्धात्मक स्थिति मजबूत हो गई थी।"[42] सर्वप्रथम हम यह देखेंगे कि इन वस्तुओं की कितनी मात्रा शामिल थी, विशेषकर सूत के आयात से लेकर बुने हुए वस्त्रों के आयात तक, जो कि वास्तव में बहुत कम था।

सूती उत्पादों का आयात[43]

वर्ष	सूती ट्विस्ट और धागे (पौंड)	सूती माल (पौंड)
1849	909,016	2,222,089
1859	1,714,216	8,088,927
1869	2,779,936	16,072,551
1889	3,746,797	27,764,508

दूसरे, किस संबंध में बुनकरों ने अपनी स्पर्धात्मक स्थिति मजबूत कर ली थी? हमें मानना होगा, कि आयातित वस्त्र। परंतु ऐसा किस प्रकार हो सकता है जबकि ब्रिटिश बुनकरों को भी वही धागा उपलब्ध था, जिनकी उत्पादकता बड़ी तेजी से बढ़ रही थी, जबकि भारतीय बुनकरों की उत्पादकता स्थिर थी? उदाहरण के लिए ब्रिटिश बुनकरों को धागे के प्रति पौंड पर दी जाने वाली मजदूरी में निम्न प्रकार से गिरावट आई :[44]

1819-21	15.5 पेंस
1829-31	9.0 पेंस
1844-46	3.5 पेंस
1859-61	2.9 पेंस
1880-82	2.3 पेंस

इसके अतिरिक्त, धागे की तुलना में बुने हुए (सूती) वस्त्रों के निर्यात मूल्य में बड़ी तेजी से गिरावट आ रही थी :[45]

अवधि	औसत निर्यात मूल्य प्रति पौंड	
	धागा (पेंस में)	वस्त्र (पेंस में)
1819-21	29.0	70.3
1829-31	15.3	40.6
1844-46	12.0	22.5
1859-61	11.7	20.5
1880-82	12.8	19.4

इसका अर्थ यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश बुनकर के मुकाबले में भारतीय बुनकर की स्पर्धात्मक स्थिति निरंतर कमजोर हो रही थी। इसी वजह से 1849 से 1889 तक कपड़े के आयात में 255 लाख स्टर्लिंग (12.5 गुनी) की वृद्धि हुई, जबकि धागे के आयात में केवल 1.8 लाख स्टर्लिंग (4 गुनी) की वृद्धि हुई। मौरिस यहां भी तार्किक कठिनाइयों में फंस जाते हैं। अब भी विदेशी कपड़े का अधिक मात्रा में आयात क्यों होता है? यह किस प्रकार की मजबूती है? हम और आगे बढ़ते हैं : सूती कपड़े के आयात के कारण अथवा इसके बावजूद किसी न किसी कारण कपड़े के मूल्यों में अंतर बना रहा। तब, दस्तकारी की वस्तुओं के उत्पादन में किस प्रकार वृद्धि हो सकती थी?[46] केवल तीन स्थितियों द्वारा इसकी व्याख्या की जा सकती है :

(1) मूल्य लंकाशायर के पक्ष में थे, परंतु बुनकर अधिक मूल्यों पर अपने उत्पादों को इसलिए बेच सके, क्योंकि लंकाशायर में उस मूल्य पर अपेक्षित मात्रा

की आपूर्ति करने की क्षमता नहीं थी, अथवा वह विस्तृत बाजार तक नहीं पहुंच सकता था। बुनकरों की वहां तक पहुंच थी। दूसरे मामले में भारतीय बुनकरों का एकाधिकार था अथवा उनके पास सुरक्षित बाजार था और उन्हें किसी भी प्रकार से दृढ़ीकरण की आवश्यकता नहीं थी।

(2) धागे के आयात के फलस्वरूप, मूल्य बुनकरों के हक में थे, परंतु लंकाशायर की बिक्री में फिर भी वृद्धि हुई क्योंकि बुनकरों को पर्याप्त मात्रा में धागा नहीं मिलता था। इस स्थिति में एक और उप-स्थिति भी थी : भारतीय बुनकरों के सस्ते उत्पादों के मुकाबले में महंगे विदेशी उत्पादों को तरजीह देते थे।

(3) बुनकर अपना पेट काटकर भी अपनी स्थिति को बनाए हुए था। परंतु, उसकी स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब हो रही थी। यह स्थिति दूसरी स्थिति के समान है, परंतु, इस स्थिति में उसकी स्पर्धात्मक स्थिति में सुधार नहीं होता, बल्कि उसमें गिरावट आती है। वह अपना पेट काटकर और अपनी पूंजी गंवाकर अपनी दस्तकारी को कायम रखता है।

वास्तव में, जो दस्तकार बचे रहे—और ग्रामीण दस्तकार तो बड़ी संख्या में बचे रहे—वे या तो तीसरी स्थिति और पहली स्थिति की दूसरी उप-स्थिति के फलस्वरूप जीवित रहे, अर्थात लंकाशायर की विस्तृत भारतीय बाजार में पहुंचने की असफलता के कारण (दूसरे शब्दों में, दस्तकार या तो अधिक गरीब होकर बचा रहा, या इसलिए कि भारत पर ब्रिटिश प्रभाव हमेशा अपूर्ण रहा, वह ब्रिटिश शासन के पिछड़ेपन के कारण बचा रहा! ब्रिटिश शासन इतना भी दक्ष नहीं था कि वह अहस्तक्षेप पर आधारित अर्थशास्त्र की आदर्श स्थिति (संपूर्ण बाजार) उत्पन्न कर सकता);[47] अथवा जैसा कि डा. गाडगिल ने संकेत दिया है कि क्योंकि किसान इतना गरीब रहा है और हाथ से बुना कपड़ा उत्पादक की जीवन निर्वाह करने की कम कीमत के कारण इतना सस्ता था कि किसान लंकाशायर में बने अपेक्षकृत महीन कपड़े को खरीदने की स्थिति में नहीं था और न ही यह महीन कपड़ा हाथ से बुने कपड़े के साथ स्पर्धा कर सकता था। दूसरे शब्दों में, किसान की आय में, "पर्याप्त मात्रा में" वृद्धि (जैसा कि मौरिस का विश्वास है) हुई हो अथवा न हुई हो, वह फिर भी ब्रिटिश कपड़े को खरीदने की स्थिति में नहीं था।[48] दूसरे, इस 'सुधरी हुई' स्पर्धात्मक स्थिति में बने रहने के लिए दस्तकार को अपना पेट काटना ही था।

मौरिस, एक बार फिर वैज्ञानिक व्याख्या देने के करीब पहुंच जाते हैं। वे लिखते हैं : "ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में कपड़े की मांग काफी लचकीली रही है। कीमत में गिरावट के कारण मांग-वक्र में काफी परिवर्तन आया था। इसके साथ ही, मांग-वक्र के दाहिनी ओर (सूती कपड़े के लिए) परिवर्तन नजर आता है"। परंतु,

आधुनिक अर्थशास्त्र के अति परिष्कृत उपकरणों जैसे मांग लोच और मांग-वक्र का किस आधार पर प्रयोग किया गया है, जबकि विशेष रूप से मांग वक्र की प्रवृत्ति मांग लोच की ओर परिवर्तित होने की है? उनकी समीक्षा न तो किसी प्रकार के उपलब्ध आंकड़ों और न ही किसी प्रकार के प्रमाण पर आधारित है।[48अ] आर्थिक साहित्य में ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर मांग-वक्र खींच कर उसके परिवर्तन का भी रेखांकन किया जा सके। वास्तव में, वक्र एक परिकल्पना है और 'परिवर्तन' जैसे शब्द केवल उसके एक ठोस अस्तित्व का भ्रम पैदा करते हैं। उस वक्र में परिवर्तन का आधार, एक बार फिर, आबादी के विकास, रीति-रीवाजों में परिवर्तन (अर्थात चोली के नीचे साड़ी पहनने का रिवाज) का सिद्धांत प्रतीत होता है। परंतु आय के आकार और प्रभावकारी मांग के ढांचे पर आबादी के विकास का प्रभाव एक ऐसी जटिल समस्या है, जिस पर शोध की आवश्यकता है। जब तक कि हमारा यह विश्वास न हो कि आबादी में वृद्धि के परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास होता है, हम इसका उल्लेख इतने सामान्य तरीके से नहीं कर सकते, जैसा कि मौरिस ने किया है। इस विषय पर किसी प्रकार के शोध के अभाव में, चोली के फैशन में परिवर्तन की बात उन्नीसवीं सदी की परियों की कहानी जैसी लगती है, जब लंकाशायर के उद्योग चीनियों के कोट में एक इंच की लंबाई बढ़ाने और अफ्रीका में दक्षिणी राज्यों के सीनेटर चीनियों द्वारा तंबाकू का प्रयोग आरंभ करने की बात सोचा करते थे। उन अच्छे और बीते दिनों में, प्रभावकारी मांग की समस्याओं को सुलझाने के लिए बाजार की खोज में लगे व्यापारियों और उत्पादकों को ऐसे ही सरल और अव्यावहारिक उपाय सूझा करते थे।

यहां केवल यह ही प्रभावकारी आर्थिक तर्क हो सकता है कि बढ़ती हुई आय के कारण वस्त्रों की प्रभावकारी मांग में वृद्धि हुई। परंतु, तब हमें यह प्रदर्शित करना पड़ेगा कि आय में इस प्रकार की वृद्धि हुई, यह कि बढ़ी हुई आमदनी उन व्यक्तियों के हाथों में आई जो हाथ से बने उत्पादों पर उसे खर्च करते थे, और यह कि वस्त्रों के आयात और बाद में देशीय मशीनी उत्पादों के कारण बढ़ी हुई मांग की पूर्ति नहीं हुई।[49]

वस्तुतः उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह तस्वीर सामने आती है :

(1) शहरी हस्तशिल्प का बढ़ता हुआ विनाश जिसने अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(2) एक आर्थिक गतिविधि के रूप में कताई को बड़ा आघात पहुंचा। इसका किसानों की देशीय अर्थव्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, जिसके इतने अधिक बहुपक्षीय परिणाम निकले कि यहां हमारे पास उन पर विचार करने के लिए स्थान नहीं है—इससे काश्तकारों और दस्तकारों पर व्यापारी-महाजन के नियंत्रण में और अधिक वृद्धि हो गई।

(3) ग्रामीण दस्तकारों पर इसका धीरे-धीरे प्रभाव पड़ा (दो वक्त की रोटी कमाने वाले मजदूर की आय में जरा सी भी गिरावट का उस पर बहुत प्रभाव पड़ता है)। इससे दस्तकारों की एक बड़ी संख्या अपनी दस्तकारी छोड़ने को विवश हो गई, विशेष रूप से जब अधिक से अधिक भूमि खेती के उपयोग में लाई जा रही थी और श्रम के पारंपरिक विभाजन की व्यवस्था टूट जाने के कारण, वे काश्तकारों और पट्टेदारों के रूप में भूमि प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। उनमें से अनेक खेतिहार मजदूर बन गए।[50] बढ़ती हुई आबादी के काल (लगभग 0.4 प्रतिशत प्रति वर्ष) की इस स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि किसी दस्तकारी उद्योग में लगे व्यक्तियों की शुद्ध संख्या में कमी हो (हालांकि अधिकांश परिणाम इसी का संकेत करते हैं) बल्कि यह संभव है कि उनके अनुपात में कमी हो। इसमें संदेह नहीं है कि अब भी लोग बड़ी संख्या में अपनी पारंपरिक दस्तकारी में ही लगे थे। ऐसा आर्थिक चयन के आधार पर नहीं बल्कि अवसरों के अभाव के कारण हुआ और जैसा कि अकाल आयोग की नियमित रिपोर्टों में उल्लेख किया गया, वे अकाल के शिकार बनते रहे। बहुत से बौने जोतदार अथवा कृषि मजदूर अथवा छोटे मोटे व्यापारी बन कर भी अपनी दस्तकारी में लगे रहे।

इसके अतिरिक्त, बहुत से दक्ष दसतकार इसलिए बचे रहे कि उन्होंने कम कौशल की वस्तुएं बना कर बेचना आरंभ कर दिया। बहुत से अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया है कि जापान के तीव्र औद्योगीकरण का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि पारंपरिक दस्तकार अपने काम में अत्यधिक कुशल थे। जिसके कारण उन्होंने आधुनिक औद्योगिक कौशल में बड़ी शीघ्रता से दक्षता प्राप्त कर ली। भारत में यह कौशल—जो कि आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण अंग होता है—लुप्त हो गया।

मौरिस यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शुरुआत की अपेक्षा इस काल के अंत में हथकरघा बुनकरों की “संख्या न तो कम हुई और उनकी आर्थिक स्थिति भी बुरी नहीं थी” (पृष्ठ 613)। हम इन दोनों बिंदुओं पर पहले ही विचार कर चुके हैं । परंतु, यहां इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि मौरिस यह नहीं कह रहे हैं कि कुल आबादी की तुलना में दस्तकारों के अनुपात में कमी नहीं आई। दूसरे उनके संशोधित वक्तव्य का कोई प्रमाण नहीं है। भारत में पारंपरिक वस्त्र केंद्रों के विलोप (उदाहरणार्थ मुर्शिदाबाद) को तो सभी जानते हैं, जबकि इस प्रकार के नए केंद्रों की स्थापना के कहीं भी उदाहरण नहीं मिलते। न ही किसी अध्ययन में यह प्रदर्शित किया गया है कि गांवों अथवा मौजूदा शहरों में दस्तकारों की संख्या में वृद्धि हुई। उस समय के मौजूदा एक प्रमुख नगर में व्यवसायों पर एक सांख्यिकी अध्ययन केवल किशन लाल ने किया है, जिन्होंने 1961 में भारतीय इतिहास सत्र में यह बताया

कि देहली में दस्तकारी लगभग समाप्त हो गई थी।

मौरिस के कथन का दूसरा अंश भी कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा। एक ऐसी स्थिति में, जबकि ब्रिटिश श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो रही थी,[51] अपनी मजदूरी में कटौती किए बिना अथवा अपनी उत्पादकता में वृद्धि किए बिना (जिसका कोई सबूत नहीं है) भारतीय दस्तकार स्पर्धा में कैसे टिक सकता था। वह स्पर्धा में तब ही टिक सकता था जबकि उसकी लागत कम हो जाती अर्थात, भारत में धागे के मूल्य गिर जाते और वह फैक्टरी-उत्पादों के मुकाबले में अपनी स्पर्धात्मक क्षमता और शुद्ध लाभ में वृद्धि करने योग्य हो जाता। ये सभी परिकल्पनाएं यह संकेत करती हैं कि उनके सुझाव में कितनी मासूमियत है।

और यदि हमें इस प्रकार के 'तार्किक' आर्थिक इतिहास की रचना करनी है तो तर्क के स्तर पर कुछ प्रश्न हमारे सामने आएंगे : यदि औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार बढ़ रहा था, अधिक भूमि पर खेती हो रही थी, यदि मुद्रीकरण में वृद्धि और उसकी वजह से व्यापारियों की संख्या बढ़ रही थी, और यदि आबादी के विकास की दर केवल 0.4 प्रतिशत प्रति वर्ष अर्थात 1820 और 1920 के दौरान लगभग 40 और 50 प्रतिशत थी, तब इतने बड़े स्तर पर जोतों का विभाजन क्यों हुआ? और काश्तकार और बटाईदार भारी लगान देने को क्यों तैयार थे? तब कृषि मजदूरों में बटाईदार, बौने जोतदार इत्यादि कहां से आ गए (क्योंकि उनकी संख्या में वृद्धि अवश्य हुई)? और जैसा कि धर्मकुमार ने कहा है, उनकी मजदूरी में इतनी अधिक कमी क्यों हुई? और जैसा कि मैंने पहले प्रश्न किया है, ये दस्तकार कहां रहते थे? क्या ग्रामीण आबादी में दस्तकारों के अनुपात और संख्या में वृद्धि हुई थी? दस्तकार ग्रामों का क्या हुआ? उनकी संख्या में वृद्धि हुई अथवा कमी आई? मजदूर किस स्थान से और क्यों, खुले तौर पर विदेशों और बंबई जैसे औद्योगिक नगरों में चले गए (जैसा कि स्वयं मौरिस ने बंबई के वस्त्र-मजदूरों पर लिखी अपनी पुस्तक में प्रदर्शित किया है)? (प्रकट रूप में इसका उत्तर मुगल काल में अधिक आबादी नहीं है क्योंकि (अ) इस प्रकार कोई प्रमाण नहीं है, (ब) मौरिस के अनुसार, युद्ध और अकाल ने भारत की आबादी को माल्थस के बताए गए सिद्धांत की सीमाओं के अंदर ही रखा)!

अंत में, मौरिस ने एक अंतिम तर्क के रूप में एलिस और डेनियल थॉर्नर का हवाला दिया है और वे कहते हैं कि "परंपरागत तर्क जनगणना के आंकड़ों पर आधारित है, जो यह बताता है कि 1872 और 1931 के दौरान आबादी का एक बड़ा भाग कृषि पर निर्भर था"। इसका अभी हाल ही में एलिस और थॉर्नर ने खंडन किया है (पृष्ठ 613)। एलिस और थॉर्नर की धारणाओं और उनके द्वारा निकाले गए निष्कर्षों पर विचार करने के लिए यह उचित स्थान नहीं है। परंतु, उन्होंने अधिक से अधिक यह सिद्ध किया है कि इस बात को साबित अथवा अस्वीकार करने के लिए जनगणना के आंकड़े भरोसेमंद नहीं होते। इसके अतिरिक्त, वे 'परंपरागत तर्क' का खंडन करने

की स्थिति में नहीं थे, क्योंकि 1901 की जनगणना के प्रकाशन से पहले ही(गाडगिल ने 1931 में की) रानाडे, आर.सी. दत्त, जी.वी. जोशी इत्यादि ने यह तर्क प्रस्तुत किया था। यदि जनसंख्या के आधार पर भारत में हुए आर्थिक विकास को जानना हो तो यह तथ्य सामने आता है कि 100 वर्षों की गर्भावधि के पश्चात भारत में 1892 में फैक्टरी अधिनियम के तहत केवल 2,54,000 व्यक्ति आधुनिक औद्योगिक उत्पादन में लगे हुए थे। इस संख्या में 1931 तक केवल 11 लाख की और 1951 तक 1,180,000 की वृद्धि हुई, जबकि आबादी 1891 में 23.70 करोड़ से बढ़कर 1931 में 27.55 करोड़ और 1951 में 35.70 करोड़ हो गई, और 1891 और 1951 के दौरान मजदूरों की संख्या 9.4 करोड़ से बढ़कर 14.2 करोड़ हो गई।[52] इन आंकड़ों के मद्देनजर यही कहा जा सकता है कि "प्रसार संबंधी" और जनसंख्या की वृद्धि पर आधारित आंकड़ों से संबंधित विवाद निरर्थक है। और, रानाडे और दत्त से लेकर राधाकमल मुखर्जी और आर. पाम दत्त जैसे लेखकों ने इसी पक्ष पर विचार किया है।[53]

जब मौरिस आगे चल कर लिखते हैं कि ब्रिटिश राज का "उन्नीसवीं सदी में सकारात्मक प्रभाव पड़ा और यह मैं पहले ही कह चुका हूं कि उसका प्रभाव सीमित था"(पृष्ठ 615) तो हमें उनके कथन पर ऊपर दिए गए आंकड़ों के संदर्भ में विचार करना चाहिए और ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, फ्रांस, रूस अथवा जापान के इसी प्रकार के आंकड़ों से उनकी तुलना करनी चाहिए। उन्नीसवीं सदी के अंत में भारतीय आर्थिक ढांचे और उसके परिणामों के संबंध में हम जो कुछ जानते हैं, उसके मद्देनजर हमें यह पूछना है कि इस सीमित विकास की गुणवत्ता क्या थी? राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी (और युद्धोत्तर काल के कुछ विकासवादी अर्थशास्त्री) निश्चित रूप से यह प्रश्न पूछेंगे कि ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप 'औद्योगिक क्रांति' हुई अथवा नहीं; या आर्थिक विकास की प्रक्रिया आरंभ हुई अथवा नहीं? जबकि कुछ परिवर्तनवादी तत्व उभरे, जबकि उद्योगों (व्यापार और बैंकिंग) में आधुनिक प्रौद्योगिकी और संगठनात्मक पद्धतियां आरंभ हुईं; तो क्या इन नई पद्धतियों का विकास बाधित और विफल नहीं हुआ? तब इस वाक्यांश "सीमित प्रभाव" का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हम यहां यह सुझाव दे सकते हैं कि भारत में जो कुछ हुआ वह अधिक से अधिक केवल निष्फल आधुनिकीकरण था—जो कि मार्क्स की बहुत पहले की गई भविष्यवाणी के अनुसार आधुनिक औपनिवेशिक आर्थिक संरचना का विशेष गुण है, और रानाडे, नौरोजी और आर.सी. दत्त और रजनी पाम दत्त और हाल में ही बी.एन. गांगुली जैसे लेखकों की रचनाओं में शिकायत का मुख्य मुद्दा भी यही है।[54] और व्याख्या की यही रूपरेखा उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के भारत के आर्थिक इतिहास के विश्लेषण के लिए वैध प्रतीत होती है।[55]

V

अपने लेख के अंतिम भाग में मौरिस ने सरकारी नीति के कुछ मूल स्रोतों की चर्चा की है, क्योंकि अंत में उन्हें यह अहसास होता है कि उन्हें भारत की आर्थिक पिछड़ेपन का कोई तो कारण बताना ही है। क्योंकि वास्तविकता यह है कि "अर्थव्यवस्था अभी तक औद्योगीकरण से बहुत दूर है" (पृष्ठ 614)। वे इस बात को भी जानते हैं कि "उन्नीसवीं सदी का मैंने जिस ढंग से वर्णन किया है, उसके मद्देनजर यह बात भ्रमपूर्ण भी लग सकती है" (पृष्ठ 614) और, वे कहते हैं कि "इस प्रश्न का उनके पास कोई निश्चित उत्तर नहीं है क्योंकि एक भी प्रमुख क्षेत्र विकसित नहीं हुआ (पृष्ठ 615)"। वे लिखते हैं : "इसके कारण निश्चित रूप से जटिल हैं और संबंधों की गूढ़ अन्योन्यक्रिया पर चर्चा करने के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है" (पृष्ठ 615)। मैं यहां यह महसूस करता हूं कि मौरिस हमें धोखा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। पुनर्व्याख्या की तो बात अलग है। क्या इस प्रकार की बहस को 'स्थान दिए बिना' उन्नीसवीं सदी के आर्थिक इतिहास पर चर्चा हो सकती है? क्या इसमें उन संबंधों के प्रभाव शामिल नहीं हैं, जो ब्रिटेन से आए?

परंतु, मौरिस इस तथ्य के प्रति सचेत हैं कि अपनी नई व्याख्या की वैधता के हितों को सुरक्षित रखने के लिए, वे इस चर्चा को इस स्थिति में नहीं छोड़ सकते। और वे, एक बार फिर अहस्तक्षेप पर आधारित अर्थव्यवस्था और स्ट्रैची के चिंतन को अपना आधार बना कर कुछ उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। परंतु, यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि .वे प्रगति के तथ्यों पर नहीं बल्कि आर्थिक स्थिरता के कारणों पर चर्चा कर रहे हैं। वे यह कहते प्रतीत होते हैं कि यदि प्रतिकूल परिस्थितियां न होतीं, तो इन सभी पिछले सकारात्मक प्रयत्नों के अच्छे और लाभप्रद परिणाम सामने आते। अब भी वे आर्थिक संरचना का विश्लेषण नहीं कर रहे हैं, बल्कि बलि के बकरों की खोज कर रहे हैं। अंत में यही परिणाम सामने आता है कि विकास में स्थिरता के लिए कोई और नहीं बल्कि साम्राज्यवाद की संरचना का एक अंग और उसका प्रभाव ही उत्तरदायी हैं।

सर्वप्रथम, वे यह कहते हैं कि ब्रिटिश राज का प्रभाव सीमित था क्योंकि "भारत की सरकार के पास, प्रकट रूप में, सक्रिय आर्थिक विकास का कोई सोचा समझा कार्यक्रम नहीं था", क्योंकि "राज स्वयं को रात के चौकीदार की निष्क्रिय भूमिका में देखता था" (पृष्ठ 615)। ऊपरी सतह पर तो यह उत्तर सही लगता है, लेकिन वह अपने अंदर अहस्तक्षेप और साम्राज्यवाद के बीच संबंधों की कुरूप वास्तविकता छुपाए हुए है। यह सब एक वैचारिक गलती प्रतीत होती है। लेकिन क्या भारत सरकार रात की पहरेदार थी? सव्यसाची भट्टाचार्य ने इस विचार का कड़े शब्दों में खंडन किया है।[56] उनकी दलील को दोहराए बिना मैं यह संकेत करना चाहूंगा कि जस्टिस रानाडे

और दूसरे लेखकों ने इस बात का स्पष्ट संकेत दिया था कि भारत सरकार ने भारत में ब्रिटिश पूंजीपतियों को विशेषाधिकार दिए थे और उनके औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों को बढ़ावा देने में सीधी भूमिका निभाई थी। उसने अहस्तक्षेप के काल की चरमसीमा पर, भारत में सरकारी खर्चे पर—और भारी खर्चे पर—सिनकोना, चाय और काफी के बागान लगाने का कार्य आरंभ करवाया था और सक्रिय रूप से कपास की खेती और उसके यातायात को बढ़ावा दिया था। यह भारत के आर्थिक इतिहास का एक सर्वविदित तथ्य है कि भारत सरकार ने राज्य द्वारा रेलमार्ग बनवाने का कार्य आरंभ किया और 'उदार' डलहौजी ने राज्य की गारंटी के अंतर्गत ही रेलमार्गों का निर्माण कराया।[57] इसी प्रकार केवल भारत ही एक ऐसा अहस्तक्षेप की नीति पर आधारित 'उदार' राष्ट्र-राज्य था, जिसकी सरकार ने कानून बना कर मजदूरों को चाय और काफी के बगानों में कार्य करने को विवश किया था (यह बात और भी महत्वपूर्ण है कि परिवर्तनवादी लार्ड रिपन ने इस प्रकार के कानून को पास किया था)। यहां राज्य के हस्तक्षेप का अभाव, अथवा "एक निष्क्रिय भूमिका" के प्रति समर्पण कहां था? वास्तव में, कानून और व्यवस्था बागान-मालिकों को सौंप दी गई थी। भारतीयों ने भी यह संकेत दिया था कि ब्रिटिश सरकार अमरीकन स्टैंडर्ड आयल कंपनी को बर्मा में काम नहीं करने देगी।[58] इसके अतिरिक्त जो सरकार समस्त भूमि पर स्वामित्व का दावा करती थी और जो जमींदार और काश्तकार, कर्जदार और कर्जदाता के संबंधों में हस्तक्षेप करती थी (जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्धभाग में किया) और जिस प्रकार कि उसने प्रबंधित अपरिवर्तनीय मुद्रा चलाई थी, ऐसी सरकार को मुश्किल से ही अहस्तक्षेप की राजनीतिक, अर्थव्यवस्था का समर्थक अथवा एक "रात का चौकीदार" कहा जा सकता है। भारतीय उद्योगों और सामाजिक (अतिरिक्त) सुविधाओं को बढ़ावा देने में भारत सरकार की निष्क्रियता से तो उसके "रात के चौकीदार" के चरित्र की अभिव्यक्ति नहीं होती। प्रश्न यह है कि : सरकार ने आर्थिक गतिविधि के क्षेत्र में भारत सरकार ने कुछ राज्यों में सरकारी कार्यवाही की और कुछ में अहस्तक्षेप की नीति क्यों अपनाई? ऐसा क्यों हुआ कि 'सरकार की सक्रिय सहायता और भागीदारी से कच्चे माल पर आधारित निर्यात-अर्थव्यवस्था स्थापित की गई, लेकिन जब उद्योगीकरण को सरकारी समर्थन देने का प्रश्न आया तो अहस्तक्षेप के सिद्धांत का बहाना बना दिया गया?

मौरिस के अनुसार भारत सरकार की निष्क्रियता का एक दूसरा कारण "एक संतुलित वार्षिक बजट के प्रति उसकी तल्लीनता थी। इस सिद्धांत के कारण सरकार द्वारा सामाजिक सुविधाओं पर किया जाने वाला अतिरिक्त खर्च और उसका प्रभाव सीमित हो गया" (पृष्ठ 615)।[59] परंतु, वास्तविक प्रश्न, फिर भी अलग है। एक खर्चे में कटौती करके और दूसरे में कटौती न करके, और एक प्रकार के करों में वृद्धि करके और दूसरे प्रकार के करों में कोई वृद्धि न करके, बजट को संतुलित क्यों किया

गया? इस संबंध में कुछ तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है, जिनका आर.सी. दत्त और दूसरे लेखकों ने हवाला दिया है। 1801 में, भारत के बजट का 45.5 प्रतिशत सैनिक बलों पर खर्च होता था, 37.5 प्रतिशत असैनिक प्रशासन पर खर्च होता था जिसमें से 18.7 प्रतिशत शिक्षा, स्वास्थ्य और विज्ञान विभागों पर और 81.3 प्रतिशत प्रशासन के गैर-विकासशील कार्यों पर खर्च होता था।[60] बहुत पहले ही भारतीयों ने इस बात का संकेत दिया था कि 1880 के दशक में भारत ने अपनी सेना पर कुल मिला कर इतना खर्च किया जितना कि ब्रिटेन, अथवा जर्मनी, अथवा रूस, अथवा जापान, अथवा संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने भी नहीं किया, यह कि भारत ने ब्रिटेन और रूस की अपेक्षा अपनी आय का एक बड़ा भाग सेना पर खर्च किया, यह कि भारत में प्रति सैनिक खर्च संसार में सबसे अधिक था—इतना अधिक कि संसार की सबसे कुशल समझी जाने वाली सेनाएं भी अपने सैनिकों पर इतना अधिक खर्च नहीं करती थी[61]। 1891 में सरकारी राजस्व का 30 प्रतिशत यूरोपवासियों पर खर्च हुआ।[62] 1898 में 4.2 करोड़ रेल मार्ग बिछाने में खर्च हुआ, जबकि सिंचाई पर केवल 0.6 करोड़ खर्च किया गया। इस प्रकार के बहुत से तथ्य और आंकड़े प्रस्तुत किए जा सकते हैं।[62अ] इसे वास्तव में एक संतुलित बजट नहीं कहा जा सकता; इस बजट को साम्राज्यी हितों के अनुरूप ही तैयार किया गया था।

कर के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति थी। सरकारी अधिकारी पेशेवर वर्ग, व्यापारी, साहूकार, जमींदार और भूस्वामी, बागानों के मालिक, विदेशी वाणिज्यिक कंपनियां इत्यादि बहुत कम कर अदा करते थे। जब आखिरकार, 1886 में आयकर लागू किया गया तो इसकी दर 2.7 प्रतिशत से भी कम थी और उसमें भूमि (जमींदारों और भूस्वामियों की भूमि) और बागानों से होने वाली आय शामिल नहीं थी। वेतनों, पेंशनों, इंगलैंड में अदा किए भत्तों, इंगलैंड में स्थापित जहाज-कंपनियों के मुनाफे, गारंटी पर इंगलैंड में अदा किए गए ब्याज और ब्याज की गारंटीशुदा राशि तक रेलों के मुनाफे को भी आयकर से मुक्त रखा गया। इसके अतिरिक्त, सैनिक अफसरों को 6000 रुपए प्रति वर्ष तक की आय पर कर से मुक्त रखा गया। इसके फलस्वरूप, सदी के अंत में, आयकर के रूप में सरकार को कुल मिला कर 109 करोड़ राजस्व के रूप में प्राप्त हुआ, भूमि से 26.2 करोड़ और नमक कर के रूप में 8.8 करोड़ राजस्व की प्राप्ति हुई।[63] संपन्न व्यक्ति कोई कर अदा नहीं करते थे। वे कभी भी सीमा अथवा उत्पादन शुल्क से प्रभावित नहीं होते थे। इसलिए 1888 में जी.वी. जोशी ने यह शिकायत की कि सरकारी कर नीति के अंतर्गत "थोड़े से धनी व्यक्ति, जो ब्रिटिश प्रशासन, ब्रिटिश न्याय और ब्रिटिश शांति व्यवस्था से सर्वाधिक लाभान्वित होते हैं, कम से कम कर देते हैं, जबकि करोड़ों व्यक्ति जिन्हें कोई लाभ नहीं होता सबसे अधिक कर अदा करते हैं।"[64] एक बार फिर असली प्रश्न यही है : बजट को केवल एक ही प्रकार से क्यों संतुलित किया गया, दूसरी प्रकार से क्यों नहीं?

मौरिस कहते हैं कि बजट का एक दूसरा पक्ष यह था कि वह "मानसून पर आधारित" था। लेकिन, यह विचार भी तथ्यों पर आधारित नहीं है। यह दूसरी बात है राजस्व में नाम मात्र के परिवर्तन को बजट में उलटफेर करने के लिए काफी समझा जाए। मैं यहां उन वर्षों के कुछ आंकड़े प्रस्तुत करता हूं जिनमें अकाल पड़ा[65] (देखिए सारणी नं. 1)।

यह कहना कि शिक्षा, सिंचाई और रेलों पर "रुक-रुक कर खर्च किया जाता रहा", सही नहीं है। यह खर्च सामान्यतः कम था सिवाय रेलों को छोड़कर क्योंकि उन पर सबसे ज्यादा खर्च किया गया।[66] (देखिए सारणी नं. 2)

यह भी स्पष्ट है कि रेलों के खर्च में घटा-बढ़ी का भू-राजस्व अथवा मानसून से कोई संबंध नहीं है।

सारणी नं. 1

वर्ष		भू-राजस्व (करोड़ों में)	बचत अथवा घाटा
1876	अकाल के वर्ष	19.8	−0.2
1877	अकाल के वर्ष	19.8	−4.3
1878		22.3	+2.1
1879		21.8	−1.2
1880		21.1	−3.6
1890	अकाल के वर्ष	24.0	+3.7
1891	अकाल के वर्ष	23.9	+0.5
1892		24.9	−0.8
1893		25.5	−1.5
1895		26.2	−0.5
1896	अकाल के वर्ष	23.9	−1.7
1897	अकाल के वर्ष	25.6	−5.3
1898		27.4	+3.9
1899	अकाल के वर्ष	25.8	+4.1
1900	अकाल के वर्ष	26.2	+2.4
1901		27.4	+7.3

इस बात पर संभवतः काफी विचार किया जा चुका है। भारत सरकार द्वारा किए गए खर्च के संबंध में मुख्य प्रश्न यह है : सेना, कानून और व्यवस्था पर इतना अधिक खर्च क्यों किया गया, जबकि सिंचाई अथवा शिक्षा, अथवा कृषि अथवा उद्योग में आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रसार पर खर्च क्यों नहीं किया गया? मैं यह भी कह दूं कि मौरिस का यह कथन कि सरकार ने सिंचाई को इसलिए विकसित नहीं किया क्योंकि "सरकार द्वारा सामाजिक सुविधाओं पर किया जाने वाला खर्च अधिकतर इस सिद्धांत से प्रभावित होता था कि इस प्रकार का निवेश स्वयं ऐसा होना चाहिए कि

वह ब्याज की प्रचलित दर पर अपना खर्च निकाल लें"—एक भ्रम पर आधारित है (पृष्ठ. 616)। आखिर, रेलों का विकास इस प्रकार के किसी सिद्धांत से प्रभावित नहीं था : सरकार ने गारंटी शुदा ब्याज का भुगतान किया, राज्यों में रेलों की शुरुआत की, और न ही उसने 'प्रचलित दर पर ब्याज' की वसूली की बल्कि 1901 तक शुद्ध घाटा भी उठाया।

सारणी नं. 2

(करोड़ रुपए में)

वर्ष	खर्च रेलवे	(पूंजी) सिचाई	शिक्षा (शुद्ध)	स्वास्थ्य और विज्ञान विभाग
1	2	3	4	5
1875	3.2	1.1	.8	.98
1876	2.9	.9	.8	
1877	4.1	.8	.8	
1878	3.4	.7	.8	
1879	2.9	.5	.8	
1880	3.0	.6	.8	
1881	2.1	.5	.8	
1882	1.8	2.7	.9	
1883	3.3	.7	.9	
1884	3.5	.7	1.0	
1885	4.7	.5	1.0	1.09
1886	5.1	.5	1.0	
1887	2.2	.5	1.0	
1888	1.1	.4	1.0	
1889	2.7	.3	1.1	
1890	2.8	.4	1.1	
1891	2.7	.7	1.2	
1892	3.4	.5	1.2	
1893	2.9	.6	1.2	
1894	3.8	.5	1.2	
1895	3.3	.7	1.3	
1896	4.2	.7	1.3	
1897	3.6	.6	1.3	
1898	.4.2	.6	1.3	
1899	3.6	.9	1.3	1.98
1900	5.1	.9	1.3	
1901	5.2	.7	1.3	

अतः औद्योगिक विकास के प्रोत्साहन में सरकार की निष्क्रियता का यह स्पष्टीकरण देने के बजाए कि उसकी भूमिका एक "रात के चौकीदार" जैसी थी, अथवा वह एक संतुलित बजट लाना चाहती थी, अथवा वह मानसून पर निर्भर थी, ये प्रश्न पूछे जाने चाहिए : भारत की सरकार ने केवल तब ही राज्य की कार्यवाही की नीतियों का अनुशरण क्यों किया जब उनसे ब्रिटिश पूंजी को लाभ पहुंचता था? उसने अपने संसाधनों को सेना, कानून और व्यवस्था और 'कुशल' प्रशासन पर बर्बाद क्यों किया, और शिक्षा, तकनीकी शिक्षा[67], स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं में उनका उपयोग क्यों नहीं किया? उसने रेलों को क्यों प्रोत्साहन दिया और सिंचाई पर ध्यान क्यों नहीं दिया? इनका उत्तर हमें ब्रिटिश शासन के चरित्र, उसकी नीतियों और उसके प्रभाव में मिल जाएगा। राष्ट्रवादियों का उत्तर यह था कि ब्रिटिश शासन साम्राज्यवादी था। भारतीय हितों को ब्रिटिश हितों के अधीन करना उसका बुनियादी चरित्र था। वह ही उसकी अहस्तक्षेप की नीति राजकीय कार्यवाही और उसकी बजट संबंधी प्राथमिकताओं को लागू करने में मुख्य भूमिका निभाता था। इसके अतिरिक्त इन प्रश्नों का और क्या उत्तर हो सकता है।

VI

मौरिस द्वारा प्रतिपादित कुछ और सिद्धांतों पर भी ध्यान देना जरूरी है। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि "हम उन्नीसवीं सदी को एक ऐसे काल के रूप में ले सकते हैं कि इस छोटी सी अवधि में सभी प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तन लाना संभव नहीं था, जो एक औद्योगिक क्रांति की पूर्व-स्थितियों को तैयार करने के लिए आवश्यक होते हैं" और यह कि "उन्नीसवीं सदी में उत्तरी अटलांटिक के अनुभव से प्रभावित होकर, आर्थिक इतिहासकार भी इस तथ्य की अनदेखी करते हैं कि औद्योगिक क्रांति की पूर्व-स्थितियों को परिपक्व होने से पूर्व एक लंबी 'गर्भावधि' की आवश्यकता होती है, जिसके आधार पर एक समाज उच्च और निरंतर आर्थिक विकास के चरण में प्रवेश करता है" (पृष्ठ 617)। परंतु, दूसरी विचारधारा के प्रवर्तकों का विचार है कि इस प्रकार की 'गर्भावधि' की जरूरत नहीं थी।[68] न तो जापान और न ही रूस को उत्तरी अटलांटिक जैसे 'गर्भकाल' की आवश्यकता पड़ी।[69]

दूसरे, संरचनात्मक विश्लेषण से यह प्रदर्शित होगा कि 'गर्भकाल' के परिणामस्वरूप विकास-विरोधी ताकतों को शक्तिशाली बनाया गया और यहां तक कि उन्हें नए सिरे से उत्पन्न भी किया गया।[70] एक सवाल पूछा जा सकता है : क्या मौरिस को विश्वास था कि यदि और 50 वर्ष उसे मिलते तो क्या ब्रिटिश शासन भारत का आर्थिक विकास कर देता? यह ऐसा प्रश्न है कि यदि इसका उत्तर 'नहीं' है तो उनका संपूर्ण विश्लेषण ही निरर्थक होकर रह जाएगा, और दूसरी ओर, वे इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देने

से भी झिझकते हैं। क्योंकि अंत में वे लिखते हैं कि इस धारणा के प्रति उन्हें "कुछ सहानुभूति" है कि युद्धों के वर्षों के दौरान "भारी संरचनात्मक परिवर्तन हुए और स्वतंत्रता के बाद एक बार फिर विकास की बुनियाद डाली गई" (पृष्ठ 617-18)। लेकिन क्या, स्वतंत्रता केवल एक वर्ष, कर्मचारियों का परिवर्तन मात्र थी, अथवा वह एक क्रांति थी जिसे "भारी संरचनात्मक परिवर्तनों" के एक महत्वपूर्ण भाग को नष्ट करना आवश्यक था? क्या 1947 के पश्चात भारत सरकार की सफलता को इस पैमाने से नहीं नापा जा सकता कि वह इस संरचना को नष्ट करने में कितनी सफल रही है अथवा असफल रही है, अर्थात कृषि संबंधों, विदेश व्यापार, देशीय और विदेशी पूंजी से संबंधित नीति, कृषि संबंधी ऋण, मशीनी और पूंजीगत क्षेत्र के निर्माण, कृषि में प्रौद्योगिक परिवर्तन लाने और सामाजिक सुविधाएं (सड़कें, रेलें, विद्युत, जल-आपूर्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि)[71] प्रदान करने में कितनी सफल अथवा असफल रही है? यह बड़ी दिलचस्प बात है कि कहीं भी मौरिस ने यह नहीं बताया कि वे पूर्व-स्थितियां क्या हैं जिनके लिए 'गर्भकाल' की आवश्यकता थी। क्या पूर्व-स्थितियों का काल "आर्थिक विकास से पहले" का काल है, या उसकी कुछ सुनिश्चित परिभाषा है। संभवतः यह सिद्धांत ही दोषपूर्ण है।

लंबे गर्भकाल का प्रश्न भी उसी प्रकार के आर्थिक इतिहास से जुड़ा हुआ है, जिसकी मौरिस आलोचना कर रहे हैं। आर्थिक इतिहास के लेखक लंबे गर्भकाल से संतुष्ट नहीं होंगे क्योंकि वे इसके शिकार हुए थे। उन्होंने अपने विकास की तुलना एक ऐसे विकास से की थी जिसकी 'संभावना' थी—एक ऐसी संभावना जो जर्मनी, जापान, जार के रूस में भी और सबसे अधिक सोवियत संघ में एक वास्तविकता बन गई थी। इससे इस बात की भी अभिव्यक्ति होती है कि क्यों आर.सी. दत्त की बातों में "बर्क जैसा विष" था और उनमें लार्ड कर्जन और स्ट्रेची बंधुओं जैसे आत्म-केंद्रित विचारकों जैसे भावशून्य तटस्थता नहीं थी। अकसर मौरिस इस 'कटुता', आवेश और विकास के प्रति चिंता को अपरिपक्वता और पूर्वग्रह का लक्षण मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह 'कटुता' ही आदम स्मिथ, रिकार्डो, मार्क्स, जान स्टुअर्ट मिल और जे.एम. कींस के लेखन की विशेषता थी। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि बौद्धिक उदासीनता (चाहे वह अकादमिक ही हो) से ही वैज्ञानिक वस्तुपरकता अथवा विश्लेषण में गहराई आती है। मौरिस की 'मृदुल' भाषा उन्हें पक्षपातपूर्ण होने से नहीं रोक सकी है क्योंकि उनके कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "निश्चित तौर पर राज का सामान्य उद्देश्य समाज का हित था" (पृष्ठ 615)।

तीसरे, उन्नीसवीं सदी की सकारात्मक उपलब्धियों को सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक विचित्र दलील दी है। उनके अनुसार, यह बताया गया कि 1920 के बाद प्रति व्यक्ति आय में कमी आई, इससे यह साबित होगा कि तब तक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई थी, नहीं तो उसमें कमी क्यों आती? यदि यह बात मान भी ली जाए

तो "यदि उन्नीसवीं सदी के अंत से पूर्व प्रति व्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि हुई थी, और जीवन स्तर उतना ही नीचा था जैसा कि 1888 की डफरिन की जांच और 1896-1900 तक के अकाल से प्रदर्शित होता है", तो मौरिस के तर्क के अनुसार वह स्तर उन्नीसवीं सदी के आरंभ में इतना नीचा कैसे हो सकता है कि बाद में उसे 'पर्याप्त विकास' का सूचक माना जा सके।[72]

परंतु, वास्तव में यह तर्क और भी अधिक दोषपूर्ण है, क्योंकि मौरिस आगे लिखते हैं : "तथापि, उन्नीसवीं सदी के दौरान प्रति व्यक्ति उत्पादन से इतना अधिशेष प्राप्त हुआ कि उसकी वजह से संपूर्ण सामाजिक विनाश नहीं हुआ और समाज ने वास्तविक आय में आई कमी को सहन कर लिया।" यह मौरिस ने बहुत बचकाना बात कही है, क्योंकि कभी भी प्रश्न यह नहीं था कि समाज ने अपने गुजारे से अधिक अधिशेष उत्पन्न किया अथवा नहीं? समाज आदि काल से ही, हर जगह, ऐसा करता रहा है। उसकी सभ्यता के विकसित होने का आधार भी यही था। भारत ने सदियों तक अपने गुजारे से अधिक अधिशेष उत्पन्न किया है। वास्तविक प्रश्न यह है कि यह अधिशेष किस मात्रा में उत्पन्न किया जाता है और उसका क्या किया जाता है? आर्थिक विकास (बचत निवेश) और आर्थिक हित दोनों की दृष्टि से यह प्रश्न पैदा होता है। यदि यह अधिशेष उन विदेशियों की जेबों में चला जाता है जो उसका पुनर्निवेश नहीं करते बल्कि उसका निर्यात करते हैं (अथवा उसका आर्थिक रूप से पिछड़े ढंग से निवेश करते हैं) अथवा व्यापारियों, महाजनों, भूस्वामियों, जमींदारों, पेशेवर व्यक्तियों और राजाओं की जेबों में चला जाता है जो उसका उपयोग दिखावे के लिए या अपने महाजनी के कारोबार को बढ़ाने के लिए करते हैं, तो उससे न तो सार्वजनिक हित होता है और न आर्थिक विकास ही हो पाता है। यह अधिशेष (यदि उसका प्रयोग उपरोक्त तरीके से किया जाए) अकसर विकास को रोक देता है। इसीलिए हम इस बात पर बल दे रहे हैं कि प्रश्न प्रति व्यक्ति आय के विकास अथवा, कानून और व्यवस्था से कहीं अधिक गहरा है, और यह ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका उत्तर 'साधारणतम आर्थिक उपकरणों (विशेष रूप से अहस्तक्षेप की नीति) में मिल सके।

मौरिस ने दो और विकल्पों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने परोक्ष रूप से 1921 के बाद आबादी में वृद्धि का उल्लेख किया है। उसे उन्होंने 'प्रतिकूल तत्व' कहा है। ठीक उसी समय जबकि "उदार नीति विकास की दर में वृद्धि करने में असफल हो गई थी", आबादी का विस्तार हुआ और विस्तारप्रद शक्तियों को "पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बोझ लेकर चलना पड़ा"। यह तो बिलकुल उलटी बात हुई । प्रथम, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इस काल में आबादी में वृद्धि की दर 1 प्रतिशत थी—जो किसी भी रूप में ऊंची नहीं थी क्योंकि इससे भी अधिक ऊंची दर को विकासशील देशों ने खपा लिया है। दूसरे, उस समय की जनसांख्यकी स्थिति में 'आबादी में वृद्धि' आर्थिक पिछड़ेपन का लक्षण थी, इसका कारण नहीं थी। तीसरे,

विशेषकर तुलनात्मक अर्थों में—भारत और उत्तरी अटलांटिक देशों और जापान और सोवियत संघ के बीच चौड़ी होती हुई दूरी के अर्थों में आबादी में वृद्धि की यह दर भी पिछड़ेपन का परिणाम थी। इन देशों में विकास के कारण स्वास्थ्य और उपचार के साधनों में सुधार हुआ। परंतु, उन देशों में मृत्यु-दर में कमी आने के साथ-साथ जनम-दर में भी कमी आई, जो कि उच्च्य जीवन स्तर, शिक्षा, परिवार नियोजन के ज्ञान और इससे संबंधित सामग्री की उपलब्धता का परिणाम था। यदि 1820 से लेकर 1920 तक भारत को गर्भकाल की स्थिति से न गुजर कर आर्थिक विकास से गुजरना पड़ता तो उसकी जनम-दर के साथ-साथ मृत्यु-दर में भी कमी आ जाती। इसलिए 'आबादी के बोझ में' वृद्धि को 'लंबे गर्भकाल' से जोड़ा जाना चाहिए। तब, 1921 के पश्चात 'आबादी का बोझ' विकास की निम्न दर का कारण नहीं बनता, बल्कि 'लंबा गर्भकाल' 1951 के पश्चात आबादी की बढ़ती हुई दर का कारण बन जाता है।

जब मौरिस एक गैर-एटलांटिक देश के लिए 'लंबे गर्भकाल' की बात करते हैं तो वे यह सुझाव भी देते हैं कि हमें "समस्या के भूगोल की और उस क्षेत्र के आकार और संसाधनों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए जहां इस प्रक्रिया को आरंभ होना है" (पृष्ठ. 617)। मैं समस्या के भूगोल को नहीं समझ पाया। जहां तक आकार और संसाधनों का संबंध है,[73] यह सोचना अधिक सही होगा कि भारत से उनकी तुलना नहीं हो सकती। यह सही है कि वर्षो पहले यह कहा जाता था कि भारत में कच्चे लोहे, कोयले, बिजली उत्पादन की क्षमता, तेल इत्यादि की कमी थी—लेकिन आज कोई भी इस बात को नहीं कहता। जहां तक भूमि का प्रश्न है, कुछ समय पहले तक भूमि-मनुष्य का अनुपात भी प्रतिकूल नहीं था। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष परिस्थितियों में आबादी में वृद्धि प्रति व्यक्ति आय में धीमी वृद्धि का कारण बन सकती है, परंतु वह कुल राष्ट्रीय उत्पाद में विकास की धीमी दर का कारण नहीं हो सकती।

VII

इस प्रकार, मौरिस की नई व्याख्या का विस्तृत विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पारंपरिक साम्राज्यवाद-विरोधी विचारकों ने जो तर्क प्रस्तुत किए वे सही थे। उन्होंने तर्क दिए कि ब्रिटिश शासन आर्थिक विकास लाने में असफल रहा; यह कि आर्थिक परिवर्तन आरंभ करने के पश्चात शासन औद्योगिक और कृषि संबंधी विकास के रास्ते में बाधा बन गया, क्योंकि उसने एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और अर्ध-सामंतवादी कृषि व्यवस्था को जनम दिया; यह कि सभी क्षेत्रों—वित्त, शुल्क, परिवहन, व्यापार, विदेशी पूंजी, पूंजी के निर्यात अथवा 'निकास', मुद्रा, शिक्षा प्रौद्योगिकी, भारी उद्योगों, बैंकिंग, कृषि में ब्रिटिश राज की आर्थिक नीतियों को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देने और इसकी सुरक्षा के उद्देश्य से निर्मित किया गया

था, और यह कि, इसलिए, राष्ट्रीय आर्थिक विकास और भारतीयों—पूंजीपति वर्ग, शहरी मध्यमवर्ग, काश्तकारों और मजदूरों—का हित इसी में था कि ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंका जाए और राज ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जिस राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढांचे को बनाया था उसे तहस-नहस कर दिया जाए।[74]

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि साम्राज्यवाद-विरोधी विचारकों की विभिन्न श्रेणियों के दृष्टिकोणों और स्वयं साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा में भी बहुत सी कमियां थीं। साम्राज्यवाद-विरोधी लेखक विकास को अवरुद्ध करने वाले सभी कारणों का पता लागने में असफल रहे। उनमें से अधिकांश ने स्वयं को केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतवासियों के बीच अंतर्विरोधों का विश्लेषण करने तक ही सीमित रखा, परंतु, वे स्वयं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आंतरिक अंतर्विरोधों का अध्ययन करने में असफल रहे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के आंतरिक सामाजिक और आर्थिक संरचना में निहित अंतर्विरोधों का अध्ययन नहीं किया, अर्थात, ब्रिटिश शासन के अंतर्गत किस हद तक पुराने अंतर्विरोध कायम रहे, और किस हद तक ब्रिटिश शासन ने नए अंतर्विरोधों को जनम दिया। उदीयमान कृषि संबंधी ढांचे का भी सावधानीपूर्वक अध्ययन नहीं किया गया। कृषि मजदूरों के उदय के सिवाय काश्तकारों के आंतरिक विभेदीकरण की लगभग अनदेखी कर दी गई। बटाईदारी की जटिल घटना की भी अनदेखी की गई। इसी प्रकार, हालांकि राष्ट्रवादी लेखकों ने बाहरी निकास की घटना की ओर ध्यान आकृष्ट कराया, परंतु उन्होंने उन कदमों की ओर ध्यान नहीं दिया जिनके द्वारा देश के अंदर संभावित पूंजी वास्तविक पूंजी का स्थान नहीं ले पाई। उदीयमान पूंजीपति वर्ग की संरचना पर ब्रिटिश प्रभाव को भी स्पष्ट रूप से नहीं देखा गया। भारतीय पूंजी और विदेशी पूंजी के बीच प्रेम-घृणा के संबंधों का और अधिक विस्तृत अध्ययन होना था। इसी प्रकार, प्रादेशिक आर्थिक प्रतिमानों और विषमताओं, तथा सांप्रदायिक और जातीय विषमताओं पर ब्रिटिश प्रभाव का अभी भी अध्ययन किया जाना है। सामाजिक संगठन पर ब्रिटिश प्रभाव और आर्थिक विकास के साथ इसके सह-संबंध पर अभी हाल में ही अध्ययन आरंभ हुआ है। उदाहरण के लिए 'जजमानी' प्रथा और उस पर ब्रिटिश प्रभाव के विस्तृत अध्ययन द्वारा समाजशास्त्री उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में व्यावसायिक वितरण के प्रश्न को एक नया आयाम दे रहे हैं। उदाहरण के लिए, पुरानी विचारधारा के अध्ययनों में कृषि संबंधी ढांचे पर काफी प्रकाश डाला गया है। वास्तव में, राष्ट्रवादी लेखकों की प्रमुख कमजोरी यह थी कि उन्होंने समकालीन अर्थव्यवस्था को अलग करके नहीं देखा। उनमें से बहुत से लेखकों का यह विश्वास था कि राजकीय संरक्षण और सहायता से आर्थिक विकास होगा (उन्होंने राज्य की प्रकृति का गलत अनुमान लगाया था)। जहां उन्होंने विकास के मार्ग में बाधा कह कर ब्रिटिश शासन की आलोचना की, वहीं वे, बहुत से मामलों में, इस समस्या का सही उत्तर देने में असफल रहे कि इस प्रकार

का विकास किस प्रकार किया जाए।

तथापि, एक बात स्पष्ट है। आगे अध्ययन करके पारंपरिक साम्राज्यवाद-विरोधी व्याख्या में परिवर्तन किया जा सकता है, और होना भी चाहिए।[75] परंतु, उन्नीसवीं सदी की साम्राज्यवादी धारणा अथवा उन आर्थिक सिद्धांतों की ओर वापस लौटकर जो उनका समर्थन करते हैं, इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस मूल धारणा में तो संभवतः कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता कि ब्रिटिश शासन, जिसने भारत को एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था बना दिया था, उसके आर्थिक पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार था। इस प्रकार के परिवर्तन के संबंध में, कम से कम, अभी तक कोई प्रमाण सामने नहीं आया है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. मौरिस डी. मौरिस, "टुवड्र्स ए रिइंटरप्रेटेशन आफ नाइनटींथ सेंचुरी इंडियन इकानामिक हिस्टरी", *जनरल आफ इकानामिक हिस्टरी,* खंड 23, संख्या 4, 1963, पृ. 606-18.
2. इस बहस के आरंभ से ही, मार्क्स, हिंडमैन और डिगबी से लेकर आर. पाम दत्त तक एक बड़ी संख्या में विदेशियों और अधिकांश, ब्रिटिश, अमरीकन, रूसी और दूसरे विदेशी लेखकों ने इसी विचारधरा की पद्धति को अपनाया.
3. यह विभेद अति महत्वपूर्ण है. आज कुछ लोगों में इतिहासकारों की 'राष्ट्रवादी' अथवा 'वैचारिक' विकृति की बात करना फैशन हो गया है, परंतु, वे इससे भी अधिक प्रचलित साम्राज्यी विकृति की चर्चा नहीं करते जो साम्राज्यी देशों के अकादमिक इतिहासकारों की रचनाओं में मौजूद है और जो उपनिवेशों के कुछ उन अकादमिक इतिहासकारों की रचनाओं में भी प्रतिबिंबित होती है, जो कि आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि से औपनिवेशिक शक्ति पर निर्भर करते थे. उदाहरण के लिए, कुछ वर्ष पूर्व लंदन में भारतीय इतिहास लेखन पर हुए एक सेमीनार में भारतीय इतिहास की राष्ट्रवादी विचारधारा पर एक पत्र पढ़ा गया और उस पर चर्चा भी हुई, लेकिन साम्राज्यवादी विचारधारा पर कोई चर्चा नहीं हुई. या, एक दूसरे उदाहरण के तौर पर, भारत की आबादी पर किए गए अपने विद्वतापूर्ण लेखन में, किंग्सले डेविस ने आर.पी. दत्त, कुमार घोषाल और केट मिचेल को स्पष्ट रूप से राष्ट्रवादी-समर्थक कहा है, परंतु, उन्होंने एक भी ब्रिटिश लेखक को साम्राज्यवाद-समर्थक नहीं कहा. बहुत से विद्वान अब भी संभवतः अनजाने में तथाकथित 'राष्ट्रवादी-विकृतियों' से बचने के लिए साम्राज्यवादी पद्धति अपनाते हैं.
4. मौरिस के लेख में ऐसी कोई प्रस्थापना नहीं है जिसे पहले जान स्ट्रैची, लार्ड कर्जन इत्यादि ने प्रस्तुत न किया हो, हालांकि, मौरिस ने उसमें काट-छांट की है और आधुनिक आर्थिक शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है.
5. दादा भाई नौरोजी, जी.वी. जोशी, जस्टिस रानाडे, आर.सी. दत्त, के.टी. शाह, राधाकमल मुखर्जी, ब्रजनारायण, डी.आर. गाडगिल, आर.पी. दत्त जैसे विद्वानों और अर्थशास्त्रियों की जिस हलकेपन से चर्चा की गई है, वह अत्यंत आश्चर्यजनक है.
6. मौरिस द्वारा उद्धरण पृ. 607 पा.टि.
7. के. मार्क्स और एफ. एंगेल्स, *आन कालोनियलिज्म,* मास्को, पृ. 80.

8. यहां यह ध्यान देना चाहिए कि एक बार जब ब्रिटिश प्रभाव के दोहरे चरित्र पर मार्क्स की रचनाएं अथवा सूत्रीकरण भारतीयों को उपलब्ध हो गए, तब साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा रखने वाले लगभग प्रत्येक लेखक, उदाहरण के लिए, जे.एल. नेहरू, के.एस. शेलवांकर, वाडिया और मर्चेंट, आर. पी. दत्त ने बिना झिझक के उन्हें स्वीकार किया और खुले रूप में उनका उद्धरण दिया. वास्तव में, यदि चर्चा यहीं तक रहती, तो 'पुरानी' और 'नई' व्याख्याओं में कोई विशेष विवाद नहीं रह जाता.
9. एम.जी. रानाडे, *एसेज आन इंडियन इकानामिक्स,* बंबई, 1898, पृ. 23, 65.
10. देखिए, उदाहरण के लिए, जी.वी. जोशी, *स्पीचेज एंड राइटिंग्स,* पूना, 1912, पृ. 680 और 785; जी.एस. अय्यर *इंडियन पालिटिक्स* में मद्रास 1898, पृ. 193; आर. सी. दत्ता, *इकानामिक हिस्टरी आफ इंडिया इन दि विक्टोरियन एज,* छठा संस्करण, लंदन, पृ. 113 और 518-19.
11. देखिए मेरी रचना *राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया,* नई दिल्ली, 1966, अध्याय 1.
12. के. डेविस, *दि पापुलेशन आफ इंडिया एंड पाकिस्तान,* प्रिंस्टन, 1951, पृ. 36.
13. वहीं, पृ. 34.
14. साइमन कुजनेट्स और दूसरों में डैनियल थार्नर द्वारा उद्धरण, *इकानामिक ग्रोथ,* ब्राजील, इंडिया, जापान, डर्हम, 1955, पृ. 123.
15. जार्ज ब्लाइन, *एग्रीकल्चरल ट्रेंड्स इन इंडिया,* 1891-1947, यूनिवर्सिटी आफ पेनसिल्वेनिया प्रेस, 1966, पृ. 102.
16. डैनियल थार्नर द्वारा उद्धरण, उपर्युक्त रचना में पृ. 123.
17. पूर्वोद्धृत, पृ. 122. इसी प्रकार 1921-1951 के दौरान प्रति व्यक्ति आय में भी गिरावट आ रही थी. देखिए एम. मुखर्जी, *ए प्रेलिमिनरी स्टडी आफ दि ग्रोथ आफ नेशनल इनकम, एशियन स्टडीज इन इनकम एंड वेल्थ,* बंबई, 1965, पृ. 101. और भी अधिक दिलचस्प निष्कर्ष निकाले जा सकते थे. बिहार, बंगाल और उड़ीसा में 1891 से लेकर 1941 तक कुल कृषि उत्पादन में 45 प्रतिशत गिरावट आई, जबकि आबादी में 65 प्रतिशत की वृद्धि हुई (ब्लाइन, पूर्वोद्धृत, पृ. 119). इन वर्षों के दौरान खाद्य-उपलब्धता में प्रतिवर्ष 46 प्रतिशत की कमी आई (वही, पृ. 104).
18. दूसरे देशों के आर्थिक इतिहास से भी प्रदर्शित होता है कि ऊंची और निम्न मृत्यु दरें, आवश्यक रूप से, जीवन-स्तर से संबंधित नहीं है. देखिए हबाकुक और डीन, *दि टेक आफ इन ब्रिटेन, इकानामिक्स आफ टेक आफ* में, डब्ल्यू डब्ल्यू. रस्टोव द्वारा संपादित, 1965, पृ. 68.
19. वास्तव में, अनेक आर्थिक कसौटियों हैं.
20. परंतु, अपने आप में 'अराजकता' को परिभाषित करना कठिन है. जैसा कि सतीश चंद्रा, पर्सीवल स्पीयर और दूसरे लेखकों ने प्रदर्शित किया है, उन्नीसवीं सदी के लेखकों और प्रशासकों ने उन्नीसवीं सदी के भारत में राजनीतिक अराजकता को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है, जो वास्तविकता से बहुत दूर है. यहां यह भी उल्लेखनीय है कि, इ. फैल्प्स ब्राउन के अनुसार पंद्रहवीं सदी में *वार आफ रोजेज* के बावजूद ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति ऊंची आय बरकरार रही. *दि ग्रोथ आफ ब्रिटिश इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशंस,* 1959, पृ. 2.
21. अब यह सर्वविदित है कि ब्रिटिश प्रशासन अपनी साहूकार और भूस्वामी समर्थक न्यायिक व्यवस्था, अपनी भूस्वामी समर्थक नौकरशाही और गांव स्तर के अत्यंत भ्रष्ट और दमनकारी पुलिस व्यवस्था के कारण आर्थिक विकास और गांवों में सामान्य हित के मार्ग की प्रमुख अड़चन था. आखिर, समाज के आर्थिक संगठन अथवा उसके सामान्य संगठन में कानून और व्यवस्था तटस्थ शब्द नहीं हैं. फिर भी जहां तक काश्तकारों और गरीबों का प्रश्न है, भारत के इतिहासकारों को ब्रिटिश-न्याय, कानून और व्यवस्था के दावों को स्वीकार करने में सावधानी बरतनी चाहिए.

22. यद्यपि मुगल शासन में भी—जैसा कि अन्य समाजों में भी स्थिरता के कारण होता है—हो सकता है कि आबादी, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई हो, परंतु उसने आर्थिक विकास की प्रक्रिया आरंभ नहीं की.
23. हम इस बात को दूसरे ढंग से कह सकते हैं : प्रश्न यह नहीं है क्या कानून और व्यवस्था के बिना आर्थिक विकास हो सकता था; न यह कि ब्रिटिश शासन के बिना कानून और व्यवस्था स्थापित हो सकते थे, बल्कि यह है कि कानून और व्यवस्था के बावजूद आर्थिक विकास क्यों नहीं हुआ.
24. इस विषय में केवल अनुमान ही लगा सकते हैं कि क्या 'एक उदार राष्ट्र-राज्य' संसार में कहीं भी 55 प्रतिशत रिआयती आर्थिक शुल्क वसूल करने का साहस करेगा, जैसा कि अंग्रेज दावा करते हैं कि उन्होंने उन्नीसवीं सदी के दौरान भूमि-लगान सुधार के दिनों में ऐसा किया.
25. उन्हें क्षरण की संज्ञा देना गलत होगा, क्योंकि वे सुनियोजित थे.
26. जिस बात पर यहां विचार होना है वह रेलों से संभावित लाभ नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था पर उनके प्रभाव की प्रकृति और एक वास्तविक बहुपक्षीय रूप में प्रभाव डालने में उनकी असफलता है. दूसरे, भारत में रेलवे लाइन के निर्माण की प्रशंसा करने वाले यह भूल जाते हैं कि किसी भी समय वास्तविक आर्थिक प्रश्न यह होता है कि उपलब्ध संसाधनों का अधिकाधिक अथवा कम से कम बेहतर प्रयोग किया गया. वस्तुतः जैसा कि साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों ने संकेत दिया था कि जिस ढंग से भारत में रेलों का निर्माण हुआ और जिस प्रकार उन्होंने कार्य करना आरंभ किया, उससे भारत की कृषि पर निर्भरता बढ़ गई. उन्होंने यह भी संकेत दिया कि मूल प्रश्न यह था कि क्या उतनी ही राशि का औद्योगीकरण अथवा सिंचाई में निवेश करके अधिक आर्थिक विकास नहीं किया जा सकता था (देखिए ऊपर उद्धृत मेरी पुस्तक, अध्याय 5)? इस संबंध में उपर्युक्त *इकानामिक आफ टेकआफ* में प्रो. कूटनर की टिप्पणी बहुत प्रासंगिक और सटीक है. वे कहते हैं कि "यदि रेल निर्माण से अन्य उद्योगों की स्थापना अथवा उस क्षेत्र की कृषि पर निर्भरता कम होने की आशा नहीं थी, तो रेलमार्गो का निर्माण से किसी भी प्रकार का विकास नहीं हो सकता था" (पृ. 455). वे आगे कहते हैं : "यह उस संपत्ति का उपयोग होने में अधिक समय लगने की आशा हो, तो यह बेहतर होगा कि (उस पर कितना ब्याज मिलना है) उसका कहीं और प्रयोग किया जाए" (पृ. 450). वे "आर्थिक विकास में सामाजिक सुविधाओं पर खर्च होने वाली पूंजी की विशेष भूमिका" से इनकार करते हैं, विशेषकर, यदि "हम विकास के संबंध में उत्पादन क्षेत्र के विकास के अर्थों में सोचें" (पृ. 261). वे कहते हैं कि "अविकसित देशों में सामाजिक सुविधाओं पर लगने वाली अतिरिक्त पूंजी का लाभ उन देशों को न होकर, उसके उत्पादों के उपभोक्ताओं को हो सकता है" (पृ. 275).
27. जी. कोटोविस्की, *ऐग्रेरियन रिफार्म्स इन इंडिया,* 1964, देहली, पृ. 29-30, 1925-26 में कृषि विभाग ने केवल 17,000 सुधरे हुए हल बेचे, *रिपोर्ट आफ दि रॉयल कमीशन आन एग्रीकल्चर इन इंडिया,* 1928, पैरा 105.
28. पूर्वोद्धृत, पृ. 203.
29. वही, पृ. 195.
30. वही, पृ. 194, *रिपोर्ट आफ दि रॉयल कमीशन आन एग्रीकल्चर इन इंडिया,* भी देखिए, 1928, पैरा 80 और 91.
31. ब्लाइन, पूर्वोद्धृत, पृ. 200.
32. वही, पृ. 202.
33. वही, पृ. 340. उस समय कुल 27.6 करोड़ एकड़ सिंचित भूमि थी, जिसमें से 10.1 करोड़ एकड़ भूमि की नहरों द्वारा सिंचाई की जाती थी. *स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट आफ ब्रिटिश इंडिया,* 1882-83, संख्या 27, पृ. 142.

34. यहां हम इस बात पर भी ध्यान दे सकते हैं कि जोत में विभाजन से प्रति एकड़ उत्पादकता तो बढ़ सकती है, परंतु अधिक मजदूरी के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादकता में वृद्धि नहीं हो सकती.
35. ब्लाइन, पर्वोद्धृत, पृ. 316.
36. यहां मैं एक विकासवादी अर्थशास्त्री के शब्दों को उद्धरित करना चाहूंगा........ "यह आवश्यक नहीं है कि प्राकृतिक संसाधनों के विकास से, जिसके परिणामस्वरूप कुल उत्पादन के वृद्धि होती है, लोगों का पिछड़ापन दूर हो जाएगा. इसके विपरीत, बहुत से देशों में आर्थिक पिछड़ेपन की समस्या केवल इसलिए गंभीर नहीं हुई कि वहां प्राकृतिक संसाधनों का विकास नहीं हो पाया, बल्कि इसलिए गंभीर हो गई क्योंकि बाजार की स्थितियों के अनुसार वहां बड़ी तेजी से विकास हुआ. वहां के निवासी विकास के लाभों से इसलिए वंचित रह गए क्योंकि या तो वे इसके योग्य नहीं थे या फिर इसके लाभों को उपयोग करने की इच्छा नहीं रखते थे. इस प्रकार हम निवेश और उत्पादन की कुल मात्रा और आर्थिक गतिविधियों पर विचार करने के बजाए यह सोचने पर विवश हो जाते हैं कि किस प्रकार का निवेश किया गया, आर्थिक गतिविधियों को कैसे बांटा गया". उन्नीसवीं सदी के उदार राज्य के ढांचे के संबंध में वे लिखते हैं : "वह औपचारिक ढांचा जो हमें आर्थिक अधिकारों की पूर्ण समानता देता है, संरक्षण नहीं देता, और निर्यात मूल्यों में घटा-बढ़ी होने की स्थितियों में, आर्थिक शक्तियों के उन्मुक्त व्यापार के फलस्वरूप गांवों में जो ऋणग्रस्तता बढ़ी है, भूमि स्वामित्व में जो परिवर्तन आया है और किसानों में जो बेचैनी आई है, वह एक जानी पहचानी कहानी है." एच. मिंट, *ऐन इंटरप्रेटेशन आफ इकानामिक बैकवर्डनेस,* ए.एन. अग्रवाल और एस.पी. सिंह द्वारा संपादित, न्यूयार्क, 1963, पृ. 96, 106 और 125.
37. सिंचाई के कारण उत्पादकता में कुछ वृद्धि होने के अलावा.
38. जे.सी. जैक, *दि इकानामिक लाइफ आफ ए बंगाल डिस्ट्रिक्ट,* 1916, पृ. 92.
39. उदाहरण के लिए, हाल ही में गांवों के संबंध में आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार के अध्ययनों से इस प्रश्न से संबंधित जानकारी प्राप्त हो सकती है.
40. शोध और आर्थिक इतिहास की यह तकनीक बड़ी दिलचस्प है जिसके अंतर्गत एक यात्री, पालसर्ट की इस साक्ष्य को तो स्वीकार लिया जाता है कि सत्रहवीं सदी के भारतवासी अत्यंत गरीब थे, किंतु, सैकड़ों यात्रियों, प्रशासकों और दूसरे पर्यवेक्षकों की हस्तशिल्प के संबंध में राय, अथवा 1888 की डफरिन की जांच अथवा उन्नीसवीं सदी के अंत में भारतीयों की गरीबी और भुखमरी के संबंध में डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर और चार्ल्स इलियट जैसे व्यक्तियों की राय की अवहेलना की जाती है; अथवा वह अपनी 'सामान्य धारणा' को इस बात का प्रमाण मानता है कि आधुनिक यूरोप के आरंभिक काल में अथवा जापान के तुकोगावा काल में वहां की सामाजिक अवस्था के विपरीत पारंपरिक भारतीय समाज (ई.पू., किस सदी में?) में निम्न स्तर पर प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा था, अथवा, 1619 में थामस कैरिज के इस कथन को प्रमाण मानता है कि "हालांकि इस देश को धनी समझा जाता है, हमने सामान्य व्यक्तियों को गरीब पाया......." (पृ. 610 पा. टि. 16). हम भारत में बहुत गरीब व्यक्तियों, जापान और यूरोप के निवासियों की प्रति व्यक्ति आय की किस प्रकार तुलना कर सकते हैं? यदि हम तुकोगावाकालीन जापान, प्रारंभिक आधुनिक यूरोप और 1619 के भारत की प्रति व्यक्ति आय के स्तरों की प्रचलित प्रमाणों और 'सामान्य आर्थिक उपकरणों' के आधार पर तुलना करने में सफल होंगे तो यह अत्यंत आश्चर्यजनक होगा.
41. मौरिस ने एक दूसरे संदर्भ में भी इसका संकेत दिया है : "भारत के सूती वस्त्र उद्योग (और विशेषकर उसके बंबई क्षेत्र के) के आंकड़े संभवतः अर्थव्यवस्था के किसी अन्य प्रमुख क्षेत्र की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं. तिस पर भी, जो कुछ नजर आता है, वह पूर्णतया सत्य नहीं है. प्रत्येक संदर्भ में आंकड़ों की सत्यता पर उंगली उठाई जा सकती है और इस अध्ययन को, जैसा की दुर्भाग्यवश

ऐतिहासिक अध्ययनों के बारे में होता है, मात्रात्मक प्रमाण की अपेक्षा गुणात्मक परिणाम पर आधारित होना चाहिए." *दि इमर्जेंस आफ एन इंडस्ट्रियल लेबर फोर्स इन इंडिया,* 1965, पृ. 9.

42. "स्थिति मजबूत होती प्रतीत होती है" का एक बार फिर कोई प्रमाण नहीं मिलता. सैद्धांतिक रूप से "मजबूत होनी चाहिए थी" एक उचित वाक्यांश होता. "प्रतीत होती है", शब्द बिना प्रमाण के वास्तविकता की ओर संकेत करते हैं. वास्तव में, विपरीत विचारधारा वाले लेखकों ने भारतीय दस्तकारों की स्पर्धात्मक स्थिति के कमजोर होने के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं
43. आर.सी. दत्त में सारणियों, पृ. 161 और *स्टेटिस्टीकल ऐब्स्ट्रेक्ट रिलेटिंग टु ब्रिटिश इंडिया,* प्रासंगिक वर्षों पर आधारित.
44. थामस ऐलीसन. *दि कॉटन ट्रेड आफ ग्रेट ब्रिटेन,* लंदन 1886, पृ. 69.
45. वही, पृ. 60.
46. वास्तव में, दोषपूर्ण बाजार, परंपरा के बल इत्यादि के द्वारा एक लंबे समय तक कम होते हुए उत्पादन को कायम रखा जा सकता था.
47. इसी कारण से शहरी दस्तकारी की बर्बादी हुई.
48. आंतरिक बाजार और मांग का सीमित होना पहले विदेशी आयात और बाद में देशीय फैक्टरी उत्पादन के सीमित होने का एक प्रमुख कारण था. 1947 में भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण भी यही था. आर्थिक इतिहासकारों के समक्ष इस बात का अध्ययन करना एक प्रमुख कार्य है कि किस प्रकार ब्रिटिश शासन ने कुल मिलाकर आंतरिक मांग को प्रभावित किया. दादा भाई नौरोजी और दूसरे विचारकों ने इस धारणा को अस्वीकार कर दिया था कि कानून और व्यवस्था, रेलों, विदेश व्यापार, वाणिज्यीकरण अथवा मुद्रीकरण से, निश्चित रूप से, भारत का आर्थिक विकास हुआ था. इस बात का उल्लेख करना रुचिकर होगा कि 1947 से पूर्व भारत के औद्योगिक उत्पादन में तेजी तब ही आई जब दो महायुद्धों ने तत्कालीन सीमित प्रभावकारी मांग का रुख आयात से हटा कर देशीय उत्पादों की ओर मोड़ दिया था.

48अ. प्रमाण के रूप में कोई सारणी, आंकड़े, वास्तविक वक्र अथवा अधिकारिक रचना प्रस्तुत किए गए हैं.

49. यह स्पष्ट है कि प्रभावकारी मांग में होने वाली वृद्धि लंकाशायर और अथवा भारतीय वस्त्र उद्योगों के उत्पादों में होती. 1918 के बाद प्रौद्योगिकी परिवर्तनों अर्थात, मशीनीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय बुनकर किसी हद तक मुश्किल से ही अपना गुजारा कर सका.
50. बीसवीं सदी में, जब भूमि पर उन्हें काम नहीं मिला तो उनमें से अधिकांश लोग सामान्य मजदूर, आंशिक रूप से कृषि-मजदूर, भिखारी, और फेरीवाले बनने लगे और इस प्रकार गैर-कृषि व्यवसायों में लगे लोगों की संख्या अधिक हो गई. तुल. सी. एफ. कुजनेट्स, *इकानामिक ग्रोथ,* 1959, पृ. 61.
51. ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योग में प्रति पौंड मजदूरी.

अवधि	धागा	बुना माल
1819-21	6.4 पेंस	15.5 पेंस
1829-31	4.2 पेंस	9.0 पेंस
1844-46	2.3 पेंस	3.5 पेंस
1859-61	2.1 पेंस	2.9 पेंस
1880-82	1.9 पेंस	2.3 पेंस

एलीसन, पूर्वोद्धृत, पृ. 68-69.

52. देखिए कोल और हूवर, *पॉपुलेशन ग्रोथ एंड इकानामिक डवलपमेंट,* पृ. 30, 231; डी.एच. बुकानन,

दि डवलपमेंट आफ कैपीटलिस्ट इंटरप्राइजेज इन इंडिया, न्यूयार्क, 1934, पृ. 139; *सेंसस आफ इंडिया,* 1951, भाग 1-A रिपोर्ट, पृ. 122; ए मेयर्स, *लेबर प्राब्लम इन इंडस्ट्रियलाइजेशन आफ इंडिया,* कैंब्रिज, मास, 1958 पृ. 17. यह भारतीय योजना आयोग के अनुमानों से अलग है जिनके अनुसार माल तैयार करने वाले और उत्पादन कार्य में लगे लोगों की संख्या 1901 के 10.3 से घटकर 1951 में 8.3 लाख रह गई. भारतीय योजना आयोग, *आक्युपेशनल पैटर्न आफ इंडियन यूनियन फ्राम 1901-1951,* सारणी II, पृ. 6, जोसेफ इ. शुआर्जबर्ग की रचना, *आक्युपेशनल स्ट्रक्चर एंड लेवल्स आफ इकानामिक डवलपमेंट ए रीजनल एनैलेसिस,* में उद्धरण, अप्रकाशित, शिकागो यूनिवरसिटी लाइब्रेरी में माइक्रो–फिल्म, पृ. 127. एक विस्तृत प्रांतीय अध्ययन करने के पश्चात शुआर्जबर्ग कहते हैं कि योजना आयोग "स्पष्ट रूप से यह महसूस करता है कि वह 1901 से लेकर 1951 तक के काल की व्यावसायिक प्रवृत्तियों के एक अर्थपूर्ण समझ तक पहुंच गया है. लेखक उसके इस विचार से सहमत है" (पृ. 133). योजना आयोग ने एक विस्तृत ब्योरा देकर पुराने और नए दोनों प्रकार के व्यावसायिक समूहों को शामिल करने का प्रयास किया है. शुआर्जबर्ग यह भी कहते हैं कि "प्रमाण माध्यमिक क्षेत्र में (अर्थात, उत्पादन ओर माल तैयार करने में) और ज्यादा गिरावट की ओर संकेत करता है" (पृ. 123).

53. कुजनेट्स की इस उक्ति से तुलना कीजिए चूंकि ऐसा पूर्वज्ञान जो विस्तृत प्रयोग के लिए मौजूद हो, सीमित है, इसलिए श्रम के प्रति यूनिट उत्पादन में निरंतर और वडे पैमाने पर वृद्धि तब ही हो सकती है जब प्रोयोगिकी संबंधी ज्ञान में और अधिक वृद्धि हो.

54. देखिए उनकी रचना *इंडिया–ए कालोनियल इकानामी (1757 से 1947) इंक्वायरी* न.1 (पुरानी शृंखला), 1958.

55. इस विचार को आज विस्तृत मान्यता प्राप्त है कि जब तक कि हम "आर्थिक गतिविधियों के वितरण का अध्ययन नहीं करते आर्थिक पिछड़ेपन अथवा विकास की प्रकृति और प्रगति को नहीं समझा जा सकता." मार्शल ने भी, जो अहस्तक्षेप के अर्थशास्त्र के अंतिम चरण में आए, इसे समझा और लिखा : "जब हम मानवी इतिहास के परिवर्तनों की खोज करें तो हमें प्रयत्नों और गतिविधियों के रूप में आए परिवर्तनों को देखना होगा." 'प्रिंसिपल्स', पृ. 85, पूर्वोद्धृत एच. मिंट के उद्धरण, पृ. 123.

56. *इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्टरी रिव्यु,* खंड II, संख्या 1, 1965. उदाहरण के लिए देखिए डैनियल थार्नर की रचना *इनवेस्टमेंट इन एम्पायर,* 1950 और आर्थर सिलवर की रचना '*मैनचस्टर मैन एंड इंडियन काटन,* 1966.

57. रानाडे, पूर्वोद्धृत, पृ. 33, 86-89, 102, 165 और आगे.

58. *हिंदुस्तान रिव्यु,* फरवरी 1903, पृ. 193-194; जी. एस अय्यर, *सम इकानामिक आस्पेक्ट्स आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,* मद्रास 1903, पृ. 123.

59. यह उल्लेखनीय है कि इस समय बजटों को संतुलित करने के सारे सरकारी प्रयास और बजट पर सभी सैद्धांतिक और राजनीतिक बहस खर्च और राजस्व पर केंद्रित है. घाटे की अर्थव्यवस्था में 'बजट को संतुलित करने के प्रयत्न' की जरूरत समाप्त नहीं होती.

60. इन आंकड़ों को इंपीरियल गजैरियर, खंड 4, 1908 और सी.एन. वकील की रचना *फाइनेंसियल डवलपमेंट इन माडर्न इंडिया, 1860-1924,* बंबई 1924 से मोटे तौर पर संकलित किया गया.

61. मेरी रचना *दी राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया,* अध्याय 12, विस्तृत जानकारी के लिए देखिए.

62. भारत भले ही, अर्ध-प्रशासित रहा हो, परंतु प्रशासन पर जो राशि खर्च हुई, वह किसी भी रूप में कम नहीं थी.

62अ. उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्धभाग में ब्रिटेन और भारत में सैनिक खर्चों में हुई वृद्धि निम्न प्रकार थी :

	ब्रिटेन (लाख स्टर्लिंग)		भारत (करोड़ रु. में)	
	थल सेना	नौ सेना	कुल	
1861	15.0	13.3	31.3	16.2
1881	14.7	10.5	25.8	21.3
1891	17.9	15.5	33.5	24.6

राबर्ट गिफन, *इकानामिक इंक्वायरीज एंड स्टडीज,* खंड II, पृ. 329; वकील पूर्वोद्धृत, पृ. 547-48.

63. वकील, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट.
64. पूर्वोद्धृत, पृ. 164.
65. वकील पर आधारित, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट.
66. वही, यहां यह भी कहना होगा कि जहां शिक्षा पर खर्च में 1875 के 0.8 करोड़ के बढ़कर 1901 में 1.4 करोड़ की वृद्धि हुई (अर्थात 0.6 करोड़ रुपए की) सेना पर खर्च 1875 के 17.6 करोड़ से बढ़कर 1901 में 25.8 करोड़ हो गया (अर्थात, 8.2 करोड़ बढ़ गया).
67. यहां इसका उत्तर समकालीन परंपरा का अभाव नहीं है. 1877 और 1882 के दौरान ब्रिटेन में शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च में बहुत अधिक वृद्धि हुई, यह वही काल है जब भारत में बजट के बचत के आधार पर सारे सीमा शुल्क समाप्त कर दिए गए. ब्रिटिश में शिक्षा पर होने वाला खर्च 1871 में 1.859 लाख पौंड से बढ़कर 1881 में 4.281 लाख पौंड और 1901 में 12.662 लाख पौंड हो गया राबर्ट गिफन, *इकानामिक इंक्वायरीज एंड स्टडीज,* खंड II, पृ. 330.
68. इसके विपरीत लंबे 'गर्भकाल' के कारण भारत को आर्थिक विकास के एक अच्छे अवसर से हाथ धोना पड़ा. उसे एक अनुपयुक्त समय में विकास के लिए बाध्य होना पड़ा, और अब उसे बहुत बड़ी कमी को पूरा करना था. इससे भी ज्यादा अहम बात यह है कि लंबा 'गर्भकाल' भारत को और अधिक पिछड़ेपन की ओर ले गया, अर्थात, यदि ब्रिटेन से तुलना की जाए तो भारत 1813 की अपेक्षा 1947 में अधिक पिछड़ा हुआ था.
69. इस पूर्वी ऐटलांटिक अनुभव से पुरानी साम्राज्यवादी विचारधारा की गंध आती है कि केवल समशीतोष्ण जलवायु के देशों में ही औद्योगीकरण संभव था. इस विचारधारा में केवल एक बात अधिक है कि इसमें जापान और रूस को भी शामिल किया जा सकता था.
70. जबकि आर्थिक विकास उत्पन्न करने के लिए 'गर्भकाल' की अवधि बहुत कम थी, परंतु वह भूमि पर 3200 करोड़ का कर्ज और ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिए कम नहीं थी जिसमें 2 प्रतिशत आबादी के पास 70 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि थी.
71. कुछ इतिहासकार यह मानने की गलती करते हैं कि ब्रिटिश शासन से कम से कम, आर्थिक विकास का ढांचा तो मिल गया. विस्तार में जाए बिना हम यह संकेत कर सकते हैं कि रेलों और कानून और व्यवस्था के बारे में किए जा रहे गुल-गपाड़े से वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं. वास्तव में, प्रशासन से लेकर शिक्षा तक में इस प्रकार के ढांचे का निर्माण नहीं किया गया. हमें उन दोनों प्रकार के ढांचों में भेद करना चाहिए जिनमें एक तो आधुनिक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को सहारा देने के लिए पर्याप्त होता है और दूसरे की एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए जरूरत होती है. उदाहरण के लिए, तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक शोध की अनदेखी करना एक प्रमुख कमी थी. विद्युत संसाधनों की अवहेलना भी एक दूसरी प्रमुख कमी थी. यू.एस.ए. की भांति भारत में भी यह संसाधन प्रचुर

मात्रा में मौजूद थे और यदि रेलों की भांति उनका भी जल्दी विकास कर लिया जाता तो उद्योग के बहुत से क्षेत्रों में विकास आरंभ हो जाता. परंतु, यह सर्वविदित है कि भारत में रेलों का निर्माण भी औद्योगिक विकास लाने के उद्देश्य से नहीं किया गया था. इसके अतिरिक्त रेल और सड़कों से होने वाले लाभों की भांति विद्युतीकरण से होने वाले लाभों को ब्रिटेन निर्यात नहीं किया जा सकता था.

72. यहां मौरिस ने संभवतः *इकानामिक ग्रोथ* में कुजनेट्स की दलील का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है (पृ. 19-29). परंतु कुजनेट्स ने इस दलील का प्रयोग इस बात का खंडन करने के लिए किया है कि जिन देशों में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 100 डालर या इससे कुछ अधिक थी पिछले दशकों में उनकी प्रति व्यक्ति आय में भारी वृद्धि हो सकती थी. यहां पर याद रखना चाहिए कि 1952-54 के दौरान (कुजनेट्स की गणना के वर्षों में) भारत में प्रति व्यक्ति आय 100 डालर से भी बहुत कम थी.

73. केवल आकार का कोई विशेष महत्व नहीं है. तुलना के लिए देखिए, एस. कुजनेट्स, *इकानामिक ग्रोथ,* अध्याय 5.

74. एक दूसरी विचारधारा के इतिहासकरों का भी अब उदय हो रहा है जो यह कहते हैं कि उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया. परंतु यह सिद्धांत अभी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं किया गया है और न उसके पक्ष में कोई आर्थिक विश्लेषण ही उपलब्ध है. ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धांत ब्रिटिश-पूर्व के आर्थिक ढांचे और उन्नीसवीं सदी के आर्थिक ढांचे के मध्य समानताओं पर आधारित है—मात्रा और गुणवत्ता दोनों के अर्थों में. अर्थशास्त्र के अध्ययन के संबंध में मौरिस ने जो परामर्श दिए हैं उनमें से कुछ उन लोगों को लाभान्वित करेंगे जो इस सिद्धांत में विश्वास करते हैं.

75. पारंपरिक साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों की कमजोरी यह नहीं थी कि वे 'सामान्य आर्थिक उपकरणों' से परिचित नहीं थे, बल्कि यह थी कि वे हमेशा उपलब्ध विभिन्न आर्थिक उपकरणों में से सही चयन नहीं कर सके. इस तथ्य को समझना आवश्यक है, क्योंकि आज भारतीय इतिहास के संबंध में शोध में बहुत तेजी आ रही है और नए मार्गों और पद्धतियों की खोज की जा रही है. इसलिए, आरंभ में ही यह महसूस किया जाना चाहिए कि जैसा कि अमरीकी शब्दावली में कहा गया है, एक बार फिर दिवालिया साम्राज्यवादी पद्धति अपनाने में कोई लाभ नहीं है.

अध्याय तीन

भारत का आर्थिक विकास : ब्रिटिश और भारतीय मत 1858-1905

इससे पहले कि हम इस निबंध की विषय-वस्तु पर चर्चा करें, हम कुछ प्रारंभिक बातें कहना चाहेंगे।

पहली, जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके दौरान न तो पेशेवर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों और न ही भारतीय अर्थशास्त्रियों ने भारत के आर्थिक विकास के संबंध में अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए थे। ब्रिटेन में, भारत की अर्थव्यवस्था पर विचार व्यक्त करना केवल अंग्रेज भारतीय अधिकारियों का एकाधिकार बन चुका था। शायद ही किसी समकालीन ब्रिटिश अर्थशास्त्री ने भारतीय आर्थिक विकास की सामान्य समस्याओं के संबंध में विस्तार से लिखा,[1] न ही भारत से संबंधित किसी ब्रिटिश सरकारी लेखक ने, विशेष रूप से, आर्थिक विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। यही एक वजह हो सकती है कि विश्लेषण के अर्थों में भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश लेखकों की टिप्पणियां का स्तर प्रायः निम्न कोटि का रहा।[2] इसी प्रकार, इस विषय पर लिखने वाला कोई भी भारतीय लेखक पेशेवर अर्थशास्त्री नहीं था। फिर भी, उनमें से कुछ, दादा भाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे, जी.वी. जोशी, जी.एस. अय्यर और आर.सी. दत्त जैसे अनेक लेखकों ने आर्थिक लेखन को अपनी गतिविधि का प्रमुख क्षेत्र बनाया।

दूसरे, भारत से संबंधित दो परस्पर विरोधी आर्थिक विचारधाराओं—साम्राज्यवादी विचारधारा और साम्राज्यवाद-विरोधी अथवा राष्ट्रवादी विचारधारा—के विकास के लिए वस्तुगत आधार स्वयं भारतीय वास्तविकता से ही उत्पन्न हुआ था। यदि 19वीं सदी का दूसरा अर्धभाग भारत में ब्रिटिश आर्थिक विस्तार और शोषण और भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का पूरक, अधीनस्थ, अर्थात उसे औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था बनाने का काल था, तो यह वह काल भी था जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रमुख आंतरिक अंतर्विरोध भी परिपक्व हुए; भारतीय अर्थव्यवस्था के भूस्वामित्व-संबंधी आधार की बर्बादी की प्रक्रिया आरंभ हुई; स्थानीय औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ और राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों की जड़ें गहरी हुईं। दूसरे शब्दों में, यदि ब्रिटिश विचारों में यथार्थ का एक पहलू नजर आता था, तो राष्ट्रवादी विचारधारा में दूसरे पहलू की अभिव्यक्ति होती थी। इनमें से कोई भी विचारधारा केवल "सैद्धांतिक" नहीं थी; दोनों ही वास्तविकता की उपज थीं।

तीसरे, भारतीय और ब्रिटिश लेखन दोनों में आर्थिक विचारधारा अथवा चिंतन

पर नहीं बल्कि आर्थिक नीतियों पर अधिक बल दिया जाता था। आर्थिक प्रगति के लिए सुझाए गए आधारभूत तत्वों को मिलाकर हम आर्थिक सिद्धांत से संबंधित उनके विचारों का एक सामान्य चित्र, हालांकि माडल नहीं; तैयार कर सकते हैं क्योंकि दोनों प्रकार के लेखन में विशेष प्रकार की आर्थिक नीतियों पर बल दिया गया था।[3] इसके अतिरिक्त, उनकी कार्यपद्धति और विचारों की समानताओं और विषमताओं में तुलना भी की जा सकती है क्योंकि दोनों विचारधाराओं की एक सामान्य मान्यता यह थी कि आर्थिक विकास एक समाज अथवा राष्ट्र की प्रगति का सार अथवा प्रमुख साधन होता है और यह कि हर प्रकार की प्रगति उसी पर आधारित होती है।[4] न तो ब्रिटिश लेखकों और न ही राष्ट्रवादियों ने इस विचार को प्रतिपादित किया कि आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, अथवा राजनीतिक प्रगति भी आर्थिक विकास की कमी को पूरा कर सकती थी अथवा उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी कि आर्थिक प्रगति।

अंतिम, यह कि आर्थिक विकास से संबंधित समस्याओं पर संपूर्ण बहस तत्कालीन आर्थिक स्थिति और आर्थिक परिवर्तनों की प्रकृति और भारत में उस समय चल रहे मात्रात्मक और संरचनात्मक विचारों से संबंधित कुछ विचारों के संदर्भ में हो रही थी। इन दोनों प्रश्नों पर ब्रिटिश और भारतीय लेखकों में जो मतभेद उत्पन्न हुए वे उन्हें दो विपरीत दिशाओं में ले गए—भारत में आर्थिक विकास के मार्ग में आई अड़चनों को दूर करने और उसे (विकास को) बढ़ावा देने के उपायों के संबंध में उन्होंने परस्पर विरोधी विचार विकसित किए, अर्थात उन्होंने आर्थिक विकास के परस्पर विरोधी सिद्धांत विकसित किए।

राष्ट्रवादियों का विचार था कि भारत अत्यंत गरीब था, वह और अधिक गरीब हो रहा था, आर्थिक विकास में यूरोप से पीछे था और समकालीन संदर्भ में और अधिक पिछड़ा और अविकसित हो रहा था। इस पिछड़ेपन और बढ़ते हुए अविकास के कारण प्रचलित उपायों के स्थान पर परिवर्तनवादी रूप से अलग आर्थिक उपायों की जरूरत थी। दूसरी ओर, ब्रिटिश विचार यह था कि पिछड़ेपन को तेजी से दूर किया जा रहा था और उसे दूर करने के लिए तत्कालीन नीतियां पर्याप्त थीं।

इसी प्रकार, हालांकि ब्रिटिश और भारतीय दोनों विचारकों का यह मानना था कि भारत में तीव्र गति से आर्थिक परिवर्तन हो रहा था, परंतु परिवर्तन की प्रकृति के संबंध में उनके परस्पर विरोधी विचार थे। ब्रिटिश लेखकों ने तत्कालीन आर्थिक परिवर्तन को पारंपरिक अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण अथवा आर्थिक विकास के रूप में लिया। दूसरी ओर, भारतीयों ने उसे पिछड़ेपन के पारंपरिक अथवा, 'सामंती' माडल से औपनिवेशिक पिछड़ेपन के रूप में देखा, जहां विशेष रूप से व्यापार और यातायात के क्षेत्रों में, सीमित आर्थिक विकास होता है, जो देश को एक कच्चा माल पैदा करने वाला और पूंजी को आत्मसात करने वाला देश बना देता है। इसके परिणामस्वरूप कृषि पिछड़ जाती है, उद्योग का दमन होता है और आर्थिक जीवन

पर विदेशी वर्चस्व कायम हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने अर्थव्यवस्था का एक ऐसा 'आधुनिक' सिद्धांत विकसित किया जो विकासशील नहीं था, अर्थात, उन्होंने एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का सिद्धांत विकसित किया। इस संबंध में, उन्होंने अर्थव्यवस्था के सिद्धांत को एक नया रूप दिया। जहां ब्रिटिश लेखकों को केवल दो प्रकार के समकालीन आर्थिक ढांचे, पारंपरिक और आधुनिक नजर आ रहे थे वहीं भारतीय लेखकों को यह स्पष्ट नजर आ रहा था कि एक तीसरे प्रकार का आर्थिक ढांचा—औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था—वजूद में आ रहा था, जो औद्योगिक पूंजीवाद की भांति आधुनिक था, जिसे आर्थिक और सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्रों में उपनिवेशवाद की विचारधारा से सहारा मिलता था और जो इसके साथ-साथ आर्थिक जीवन पर अपने प्रभाव में उतनी ही विनाशकारी थी जितना कि पारंपरिक आर्थिक और सामाजिक ढांचा। इसलिए, उन्होंने आर्थिक विचारों के क्षेत्र में भी पारंपरिक और नई औपनिवेशिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं के विरुद्ध संघर्ष करना जरूरी समझा।

निस्संदेह, इस तथ्य से हम भली भांति परिचित हैं कि वास्तविक नीति संबंधी निर्णय, मुख्यतः आर्थिक विचारों को परिणाम नहीं थे। वे, विशेषकर, खींचातानी और दबावों के परिणाम थे। सरकारी नीतियों के मामले में ब्रिटिश निजी हित, स्थायित्व की आवश्यकता और साम्राज्य का प्रसार निर्णायक सिद्ध होते थे। भारतीयों के मामले में उदीयमान औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हितों को अधिक महत्व दिया जाता था। इसके साथ ही, केवल नीति-निर्माण में ही नहीं बल्कि, जैसा कि सभी विचारधाराओं के संबंध में होता है, किसानों और ब्रिटेन और भारत में जनमत की नजर में इन नीतियों को न्यायसंगत ठहराने.के लिए, अधिकारों को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती थी। इसलिए, ब्रिटिश अधिकारियों और उनके भारतीय आलोचकों के मध्य संघर्ष आर्थिक विचारों के कारण ही नहीं था बल्कि उसका एक व्यापक राजनीतिक महत्व भी था। उसने एक मोर्चाबंद साम्राज्यवाद और एक उदीयमान और नवजाग्रत राष्ट्रवाद के मध्य एक वैचारिक संघर्ष का रूप ले लिया। आखिरकार, साम्राज्यवादी शासक और उनके प्रवक्ता ब्रिटिश शासन का औचित्य केवल इसी आधार पर सिद्ध करते थे कि वह आर्थिक क्षेत्र में भारत का आधुनिकीकरण कर रहा है। और साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों ने, विशेष रूप से, इसी अवधारणा का खंडन किया। अपने ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त, यह विवाद आज भी अति प्रासंगिक है, न केवल इसलिए कि संसार के अधिकतर भागों में आज भी आर्थिक साम्राज्यवाद एक वास्तविकता बना हुआ है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि साम्राज्यवादी विचारधारा के इतिहास लेखन में उसको (साम्राज्यवाद को) आधुनिक बनाने की भूमिका पर बल दिया जाता है। उदाहरण के लिए, इस विचारधारा के एक प्रबल समर्थक, सी.एच. फिलिप ने अभी हाल में ही बलपूर्वक कहा था कि "इन प्रश्नों के अतिरिक्त कि राजनीतिक सत्ता को कब और कैसे हस्तांतरित किया जाए" 1857-1947 के बीच ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के मन में

इस प्रकार के दूसरे प्रश्न भी थे जैसे– "इनमें सबसे आधारभूत प्रश्न यह था कि ब्रिटेन के सभ्य बनाने के उद्देश्य को कैसे प्राप्त किया जाए, भारतीयों के मन में नए विचारों को किस प्रकार बैठाया जाए और किस प्रकार लाखों-करोड़ों गरीब और अज्ञानी भारतीयों का उद्धार किया जाए।"[5]

I

भारतीय अर्थव्यवस्था के संबंध में ब्रिटिश विचारधारा के दो मुख्य पहलू हमारे सामने आते हैं। आधी सदी तक प्रमुख ब्रिटिश लेखक सर्वसम्मति से इस बात का खंडन करते रहे कि भारत में किसी प्रकार का आर्थिक गतिरोध था अथवा वह पिछड़ा हुआ और गरीब देश था। इसके विपरीत, उन्होंने बलपूर्वक कहा कि भारत और भारतीय समृद्ध थे और देश तेज आर्थिक विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था। यदि उन लेखकों में कोई मतभेद था तो वह केवल भाषाई था, अर्थात, तत्कालीन स्थिति का वर्णन किन शब्दों में किया जाना था। कुछ लेखकों का वर्णन लगभग गीतमय होता था। उदाहरण के लिए, जार्ज कैंपबेल जैसे गंभीर और प्रतिभाशाली लेखक ने भी 1882 में घोषणा की :

> .... जहां तक सार्वजनिक कार्यों और भौतिक सुधार का प्रश्न है, भारत को सभ्य देशों के स्तर पर रखा गया है; पिछले तीस वर्षों में रेलवे और विकास के दूसरे साधनों द्वारा उसी प्रकार परिवर्तन आया है जिस प्रकार कुछ समय पूर्व यूरोप और अमरीका में परिवर्तन आया है।[6]

1882 में जॉन और रिचर्ड स्ट्रेची ने बलपूर्वक कहा कि :

> .... पिछले 25 वर्षों में भारत में अंग्रेजों ने जो कार्य किया है, वैसे प्रशंसनीय कार्य की न तो कभी किसी ने कल्पना की और न उसे पूरा किया, और वह कार्य अब भी जारी है ... इससे भारतीयों के सुख और समृद्धि में जो वृद्धि हुई है वह आंकी नहीं जा सकती ....।[7]

1859 से 1887 तक भारत की प्रगति के संबंध में हैनरी समनर मेन ने इन शब्दों में लिखा :

> ....पश्चिमी देशों की प्रगति के आकलन में जिन मापदंडों का प्रयोग किया गया है, यदि उनके आधार पर देखा जाए तो यूरोप में ऐसा कोई भी देश नहीं है जिसने इतनी तेजी से प्रगति की है जितनी कि ब्रिटिश भारत ने .... वहां नैतिक और भौतिक सुधारों की प्रक्रिया जारी है, और कुछ क्षेत्रों में तो वह ब्रिटेन से भी आगे निकल गई है।[8]

संभवतः साम्राज्यवादी लेखकों में सर्वाधिक आलोचनात्मक रवैया अपनाने वाले डब्ल्यु. डब्ल्यु. हंटर ने, जिन्हें आम व्यक्तियों के रहन-सहन के संबंध में गहरी आशंकाएं थी, 1880 में लिखा कि विदेशी व्यापार और उद्योगों के आंकड़े "इतने बड़े हैं और जिस भौतिक प्रगति की ओर वे संकेत करते हैं वह इतनी अधिक है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती"।[9]

भारत के आर्थिक विकास की संयुक्त राष्ट्र से तुलना करते हुए उन्होंने 1887 में लिखा : "पिछले 50 वर्षों में भारत की प्रगति कम आश्चर्यजनक नहीं रही है और यदि उस निम्न स्तर ध्यान दिया जाए जहां से भारत ने शुरुआत की थी, तो कुछ मामलों में यह प्रगति बड़ी तेजी से हुई है।"[10]

एल्फ्रेड मार्शल ने भी 1899 में कहा कि यद्यपि भारत "पश्चिम अथवा जापान के साथ-साथ आगे नहीं बढ़ सका है ...परंतु जब कोई भारत की धीमी प्रगति की शिकायत करता है, तो उसे यह भी याद रखना चाहिए कि प्राचीन सभ्यता के क्षेत्र में और इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने वाला मुश्किल से ही कोई ऐसा देश होगा जिसकी प्रगति की तुलना भारत की प्रगति से की जा सकती है।"[11]

दूसरे, ब्रिटिश लेखक वर्तमान से अधिक भविष्य के प्रति आशान्वित थे। करीब-करीब सभी ने तेज आर्थिक विकास के एक नए युग की भविष्यवाणी की—अर्थात, जैसा कि उस समय कहा जाता था भारतीय संसाधनों के विकास की। उन वर्षों के दौरान बार-बार इस विचार की अभिव्यक्ति की गई कि अतीत में और वर्तमान में आर्थिक विकास की मजबूत बुनियादें डाल दी गई हैं[12] और इसलिए भविष्य में तेज आर्थिक विकास होना निश्चित है'। प्रत्येक क्षेत्र में, निराशावाद का अभाव था। परंतु, इन लेखकों की आशावादिता में अंतर था, और उस काल के अंत में इस आशावादिता में कमी आने लगी थी। परंतु, अधिकांश लेखकों का विश्वास था कि भारत के आर्थिक विकास की कोई सीमा नहीं हो सकती थी। इस प्रकार, 1864 में आर.डी. मैंगिल्स ने लिखा : आखिरकार, प्रगति के पहिए को चालू कर दिया गया है और यह देखने में कोई कठिनाई नहीं होती कि समाज उसी तेजी से आगे बढ़ रहा है जिस तेजी से अंग्रेजी समाज आगे बढ़ रहा है।"[13]

अधिकांश ब्रिटिश लेखकों ने 'संसाधनों के विकास' के सिद्धांत को अस्पष्ट शब्दों में रेखांकित किया और यह कहना बहुत कठिन है कि इससे उनका, वास्तव में, तात्पर्य क्या था अथवा, उनके विचार में, आर्थिक विकास की क्या शक्ल हो सकती थी। उनमें से कुछ लेखकों ने औद्योगीकरण का विचार रखा, जबकि अधिकांश कृषि-उत्पादन में वृद्धि बागान और विदेशी व्यापार को ही आर्थिक विकास समझते थे। उनके विचार में जिन साधनों से तेजी से आर्थिक प्रगति हो सकती थी, उन्हें पहचानना अधिक सरल है।

II

ब्रिटिश लेखकों के अनुसार विकास के लिए सबसे जरूरी बात जो भारत में ब्रिटिश शासन की देन थी वह जीवन और संपत्ति की सुरक्षा—देश में कानून और व्यवस्था, विदेशी आक्रमण से सुरक्षा और न्याय की एक निष्पक्ष व्यवस्था—थीं।[14] उनमें से अधिकांश के अनुसार भारत का अतीत निरंतर आक्रमणों, लूट और नरसंहार, आंतरिक कलह, प्रशासनिक अराजकता और अव्यवस्था से भरा हुआ था। सामान्य रूप से वह एक ऐसा समाज था जहां संपत्ति और 'मेहनत के फल' की सुरक्षा नहीं थी, कर इत्यादि दमनकारी थे; इन सभी कारणों से गरीबी बढ़ गई थी और आर्थिक गतिरोध उत्पन्न हो गया था।[15]

तथापि, इन लेखकों ने मुश्किल से ही कभी कानून और व्यवस्था और आर्थिक विकास के बीच कोई सीधा संबंध स्थापित किया। वे इसे एक स्वयंसिद्ध आर्थिक सिद्धांत मान बैठे थे। वास्तव में, अकसर वे प्रशासनिक सुधार को आर्थिक विकास मान लेते थे। शायद उनका विश्वास उन पुराने अर्थशास्त्रियों के इस सामान्य विचार पर आधारित था कि एक बार जब सरकार ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है जिसमें व्यक्ति को उसकी मेहनत का फल मिलने की गारंटी होती है, तब निजी उद्यम और प्रतिस्पर्धा से निश्चित ही आर्थिक विकास होगा।[16] इसके अतिरिक्त, उस युग के सर्वाधिक प्रभावशाली आर्थिक विचारक, जान स्टुअर्ट मिल ने भी कहा था कि "सैनिक और राजकोष के लुटेरे स्वभाव से उत्पन्न हुई संपत्ति की असुरक्षा" ने विगत काल में एशिया के निवासियों को धन इकट्ठा करने (अथवा उसके बाद अपने पास रखने), कड़ी मेहनत द्वारा अपनी हालत में सुधार करने, और शहरों में व्यापार करने से रोके रखा।[17] पूर्वीय देशों में 'उद्योग की वृद्धि' की पहली शर्त यह थी,

> एक अच्छी सरकार, संपत्ति की सुरक्षा, करों का कम भार, और करों के नाम पर मनचाही वसूली से आजादी, अधिक स्थायी और अधिक लाभकारी भूमि की पट्टेदारी, जिससे किसान को उसके श्रम, कौशल और अर्थ प्रबंध का यथासंभव लाभ मिल सके।[18]

भारतीय अर्थव्यवस्था की सामान्य समस्याओं में रुचि लेने वाले एकमात्र ब्रिटिश अर्थशास्त्री हेनरी फॉसेट ने, अपने *मैनुअल आफ पालिटिकल इकानामी* में ब्रिटिश दृष्टिकोण का तार्किक आधार प्रस्तुत किया। उन्होंने जखीराअंदोजी[19] और ब्याज की ऊंची दरों[20] को अराजकता और असुरक्षा के लिए दोषी ठहराया और दावा किया कि ब्रिटिश शासन की वजह से संचित पूंजी बाहर आ जाएगी और उसका ठीक प्रकार से उपयोग होगा। उन्होंने लिखा कि

पहले जब भारतवासी मजदूर रखते थे तो उन्हें यह विश्वास नहीं होता था कि

> वे उनकी मेहनत से प्राप्त प्रतिफल को अपने पास रख पाएंगे। इसलिए, हम भारत में इंगलैंड के शासन से अत्यंत लाभकारी नतीजे की आशा कर सकते हैं; क्योंकि, उसकी शक्ति के कारण, कुछ समय पश्चात प्रत्येक भारतीय वर्ग को यह महसूस होगा कि संपत्ति के अधिकारों को सम्मान दिया जा रहा है। किसी और उपाय से धन की वृद्धि नहीं होगी और न देश की पूंजी बढ़ेगी; क्योंकि जब संपत्ति को सुरक्षा मिल जाती है तब बचत को भी प्रोत्साहन मिलता है; जमाखोरी के बजाए, पूंजी के उत्पादन में उसका और अधिक लाभप्रद उपयोग हो सकेगा।[21]

यह विश्वास भी व्यक्त किया गया कि व्यक्ति और पूंजी की सुरक्षा से विदेशी पूंजी भी आकर्षित होगी।[22] हालांकि इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया, फिर भी यह समझा गया कि विदेशी व्यापार के विकास और अस्तित्व के लिए भी कानून और व्यवस्था का होना अनिवार्य था।

यहां प्रसंगवश यह संकेत दिया जा सकता है कि बहुत से लेखकों ने ब्रिटिश व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए और ब्रिटिश राज की भारत में बने रहने की आवश्यकता को साबित करने के लिए कानून और व्यवस्था और विदेशी व्यापार के इस संबंध को अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। यह दलील दी गई कि जबकि अमरीका के साथ व्यापार जारी था और अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी आस्ट्रेलिया और कनाडा के साथ व्यापार जारी रहेगा, वहीं भारत से अंग्रेजों के चले जाने के बाद व्यापार समाप्त हो जाएगा; क्योंकि उनके चले जाने के बाद भारत में, निश्चित रूप से प्रशासनिक अराजकता और गृह युद्ध इत्यादि की स्थिति पैदा हो जाएगी। इसलिए, ब्रिटिश व्यापार के हितों के लिए भारत में ब्रिटेन का शासन जरूरी था।[23]

III

ब्रिटिश लेखकों के अनुसार भारत में विकास का दूसरा मुख्य साधन विदेशी व्यापार का विकास था। वास्तव में विशुद्ध रूप से आर्थिक साधनों में से भारत के विकास के लिए विदेशी व्यापार के बढ़ाने को प्रमुख औजार माना गया। यहां एक बार फिर जान स्टुअर्ट मिल ने सैद्धांतिक कार्यपद्धति प्रस्तुत की। जिन्होंने अपने *प्रिंसिपल्स आफ पालिटिकल इकानामी* में कहा कि भारतीय कृषक वर्ग ने विगत वर्षों में जितना उत्पादन किया वह उससे अधिक उत्पादन कर सकता था, परंतु उसे प्रोत्साहित नहीं किया गया। वह अपने अधिशेष को बेच नहीं पाता था क्योंकि, कई कारणों से, शहरों में अधिक आबादी नहीं थी। "इसके साथ ही अपनी कम आवश्यकताओं और उत्साह के अभाव की वजह से वह शहरों में बनी वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकता था"; और इस प्रकार यह दुष्चक्र पूर्ण हो जाता था। इस दुष्चक्र को तोड़ने और आर्थिक विकास

को आरंभ करने का सबसे अच्छा तरीका भारतीय कृषि-उत्पादों जैसे, कपास, नील, चीनी, काफी इत्यादि के निर्यात को बढ़ावा देना था। इससे गांवों में खाद्यान्न के लिए बाजार बनता और उनके उत्पादन को बढ़ावा मिलता। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप गांवों में शहरी उत्पादों का बाजार बनता जिससे न केवल यूरोपीय माल के आयात में वृद्धि होती बल्कि भारत में उत्पादकों को भी प्रोत्साहन मिलता। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया आरंभ हो जाती।[24]

एक बार फिर, ब्रिटिश लेखकों ने इस वक्तव्य का कोई आर्थिक कारण नहीं बताया कि विदेशी व्यापार से आर्थिक विकास में वृद्धि होती है; उन्होंने इसे एक आधारभूत सच्चाई के रूप में लिया। इसके बजाए, अकसर उन्होंने विदेशी व्यापार में वृद्धि को आर्थिक विकास और निर्यात में वृद्धि के सबूत के रूप में पेश किया और यह दावा किया कि उत्पादन और आयात में वृद्धि हो रही थी और जनता की क्रय-शक्ति बढ़ रही थी।[25] परंतु उनमें से कुछ लेखकों ने यह भी कहा कि अधिशेष को बेचने में अपनी असमर्थता के कारण भारतीय कृषक जितना उत्पादन कर सकता था, उसने उतना उत्पादन नहीं किया।[26] कुछ लेखकों ने तुलनात्मक मूल्यों के इस सिद्धांत को भी प्रतिपादित किया कि विदेशी व्यापार के कारण भारत अपने तैयार माल का निर्यात और उसके बढ़ने में सस्ते औद्योगिक माल के आयात द्वारा अपने आर्थिक संसाधनों का उपयुक्त उपयोग कर सकता है।[27]

यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि ब्रिटेन में भी भारत के बारे में किसी भी लेखक ने उस समय किए जा रहे इस संदेह पर गहराई से विचार नहीं किया जो भारत जैसे गैर-औद्योगिक देश के मुक्त-व्यापार के महत्व के संबंध में व्यक्त किया जा रहा था (भारत आधुनिक उद्योगों को विकसित करना चाहता था)। इससे पहले जे.एस. मिल ने अपने *प्रिंसिपल्स आफ पालिटिकल इकानामी* में एक ऐसे देश में संरक्षण-शुल्क लगाने की वकालत की थी जहां नए उद्योग का उदय हो सकता था, परंतु उसे स्थापित करने के लिए उस देश का उपक्रमी आरंभिक खर्चे को वहन करने को तैयार नहीं था।[28] इस शिशु उद्योग संरक्षण के सिद्धांत का प्रो. हेनरी सिगविक ने भी समर्थन किया। उनका विचार था कि उत्पादन के प्रचलित प्रतिमानों में अवांछित परिवर्तनों को रोकने के लिए इस सिंद्धांत का अनुकरण जरूरी है। प्रो. एल्फ्रेड मार्शल और एफ.वाई. एजवर्थ का भी यही विचार था।[29] इसके अतिरिक्त, बहुत से ब्रिटिश राजनेता, जैसे रेनडल्फ चर्चिल[30] आदि ब्रिटेन में भी मुक्त-व्यापार की आलोचना कर रहे थे और 'न्यायोचित व्यापार' अथवा एक प्रकार के जवाबी संरक्षण की वकालत कर रहे थे।[31]

भारत के संबंध में ब्रिटिश लेखकों ने किसी भी चरण में आर्थिक विकास के उन विभिन्न रूपों में भेद नहीं किया जिसे विदेशी व्यापार के विकास के विभिन्न तरीकों से प्रोत्साहन मिल सकता था अथवा मिल रहा था।

IV

आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए विदेशी व्यापार को जो ड्राइवर की भूमिका सौंपी गई थी उसके लिए यह अनिवार्य था कि रेलवे को इस प्रक्रिया में दूसरा मुख्य आर्थिक साधन माना जाए। ब्रिटिश लेखकों ने बार-बार संकेत दिया कि निर्यात और आयात दोनों, और इस प्रकार कृषि और उद्योग दोनों का विकास रेलवे पर निर्भर करता था। 1858 से पहले के काल में इस विषय पर बहस लगभग समाप्त हो चुकी थी और आर्थिक विकास के एक सक्रिय एजेंट के रूप में रेलवे की भूमिका को स्वीकार कर लिया गया था। जॉन और रिचर्ड स्ट्रेची ने इस मान्यता का इस प्रकार वर्णन किया :

> भारतवासियों की भौतिक दशा में सुधार केवल धन के संचय और उसके साथ-साथ विदेशी व्यापार के तेज विकास द्वारा लाया जाना है। इसको प्राप्त करने के साधन स्पष्ट हैं और उन तक हमारी पहुंच है ... ये साधन, जैसा कि इस खंड में कहने का प्रयास किया गया है, उन महान सार्वजनिक कार्यों का विस्तार हैं जिनकी देश को जरूरत है, जिनके द्वारा भविष्य में देश की समृद्धि और वित्तीय स्थिति निश्चित की जाएगी।[32]

साम्राज्यवादी विचारधारा के किसी भी लेखक ने इस शंका का इजहार नहीं किया कि रेलें आर्थिक विकास लाने में असफल हो सकतीं थीं। इसके साथ ही, किसी ने भी भारत में रेलों अथवा उनके निर्माण की रणनीति के साथ औद्योगिक विकास के संबंध की समीक्षा नहीं की। वास्तव में, विदेशी व्यापार और कृषि के अतिरिक्त, भारतीय अर्थव्यवस्था पर रेलों के प्रभाव के किसी भी पक्ष की समीक्षा नहीं की गई।

रेलों के साथ-साथ अधिकांश ब्रिटिश लेखकों ने कृषि में सुधार लाने के एक साधन के रूप में सिंचाई पर भी जोर दिया।[33] इसके साथ ही, हमें इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं करनी चाहिए कि सिंचाई को भी आर्थिक आवश्यकताओं और संभावनाओं के अर्थों में अथवा संपूर्ण सरकारी खर्चे के अनुसार विकसित नहीं किया जा रहा था। न ही सिंचाई के तरीकों, कृषि-संबंधी विकास के तरीकों के साथ उनके संबंधों, और सिंचाई के कुछ प्रतिमानों के नुकसानदायक परिणामों की समीक्षा की गई।

V

1858 के बाद ब्रिटिश लेखकों ने भारत के विकास के लिए विदेशी पूंजी के निवेश पर अपनी आशाओं को केंद्रित किया। यह कहा गया कि भारत के पास पर्याप्त मात्रा में भूमि (और संसाधन) और मजदूर हैं, परंतु वहां पूंजी का अभाव है और पूंजी

की निश्चित रूप से, ब्रिटेन में प्रचुरता है। 1858 के बाद आने वाले युग में भारत के तेज विकास की मूल रूप से इस आशा पर घोषणा की गई कि एक बड़े पैमाने पर भारत में ब्रिटिश पूंजी का निवेश किया जाएगा।

एक बार फिर जॉन स्टुअर्ट मिल ने इन लेखकों की अगुआई की। उन्होंने लिखा कि एक एशियाई देश की बुनियादी कमियों में से एक आंतरिक पूंजी की कमी है, इसलिए, वहां विकास के लिए सबसे बड़ी जरूरत "विदेशी पूंजी का आयात है जिससे वहां उत्पादन में वृद्धि होगी। इससे स्थानीय निवासियों की मितव्ययता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति का भी अंत हो जाएगा।"[34] प्रो. फोसेट और मार्शल ने बलपूर्वक कहा कि भारत के आर्थिक विकास में एक प्रमुख अड़चन आंतरिक पूंजी की कमी है, जिसे केवल विदेशी पूंजी द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। वास्तव में, आगे चल कर यह धारणा एक ऐसे सिद्धांत के रूप में विकसित हुई और आज भी है जिसकी आलोचना को यदि अर्थशास्त्र की अज्ञानता नहीं तो आर्थिक चिंतन के दिवालिएपन के रूप में अवश्य लिया जाता था। भारत के संबंध में बहुत से ब्रिटिश लेखकों ने अधिक उत्साहपूर्ण शब्दों में इस विचार की अभिव्यक्ति की। जनवरी 1868 के *वेस्टमिंस्टर रिव्यू* में एक लेखक ने यह घोषणा की :

> यदि हमारे हाथों में सौंपी गई इस देश की भूमि की अकथनीय और अनंत संपदा को विकसित करने के लिए पूर्णरूप से अंग्रेजी पूंजी, अंग्रेजी उद्यम और अंग्रेजी बुद्धि का उपयोग किया जाए तो इतने आश्चर्यजनक परिणाम सामने आएंगे कि उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।[35]

इससे पूर्व, 1864 में आर.डी. मेनगिल्स ने कहा था :

> सौभाग्यवश अपने विस्तृत प्राकृतिक संसाधनों के त्वरित और संपूर्ण विकास के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण विधि-व्यवस्था और एक सामान्य अच्छी सरकार के अतिरिक्त भारत को जिन चीजों— अर्थात, अंग्रेजी पूंजी, उपक्रम, और ऊर्जा की आवश्यकता है वे दोनों देशों के लाभ के लिए उपलब्ध कराई जा सकती हैं।[36]

1881 में विलियम ली-वार्नर ने लिखा :

> देश में कच्चे माल और श्रम की अकूत संपदा है और नए उद्योगों को विकसित करने के लिए केवल पूंजी की आवश्यकता है। जैसे ही अंग्रेज पूंजीपति भारत में निवेश के लाभकारी क्षेत्रों की पहचान कर लेंगे, वह भारतीय इतिहास में एक नया मोड़ होगा।[37]

1887 में एम.इ. ग्रांट डफ ने ब्रिटिश पूंजी निवेश को "एक देश को जो केवल अर्ध-सभ्य है, सुधारने के लिए पहली आवश्यक शर्त" बताया।[38] 1899 में लार्ड कर्जन ने इसे

"भारत की राष्ट्रीय प्रगति के लिए अनिवार्य" बताया।[39]

इन लेखकों को विदेशी पूंजी के प्रयोग में कोई खामी नजर नहीं आई; इसके साथ ही बहुत से लेखकों ने इस बात से स्पष्ट इनकार किया कि विदेशी उद्यमों के लाभ के निर्यात से धन के निकास को बढ़ावा मिलेगा, क्योंकि उनकी दलील यह थी कि विदेशी पूंजी के निवेश से जो आय होती है उससे ही यह लाभ मिलता है।[40]

इसके साथ ही, भारत के लिए विदेशी पूंजी की विकासात्मक भूमिका पर जोर देते हुए बहुत से लेखकों ने यह संकेत भी दिया कि यदि ब्रिटेन अपनी अधिशेष पूंजी का अत्याधिक लाभप्रद क्षेत्रों में निवेश करता है, तो उसे क्या फायदे होंगे? अपने *प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानामी* में जे.एस. मिल ने यह दलील दी थी कि उपनिवेशों अथवा विदेशों में पूंजी के निर्यात से ब्रिटेन में लाभ की दर में वृद्धि हुई थी, क्योंकि इससे आंतरिक पूंजी में कमी आई थी। इस वजह से विदेशों से सस्ते सामान, खाद्यान्न और कच्चे माल को आयात करना सरल हो गया था।[41]

इस काल के आरंभ में, जुलाई 1862 के *वैस्टमिंस्टसर रिव्यु* में एक गुमनाम लेखक ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया। अपने लेख 'इंगलिश रूल इन इंडिया' में उसने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया : वाणिज्य के अतिरिक्त "वह कौन सा सबसे बड़ा लाभ है जो ब्रिटेन को भारत के साथ अपने संबंधों के कारण हो सकता है"? उसके अनुसार, इंगलैंड "प्रत्येक वर्ष, निश्चित रूप से नई पूंजी का उत्पादन करता है और उसे लाभकारी पूंजी-निवेश की सख्त जरूरत है"। ब्याज और लाभ की दरों में कमी के कारण लोग बचत नहीं कर रहे थे। फिर भी, वाणिज्य के विपरीत, "एक ऐसे देश में जो एक विदेशी ताकत के अधीन है, विदेशी निवेश कठिन था" क्योंकि वहां अनगिनत अड़चनों और खतरों का सामना करना पड़ता था। वहां विशेष रूप से, "विदेशी एजेंटों, न्यायालयों और शत्रुतापूर्ण सरकारों का भय था।" वहां यह पता लगाना भी कठिन था कि पूंजी-निवेश किस क्षेत्र में सुरक्षित रहेगा। अभी तक पूंजी-अधिशेष को ठिकाने लगाने की समस्या इस वजह से सामना नहीं करना पड़ा क्योंकि उसका यू.एस.ए. में निवेश कर दिया जाता था। परंतु, अब यह संभावना थी कि वहां गृह-युद्ध के कारण ब्रिटिश पूंजी का निवेश नहीं हो सकेगा। भारत में, इस स्थिति से बचा जा सकता था। इस विषय में भारत सरकार ने पहले ही सहायता की थी। उसने गारंटी देकर भारतीय रेलों में पूंजी-निवेश को आकृष्ट किया था। परंतु, भारत में ब्रिटिश पूंजी की संभावनाएं असीमित थीं :

> भारत लगभग एक असीमित क्षेत्र है जो विवेकपूर्ण उद्यम के लिए आश्चर्यजनक रूप से लाभ कमाने के अवसर प्रदान करता है। वह लंबे समय तक उस पूंजी का उपयोग कर सकता है जो अंग्रेज उसे देंगे और जो कुछ वह पैदा करेगा उसका लंबे समय तक उपयोग किया जा सकता है। उसकी जनसंख्या के घनत्व के कारण उससे मिलने वाला नए उपनिवेशों से मिलने वाले लाभ की तुलना

> में कहीं अधिक है; यदि उसकी सिंचाई के खर्चे को वहन किया जाए तो उसकी भूमि भी अक्षत भूमि के सामन हो सकती है।

वास्तव में, लेखक को विश्वास था कि भारत इंगलैंड का आदर्श पश्चप्रदेश बनने में पूर्ण रूप से सक्षम था। संयुक्त राष्ट्र को पश्चप्रदेश बनाकर उसे दो प्रकार के आर्थिक लाभ मिले थे : उसकी जनसंख्या के लिए "नई आवास-भूमि' और नई पूंजी के किसी भी संभावित राशि से निरंतर मुनाफा। इन दोनों लाभों में से भारत दूसरे लाभ को मुहय्या कर सकता था"। उसने इस तुलना को आगे बढ़ाया और दावा किया कि एक बार जब अंग्रेजी पूंजी का भारत में आगमन आरंभ हो जाएगा, तब, "न केवल भारत की खुशहाली में अभूतपूर्ण वृद्धि होगी बल्कि यह भी संभावना है कि इंगलैंड का 'सर्वहारा वर्ग' भी जहां तक समृद्धि का प्रश्न है, संयुक्त राष्ट्र के श्रमिकों के मुकाबला करने योग्य हो जाएंगे।"[42]

उसके बाद दूसरे लेखकों ने भी यही बात कही।[43] और हमारे इस काल के अंत में लार्ड कर्जन ने कहा :

> भारत से बाहर निवेश के सभी रास्ते न केवल ब्रिटिश पूंजी के लिए बल्कि संसार के सभी धन-उत्पादक देशों की पूंजी के लिए बंद होते जा रहे हैं; यदि ऐसा हुआ तो शीघ्र ही वह समय आएगा जब ब्रिटिश पूंजी को, जो अभी तक बैंकों में घूमती रही है, नया रास्ता खोजना पड़ेगा और वह आर्थिक गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार भारत में चली जाएगी; वह ब्रिटिश संस्थाओं और ब्रिटिश कानूनों की सुरक्षा के कारण भारत की ओर ज्यादा आकृष्ट होगी।[44]

उपरोक्त सभी विचारों का सार यही था कि भारत पर ब्रिटिश शासन स्थायी होना चाहिए और ब्रिटिश पूंजी को आकर्षित करने और उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए यह जरूरी था। इस प्रकार 1868 में ही जॉन क्लार्क मार्शमैन ने लिखा कि "स्टाक और डिबेंचरों के 59 हजार मालिक हमारे भारतीय प्रशासन की खुशहाली और हमारे शासन के स्थायित्व में सीधी रुचि लेने लगे हैं।"[45] इसी प्रकार, 1880 में रिचर्ड टैंपिल ने लिखा कि "भारत पर अंग्रेजों का कब्जा क्यों रहना चाहिए इसका एक कारण यह है कि वहां ब्रिटिश शासन स्थायी है, इस भरोसे पर बड़ी मात्रा में ब्रिटिश पूंजी का निवेश कर दिया गया है।[46] इस विचार की विस्तृत अभिव्यक्ति की गई।[47] वास्तव में, यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि 1870 के दशक के बाद भारत में साम्राज्यवादी प्रतिक्रियाा के विकास और मध्य विक्टोरिया युग के उदारवादी आवेग की समाप्ति के लिए यही विचार जिम्मेदार था।

आर्थिक विकास के एक औजार के रूप में विदेशी व्यापार पर जोर देने के बावजूद इस काल के किसी भी ब्रिटिश लेखक ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि भारत में ब्रिटिश पूंजी का काफी कम मात्रा में निवेश किया गया था और यदि गारंटी पर

रेलों में किए गए निवेश और सार्वजनिक कर्ज को अलग कर दिया जाए, तब केवल बहुत कम, लगभग नाम मात्र को आधुनिक उद्योगों के लिए पूंजी बच पाती।[48] इसलिए इन आर्थिक कारणों पर कोई विचार नहीं किया गया कि क्यों ब्रिटिश उद्यम और पूंजी ने एक वृहद स्तर पर भारत की ओर रुख नहीं किया। इस प्रकार की बहस से आंतरिक पूंजी का अभाव और देशीय उद्यम का अभाव जैसी समकालीन धारणाओं के स्थान पर हमें भारत के अविकास के कुछ वास्तविक कारणों का पता चल जाता। आखिरकार, भारत पर ब्रिटेन का शासन था और वह (भारत) ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए खुला हुआ था, जिनके पास पूंजी और उद्यम की कोई कमी नहीं थी।

इसी प्रकार, इस तथ्य को भी स्वीकार नहीं किया गया कि भारत में विदेशी स्वामित्व वाली पूंजी ब्रिटेन से आयात नहीं की गई थी, वरन भारत में ही उत्पन्न हुई थी, और यह कि इस दौरान भारत पूंजी का बराबर निर्यात करता रहा था।[49]

विदेशी पूंजी की भूमिका पर जोर देते हुए ब्रिटिश लेखकों ने आंतरिक पूंजी के उपयोग की समस्याओं की उपेक्षा की। यह मालूम करने के बजाए कि देशी पूंजी का क्या हुआ अथवा उसके उपयोग के तरीकों को समझने अथवा उन कारणों पर बहस करने के बजाए कि उसका उत्पादन में उपयोग क्यों किया जा रहा था—उन्होंने इस विचार को लोकप्रिय बनाया जो आज भी प्रचलित है कि भारत में आंतरिक पूंजी का अभाव है।[50] जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, लगभग सभी लेखकों का यही मत था जिनमें जे.एस. मिल और एलफ्रेड मार्शल भी शामिल हैं।

VI

हम जिस काल का अध्ययन कर रहे हैं उसकी एक प्रमुख विशेषता यह थी कि कृषि संबंधी विकास और भूस्वामित्व संबंधी संबंधों के तत्कालीन ब्रिटिश सिद्धांत अमान्य हो गए थे और उनके स्थान पर वैकल्पिक सिद्धांत अथवा विचारों को विकसित करने में भी कोई सफलता नहीं मिली थी। वास्तव में, न तो विचारों के स्तर पर और न ही व्यावहारिकता के स्तर पर इस दिशा में कोई प्रयास किया गया। बड़ी तेजी से कामचलाऊ प्रवृत्ति विकसित हो गई। सैद्धांतिक स्तर पर, बार-बार पुराने विचारों को दोहराया गया, व्यावहारिकता के स्तर पर अकसर उनकी अक्षमता और निरर्थकता की दुहाई दी गई और कामचलाऊ सुझाव दिए गए।

1790 के पश्चात ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीय भूस्वामित्व संबंधों में इस आधार पर परिवर्तन किया था कि भूमि पर स्वामित्व अथवा निजी संपत्ति का अधिकार चाहे वह जमींदार की हो अथवा रैयत की—स्पर्धा और भूमि के अधिकार की हस्तांतरण करने की आजादी से भूमि में पूंजी और प्रौद्योगिकी का निवेश होने लगेगा और भूमि, श्रम और पूंजी के संयोग से कृषि का विकास होगा। इसके साथ ही अज्ञानी और

आलसी कृषकों की भूमि को मितव्ययी, मेहनती और कुशल लोग खरीद लेंगे। इस प्रकार भारत, धीरे-धीरे 'सुधरते भूस्वामियों' और 'कुशल किसानों' का देश बन जाएगा। भू-राजस्व की सुरक्षा से सरकार को लाभ प्राप्त होगा। भूमि के निजी स्वामित्व और उनकी क्रयशीलता और कृषि-विकास के फलस्वरूप राजस्व में और अधिक वृद्धि होगी।

इन अपेक्षाओं से वास्तविक विकास नहीं हुआ। विभिन्न कारणों से—जैसे तत्कालीन औद्योगिक ढांचे का बिखराव, आधुनिक औद्योगिक विकास की असफलता और उसके फलस्वरूप भूमि पर होने वाले दबाव, पूंजी निवेश के लिए जमींदारी और महाजनी के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्रों की कमी, प्रशासनिक और न्यायिक ढांचे की अनुपयुक्तता, कई क्षेत्रों में पारंपरिक भू-स्वामित्व संबंधी ढांचे का दबाव, भू-राजस्व की बढ़ती हुई मांग—कृषि-विकास के लिए सस्ते कर्ज जैसे सकारात्मक कदम उठाने में सरकार की असफलता इत्यादि जो रूप सामने आया वह पुराने डिजाइन और पिछड़ी हुई कृषि का ही प्रारूप था, हालांकि कृषि के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई, और जमींदारी और रैयतवाड़ी क्षेत्रों में विकसित हुए भूमि संबंधों की वजह से उससे सामंती वर्चस्व में और वृद्धि हुई। सरकार ने दमनकारी जमींदारों और शोषण करने वाले महाजनों के चंगुल से रैयत को बचाने के कई असफल प्रयाए किए। उन प्रयासों से कृषि के विकास पर विचार व्यक्त करने के अवसर तो आए, परंतु ये विचार अभी तक वही पुराना दृष्टिकोण लिए हुए थे।

जहां तक भू-राजस्व का संबंध था, इस बात से इनकार किया जाता था कि उसकी दर अधिक है। कई लेखकों ने यह दावा भी किया कि भू-राजस्व का भार अधिक नहीं था, क्योंकि वह भूमि के लगान के रूप में प्राप्त होता था। फिर भी, भू-राजस्व में कठोरता को एक बुराई माना जाता था।

सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता था कि बुनियादी तौर पर भारतीय कृषि में कोई दोष नहीं था। कृषि के क्षेत्रफल में 1820 से 50 से 100 प्रतिशत होने के कारण—वृद्धि से एक प्रकार का संतोष भी था।[50अ] तकनीकी सुधारों के बारे में कोई दावा नहीं किया गया, और मिट्टी के कमजोर होने के विषय में कुछ आशंकाएं व्यक्त की गईं, परंतु यहां भी सिंचाई-सुविधाओं में वृद्धि को एक सकारात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया।[50a] लेकिन आशावादिता का मुख्य कारण यह विश्वास था कि निर्यात में वृद्धि और उसके फलस्वरूप कृषि के व्यापारीकरण की वजह से भारतीय कृषि ने मिल द्वारा निर्धारित 'स्थिर स्थिति' और पारंपरिक भारतीय अर्थव्यवस्था से छुटकारा पा लिया था और वह परिवर्तन आधुनिकीकरण और विकास के आधुनिक चरण में प्रवेश कर चुकी थी।[51] वास्तव में, यह विश्वास किया जाता था कि जमींदार-काश्तकार संबंधों और महाजनों को भूमि स्थानांतरित करने के संबंध में उसकी (कृषि की) कुछ समस्याएं इस आधुनिकीकरण के कारण उत्पन्न हुई थीं और उन्हें निम्न चरण से उच्च चरण के परिवर्तन में एक अनिवार्य अस्थायी व्यवधान के रूप

में लिया जाना चाहिए।[52]

इस काल में, जमींदार-काश्तकार के बिगड़े संबंधों और ग्रामीण ऋण ग्रस्तता ने—जिसके कारण गैर-कश्तकारों को भूमि के हस्तांतरण की समस्या उत्पन्न हुई—भू-स्वामित्व संबंधी समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया, परंतु, बहस का मुख्य केंद्र मुख्यतः ग्रामीण अशांति से संबंधित राजनीतिक और प्रशासनिक खतरों और कुछ हद तक उन गरीब काश्तकारों के प्रति सहानुभूमि प्रदर्शित करने तक ही रहा, जिनका जमींदार अधिक लगान वसूल करके शोषण करते थे और महाजन 'खून चूसते' थे। इसकी कोई चर्चा नहीं हुई कि आर्थिक विकास के लिए विकसित हो रहे भूमि संबंधों का, विशेष रूप से कृषि विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा। वास्तव में, जैसा कि पहले संकेत दिया गया है कि उपचार संबंधी उपायों के संबंध में केवल विचारधारा के पुराने ढांचे के अंतर्गत ही चर्चा की गई। भूमि की पट्टेदारी और भूमि-संबंधों के बारे में कोई नया सिद्धांत विकसित नहीं किया गया। जमींदारी और भू-स्वामित्व की व्यवस्था और भूमि हस्तांतरण के तरीके को आर्थिक और राजनीतिक रूप से जरूरी समझा गया। यह माना गया कि नई व्यवस्था में परिवर्तन को कम कष्टप्रद बनाया जा सकता था। यह विचार, वास्तव में, इस धारणा के ही अनुरूप था कि भारतीय अर्थव्यवस्था और कृषि का बड़ी तेजी से आधुनिकीकरण किया जा रहा था और उन्हें विश्व के आर्थिक विकास की मुख्य धारा में लाया जा रहा था।

पट्टेदारी-सुधारों के संबंध में ए.सी. ल्याल के विचार भी ब्रिटिश चिंतन के ही अनुरूप थे। वे लार्ड डफरिन के खास विश्वासपात्र थे। लार्ड डफरिन के समय में ही पट्टेदारी कानून बना था। वे आगे चलकर 1887 से 1902 तक इंडियन कौंसिल के सदस्य रहे। ए.सी. ल्याल ने जनवरी 1884 के *एडिंबरा रिव्यु* में लिखा कि जमींदारों और पट्टेदारों में संघर्ष आधुनिक आर्थिक शक्तियों के आगमन के साथ आरंभ हुआ है : व्यापार और कृषि की प्रगति, पारंपरिक लगान के स्थान पर परिवर्तनीय अनुबंधित लगान व्यवस्था और जनसंख्या में वृद्धि के कारण भूमि की पूर्ति और मांग की स्थितियों में आए परिवर्तन के कारण यह संघर्ष प्रारंभ हुआ है। इसके अतिरिक्त, "चूंकि शांति और सुरक्षा के कारण भूमि से मिलने वाले लाभ में वृद्धि हुई है, और उससे पूंजी के सुरक्षित निवेश की गारंटी भी मिली है इसलिए धनी और उद्यमी वर्ग, जैसा कि उन्होंने हमेशा किया है, भूमि को अपने स्वतंत्र स्वामित्व में लेने का प्रयत्न कर रहे हैं"। लेकिन, इस संक्रमण का पुराने युग के किसान पर कष्टप्रद प्रभाव पड़ा है, जिससे अधिक लगान देना पड़ता है और इससे सरकार भी उसकी भलाई के प्रति चिंतित हो रही है। भारत के ऊपरी भाग में सरकार ने कानून बना कर "मालिकों द्वारा पट्टेदारों का अधिकार छीनने के प्रयत्नों" पर रोक लगा दी है। इसका नतीजा अच्छा रहा है, वैसा ही जैसा कि अनिवार्य परंतु अलोकप्रिय परिवर्तन को रोकने का होता है।'' अब सरकार अपने प्रस्तावित कानूनों द्वारा "जमींदारों और पट्टेदारों के बीच ठेके की शर्तों

को नियमित करना चाहती है"। यह स्थिति दो कारणों से दिलचस्प है : "सरकार द्वारा कानून बना कर जमींदारों और पट्टेदारों के उपयुक्त संबंधों को परिभाषित और नियमित करने का कोई भी प्रयास अभी तक सफल नहीं हुआ है", और भारत में एक बड़ी दिलचस्प स्थिति है, क्योंकि यहां के पुराने विचारों के जमींदार और रैयत दोनों ही अदूरदर्शी और फिजूलखर्च हैं—वे पुराने युग के अवशेष हैं जो भारत में अंग्रेजी राज के कारण आई राजनीतिक उथल-पुथल की गिरफ्त में आ गए हैं : इस उथल-पुथल ने आधुनिक जमींदारों, पूंजीपतियों, मितव्ययी, मेहनती उदीयमान किसानों में जमीन पर कब्जा जमाने की होड़ को जनम दिया है"। इसलिए, परिवर्तन जरूरी है। परंतु, भारत को परिवर्तित करने में भारत सरकार की भूमिका और देश में उसकी स्थिति ऐसी है कि "उसे संक्रमण की अनिवार्य प्रक्रिया में सहायता देना और उसकी देखरेख करना जरूरी हो गया है"। इसके अतिरिक्त, "कमजोरों की रक्षा करना हमारा नैतिक कर्तव्य है"। इसके साथ ही हमें सचेत रहना चाहिए और "स्वयं बहुत अधिक जिम्मेदारी लेने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए"। यह भी याद रखना चाहिए कि "जमींदारों को सुरक्षा प्रदान करने के कानूनी तरीके सदा पट्टेदारों की सुरक्षा की योजना से मेल नहीं खाते और ऐसे प्रतिबंधक उपाय कृषि के सुधार और हमारे भू-राजस्व के मीयादी समायोजन से आसानी से मेल नहीं खाते।'' ऐसे नियंत्रक प्रयत्नों से पूंजी के आगमन पर रोक लग जाती है और राजस्व अधिकारियों को भी, भू-राजस्व की मात्रा निश्चित करने के उद्देश्य से, वास्तविक भू-राजस्व निर्धारित करने में कठिनाई आती है"। इसके साथ ही, "कृषक वर्गों से समझौता करने और बदलते हुए समय के कारण आई कठिनाइयों को कम करने का प्रयत्न न्यायसंगत है।[53]

ल्याल ने अनुभव किया कि वे अपने विश्लेषण में सरकार द्वारा स्वीकृत पट्टेदारी कानून का कृषि-विकास के साथ मेल बिठाने में सफल नहीं हुए हैं। इसलिए वे अपने विश्लेषण को इस स्वीकारोक्ति के साथ समाप्त करते हैं : "लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार अभी तक अपने आप को भूमि से संबंधित अपनी नीतियों की उलझन से बाहर नहीं निकल पाई है, अथवा विभिन्न उद्देश्यों और हितों के संघर्ष के बीच अपना रास्ता निश्चित नहीं कर पाई है"।[54]

हालांकि किसी भी दूसरे लेखक ने जमींदार-पट्टेदार संबंधों पर इतने विस्तार से विचार नहीं किया, फिर भी सामान्य प्रवृत्ति यही थी कि तत्कालीन संबंधों को या तो बुनियादी तौर पर, संतोषजनक माना जाता था (हालांकि उनमें कुछ सुधार की भी गुंजाइश थी)[55] या यह कि उनमें आमूल परितर्वन नहीं किया जा सकता था, चाहे वह पट्टेदार की दृष्टि से असंतोषप्रद ही क्यों न थे।[56] अधिकांश लेखकों ने इस प्रश्न की उपेक्षा की।

ब्रिटिश लेखकों ने जमींदार-पट्टेदार संबंधों में किसी आमूल परिवर्तन का प्रस्ताव क्यों नहीं रखा, इसका एक कारण यह विश्वास था कि जमींदार और दूसरे भू-स्वामी

ब्रिटिश शासन का अनिवार्य राजनीतिक आधार थे क्योंकि उनका अस्तित्व उसके (शासन के) स्थायित्व पर ही निर्भर करता था।[57]

ब्रिटिश लेखकों को इसका पूर्ण ज्ञान था कि बढ़ते हुए ग्रामीण कर्ज और उसके फलस्वरूप खेती न करने वाले महाजनों के हाथ में भूमि के तेज हस्तांतरण किसानों की खुशहाली और राज्य की राजनीतिक स्थिरता पर क्या हानिकारक प्रभाव पड़ रहे थे। परंतु, एक बार फिर उपचार के उपायों और अर्थव्यवस्था में महाजन की भूमिका, कर्ज में वृद्धि और भूमि के हस्तांतरण से संबंधित सिद्धांतों में टकराव हुआ। ऋणग्रस्तता में वृद्धि की प्रक्रिया से संबंधित प्रचलित ब्रिटिश दृष्टिकोण कुछ निम्न प्रकार का था :

> सरकार ने भू-राजस्व के लिए अपनी मांग को लंबे समय तक सीमित और निश्चित करके भू-स्वामियों के हाथों में अधिशेष दे दिया था (अथवा जैसा कि कभी रिकार्डो के शब्दों में कहा जाता है)[58], इस प्रकार उसने भूमि की कीमत बढ़ा दी है। इसने भूमि को बेचने अथवा हस्तांतरित करने के अधिकार के साथ मिलकर उन्हें भूमि को गिरवी रखकर उधार लेने योग्य बना दिया। इसके साथ ही, अधिशेष पर कर अदा न करने और संपत्ति की सुरक्षा ने भू-स्वामित्व को महाजनों और 'पूंजीपतियों' के लिए आकर्षक बना दिया था। भारत के आर्थिक विकास ने इस गैर-अर्जित अधिशेष में वृद्धि की। और चूंकि सरकार ने उसमें से कुछ लेने से इनकार कर दिया था, इसलिए भूमि की कीमत में भी वृद्धि हुई और काश्तकार की उधार लेने की क्षमता भी बढ़ गई। लालची, बुद्धिमान, अनैतिक और सूदखोर महाजन ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और उसने काश्तकारों की फिजूलखर्ची, दोषपूर्ण प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था, और भू-राजस्व की मांग में कठोरता का लाभ उठा कर किसानों पर कर्ज का बोझ लाद दिया, और इस प्रकार अब वह उनकी भूमि पर कब्जा लेने में व्यस्त था।[59]

यह विचार, स्वतः ही दो परिणामों की ओर ले जाता है : या तो सरकार किसान को बचाने के लिए अनर्जित आय के साथ-साथ समस्त आर्थिक कर को अपने कब्जे में ले ले, या फिर महाजनों के खिलाफ ऐसे सख्त कदम उठाए जिनसे धन उधार देने और ग्रामीण भूमि के अहस्तांतरण की प्रथा लगभग गैर-कानूनी बना दी जाए। प्रथम विकल्प पर, हालांकि वह सैद्धांतिक और वित्तीय रूप से आकर्षक था और उन व्यक्तियों के विरुद्ध एक अच्छी दलील भी था जो कृषि के पिछड़ेपन के लिए अधिक भू-राजस्व को दोषी मानते थे, प्रकट रूप से उसकी राजनीतिक अव्यावहारिकता के कारण प्रशासनिक कार्यवाही नहीं की गई।

यदि दूसरे विकल्प पर अमल किया जाता तो किसान को कर्ज मिलना बंद हो जाता। इस स्थिति में, एक दूसरा लोकप्रिय विचार प्रचलित हुआ। यह विश्वास किया गया कि अपने अनेक बुराइयों के बावजूद गांव का 'साहूकार' एक आवश्यक और

लाभदायक काम अंजाम देता था; वास्तव में, वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए अपरिहार्य था। वह बुरे मौसम में रैयत को जीवित रहने में सहायता करता था और इस प्रकार सरकार को राहत कार्यों पर खर्चा करने से छूट दिला देता था; आवश्यक कृषि कार्यों के लिए काश्तकारों को पूंजी देता था, और उसी कारण वे समय पर मालगुजारी भी अदा कर देते थे। इस प्रकार वह सरकार को वित्तीय परेशानी से और जमीन के मालिक को उसकी जमीन की सरकार द्वारा अविलंब बिक्री से भी बचा लेता था। भूमि के हस्तांतरण पर रोक अथवा ऐसे ही किसी दूसरे उपाय जैसे कर्ज पर प्रतिबंध लगाने से स्वयं किसान का नुकसान होता और उसे और भी कड़ी परिस्थितियों में कर्ज लेने को विवश होना पड़ता। इससे भूमि पर भविष्य में होने वाले निवेश पर भी रोक लग जाती।[60]

इन लेखकों ने इस विचार का परित्याग भी नहीं किया कि कृषि के विकास के लिए आर्थिक आधारों पर भूमि का हस्तांतरण जरूरी था क्योंकि इससे पूंजीवादी कृषि का विकास हो सकता था। जैसा कि डब्ल्यू.ली. वार्नर ने कहा :

> स्वाभाविक और क्रमिक पतन, कर्ज से उत्पन्न दिवालिएपन और दिवालिएपन से उत्पन्न बेदखली की प्रक्रिया से ग्रामीण समाज में एक स्वस्थ व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अज्ञानता, अदूरदर्शिता और आलस के हाथों से मितव्ययिता, मेहनत और कौशल के हाथों में संपत्ति का हस्तांतरण लाभप्रद होगा। बेदखल किए गए काश्तकारों को भी जो अभी इस प्रक्रिया से असंतुष्ट और चौकन्ने नजर आते हैं, अपनी कर्ज के बोझ से दबी संपत्ति से छुटकारा मिल जाएगा। मुक्त श्रमिकों के रूप में वे, कम से कम, अपना एक नया वित्तीय और नैतिक जीवन आरंभ कर सकेंगे और समय बीतने पर जो खोया है उसे फिर से प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार इस प्रक्रिया से ऐसे स्वस्थ संबंध विकसित हो जाएंगे जो पूंजी और भूमि के संबंधों के लिए जरूरी हैं। ये संबंध तब ही विकसित हो पाएंगे जब कर्ज चुकाने और जोखिम उठाने में असमर्थ व्यक्तियों द्वारा धन की बर्बादी समाप्त हो जाएगी।[61]

तथापि, बहुत से लोगों ने यह महसूस किया कि कुछ तो करना ही होगा, क्योंकि कृषकों के हाथों से गैर-कृषकों और 'युद्धप्रिय' वर्गों के हाथों से गैर-युद्धप्रिय वर्गों के हाथों में भूमि का हस्तांतरण असंतोष उत्पन्न कर रहा था और वह राजनीतिक रूप से विध्वंसक भी हो सकता था और इस वजह से सक्रिय बगावत भी हो सकती थी।[62] परंतु, अपनी आर्थिक समझ के मद्देनजर इन लेखकों ने जिन कदमों को उठाने का सुझाव दिया वह केवल सुधारात्मक थे। उनके अनुसार साहूकार को कार्य तो करने दिया जाता लेकिन उसे दमनकारी बनने से भी रोक दिया जाता। ये उपाय इस प्रकार थे : ब्याज की दर को विनियमित करना, साहूकार की अनैतिकता पर रोक और न्याय-व्यवस्था में सुधार।[63]

VII

तत्कालीन आर्थिक विकास और उसकी भावी संभावना के संबंध में मूल रूप से अपने आशावादी दृष्टिकोण की वजह से साम्राज्यवादी विचारधारा के ब्रिटिश लेखकों ने उन कारणों की ओर पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दिया जो विकास में रुकावट बने हुए थे। अथवा जिनसे विकास में बाधा आ सकती थी। हालांकि, विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों पर कुछ चर्चा हुई, परंतु इस विषय पर भी चर्चा हुई कि भारतीयों के रहन-सहन का स्तर इतना नीचा क्यों है।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि आंतरिक पूंजी की कमी को एक विशेष कमी माना गया; परंतु वर्तमान अड़चन के बजाए विगत काल की असफलता ज्यादा माना गया, क्योंकि, ब्रिटिश पूंजी को एक सुविधाजनक विकल्प माना गया और ब्रिटिश शासन के संबंध में कहा गया कि उसके कारण राष्ट्रीय पूंजी में वृद्धि हो रही थी। केवल तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को विकास के रास्ते की मुख्य बाधा माना गया, जो किसी भी समय भूमि के अनुपात से अधिक हो सकती थी,[64] हालांकि इस बात से कुछ लोग असहमत थे[65]। अपने आशावादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने भारतीय सामाजिक संस्थाओं को विकास के रास्ते में प्रमुख अड़चनों के रूप में नहीं देखा।[66] कभी-कभी जिन तीन पहलुओं की आलोचना की जाती थी, वे ये थे : कम उम्र में शादी करने और अधिक बच्चे पैदा करके जनसंख्या के दबाव को बढ़ाने की प्रवृत्ति;[67] फिजूलखर्ची और सामाजिक अवसरों पर खुले हाथ से खर्च करने का दबाव, जिससे पर्याप्त पूंजी-निर्माण नहीं हो पाता था;[68] और उनकी कम आवश्यकताओं, उदासीनता, महत्वाकांक्षा और अपेक्षाओं के अभाव में, उनके पास मेहनत द्वारा विकास करने की प्रेरणा नहीं थी अथवा विकास का बहुत कम अवसर था।[69] सामाजिक पिछड़ेपन और विकास के संबंध के प्रति इस प्रचलित विचार के कारण भी उपेक्षा दिखाई गई कि पुराने सामाजिक मूल्य और जीवित रहने के तरीकों में परिवर्तन हो रहा था और रेलों, आधुनिक, शिक्षा, ब्रिटिश प्रशासन इत्यादि के प्रभाव के कारण सामाजिक जीवन का बड़ी तेजी से आधुनिकीकरण हो रहा था।[70]

आबादी के अतिरिक्त, विकास के रास्ते की दूसरी प्रमुख अड़चन, जिसकी ओर ब्रिटिश लेखकों ने ध्यान दिया वह विकास के विभिन्न अभिकरणों के लिए वित्तीय प्रावधान करने और पर्याप्त राजस्व जुटाने में भारत की असमर्थता थी। इसे भारत की गरीबी से संबद्ध किया गया। भारत केवल उतनी ही बचत कर पाता था जितनी कि जीवन निर्वाह के लिए जरूरी थी। जैसा कि अनेक लेखकों ने कहा : भारत को एशियाई राजस्व से आधुनिक प्रशासन का खर्च वहन करना पड़ा था और इससे दूसरे सुधारों के लिए कोई धन नहीं बचता था।[71]

कुछ ब्रिटिश लेखकों ने यह भी कहा कि भारत की धीमी प्रगति और उसके

लोगों का रहन-सहन का स्तर इसलिए नीचा था क्योंकि भारत का आर्थिक आधार कमजोर था। यहीं से अंग्रेजों को उन्नति का कार्य आरंभ करना था।[72]

बहरहाल, सामान्य धारणा यह थी कि ब्रिटिश प्रशासन जो कुछ कर सकता था, वह कर रहा था और यह कि सरकार की नीति अथवा संस्थात्मक ढांचे में, जो 1757 से भारत में विकसित हुआ था, बुनियादी तौर पर कोई कमी नहीं थी। यदि कोई कमी रही भी थी तो वह भारतीयों की ओर से थी।[73] यदि ब्रिटिश राज को किसी बात के लिए दोषी ठहराया जा सकता तो था भारत को तेजी से आधुनिकीकरण करना और उसकी परिस्थितियों में सुधार करना था। वास्तव में, धीरे-धीरे यह आम राय बन रही थी कि ब्रिटेन को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को धीमा कर देना चाहिए ताकि वह भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हो सके।[73अ]

VIII

भारत में ब्रिटिश राज और उसके आर्थिक पक्ष के बारे में मुख्य ब्रिटिश विचार यही था कि वह परोपकारी है और उसकी भूमिका नियासी जैसी है। तथापि, जब ब्रिटेन में साम्राज्यवाद-विरोधी प्रचारकों के साथ विवाद हुआ तब भारत से प्राप्त होने वाले लाभों को खुले तौर पर स्वीकार किया गया और उनको आगे प्राप्त करने के लिए जोर भी दिया गया। जिन लाभों का अकसर हवाला दिया गया वे इस प्रकार थे : (*i*) सामान्य रूप से विदेश व्यापार का विस्तार, जिसमें उत्पादकों के लिए एक बाजार और कच्चे माल के एक स्रोत के रूप में भारत पर विशेष ब्ल दिया गया; (*ii*) ब्रिटिश पूंजी के लिए एक क्षेत्र; (*iii*) ब्रिटिश युवाओं विशेषकर मध्य-वर्गों के युवाओं के लिए रोजगार का लाभप्रद क्षेत्र; (*iv*) ब्रिटिश नौवहन को काम; (*v*) साम्राज्यी उद्देश्यों के लिए भारतीय सेना का प्रयोग; (*vi*) और अंत में इस तथ्य पर बल दिया गया कि दूसरे उपनिवेशों के विपरीत, ब्रिटेन को इन लाभों की कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती थी। तथापि, इन लाभों को ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक हितों का सूचक माना गया और चूंकि वे आकस्मिक थे इसलिए उन्हें किसी भी रूप में भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का प्रेरक नहीं समझा जाना था।

19वीं शताब्दी के अंत होने तक आर्थिक विकास के माडल और विचारों की निर्थकता सामने आने लगी। 1896 से लेकर 1900 तक के वर्षों के दौरान आए अकाल इस निरर्थकता का केवल नाटकीय प्रदर्शन करते थे। 20वीं शताब्दी आते-आते इन विचारों पर कायम रहना मुश्किल हो गया क्योंकि अब उनकी अनुपयुक्तता और नवीनता की क्षमता का अभाव स्पष्ट हो चुके थे।[74] अब यह महसूस किया जा सकता था कि या तो विकास के तत्कालीन ब्रिटिश माडल में कुछ कमी है और उसके स्थान पर एक नया माडल तैयार करना चाहिए या पुराने माडल में विश्वास व्यक्त किया

जाता और उसकी सकारात्मक उपलब्धियों पर बल दिया जाता; जाति, संयुक्त परिवार, लोगों और आबादी के चरित्र जैसी आंतरिक सामाजिक कमजोरियों का पता लगाकर उनकी भूमिका पर बल दिया जाता और यह संकेत दिया जाता कि आर्थिक विकास, विशेषकर एशियाई देशों में, एक लंबी प्रक्रिया है। 20वीं शताब्दी में ब्रिटिश लेखकों ने ज्यादातर दूसरा दृष्टिकोण अपनाया, भारत को एक महान औद्योगिक ताकत बनाने के 'वैभवपूर्ण खाके' का परित्याग किया और साथ ही आशावाद और आर्थिक और तर्क संगत मनोवृत्ति को भी त्याग दिया। इसके साथ ही वे इस बात पर बल देते रहे कि एक उपनिवेश के रूप में भारत के विकास का उनका माडल न केवल व्यवहार्य था बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि भारत का विकास तब ही संभव था जबकि वह एक उपनिवेश बना रहता और इस माडल का अनुसरण करता। दूसरी ओर, भारतीय राष्ट्रवादियों ने, जिन्हें पश्चिम के अनेक साम्राज्यवाद-विरोधी लेखकों का समर्थन प्राप्त था, पहला रास्ता अपनाया और इस प्रयत्न में 19वीं शताब्दी की राजनीतिक अर्थव्यवस्था निर्मित की और इस विषय पर नए विचार रखे कि अविकसित अर्थव्यवस्थाओं को किस प्रकार विकसित किया जाए।

IX[74अ]

भारतीय राष्ट्रवादी लेखकों ने भी आरंभ में भारत पर ब्रिटिश प्रभाव का सकारात्मक मूल्यांकन किया। उन्हें भी आशा थी कि एक केंद्रीकृत प्रशासन की स्थापना, जान और माल की सुरक्षा, पश्चिमी विज्ञान, प्रोद्योगिकी, पूंजी और संगठन के आयात, रेलों और सड़कों के निर्माण, विश्व-बाजार से जुड़ने और आधुनिक विचारों और संस्कृति के प्रसार से आर्थिक आधुनिकीकरण और प्रगति का एक नया युग आरंभ होगा। परंतु उन्हें शीघ्र ही यह अहसास हो गया कि वास्तविकता उनकी आशाओं के अनुरूप नहीं थी। उन्हें यह विश्वास हो गया कि न केवल नई दिशाओं में प्रगति धीमी थी, बल्कि देश भी आर्थिक दृष्टि से पीछे जा रहा था, अर्थात और अधिक पिछड़ रहा था। इस समस्या का उत्तर खोजने के प्रयास के दौरान उनके आर्थिक विचार विकसित हुए : पिछले वायदों को पूरा क्यों नहीं किया जा रहा था और उन्हें पूरा करने के लिए क्या उपाय किए जा सकते थे?

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के दो मूलभूत पहलुओं का आरंभ में ही उल्लेख किया जा सकता है।

राष्ट्रवादियों ने आर्थिक विकास की समस्या के प्रति एक एकीकृत दृष्टिकोण विकसित किया। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि यातायात, व्यापार, अथवा कृषि के अधीन क्षेत्र से संबंधित अलग-अलग क्षेत्रों में प्रगति से विकास हो सकता था। इन सभी को संपूर्ण अर्थव्यवस्था के साथ उनके संबंधों के अनुसार देखा जाना

था। एक स्वस्थ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में संतुलन बनाए रखना जरूरी था।

दूसरे, उनका विचार था कि तेज और आधुनिक औद्योगीकरण ही आर्थिक विकास का मूल तत्व था। उन्होंने कहा कि पूंजी में वृद्धि को ही विकास नहीं कहा जाता, या जैसा कि उन्होंने कहा, "सबसे महत्वपूर्ण बात उत्पादन-शक्ति है"। उन्होंने इस बात का खंडन किया कि प्रकृति ने भारत को मूल रूप से एक कृषि प्रधान देश बनाया है। इसके विपरीत, उन्होंने कहा कि क्योंकि भूमि कम थी इसलिए भारत के लिए यह जरूरी था कि वह अपना औद्योगीकरण करे, अन्यथा वह बर्बाद हो जाएगा। उन्होंने सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों से भी औद्योगीकरण पर बल दिया। राजनीतिक कारण से भारत का औद्योगीकरण करने के संबंध में उनका तर्क यह था कि आधुनिक उद्योग ही वास्तव में वह ताकत था जो भारत के विविध प्रकार के व्यक्तियों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरो सकता था क्योंकि उनके हित समान थे।

इसलिए राष्ट्रवादियों ने व्यापार, परिवहन, मुद्रा तथा विनिमय, शुल्क, वित्त, और विदेशी पूंजी से संबंधित सरकारी नीतियों की औद्योगीकरण के इस सर्वोपरि पहलू के संबंध के संदर्भ में समीक्षा करने का आग्रह किया। उदाहरण के लिए, उन्होंने आर्थिक पिछड़ेपन अथवा अविकास की परिभाषा इस प्रकार दी कि केवल वही समाज पिछड़ा हुआ रहता है जिसके आर्थिक जीवन में उद्योग की भूमिका कम होती है और उसकी अधिकांश श्रम-शक्ति का उपयोग कृषि में किया जाता है। इस वजह से उन्होंने भारत के दस्तकारी उद्योगों को बर्बाद करने और नए आधुनिक उद्योगों द्वारा उनका स्थान न लेने की आलोचना की। उनका यह भी विश्वास था कि आधुनिक उद्योग के न होने के बावजूद ब्रिटिश राज के आरंभ में 19वीं सदी के दूसरे अर्ध-भाग की तुलना में, भारत में उद्योग और कृषि के बीच अधिक संतुलन था। चूंकि यह संतुलन बाकी संसार में प्रचलित संतुलन से भिन्न नहीं था और यदि तब से ब्रिटेन और यूरोप में आधुनिक उद्योगों के विकास पर विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि भारत की अवनति हुई है; वह और अर्ध-विकसित हुआ है। इस प्रकार, संभवतः भारतीय राष्ट्रवादियों ने सर्वप्रथम आर्थिक अर्ध-विकास को एक आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया, क्योंकि 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश अर्थशास्त्री अभी तक स्थिर और परिवर्तनशील समाजों की बात करते थे। इस दृष्टिकोण की वजह से भारतीय राष्ट्रवादियों ने यह भी समझ लिया कि 19वीं सदी के अंत में ही भारत के अर्ध-विकास की उत्पत्ति हुई थी और वह (अर्ध-विकास) पारंपरिक विगत काल का अवशेष नहीं था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने यह भी समझ लिया कि इस अर्ध-विकास का दूसरा पहलू विदेशी पूंजी का वर्चस्व था जिसके उपयोग द्वारा अर्थव्यवस्था का आंशिक आधुनिकीकरण करके औपनिवेशिक उद्देश्यों को पूरा किया जाता था। जैसा कि जस्टिस रानाडे ने कहा कि शासकों की नजर में भारत एक ऐसा 'बगान' था "जो कच्चे माल का उत्पादन

करता है, जिसे ब्रिटिश एजेंटों द्वारा ब्रिटिश जहाजों में लादा जाता है, ब्रिटिश कौशल और पूंजी द्वारा उससे कपड़ा बनाया जाता है और उसे ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा भारत और दूसरे अधीन देशों में ब्रिटिश फर्मों को फिर से निर्यात कर दिया जाता है"।[75]

X

सर्वप्रथम, राष्ट्रवादियों ने भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीतियों को विकास के उन कारणों से जोड़ने का प्रयत्न किया जो ब्रिटिश लेखकों के अनुसार भारत को आर्थिक विकास की ओर ले जा रहे थे। उन्होंने भारत की अवनति और विकास में इन कारणों की क्षमता का भी विश्लेषण किया।

जहां तक विदेशी व्यापार का संबंध था उन्होंने इस बात से इनकार किया कि विकास अपने आप में ही आर्थिक प्रगति था अथवा उससे आर्थिक विकास आरंभ हो सकता था। उनके लिए विदेशी व्यापार की मात्रा नहीं बल्कि उसका तरीका—किस प्रकार के माल का विनिमय किया जाता था और स्थानीय आय, उद्योग और रोजगार पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है—अधिक महत्वपूर्ण था। एक बार फिर उन्होंने उस पक्षपात की ओर ध्यान खींचा जो कच्चे माल के निर्यात और निर्मित माल के आयात के संबंध में दिखाया जाता था।

उनका विश्वास था कि निर्मित माल का तेजी से बढ़ता हुआ आयात, समृद्धि का सूचक अथवा विकास का एक एजेंट होने से ज्यादा घरेलू उद्योग को नष्ट कर रहा था। देशीय निर्माताओं की जरूरतों को पूरा करने और उनकी सहायता करने के बजाए निर्मित वस्तुओं के आयात से घरेलू हाथ से बनी हुई वस्तुओं का उपयोग कम हो रहा था और आधुनिक उद्योग के विकास में बाधा उत्पन्न हो रही थी। जैसा कि जी.एस. अय्यर ने कहा : "भारत में अंतर्राष्ट्रीय विनिमय ने देशीय विनिमय की पूर्ति नहीं की है, बल्कि उसका स्थान ले लिया है और इस प्रकार उसे बर्बाद कर दिया है"।[76] इसलिए, तेजी से बढ़ता हुआ आयात भारत को ब्रिटेन का कृषि-संबंधी पिछलग्गू बना रहा था, अथवा बनाए हुए था। इसके साथ ही, राष्ट्रवादियों ने मशीनरी, धातुओं और कच्चे माल के आयात का स्वागत किया।

उन्होंने इस विचार को भी अस्वीकार कर दिया कि कच्चे माल का बढ़ता हुआ निर्यात भारत के लिए लाभदायक था। उनके विचार में, वह पूंजी के बढ़ते हुए विकास अथवा पूंजी के एकतरफा स्थानांतरण और आयात के भुगतान का प्रतिनिधित्व करता था। इन सबसे देश का ग्रामीणीकरण और आर्थिक शोषण हो रहा था। इसके अतिरिक्त, कृषि-उत्पादों के निर्यात का सीधा लाभ भी किसान को नहीं मिलता था, उसे व्यापारी, साहूकार, जमींदार और सरकार हड़प जाते थे। दूसरी ओर, बढ़ती हुई कीमतें गरीब किसानों और कृषि मजदूरों की कमर तोड़ दे रही थीं। भारतीयों ने विदेश-व्यापार की

एक और असंगत विशेषता की शिकायत की। इसका नियंत्रण विदेशियों के हाथों में होने की वजह से इसका सारा लाभ भारतीयों को नहीं मिल पाता था।

इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय आत्म-निर्भर नहीं थे और वे विदेश व्यापार के विकास के विरोधी भी नहीं थे। लेकिन उनकी मांग यह थी कि यह विकास 'स्वाभाविक' अर्थात, देश की आर्थिक आवश्यकताओं पर आधारित और पारस्परिक लाभ के लिए होना चाहिए। वे चाहते थे कि सामान्य रूप से आर्थिक विकास और विशेष रूप से उद्योग की आवश्यकताओं से विदेश व्यापार की सीमा, प्रकृति और दिशा का निर्धारण हो।

राष्ट्रवादी नए उद्योगों को इस आधार पर भी संरक्षण दिए जाने के पक्ष में नहीं थे कि उद्योग कृषि से श्रेष्ठ था क्योंकि उससे अधिक मुनाफा कमाया जाता था। उन्होंने तुलनात्मक कीमतों के सिद्धांत की वैधता से इनकार नहीं किया, परंतु, वे इस के सख्त विरोधी थे कि ब्रिटेन और भारत के मध्य श्रम के विभाजन के तत्कालीन ढांचे को स्थिर बनाने के लिए इस सिद्धांत और स्वतंत्र व्यापार का प्रयोग किया जाए। वास्तव में, इसका एक कारण कि अतिरिक्त, भारत सरकार की शुल्क नीति से भारतीयों ने यह समझा कि भारत में ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग को हितों का ध्यान में रखकर ही ब्रिटिश नीतियां तैयार की जाती थीं।

XI

भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस बात से भी इनकार किया कि रेलें, स्वतः ही, आर्थिक विकास की ओर ले गई हैं। रेलों से प्राप्त होने वाले दूसरे लाभों को स्वीकारते हुए उन्होंने कहा कि उनके निर्माण से औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। इसके बजाए, उन्होंने भारतीय बाजार में विदेशी माल के प्रवेश को और अधिक सुविधा प्रदान कर दी थी, जिससे कि तत्कालीन आर्थिक पिछड़ेपन में और अधिक वृद्धि हो गई थी। रेल निर्माण से प्राप्त मुनाफे को उद्योग और वित्त, स्टील और मशीन उद्योग को प्रोत्साहन देने में रेलों के प्रभाव के कारण—ब्रिटेन हथिया लेता था। नई शब्दावली के अनुसार, राष्ट्रवादियों की यह समझ थी कि रेलों से प्राप्त अनुपूरक सुविधाओं का लाभ भारतीयों को न मिलकर ब्रिटिश उद्योग को मिलता था और वह भी ब्रिटेन भेज दिया जाता था। जी.वी. जोशी ने टिप्पणी की कि रेलों पर ब्याज की गारंटी को, वास्तव में, ब्रिटिश उद्योग को दी जा रही भारतीय सहायता के रूप में देखा जाना चाहिए। या तिलक के शब्दों में यह "दूसरे की पत्नी को सजाने" के समान था।[77]

एक वैकल्पिक नीति के रूप में, भारतीयों ने कहा कि रेल-निर्माण को भारत की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए। यहां दुर्लभ वित्तीय साधनों को सर्वश्रेष्ठ ढंग से प्रयोग करना सबसे बड़ी समस्या थी। उन्होंने कहा कि यह बिलकुल स्पष्ट है कि भारत को परिवहन सुविधाओं से ज्यादा उद्योगों और कृषि-उत्पादन में

वृद्धि की आवश्यकता है और भारतीय परिस्थितियों में, उद्योग को विकसित करने के लिए उसे सीधा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, अप्रत्यक्ष रूप से रेलों द्वारा नहीं। रेलें भी तभी उपयोगी बनेंगी जब उनके साथ-साथ उद्योगों का विकास होगा। इसलिए, उन्होंने ये मांग की कि रेलों को जो सरकारी सहायता दी जा रही थी वह उद्योग और सिंचाई कार्यो को दी जानी चाहिए और भविष्य में रेलों के विस्तार और भारतीय व्यापार और उद्योग के विकास में सामंजस्य होना चाहिए। 1884 में जी.वी. जोशी ने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा : "इसी समय, परिवहन की इन सुविधाओं के साथ-साथ, सरकार को देश में विविध प्रकार की औद्योगिक गतिविधियों के लिए भी उपयुक्त आर्थिक परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिए थी; केवल तब भी उनका प्रयोग राष्ट्रीय हित में किया जा सकता था।"[78]

राष्ट्रवादियों ने यह सवाल भी किया : सरकार रेल-निर्माण पर इतना अधिक जोर क्यों देती थी? उनका उत्तर था कि वह ब्रिटिश निर्माताओं के लिए भारत में बाजार खोलना चाहती थी; कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के निर्यात की सुविधा प्रदान करना चाहती थी, ब्रिटिश स्टील और मशीनी उत्पादों की बिक्री को बढ़ावा देना चाहती थी, ब्रिटिश पूंजी के अधिशेष के निवेश का रास्ता खोलना चाहती थी और सशस्त्र सेनाओं के आवागमन को सुविधाजनक बनाना चाहती थी।

XII

विदेशी पूंजी के प्रति एक लंबे समय तक राष्ट्रवादियों का नज़रिया भ्रमात्मक और विभाजित रहा। परंतु, धीरे-धीरे, एम.जी. रानाडे को छोड़ कर, करीब-करीब सभी ने इसका कड़ा विरोध किया। रानाडे ने दुर्लभ आंतरिक पूंजी के एक अनुपूरक और देशीय उद्यम को प्रोत्साहित करने वाले एक प्रेरणात्मक स्रोत के रूप में विदेशी पूंजी की भूमिका पर बल दिया। दूसरे भारतीय इससे सहमत नहीं थे। उनका विश्वास था कि देशीय पूंजी को प्रोत्साहन देने के बजाए विदेशी पूंजी ने उसका स्थान ले लिया था, उसका दमन किया था और भविष्य में विकास और अधिक कठिन बना दिया था। इस से भारतीयों के जीवन पर विदेशी वर्चस्व और नियंत्रण में और वृद्धि हुई थी। इसके अतिरिक्त, विदेशी उपक्रमों में कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि वे अपने मुनाफे को ब्रिटेन भेज देते थे। केवल बड़े मुनाफे को ही ब्रिटेन नहीं भेजा जाता था, बल्कि वेतन का एक बड़ा भाग विदेशी कर्मचारियों को मिलता था और वे भी अपनी आय का एक बड़ा भाग ब्रिटेन भेज देते थे। करीब-करीब सब ही तकनीकी और प्रबंधकीय स्थानों पर उन विदेशियों का कब्जा था, जो रिटायर होने के पश्चात भारत छोड़ जाते थे। इस प्रकार, भारत को एक उप-उत्पाद के रूप में तकनीकी ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता था। राष्ट्रवादियों ने कहा कि जहां तक कि आर्थिक विकास का संबंध था, भारत

में विदेशी पूंजी के निवेश का मुश्किल से ही कोई सकारात्मक प्रभाव पड़ा था। थोड़े से अतिरिक्त रोजगार को ही उसका प्रमुख योगदान कहा जा सकता था। परंतु अकुशल भारतीयों को विदेशी स्वामित्व वाले बागानों, खानों इत्यादि में बहुत कम मजदूरी दी जाती थी। दादा भाई नौरोजी ने कहा कि "वे केवल गुलामों की भांति काम करते हैं, ब्रिटिश पूंजीपतियों को मुनाफा देने के लिए वे स्वयं अपने संसाधनों और अपनी भूमि को गुलामों की भांति प्रयोग में लाते हैं"।[79] दूसरे शब्दों में, भारतीय परिस्थितियों में विदेशी पूंजी देश का विकास नहीं कर रही थी बल्कि उसका शोषण कर रही थी।

इतने पर भी, राष्ट्रवादियों ने अपनी विशेष आपत्ति को व्यापार में विदेशी पूंजी के निवेश, बैंकिंग, रेलों और खनन तथा बागान उद्योगों तक ही सीमित रखा; उन्होंने जूट और कपास उद्योगों में इस प्रकार के निवेश पर कोई एतराज नहीं किया।

उन्होंने यह अनुभव भी किया कि भारत में विदेशी पूंजी के आगमन से भारत की दुर्लभ आंतरिक पूंजी में कोई वृद्धि नहीं हो रही थी। वह वास्तव में भारतीय पूंजी ही थी जिसे व्यापार, बैंकिंग और प्रशासनिक तंत्र के द्वारा पहले भारत से बाहर भेज दिया जाता था और फिर वही पूंजी विदेशी पूंजी के रूप में भारत भेज दी जाती थी। उन्होंने अनुभव किया कि शुद्ध आयातों पर चुकाए गए शुल्क और विदेशी कर्जों को चुकाने के बाद भी भारत के पास निर्यात से शुद्ध बचत होती थी।

राष्ट्रवादियों ने विदेशी पूंजी के संबंध में इस विचार को भी अस्वीकार कर दिया कि उसके बिना भारत का औद्योगीकरण नहीं हो सकता था, बल्कि उन्होंने कहा कि वास्तविक आर्थिक विकास तब ही हो सकता है जबकि भारतीय पूंजीपति ही स्वयं पहल करें और औद्योगीकरण की प्रक्रिया को विकसित करें। विदेशी पूंजी इस उद्देश्य को पूरा करने में असमर्थ थी। इस बात से रानाडे भी सहमत थे।

राष्ट्रवादी लेखकों ने विदेशी पूंजी निवेश के राजनीतिक परिणामों के बारे में चेतावनी दी। यह कहा गया कि विदेशी पूंजी ने निहित स्वार्थों को जन्म दिया था, जिन्होंने धीरे-धीरे प्रशासन पर अपना अधिकार जमा लिया था। एक देश जो पहले से ही विदेशी शासन के अधीन था, उसमें यह खतरा कई गुना अधिक था, क्योंकि पूंजी लगाने वाले हमेशा विदेशी राज की सुरक्षा और उसकी स्थिरता की मांग करते थे। जैसा कि 23 सितंबर 1889 के *हिंदू* में जी. सुब्रामनिया अय्यर ने संकेत किया :

> जिस देश में विदेशी पूंजी लगा दी जाती है, वहां उस देश का प्रशासन बांड-धारकों की चिंता का विषय बन जाता है .... (यदि) उस देश में विदेशी पूंजीपतियों के प्रभाव को बढ़ने दिया जाए, तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सफलता के सभी अवसरों को अलविदा कहना पड़ेगा। उसकी आवाज 'साम्राज्य खतरे में है' के शोर में डूब जाएगी। विदेशी पूंजीपति, निश्चित रूप से शोर मचाएंगे।

राष्ट्रवादियों ने कहा कि यदि विदेशी पूंजी की आवश्यकता थी तो भारत को केवल

पूंजी का आयात करना चाहिए था न कि पूंजीपतियों का। वे 'उद्यम-पूंजी' के स्थान पर विदेशी पूंजीऋण के पक्ष में थे। जबकि विदेशी उद्यमी पूंजी मिलने वाले संपूर्ण मुनाफे पर कब्जा जमा लेते थे और 'संपूर्ण क्षेत्र पर' अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते थे, वहीं ऋणदाताओं को केवल अपने कर्ज पर ब्याज लेने का अधिकार होगा और धीरे-धीरे मूल धन को वापस कर दिया जाएगा।

XIII

सकारात्मक उपायों की बात करते हुए, राष्ट्रवादियों ने कहा कि शुल्क संरक्षण और सक्रिय सरकारी समर्थन ही दो ऐसे महत्वपूर्ण तरीके थे जो औद्योगीकरण और आर्थिक विकास को बढ़ावा दे सकते थे। उनका विश्वास था क्योंकि भारतीय पूंजीपति वर्ग कमजोर था इसलिए सरकारी सहायता के बिना उसका विकास कठिन था, क्योंकि उसे संकुचित बाजार की अनिश्चतताओं और उद्यम के नए क्षेत्र का सामना करना पड़ता था। उन्होंने कहा कि विकास के खाके का दूसरा रुख यह था कि एक अविकसित देश में सरकार के लिए आर्थिक विकास में सक्रिय सहायता देना जरूरी था। और सब से अच्छा तरीका उद्योग और कृषि को सीधी सहायता देना था।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, राष्ट्रवादी शुल्क-संरक्षण के संबंध में सामान्य तर्क ही देते थे, परंतु, सरकार की भूमिका का उन्होंने न केवल शक्तिशाली ढंग से बल्कि कुछ मौलिकता के साथ चित्रण किया।[80] उन्होंने कहा कि निम्नलिखित कुछ तरीकों से सरकार सहायता दे सकती थी :

(1) राज्य अथवा वित्तनिगमों द्वारा उद्यमियों को कम ब्याज पर कर्ज देकर आंतरिक निजी पूंजी की कमी को पूरा कर सके।

(2) भारतीय पूंजीपतियों की 'झिझक' को दूर करने के लिए उनके उद्यमों को सुरक्षा और सहायता प्रदान करके, और जिस प्रकार रेल कंपनियों को गारंटी दी गई थी उसी प्रकार उन्हें भी न्यूनतम मुनाफे की गारंटी देकर।

(3) राज्य की मदद, उसके निर्देशन तथा नियंत्रण में संयुक्त पूंजी के बैंकों और इसी प्रकार की दूसरी कर्ज देने वाली संस्थाओं के विकास द्वारा बिखरी हुई आंतरिक पूंजी को सक्रिय बना कर।

(4) सरकार द्वारा संचालित कृषि के लिए कर्ज देने वाली बैंकों को संगठित करके।

(5) भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी पूंजी को मिलाकर, और भारतीय पूंजी को विदेशी पूंजी के वर्चस्व से बचाने के लिए, विदेशी पूंजी का अपने खाते में आयात करके उसे भारतीय पूंजीपतियों को कर्ज के रूप में दिया जाए।

(6) जब किसी क्षेत्र में स्थानीय पूंजी के निवेश की आशा न हो तब वहां सरकारी सहायता से उद्योग लगाए जाएं। जोशी और नौरोजी ने भी यह सुझाव दिया कि जिन उद्योगों में भारी विदेशी पूंजी की आवश्यकता है, उन्हें सरकार चलाए। ऐसी स्थितियों में, राज्य को अपने राजस्व की जमानत पर विदेशों से कम ब्याज पर कर्ज लेना चाहिए और उसे सार्वजनिक कामों, खनन, उद्योगों इत्यादि में लगाना चाहिए।

(7) अधिक सिंचाई-सुविधाएं प्रदान की जाएं।

(8) सरकार भारतीय निर्माताओं से सरकारी और रेलों के स्टोरों का माल खरीदे।

(9) औद्योगिक और वाणिज्य संबंधी जानकारी प्राप्त की जाए और उसका प्रसार किया जाए।

(10) तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा दिया जाए।

(11) पूंजी के निकास को बंद किया जाए।

XIV

भारतीय राष्ट्रवादियों को भू-स्वामित्व संबंधी दृष्टिकोण उनके आर्थिक चिंतन की शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी थी। उन्हें, वास्तव में, ऊंची दर पर लगान निर्धारण, पुनर्निर्धारण और लगान वसूली की कठोर व्यवस्था पर आधारित सरकारी भू-राजस्व की नीति की आलोचना करने में कोई खास कठिनाई का समाना नहीं करना पड़ा। उनका विश्वास था कि यह नीति भूमि में निजी संपत्ति के उदय और कृषि में निजी पूंजी के निवेश में बाधक थी। इसका एकमात्र उपाय यही था कि सरकार की भू-राजस्व संबंधी मांग को स्थायी रूप से सीमित कर दिया जाए ताकि "संपत्ति का जादू" स्वतंत्र रूप से कृषि में अपना कमाल दिखा सके। तथापि, उदीयमान कृषि संबंधी समस्या की भारतीय समझ, कुछ अपवादों को छोड़कर, इस अस्पष्ट सामान्यीकरण के आगे नहीं बढ़ी। अधिकांश भारतीय, वास्तव में, भू-स्वामित्व और कृषि-संबंधों के नए उदीयमान ढांचे के महत्व को समझने में असफल रहे, हालांकि वे पट्टेदारों और कर्ज के बोझ से दबे काश्तकारों के प्रति अस्पष्ट मानवतावादी शब्द अवश्य बोलते थे। इसके साथ ही, मुश्किल से ही कभी जमींदारों और भू-स्वामियों के हितों के मुकाबले में पट्टेदारों के हितों का ध्यान रखा गया।

कुछ भारतीयों ने जमींदारी-व्यवस्था की आलोचना की। इसकी आलोचना करने वाले भारतीयों में युवा बंकिम चंद्र चटर्जी, और आर.सी. दत्त, जस्टिस रानाडे और पृथ्वीस चंद्र राय शामिल थे। जी.वी. जोशी ने "रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भू-स्वामियों के उदय" की कड़ी आलोचना की। इसी प्रकार, 1880 के दशक में बंगाल टीनेंसी बिल पर

हुए विवाद के दौरान बंगाल में राष्ट्रवादियों के एक शक्तिशाली भाग ने, जिसमें इंडियन एसोसिएशन और सुरेंद्र नाथ बनर्जी भी शामिल थे, परिवर्तनवादी पट्टेदार समर्थन नजरिया अपनाया। कुछ भारतीयों ने, उदाहरण के लिए 'सोम प्रकाश' (24 जुलाई और 27 नवंबर 1881) और *इंडियन स्पैकटेटर* (2 अक्तूबर 1881) के संपादकों ने जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की मांग भी की।

कुछ भारतीय राष्ट्रवादियों ने और सबसे अधिक रानाडे ने प्रचलित अर्ध-सामंतवादी भू-स्वामित्व संबंधों का विरोध किया और पूंजीवादी आधार पर उनकी पूर्ण पुनर्संरचना की वकालत की। इस संबंध में रानाडे प्रशा के भूमि कानून से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। पट्टेदारों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक अल्पकालिक उपाय के रूप में पट्टेदारी कानून का समर्थन करने के बावजूद उनका यह विश्वास था कि यह कानून भू-स्वामित्व संबंधों के पुराने ढांचे को, उसे और अधिक जटिल बनाते हुए, बढ़ावा देता है जिससे जमींदारों और पट्टेदारों में उद्यम की भावना में और कमी आ जाती है। उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वह कृषि में सुस्पष्ट पूंजीवादी संबंध अथवा जैसा कि उन्होंने कहा, 'निजी और आत्मनिर्भर संपत्ति पर आधारित सबंधों की स्थापना द्वारा 'मरहमपट्टी' करने के बजाए 'परिवर्तनवादी सुधार' लाए। उनके पूंजीवादी कृषि के माडल के दो पक्ष थे : अधिकांश किसान स्वतंत्र, छोटे काश्तकार-स्वामी होने चाहिए, जबकि उच्च स्तर पर पूजीपति किसानों का एक बड़ा वर्ग होना चाहिए जो जमींदारों के विपरीत, ब्रिटिश जमींदारों अथवा जर्मन भू-स्वामियों के समान पूर्ण रूप से अपनी भूमि के मालिक हों। इसलिए उन्होंने यह तर्क दिया कि भारत में कृषि संबंधों का भावी विकास दो आधारभूत कृषक-वर्गों पर आधारित होना चाहिए : (1) छोटे काश्तकारों का एक बड़ा वर्ग जो सभी प्रकार के सरकारी और जमींदारी बंधनों से मुक्त हो और जिसे एक स्थायी और कम भू-राजस्व अदा करना पड़े और जिसके लिए कृषि-बैंकों से सस्ते कर्ज का भी प्रावधान हो; और (2) पूंजीपति किसानों और जमींदारों का एक बड़ा वर्ग जिसका पट्टेदारी अधिकार इत्यादि से मुक्त होकर, अपनी भूमि पर पूर्ण कब्जा हो और जो पूंजी का निवेश करने और कृषि की आधुनिकतम तकनीकों का उपयोग करने की स्थिति में हो। इस वर्ग को तत्कालीन जमींदारों का पूंजीपति भू-स्वामियों में परिवर्तन करके और काश्तकारों की उच्च श्रेणी को भूमि को अधिग्रहण द्वारा एक नया स्तर प्रदान करके अस्तित्व में लाया जाना था।[81]

दूसरी ओर, जी.वी. जोशी छोटे काश्तकारों द्वारा कृषि किए जाने के पक्ष में थे जिस रैयतवाड़ी और जमींदारी क्षेत्रों, दोनों में, शक्तिशाली पट्टेदारी कानून, सस्ते कर्ज की उपलब्धता और कम लगान पर कायम किया जाना था।[82]

कुछ प्रसिद्ध भारतीय राष्ट्रवादियों ने कृषि के विकास और आधुनिक उद्योग के विकास को एक दूसरे के साथ शक्तिशाली और सजीव रूप से जोड़ने पर बल

दिया। दोनों प्रकार के विकासों को एक साथ होना चाहिए, नहीं तो कृषि के विकास की ओर किया गया कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता था। उदाहरण के लिए, जब तक भूमि के लिए भारी प्रतिस्पर्धा रहेगी किसी प्रकार का कानून भी भूमि की इच्छा रखने वाले काश्तकारों को भारी लगान अदा करने से नहीं रोक पाएगा। केवल उद्योग ही कृषि पर आश्रित आबादी को रोजगार मुहैया कराके कृषि के विकास के लिए परिस्थितियां उत्पन्न कर सकते थे।

XV

जहां तक आर्थिक विकास में आंतरिक व्यवधानों का प्रश्न था, भारतीय राष्ट्रवादियों ने एक बार फिर ब्रिटिश विचारों के प्रति अपनी असहमति जताई। उन्होंने इस बात का बड़ी कड़ाई से खंडन किया कि भारत की विशाल आबादी एक ऐसा ही व्यवधान थी।

उन्होंने इस बात से भी इनकार किया कि भारत की आबादी बहुत अधिक है अथवा आबादी में वृद्धि की दर बहुत अधिक है। बल्कि भारत के आर्थिक अविकास की वजह से उसकी आबादी अधिक दिखाई देती थी। इसी प्रकार, उन्होंने इस विचार को भी मानने से इनकार कर दिया कि भारतवासी अपव्ययी, फिजूलखर्च और आलसी थे।

आंतरिक पूंजी की कमी को आर्थिक विकास की एक अड़चन के रूप में लिया गया, लेकिन उसे भारतीय अर्थव्यवस्था की एक अंतर्निष्ट विशेषता नहीं माना गया। भारतीयों को विश्वास था कि देश में संभावित पूंजी की प्रचुरता है; समस्या केवल उसकी क्रियाशीलता और उपयोग की है। अभी तक इस पूंजी का उपयोग सरकारी खर्चों, ब्रिटेन को किए जा रहे पूंजी निकास, जखीराअंदोजी और जमींदारों और राजाओं के गैर-आर्थिक खर्चों में किया जाता था। उन्होंने यह भी कहा कि देश में आधुनिक कर्ज देने वाली संस्थाओं और संयुक्त पूंजी के पूंजीवादी उद्यमों का भी अभाव था।

राष्ट्रवादियों में से कुछ समाज सुधारकों ने जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, धार्मिक आदर्शों, रीति रिवाजों, और परंपराओं जैसी प्राचीन सामाजिक संस्थाओं के नकारात्मक प्रभाव का उल्लेख किया। विशेषकर, उन्होंने देश में उद्यम की भावना की कमी पर पर दुख प्रकट किया। उनके विचार में उन सबका उपाय यह था कि सामाजिक संस्थाओं तथा लोगों के दृष्टिकोण में आमूलचूल परिवर्तन किया जाए। जैसा कि मैंने किसी और स्थान पर कहा है, राष्ट्रवादियों के आर्थिक चिंतन, लेखन और आंदोलन में इस प्रश्न को अधिक महत्व नहीं दिया गया।[83]

XVI

हर समय ब्रिटिश आर्थिक नीतियों अथवा विचारों की आलोचना करते हुए और प्रत्येक मुद्दे पर अपने उपाय प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रवादी एक ही प्रश्न करते थे : प्रशासक इन सब समस्याओं पर ध्यान क्यों नहीं देते और सही नीतियां क्यों नहीं अपनाते? प्रत्येक मामले में उन्होंने पाया कि कोई न कोई ब्रिटिश हित रुकावट बन जाता था और सबसे ज्यादा. भारतीय औद्योगिक विकास के हितों को ब्रिटिश व्यापार, उद्योग और पूंजी के हितों के अधीन कर दिया जाता था। धीरे-धीरे, उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रिटिश आर्थिक नीतियों और विचारों का भारत में ब्रिटिश शासन की प्रकृति और चरित्र से बड़ा घनिष्ठ संबंध था और यह कि राज्य का मुख्य उद्देश्य भारत में ब्रिटिश हितों को पूरा करना था, दूसरे शब्दों में, भारत का आर्थिक शोषण करना था।[84] जैसा कि 29 फरवरी 1903 को *इंडियन पीपुल* में युवा बुद्धिजीवी सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा

> लार्ड कर्जन द्वारा बताया गया प्रशासनिक कार्य केवल शोषण का एक साधन है। कुशल प्रशासन के बिना व्यापार में समृद्धि नहीं आ सकती, और जब तक व्यापार में लाभ न हो प्रशासन की चिंता करना व्यर्थ है। इस प्रकार, व्यापार मंडल की सहमति और आदेशानुसार भारत सरकार का संचालन होता है, और यही "गोरे लोगों का बोझ" है।

यह विश्वास कि ब्रिटिश शासन आर्थिक विकास को कोई बढ़ावा नहीं देता था और उसके रास्ते में एक बाधा बना हुआ था, धीरे-धीरे, इस राजनीतिक धारणा की ओर ले गया कि केवल भारत सरकार ही आर्थिक विकास की अनुकूल परिस्थितियां पैदा कर सकती थीं। 1905 आते-आते सभी प्रमुख राष्ट्रवादी और आर्थिक लेखकों और विचारकों द्वारा स्वराज्य की मांग उठाई गई।

सारांश यह कि राष्ट्रवादी लेखकों का मुख्य सैद्धांतिक योगदान यह था : (1) उन्होंने एक ऐसे साम्राज्यवाद की प्रकृति और आर्थिक स्वरूप का विश्लेषण किया जो अब लूट और वसूली अथवा व्यापार के असभ्य तरीकों द्वारा अपना कार्य नहीं करता था, बल्कि स्वतंत्र व्यापार और पूंजी निवेश के अधिक जटिल तरीके अपनाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था; (2) 19वीं शताब्दी का अंत आते-आते उन्होंने अपने विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद अपने अनेक रूपों में भारत के आर्थिक विकास में मुख्य बाधा बना हुआ था; और (3) उन्होंने इस तथ्य को भी समझा कि आर्थिक विकास को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता थी जो इसकी सहायता कर सके। उनकी असफलता का कारण यह था कि उन्होंने आंतरिक सामाजिक-आर्थिक संरचना, विशेषकर भूमि संबंधी संरचना के महत्व को नहीं पहचाना।

इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपना संपूर्ण आर्थिक चिंतन एक पूंजीवादी आर्थिक दृष्टिकोण की परिधि के अंदर ही किया। उन्होंने कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि ऐसे समय में जबकि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक उपनिवेश के रूप में विश्व की आर्थिक व्यवस्था से जोड़ दिया था तब क्या उसका विकास, सरकारी सहायता दिए जाने के साथ ही राष्ट्रीय पूंजीवादी व्यवस्था के आधार पर हो सकता था। जहां राष्ट्रीय विचारधारा को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलन और आजादी के बाद एक प्रमुख आर्थिक प्रयास की ओर ले जाना था, वहीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लंबे समय तक पड़े प्रभाव, और संकुचित वर्ग-हितों के प्रभाव के कारण राष्ट्रीय विचारधारा का ह्रास हुआ; इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी युग के उपरांत भारतीय नेतृत्व के प्रयत्नों में निरंतरता नहीं रही और अंत में उन्हें त्याग दिया गया। इस ह्रास की एक अहम वजह यह थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पिछले राष्ट्रवादी नेतृत्व के सैद्धांतिक दृष्टिकोण और तरीके को छोड़ दिया गया। आजादी के बाद के नेतृत्व ने उन तथाकथित आधुनिक सिद्धांतों को अपनाया जो 'शुद्ध' और 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण का नाम लेकर, साम्राज्यवाद की आर्थिक भूमिका, अर्धसामंती कृषि-संबंधों और राज्य-सत्ता और आर्थिक नीति के बीच गहरे संबंधों से ध्यान हटाते थे। पर इन तथ्यों की जांच को अर्थशास्त्रियों के लिए छोड़ देना चाहिए।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. अधिकांश ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों ने केवल मुद्रा की समस्या पर अधिक ध्यान दिया. परंतु मुद्रा पर हुई चर्चा में मुश्किल से ही कभी विकास की समस्याओं पर ध्यान दिया जाता था.
2. यहां पर उल्लेख किया जा सकता है कि विशेषकर 1880 के पश्चात, भारत पर ब्रिटिश प्रकाशनों में न केवल आर्थिक रचनाओं बल्कि दूसरे प्रकार की रचनाओं की भी भारी कमी थी.
3. हमने, वास्तव में, विश्लेषणात्मक सुविधा के लिए दोनों तरफ से विरोधी मतों को शामिल नहीं किया है. आरंभ से ही हिंडमैन, कॉनल, ऑसबॉर्न और डिगबी जैसे कुछ गिने चुने ब्रिटिश लेखकों का नजरिया भी राष्ट्रवादियों जैसा था; और कुछ भारतीय लेखक सरकार की हां में हां मिलाते थे. परंतु, ब्रिटिश लेखक साम्राज्यवाद-विरोधी थे जबकि भारतीय लेखक साम्राज्यवादी आर्थिक नजरिए का समर्थन करते थे.
4. भारतीयों के लिए देखिए, विपन चंद्रा, *दि राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया* (न्यू देहली, 1966), पृ. 5-7, 24-25, 27. ब्रिटिश के लिए देखिए जॉन एंड रिचर्ड स्ट्रेची *'दि फाइनेन्सेस एंड पब्लिक वर्क्स आफ इंडिया, 1869-1881* (1882), पृ. 429; एम.इ. ग्रांट डफ सीआर *(दि कंटेंपोररी रिव्यु),* फरवरी, 1887, पृ. 192 और सितंबर, 1891, पृ. 328.
5. *दि इवोलुशन आफ इंडिया एंड पाकिस्तान* की भूमिका, 1858 से 1947, *सेलेक्ट डाक्युमेंट्स,* 1962 (1965 पुनर्मुद्रण) viii.
6. *दि एडिनबरा रिव्यु,* जुलाई 1882, पृ. 68. (*दि क्वार्टली रिव्यु*) अप्रैल 1880, पृ. 491-92 में संपादक का लेख भी देखिए.

7. *दि फाइनेंस एंड पब्लिक वर्क्स आफ इंडिया,* पृ. 6 और 8, पृ. 7, 11, 324-25 भी देखिए.
8. एच.एच. मेन, "इंडिया", *दि रेन आफ कुइन विक्टोरिया,* (संपादक) थामस हैनरी वार्ड, खंड 1(1887), पृ. 486, 494, 518 और 524. आर.डी. मैनगिल्स संपादक *रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 96; टी. माल्टबी, *क्वाटरली रिव्यु,* जुलाई 1866, पृ. 207-8; *दि कैरेक्टर आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया;* डब्ल्यु. आर. (*दि बेस्टमिंस्टर रिव्यु*), जुलाई 1868, पृ. 22; *दि फ्युचर आफ ब्रिटिश एम्पायर,* डब्ल्यु. आर. जुलाई 1870, पृ. 51; डब्ल्यु. ली. वार्नर, *क्वार्टली रिव्यु,* अप्रैल 1879, पृ. 386-87 और जुलाई 1881, पृ. 58, 63, 74; एल. जे. जेनिंग्स, *क्वार्टली रिव्यु,* अप्रैल 1885, पृ.. 504; एम.इ. ग्रांट डफ सी. आर. जनवरी 1887, पृ. 12-13; एल. ल्याल, *एड. रिव्यु*, जनवरी 1884, पृ. 9, जनवरी 1889, पृ. 421 और जनवरी 1895, पृ. 17; चार्ल्स डब्ल्यु. डिल्क, *प्राब्लम्स आफ ग्रेटर ब्रिटेन* (1890) खंड II, पृ. 21; जे. ए. बेंस, क्यु.आर. अप्रैल 1889, पृ. 313-14, 321; जान स्ट्रेची, 'इंडिया', 1894 संपादन पृ. 301, 303. बिपन चंद्रा भी देखिए पृ. 28-29.
9. डब्ल्यु.डब्ल्यु. हंटर, *दि इंडिया आफ दि कुइन एंड अदर ऐसेज* (लंदन 1903), पृ. 123. पृ. 125-26, 147 भी देखिए.
10. वही, पृ. 4. इसी प्रकार रिचर्ड टेंपिल ने भी, हालांकि सावधानीपूर्वक, यही आशावादी नजरिया अपनाया, *'इंडिया इन 1880* (तीसरा संस्करण, 1881), vi, पृ 93 और आगे पृ. 493, 495.
11. *आफिशियल पेपर्स* (1926), पृ. 289.
12. सामान्य राय यह थी कि प्रगति का दौर 1850 के दशक से आरंभ हो चुका था, और इससे पहले का समय राजनीतिक और प्रशासनिक दृढ़ीकरण का समय था. उदाहरण के लिए देखिए, *इंगलिश रूल इन इंडिया,* डब्ल्यु. आर. जुलाई 1861, पृ. 123; आर.डी. मैंगिल्स, संपादक *रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 97-98, *इंडियन वर्दीज,* डब्ल्यु.आर. जनवरी 1868 पृष्ठ. 161; डब्ल्यु.आर. मैंसफील्ड, संपादक *रिव्यु,* अप्रैल, 1867, पृ. 404; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 1 और आगे; जी. कैंपवैल, संपादक '*रिव्यु*, जुलाई 1882, पृ. 68, मेन पृ. 484-85.
13. *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 96-97 (उसने सैनिक बगावत की फ्रांसीसी क्रांति से तुलना की : "इसने एक अल्पकालिक और कम कष्टदायक प्रक्रिया के द्वारा भारत के लिए वही किया जो 1793 में क्रांति ने फ्रांस के लिए किया था..... इस प्रचंड तूफान ने वातावरण साफ कर दिया है और प्रगति तथा विकास को सरल और सुरक्षित बना दिया है", पृ. 97-98); *इंगलिश रूल इन इंडिया,* डब्ल्यु.आर. जुलाई 1862, पृ. 113, 131. 137-38; टी. माल्टबी, क्यू.आर. जुलाई 1866, पृ. 214 और आगे; टैंपिल, पृ. 5, 501-2; डब्ल्यु. ली वार्नर, क्यू.आर. जुलाई 1881, पृ. 63-64; जे. एंड आर. स्ट्रेची, पृ. 1 और आगे, 185, 325; जी. कैंपबैल, *एडिनबरा रिव्यु,* जुलाई, 1882, पृ. 67-68; एल.जे. जेनिंग्स, क्यु.आर. अप्रैल 1885, पृ. 504; मेन, पृ. 486, चार्ल्स डिल्क, पृ. 86; हंटर, पृ. 153.
14. बराबर यही बात कही गई. उदाहरण के लिए देखिए *दि करेक्टर आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,* 'डब्ल्यु आर' जुलाई 1868, पृ. 5-6; हंटर, पृ. 99 और आगे, 113, 124-25; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 11, 101-2; एल. जे. जेनिंग्स, 'क्यू.आर.', अप्रैल 1885, पृ. 504; मेन, पृ. 501; एफ.सी. चैनिंग, *इकानामिक रिव्यु,* जनवरी 1902, पृ. 121.
15 हंटर, पृ. 100 और आगे; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 11; मेन, पृ. 520; एल.जे. जैनिंग्स, 'क्यू. आर.' अप्रैल 1886, पृ. 454; जे. स्ट्रेची, पृ. 159.
16. एडम स्मिथ के लिए देखिए *थिअरीज आफ इकानामिक ग्रोथ* में जे.एम. लेटिच (इलिआनिस, 1960) बर्ट एफ. हासलिट्स, रिकार्डो के लिए देखिए डोनल्ड विंच, *क्लासिकल पालिटिकल इकानामी एंड कालोनीज* (1965), पृ. 60, 91.

17. *प्रिंसिपल्स आफ पालिटिकल इकानामी,* (संपादक) डब्ल्यु. जे. ऐशले, (1926 संस्करण), पृ. 18, 113-14, 121.
18. वही, पृ. 189, 701.
19. *मैनुअल आफ पालिटिकल इकानामी,* (1883 संस्करण) पृ. 87.
20. वही, पृ. 453.
21. वही, पृ. 87. इस बात पर अधिक बल दिया गया है.
22. पा.टि. में उल्लेखित सभी लेखकों ने यही कहा है नं. 34-39.
23. चार्ल्स डिल्क, 'ग्रेटर ब्रिटेन' (1868), पृ. 531; हटर, पृ. 97; टैंपिल, पृ. 497; जे.इ.सी. बोडली, 'क्यू. आर', अप्रैल 1890, पृ. 556; सी.पी. लूकस, जी.सी, लुइस के *एन ऐसे आन गवर्नमेंट आफ डिपेंडेंसीज* (1891 संस्करण) की भूमिका में यह बात कही गई.
24. मिल पृ 121-22.
25. जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 312, 316-17, 324. और देखिए आर. डी. मेंगिल्स *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 100-1; *दि फ्युचर आफ ब्रिटिश एम्पायर,* डब्ल्यु.आर. जुलाई 1870, पृ. 50-51; टी. माल्टबी, 'क्यू. आर.' जुलाई 1866, पृ. 207; हंटर, पृ. 12 और आगे; टैंपिल, पृ. 309, 311, 316; *दि रिलेशन आफ सिलवर टु गोल्ड ऐज कॉइन,* 'डब्ल्यु. आर.' जनवरी 1880, पृ. 136; डब्ल्यु. ली. वार्नर, 'क्यू. आर.' जुलाई 1881, पृ. 61; जे. स्ट्रेची, पृ. 155, 304.
26. मेन, पृ. 521; जे. स्ट्रेची, पृ. 146. और देखिए हंटर पृ. 125; टैंपिल, पृ. 91, फासेट, पृ. 61.
27. टैंपिल, पृ. 91; एम.इ. ग्रांट डफ सी.आर., जनवरी 1887, पृ. 17-18.
28. मिल, पृ. 922.
29. एच. सिगविक, *दि प्रिंसिपल्स आफ पालिटिकल इकानामी* (1883), खंड III, अध्याय V; ए. मार्शल *प्रिंसिपल्स आफ इकानामिक्स* (आठवां संस्करण, लंदन, 1925), पृ. 465; एफ. वाई. ऐजवर्थ, *इकानामिक जरनल,* 1894.
30. राबर्ट गड्सजेम्स, *लार्ड रेंडल्फ चर्चिल* (1959), पृ. 138.
31. यहां यह बताना दिलचस्प होगा कि उस समय के ब्रिटिश अधिकारियों ने न तो इस विचार का और न ही फेबियनवाद का समर्थन किया, जबकि इससे पूर्व भारत मे उपयोगितावाद के काफी समर्थक मौजूद थे. इससे स्पष्ट होता है कि ब्रिटेन में प्रचलित विचार भारत में ब्रिटिश नीतियों के निर्माताओं को उस स्थिति में ही प्रभावित कर सकते थे जब उनसे किसी न किसी रूप में भारत में साम्राज्यवादी ढांचे को समर्थन मिलता था.
32. जे.और आर. स्ट्रेची, पृ. 429; फिर वही, ix, पृ. 3, 7, 86, 105, 401-2; आर डी. मैंगिल्स, *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 118 और आगे; जान क्लार्क मार्शमैन, 'क्यू. आर.', जुलाई 1868, पृ. 77; फासेट 61, मेन, पृ. 491-92; ए. मार्शल, 'प्रिंसिपल्स', पृ. 225.
33. हंटर, पृ. 98-99, 159; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 105 और आगे; मेन, पृ. 491; टैंपिल, पृ. 263; जे. स्ट्रेची, पृ. 171 और आगे.
34. मिल, पृ. 189-90.
35. 'डब्ल्यु. आर', पृ. 222-23.
36. *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1864, पृ. 98.
37. 'क्यू. आर.', जनवरी 1864, पृ. 98. उनका निबंध भी जुलाई के 'क्यू. आर' में पृ. 248-50.
38. 'क्यू. आर.', जनवरी 1887, पृ. 15.
39. 'स्पीचेज' खंड I (1900), पृ.. 34. *इंगलिश रूल इन इंडिया* भी देखिए. 'डब्ल्यु.आर.', जुलाई 1862, पृ. 138; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 404, 425; टैंपिल, पृ. 106.

40. जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 405; टैंपिल, पृ. 88; जे. स्ट्रेची, पृ. 159-60.
41. मिल, पृ. 738-39. संपूर्ण बहस के लिए देखिए पृ. 724-39. बैंथम, वेकफील्ड और टारेंस के इसी प्रकार के विचारों के लिए देखिए बिंच, पृ. 33, 77-81, 87.
42. *डब्ल्यु. आर.*, जुलाई 1862, पृ 136-38.
43. आर. डी. मैंगिल्स, *एडिनबरा रिव्यु*, जनवरी 1864, पृ. 96 और आगे; *दि फ्युचर आफ इंडिया*, डब्ल्यु. आर. जुलाई 1890, पृ. 63-65; टैंपिल, पृ. 496; हर्बर्ट टेलर, सी.आर. मार्च 1881, पृ. 476; सी. पी. लूकस, पृ. 1.
44. स्पीचेज खंड (III) (1904), पृ. 134.
45. *क्वार्टर्ली रिव्यु*, जुलाई 1868, पृ. 48.
46. टैंपिल, पृ. 497.
47. *दि फ्युचर आफ दि ब्रिटिश एम्पायर*, डब्ल्यु.आर. जुलाई, 1870, पृ. 64-65; ए.एन. हेगार्ड, सी.आर, अगस्त 1883, पृ. 267; गोल्डविन स्मिथ, सी.आर., अप्रैल 1884, पृ. 526; जी. बेडन पावेल, सी. आर. अक्टूबर 1886, पृ. 499; एम.इ. ग्रांट डफ, सी.आर., जनवरी 1887, पृ 15; मेन पृ. 48; यहां ग्रांट डफ का उद्धरण उल्लेखनीय है : "यदि ब्रिटिश संसद अनेक प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा भारतीय स्वराज्य से संबंधित दिए गए सुझावों का तिरस्कार नहीं करती तो भारत को दिए गए करोड़ों पौंड करोड़ों पैस के बराबर भी नहीं रहेंगे".
48. सर जार्जपेश के अनुसार, 1901 में भारत और श्रीलंका को दी गई ब्रिटिश पूंजी 365 मिलियन पौंड थी. इसमें से केवल 2.5 मिलियन पौंड का वाणिज्यिक और औद्योगिक उपक्रमों में निवेश किया गया था. *जरनल आफ दि रायल स्टेटिस्टीकल सुसाइटी*, भाग II, जनवरी 1911, पृ. 180.
49. तुलना के लिए देखिए एल.एच., *दि माइग्रेशन आफ ब्रिटिश कैपीटल टु 1875* (लंदन, 1927).
50.अ. यह स्वीकार करते हुए कि भारतीयों के पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी नहीं थी, रिचर्ड टैंपिल ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया : देशीय पूंजी का क्या हुआ? परंतु, उनके विश्लेषण में अधिक आर्थिक तर्क नहीं था. देखिए पृ. 93-97.
50.ब. हंटर, पृ. 98, 116; जे. और आर. स्ट्रेची, पृ. 16; टैंपल, पृ. 82, II , जून 1902, पृ. 215-20, 269.
51. देखिए ऊपर पा.टि. 33.
52. हंटर, पृ. 112 और आगे; ए. ल्याल, *एडिनबरा रिव्यु*, जनवरी 1884, पृ. 28-29.
53. वही, पृ. 28-34, इस बात पर जोर दिया गया.
54. वही, पृ. 34.
55. हंटर, पृ. 224 और आगे, सी. डब्ल्यु. मैकमन, 'सी.आर.', जनवरी 1890, पृ. 82 और आगे. जिन लेखकों की हम यहां चर्चा कर रहे हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे लेखकों ने "शोषक जमींदारों" के लिए भूमि खरीदने वाले पट्टेदार-कब्जेदार-बिचौलियों के बजाए वास्तविक काश्तकारों की सुरक्षा के लिए कदम उठाने को कहा. देखिए फ्लोरेंस नाइटेंगिल, 'सी.आर.' अक्टूबर 1883, पृ. 596; और वी. नैश, 'सी. आर.' नवंबर 1900, पृ. 690.
56. जे. स्ट्रेची, पृ. 333. वे भी मूल रूप से विकास के पूर्व सिद्धांत के समर्थक थे. देखिए पृ. 262.
57. टैंपिल, पृ. 115; ए. ल्याल, *एडिनबरा रिव्यु*, जनवरी 1884, पृ. 32; हंटर, पृ. 24; एम.इ.डी. प्रोथेरो, 'क्यू. आर' अक्टूबर 1895, पृ. 446.
58. इसकी तुलना पिछले शासकों से की गई जिनके बारे में यह कहा जाता था कि वे संपूर्ण अधिशेष और कभी उससे भी ज्यादा पर कब्जा कर लिया करते थे.
59. विस्तृत बहस के लिए देखिए डब्ल्यु.ली. वार्नर, 'क्यू.आर.' अप्रैल 1879, पृ. 380-92. इस विचार के विभिन्न पहलुओं को 'डब्ल्यु.आर.' में (जनवरी 1880) पृ. 196 पर स्पष्ट किया गया है; डब्ल्यु.

ब्राडफुट, 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1897, पृ. 558; हंटर पृ. 146; टैंपिल, पृ. 221-22; आई. गेशबर्नर, डब्ल्यु.आर., जनवरी 1898, पृ. 65; एस. एस. थार्नबर्न, *प्राब्लम्स आफ इंडियन पावर्टी* (1902) पृ. 9 क्रमशः.

60 डब्ल्यु. ली. वार्नर, 'क्यू. आर.' अप्रैल 1879, पृ. 390, 395; 'डब्ल्यु. आर.' जनवरी 1880, पृ. 196, टैंपिल, पृ. 16-17; डब्ल्यु. ब्राडफुट, 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1897, पृ. 559; एफ.सी. चैनिंग, *इकानामिक रिव्यु,* अक्टूबर 1900, पृ 456.

61 'क्यू.आर.' अप्रैल, 1879, पृ. 391. विस्तृत विवरण के लिए देखिए वहीं पृ. 380, 383-84, 394-96, 401 और देखिए ए. ल्याल, *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1884, पृ. 32-33; *हंटर*, पृ. 162.

62. डब्ल्यु.ली. वार्नर, 'क्यू. आर.' अप्रैल 1879, पृ. 377 क्रमशः, ए. ल्याल *एडिनबरा रिव्यु,* जनवरी 1884, पृ. 33; डब्ल्यु. ब्राडफुट 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1897, पृ. 558-59; एम.इ.डी. प्रोथेरो भी देखिए, 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1895, पृ. 446 क्रमशः, और एल. गेशबर्नर, 'डब्ल्यु. आर.' जनवरी 1898, पृ. 65-66.

63 *हंटर*, पृ. 4, 42, 99, 133-34, 138 पा.टि. 146-47, 184-85; आर. गिफिन, *इकानामिक इक्वारीज एंड स्टडीज* (1904) खंड II पृ.18,20 230, 238; मेन, पृ. 518 पा.टि., डब्ल्यु. नाइटन, सी आर, दिसंबर 1880, पृ. 896, डब्ल्यु.ली. वार्नर, 'क्यू. आर.' जुलाई 1881, पृ 55 पा. टि., एम इ. डी. प्रोथेरो, 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1895, पृ. 449; *दि डवलपमेंट आफ इंडिया.* डब्ल्यु.आर. मार्च 1888, पृ. 348, जे. डी. एनडर्सन, 'डब्ल्यु. आर.', अप्रैल, पृ. 456.

64 टैंपिल, पृ. 80 क्रमशः जे. स्ट्रैची, पृ. 304-5.

65 वास्तव में उन्होंने दूसरे संदर्भों में भारत की सामाजिक कुरीतियों, अर्थात सामाजिक सुधार के कारण हो रही अपव्ययता के संबंध को विस्तार से लिखा.

66 *हंटर*, पृ. 146; मेन, पृ. 54; एस. स्मिथ, 'सी आर.' दिसंबर, पृ. 70-71.

67 मार्शल टिप्पणी 29, पृ. 225.

68. टैंपिल, पृ. 100; '*दि डवलपमेंट आफ इंडिया,* 'डब्ल्यु. आर.' मार्च 1888, पृ 318.

69. *इंगलिश रूल इन इंडिया,* 'डब्ल्यु.आर.' जुलाई 1862, पृ. 121; डब्ल्यु ली वार्नर, 'क्यु. आर.' जुलाई 1881, पृ 62-63; हंटर पृ. 32 क्रमशः टैंपिल, अध्याय VII

70. टेंपिल, पृ. 447, 450; हंटर, पृ. 167, 176, 182; ए. मार्शल, *आफिशियल पेपर्स,* पृ. 290 क्रमशः.

71. अधिकांश ब्रिटिश लेखकों ने यह बात कही, उदाहरण के लिए देखिए हंटर, पृ. 135 क्रमशः जान एडी, *एडिनबरा रिव्यु* 1001 जनवरी 1880, पृ. 89; *दि पावर्टी आफ इंडिया,* डब्ल्यु.आर. नवंबर 1887, पृ. 999-1004; कर्जन, स्पीचेज खंड IV, पृ. 37.

72. उदाहरण के लिए देखिए हंटर, पृ. 184-85, 191; टैंपिल, पृ. 493.

73. डब्ल्यु. ली वार्नर, 'क्यु.आर.' जुलाई 1881, पृ. 74-75; टैंपिल, पृ. 447, 450; ए. ल्याल, 'क्यू.आर.' अप्रैल 1893, पृ. 316, 'एडिनबरा रिव्यु' जनवरी 1897, पृ. 12-13; एम.इ.डी. प्रोथेरो, 'क्यू. आर.' अक्टूबर 1895, पृ. 440; एच.जी. कीन, डब्ल्यु.आर., अप्रैल 1897, पृ. 358-59.

74. वास्तव में, सही है कि अधिकतर ऐतिहासिक लेखन में अभी तक इन्हीं विचारों का अनुशरण किया जाता है. इसका मुख्य कारण यह है कि तथ्यों के नाम पर और 'समाजशास्त्रीय परिकल्पना से बचने के लिए, मूलतः समकालीन सरकारी रिकार्डों और लेखों पर निर्भर रह गया है. इसलिए, इन रचनाओं में सरकारी दृष्टिकोण की ही अभिव्यक्ति है.

75. 'ऐसेज', पृ. 99.

76. *सम इकानामिक आस्पेक्ट्स आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,* (1903), पृ. 357.

77. जी.वी. जोशी, 'राइटिंग्स एंड स्पीचेज' (पूना, 1912) पृ. 687-88; तिलक का उद्धरण राम गोपाल के लोकमान्य तिलक में (बंबई 1956), पृ. 145.

78. जोशी टिप्पणी, 77, पृ. 696.
79. *स्पीचेज एट पोर्ट्‌समाउथ इन इंडिया,* 20 मार्च 1903, पृ. 140.
80. यहां हम कह सकते हैं कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति मुश्किल से ही राष्ट्रवादियों द्वारा तैयार की गई नीति से आगे बढ़ी. इस संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने कोई नई बात नहीं कहीं, सिवाय इसके कि जिस कार्यक्रम को राष्ट्रवादियों ने राज्य द्वारा समर्थित पूंजीवाद कहा उसे उन्होंने पहले मिश्रित अर्थव्यवस्था और बाद में 'समाजवादी नमूना' कहा.
81. बिपिन चंद्रा, टि.4, पृ. 486 क्रमशः.
82. वही, 441-42.
83. वही, पृ. 84-85.
84. इस अहसास ने उन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्रियों जैसा दृष्टिकोण अपनाने में सहायता दी. इसी वजह से हालांकि उन्होंने पारंपरिक अर्थशास्त्रियों की कुछ बुनियादी धारणाओं का विरोध किया, तथापि उनका आर्थिक चिंतन पारंपरिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अनुरूप था. दूसरी, ओर एलफ्रेड मार्शल का उन पर मुश्किल से ही कोई प्रभाव पड़ा.

ग्रंथीय टिप्पणी : उन्नीसवीं सदी की ब्रिटिश पत्रिकाओं में अज्ञात नाम से लेखों के प्रकाशन की जानकारी *'वेलेजली इंडेक्स टु विक्टोरियन पीरिऑडिकल्स'*, 1966 से ली गई.

अध्याय चार

आरंभिक राष्ट्रवादी गतिविधि में निरंतरता और परिवर्तन के तत्व

I

यह सभी मानते हैं कि 1905 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में एक भौतिक परिवर्तन हुआ और संभवतः दूसरा परिवर्तन 1919 में हुआ। इसलिए, उसे तीन अलग-अलग चरणों अथवा कालों में विभाजित करना एक प्रथा बन गई है। इस विभाजन के पक्ष में कई बातें हैं। तथापि इस काल-विभाजन में शामिल निरंतरताओं और परिवर्तनों के विषय में कुछ विवाद रहा है। इस लेख में, विशेष रूप से, इसी धारण को प्रस्तुत किया गया है कि प्रारंभिक राष्ट्रवादी काल के कुछ बुनियादी तत्वों की निरंतरता की अनदेखी करने, अस्तित्वहीन क्रमों और परिवर्तनों की कल्पना करने और उन पर आवश्यकता से अधिक बल देने अथवा उनकी गलत ढंग से व्याख्या करने की एक सामान्य प्रवृत्ति रही है।

एक आंदोलन के मूल तत्व ये हैं : राजनीतिक उद्देश्य, कार्यक्रम और विचारधारा, राजनीतिक संघर्ष की रणनीति, तरीके और तकनीक, सामाजिक आधार और वर्ग अथवा सामाजिक चारित्र। इन्हीं तत्वों के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की निरंतरता और परिवर्तन की सीमा और चरित्र का पता लगाया जा सकता है, और लगाया गया है। हालांकि इन तत्वों के मध्य हमेशा विभाजन नहीं किया जा सकता और कभी-कभी वे एक दूसरे से मिल भी जाते हैं। इन तत्वों में से प्रथम तत्व—राजनीतिक उद्देश्य, कार्यक्रम और विचारधारा के तत्व—को चर्चा का विषय नहीं बनाया जाता। इसे संक्षेप में केवल यह संकेत देने के लिए प्रयोग किया जाता है कि प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के मूल राजनीतिक उद्देश्य ये थे : भारतवासियों को एक राष्ट्र के रूप में एकताबद्ध करने की प्रक्रिया में सहायता देना, जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धांत पर आधारित आधुनिक राजनीति की शुरुआत करना और उसके मन में यह विचार उत्पन्न करना कि राजनीति केवल शासक वर्गों का ही अधिकार नहीं है, भारतवासियों में आत्मविश्वास पैदा करना, भारत के राष्ट्रीय राजनीतिक नेतृत्व अथवा मुख्यालय की स्थापना करना, एक साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा निर्मित करना और उसे एक ठोस रूप प्रदान करना, आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा देना, और अंत में एक व्यापक अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का निर्माण करना। इसी प्रक्रिया में, उन्होंने भारत

में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के मूल चरित्र का विश्लेषण करने और उसे समझ कर उसके शोषक चरित्र को भारतीयों के समक्ष उजागर करने की जिम्मेदार भी संभाली। उन्होंने ऐसे राष्ट्रीय राजनीतिक प्लेटफार्म और कार्यक्रम निर्मित किए जिन पर सभी प्रांतों, धर्मों और सामाजिक वर्गों के लोग सहमत हो सकते थे और जो अखिल भारतीय राजनीतिक गतिविधि के आधार के रूप में कार्य कर सकते थे, जिसका मुख्य उद्देश्य एक अच्छी सरकार नहीं बल्कि लोकतांत्रिक स्वशासन था। बाद के राष्ट्रवादियों ने, मुख्य रूप से, प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम और उनके द्वारा किए गए ब्रिटिश शासन के चरित्र के ठोस चरित्र चित्रण का अनुकरण किया। इस बिंदु पर अधिक विस्तार से चर्चा किए बिना मैं यह कह सकता हूं कि राजनीतिक लक्ष्य अथवा उद्देश्य में अंतर – उपनिवेशों में स्वशासन और पूर्ण स्वतंत्रता के अंतर–को प्रारंभिक राष्ट्रवादियों, अथवा नरमपंथियों और उग्रवादियों अथवा लड़ाकू राष्ट्रवादियों के मध्य मूल राजनीतिक अंतर को परिभाषित करने के लिए गलत ढंग से प्रयोग किया गया है। आखिर, नरमपंथी राष्ट्रवादी भी राजनीतिक सत्ता के प्रश्न पर उतनी ही दिलचस्पी का प्रदर्शन करते थे जिनना कि लड़ाकू राष्ट्रवादी।[1] भारतीय राजनीतिक सत्ता की मांग को किस प्रकार उटाया जाए और उसके लिए किन शब्दों का प्रयोग किया जाए, यह समकालीन भावनात्मक आवश्यकताओं, दावपेंचों और राजनीतिक शक्तियों के संबंध से निर्धारित होता था। वास्तव में, तिलक और गांधी ने कई बार पूर्ण स्वतंत्रता की मांग से पीछे हट कर अधीनस्थ राज्य, अर्थात, डोमिनियन स्टेट्स और उससे भी कम की मांग रखी।[2] इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस बात से इनकार कर रहे हैं कि किसी विशेष अवसर पर, जैसा कि 1905-8 अथवा 1927-29 में हुआ, रणनीति और दावपेंचों के मूल प्रश्न इसमें शामिल थे। लेकिन ऐतिहासिक विश्लेषण को इन्हीं ठोस प्रश्नों पर केंद्रित होना चाहिए, न कि शब्दाडंबर, भावनात्मक अथवा प्रतीकात्मक प्रश्नों पर ध्यान देना चाहिए।

II

अपने तीनों कालों में कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन ने एक ही प्रकार की रणनीति अपनाई; उसके केवल एक ही पक्ष में एक आधारभूत परिवर्तन हुआ।

(क) प्रथम, नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने यह निश्चय किया था कि स्वतंत्रता संघर्ष को शांतिपूर्ण और अहिंसक होना था। राजनीतिक प्रगति को व्यवस्था से संबद्ध और उसी पर आधारित होना था। राष्ट्रीय आंदोलन का शक्तिशाली नेतृत्व अंत तक इसी आधारभूत सिद्धांत पर कायम रहा। कुछ उग्रवादी नेता ही इस सिद्धांत से, वैचारिक रूप से अलग हुए। परंतु, व्यवहार में, उन्होंने भी इसी आधारभूत ढांचे की सीमाओं में रह कर ही कार्य किया। धनी वर्गों के लिए इस सिद्धांत ने एक गारंटी के रूप

में कार्य किया कि कभी भी उनके सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी जब अस्थायी रूप से भी उनके हितों को खतरा हो।

(ख) दूसरे, नरमपंथियों ने जनता अथवा जन-संघर्ष में जनता को कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं सौंपी। उनका विचार था कि फिलहाल राजनीतिक गतिविधि को केवल 'शिक्षित वर्गों' तक ही सीमित होना था। आंशिक रूप से इस मान्यता के पीछे यह विश्वास था कि इस समय इस संकुचित सामाजिक श्रेणी द्वारा की गई राजनीतिक कार्यवाही ही पर्याप्त होगी। इतना ही नहीं, उनका यह भी विश्वास था कि आंदोलन का इस प्रकार सीमित रहना वस्तुपरक दृष्टि से अपरिहार्य था। जब कभी भी उन्हें आंदोलन में जनता की सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता महसूस हुई तो उनका यह विश्वास आड़े आ जाता था कि अभी एक लंबे समय तक भारतीय जनता में आधुनिक राजनीति में सक्रिय भागीदारी करने की क्षमता नहीं है। जब भी वे भारतीय जन साधारण की ओर देखते थे तो उन्हें केवल उनकी (जन साधारण की) अरुचि, अज्ञानता, उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ापन ही नजर आता था; उन्हें जन साधारण में बलिदान करने और ऐतिहासिक रूप से लड़ने[3] की क्षमता, ऊर्जा और दृढ़ता का अभाव दिखाई देता था। इसके परिणामस्वरूप, जन साधारण के राजनीतिकरण करने और उन्हें गोलबंद करने के कार्य को अत्यंत हलके रूप में लिया गया। वे यह विश्वास करते थे कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध उग्र जन संघर्षों को तब ही आरंभ किया जा सकता है जबकि भारतीय समाज के विविध तत्वों को एक राष्ट्र के रूप में एकताबद्ध कर लिया जाए और निष्क्रिय और निश्चेष्ट जनता का पूर्ण राजनीतिकरण कर दिया जाए, और उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित करके संगठित कर दिया जाए। जन-आधार का अभाव उन्हें राजनीतिक उदारवाद की ओर ले गया। जन-समर्थन के अभाव में उन्होंने प्रत्येक कदम फूंक-फूंक कर रखा, अपने राजनीतिक कार्य को आंदोलन और प्रचार तक ही सीमित रखा, और यह महसूस किया कि अभी शक्तिशाली विदेशी शासकों को चुनौती देने का उपयुक्त समय नहीं आया था। ऐसा करना तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन का समय से पूर्व ही दमन और विनाश करने के समान होता।[4] यहां यह ध्यान देना चाहिए कि नरमपंथी अपनी इस समझ में गलत नहीं थे कि निष्क्रिय जन साधारण को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाना, उन्हें गोलबंद करना और अधिकारों के प्रति सचेत करना एक भारी काम था। परंतु, इस दिशा में प्रयत्न करने के बजाए, वे इस कार्य की गंभीरता से ही विचलित होते रहते थे।

संभवतः केवल इसी बिंदु पर राष्ट्रवादी राजनीतिक रणनीति में एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। तिलक, बिपिन चंद्र पाल और दूसरे उग्रवादी नेताओं को जनता की कार्य-शक्ति और भारतीयों की साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक लंबे राजनीतिक संघर्ष के दबाव को सहन करने की क्षमता में अटूट विश्वास था। उन्हें विश्वास था कि यदि सरकार द्वारा दमन किया जाता है तो उससे जन-आंदोलन समाप्त नहीं होगा।

इसके बजाए वह (दमन) जनता को शिक्षित करेगा, उसमें जागरूकता लाएगा, साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के उसके निश्चय में दृढ़ता लाएगा, और एक उग्र राजनीतिक संघर्ष की ओर ले जाएगा। इसलिए, उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जन-संघर्ष चलाने और पहले कदम के रूप में राजनीति को जनता तक ले जाने की वकालत की।[5] उन्होंने शिक्षित वर्गों और जनता के मध्य खाई को पाटने की बात की। उनमें से कुछ, उदाहरण के लिए बारीसाल में अश्विनी कुमार दत्त जनता तक पहुंचने में भी सफल हुए।

जहां हम नरमपंथी काल में हुए इस अलगाव को मान्यता देते हैं, वहीं हमें आकांक्षाओं और उनकी पूर्ति के मध्य भी अंतर करना होगा। एक तो, जब बंगाल में उग्रवादी आंदोलन अपने चरम पर था, तब काश्तकारों को संगठित नहीं किया गया। शिक्षित उग्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं और जनसाधारण के बीच का अलगाव किसी महत्वपूर्ण सीमा तक समाप्त नहीं हुआ। वास्तव में, उग्रवादी यह जानते ही नहीं थे कि उन्हें अपना कार्य किस प्रकार करना है। व्यावहारिक रूप से वे आंदोलन का निम्न मध्यम वर्गों में गहराई से प्रचार करने में ही सफल हुए, जिन्हें नरमपंथी काल में ही राष्ट्रवाद के प्रभाव में लाया जा चुका था। तिलक और दूसरे नेतागण जनता की बात तो करते थे, परंतु उनकी यह 'जनता' शहरी और अर्ध-शहरी निम्न बुर्जुआ वर्गों के शिक्षित और अर्ध-शिक्षित व्यक्ति और इनसे भी बढ़ कर, इन वर्गों के शिक्षित युवा थे। इसलिए, यह कहना सही नहीं है कि तिलक ने जनता के साथ अपने आपको जोड़ लिया अथवा यह कि वे "जन-साधारण को राजनीति में लाए"। 1907 में तिलक ने स्वयं यह स्वीकार किया कि वे, मुख्य रूप से, शिक्षित भारतीयों के नेता थे।[6] लाजपत राय ने भी 1908 में खुल्लमखुला यह स्वीकार किया कि जन-साधारण की उदासीनता और पिछड़ेपन के कारण भारत में राजनीतिक आंदोलन को शिक्षित वर्गों पर निर्भर होना पड़ा।[7]

इसी प्रकार, उग्रवादी 'राजनीतिक कार्यवाही' की एक पर्याप्त तकनीक निर्मित करने में भी असफल रहे। नरमपंथियों की कड़ी आलोचना करने के बावजूद कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को एक अभियान तक ही सीमित रखा था, उग्रवादियों की अपनी राजनीतिक कार्यवाही भी मूल रूप से एक अभियान से आगे नहीं बढ़ी, हालांकि उनका यह अभियान कहीं अधिक लड़ाकू और प्रभावकारी था। इसमें संदेह नहीं है कि उन्होंने संघर्ष के रूपों के एक उच्च सिद्धांत का निर्माण किया,[8] लेकिन वे इस उच्च सिद्धांत को कार्यान्वित करने में असफल रहे। उन्होंने स्वयं को केवल वैचारिक-आलोचनात्मक स्तर तक ही सीमित रखा। उग्रवादियों की इस असफलता ने क्रांतिकारी आतंकवाद को जनम दिया। चूंकि अधिकांश उग्रवादी नेताओं ने नरमपंथियों के साथ अपने मतभेदों को गलत ढंग से परिभाषित किया था—इसलिए, उन्होंने एक भिन्न प्रकार की राजनीति चलाने के बजाए अपने आपको 'कार्यवाही' और बलिदान

तक ही सीमित रखा—उन युवाओं को, जो कार्यवाही और बलिदान की विचारधारा से प्रभावित हुए थे, शीघ्र ही लड़ाकू अभियानों से मोहभंग हो गया; उन्होंने कार्यवाही (एक्शन) की मांग की, और फिर व्यक्तिगत आतंकवाद का रास्ता अपना लिया। इसे एक विडंबना ही कहा जाएगा कि इन वीर युवाओं के राजनीतिक संघर्ष अथवा 'कार्यवाही' ने भी, जहां तक उसके राजनीतिक प्रभाव का संबंध है, एक आंदोलन, अथवा जैसा कि स्वयं उन्होंने इसे परिभाषित किया, "कर्म द्वारा प्रचार" का रूप ले लिया।

गांधी को भी भारतीय जनता में अटूट विश्वास था।[9] उन्होंने अपनी संपूर्ण राजनीति को जनता के लड़ाकूपन और आत्म-बलिदान की भावना पर आधारित किया। उन्होंने जनता तक पहुंच कर, राजनीतिक रूप से उसे सचेत करके और उसे संघर्ष की अग्रपंक्तियों में लाकर नरमपंथी परंपरा का परित्याग किया। यह राष्ट्रवादी संघर्ष के गांधीवादी काल का क्रांतिकारी पक्ष था। उसके अतिरिक्त, केवल गांधी ने ही राजनीतिक संघर्ष और जन-आंदोलन का एक नया और व्यवहार्य तरीका निर्मित किया, जिसकी वजह से शीघ्र ही उनका नेतृत्व पर कब्जा हो गया, और वह अंत तक उन्हीं के पास रहा। परंतु, इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी विधि की चार गंभीर सीमाएं थीं : (1) गांधीवादी आंदोलन ने जनसाधारण का किस हद तक राजनीतिकरण किया और वे किस हद तक राजनीतिक कार्यवाही में शामिल हुए, इस विषय पर गंभीरता से शोध नहीं किया गया है और जनसाधारण के राजनीतिकरण को अकसर बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। मेरी राय में देश के अधिकर भागों में खेतिहर मजदूरों और गरीब काश्तकारों, और कुछ भागों में जनसाधारण को भी राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल नहीं किया गया, अथवा वे राष्ट्रवादी राजनीति से अप्रभावित रहे, जिसके परिणामस्वरूप 1947 में भी राष्ट्रीय आंदोलन का समाजिक आधार ज्यादा मजबूत नहीं हुआ।

(2) जबकि जन साधारण को गतिशील बनाया गया, फिर भी चार आने की सदस्यता के बावजूद उन्हें राजनीतिक रूप से कभी संगठित नहीं किया गया। वे हमेशा कांग्रेस के संगठनात्मक ढांचे से बाहर रहे।

(3) गांधीजी ने जन-कार्यों के बावजूद बुद्धिजीवियों—जिनके हाथों में अभी तक राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व था और जनसाधारण की बीच की खाई को नहीं पाटा जा सका। इस कार्य में वामपंथी घटक भी असफल रहा।

(4) सबसे ज्यादा जनसाधारण की राजनीतिक गतिविधि पर ऊपर का कड़ा नियंत्रण था। जनसाधारण कभी भी एक स्वतंत्र राजनीतिक ताकत नहीं बन पाए। निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी का तो कभी प्रश्न ही नहीं उठा। जनसाधारण हमेशा यदि इस वाक्यांश का प्रयोग किया जाए "निष्क्रिय पात्र" अथवा "अतिरिक्त पात्र" ही बने रहे, जिनकी राजनीतिक गतिविधि पर मध्यमवर्गीय नेताओं का कड़ा नियंत्रण

रहा और वह (राजनीतिक गतिविधि) बुर्जुआवादी सामाजिक विकास की आवश्यकताओं के दायरे में ही सीमित रही। गांधी द्वारा परिभाषित और व्यवहृत अहिंसा की महत्वपूर्ण भूमिका भी यही थी। मैं यहां यह संकेत भी करना चाहूंगा कि गांधीवादी आंदोलन की महत्वपूर्ण कमजोरी और बुर्जुआवादी ढांचे के अंदर आंदोलन को सीमित रखने और उसे पूर्ण परंपरा के अनुसार जारी रखने का कारण यह नहीं था कि उसने संघर्ष के लड़ाकू रूपों को अस्वीकार कर दिया था अथवा उस पर आंदोलन के अहिंसक रूप का समर्थन करने वालों का प्रभुत्व था, जैसा कि एम.एन. राय से लेकर आज तक के वामपंथी आलोचकों का विचार रहा है। आखिर, संघर्ष के रूपों का प्रश्न समय, स्थान और ठोस ऐतिहासिक स्थिति से प्रभावित होता है। इस कमजोरी का मुख्य कारण राजनीतिक संघर्ष में जनसाधारण की अधीनस्थ और पूर्णरूप से प्रतिबंधित भूमिका, और किसी भी प्रकार की यंत्र रचना अथवा एक ऐसे माध्यम का अभाव था जिसके द्वारा संघर्ष और उसके परिणाम को प्रभावित किया जा सकता था। आंदोलन के प्रथम चरण में यह प्रश्न नहीं उठा क्योंकि राजनीतिक गतिविधि मुख्यतः बुद्धिजीवी वर्गों तक ही सीमित थी। लेकिन बाद में, जब जनता को आंदोलन के लिए संगठित किया गया। नेतृत्व और नियंत्रण का वही तरीका जारी रहा जो कि 1905 से पहले था।[10]

(ग) तीसरे, राजनीतिक प्रगति की उदारवादी रणनीति का एक और महत्वपूर्ण पहलू भी था जो बाद में राष्ट्रवादी रणनीति की आधारभूत विशेषता बन गया, जिसके कारण आंदोलन के तीनों चरणों में आधारभूत निरंतरता कायम रही। नरमपंथियों का मानना था कि राजनीतिक अधिकारों और स्वशासन का क्रमिक परंतु, मजबूती के साथ विकास होना चाहिए। ऐसा "दृष्टांत से दृष्टांत" और प्रगतिशील चरणों में होना चाहिए। इस प्रकार, राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्रक्रिया को एक लंबी क्रांति की प्रक्रिया न होकर एक लंबे चरणबद्ध विकास की प्रक्रिया होना था। इसके अलावा, विकास दबाव के दावपेंचों—सौदेबाजी, समझौतों, और रिआयतों— अर्थात पी.सी.पी. द्वारा होना था न कि सत्ता हथिया कर अथवा विदेशी शासकों को बाहर निकाल कर। यह रणनीति चार मान्यताओं पर आधारित थी : (1) चाहे भारत में अथवा ब्रिटेन में, राजनीतिक गतिविधि और आंदोलन का कार्य तत्कालिक मांगों को पूरा करने के लिए औपनिवेशिक अधिकारियों पर दबाव डालना था। (2) यदि काफी दबाव डाला जाए, तो अधिकारियों को रिआयतें देने के लिए मनाया जा सकता था। यह एक महत्वूपर्ण मान्यता थी। इस प्रक्रिया में अंग्रेजों को सहयोग करना चाहिए, क्योंकि उन्हीं की कार्यवाही द्वारा परिवर्तन लाए जाने थे। (3) प्रत्येक रिआयत का लाभ उठाया जाए और उसका उपयोग किया जाए। इस संबंध में 'जितना भी ज्यादा हो सके' औपनिवेशिक शासन के साथ सहयोग किया जाए। (4) प्रत्येक समझौते को अगले समझौते के आधार के रूप में लिया जाए, और इसलिए, आंदोलन अथवा दबाव को फिर नए सिरे से आरंभ किया जाए। यह वृद्धिशील आंदोलन तब तक जारी रखा जाए जब तक कि राजनीतिक सत्ता

पर कब्जा करने के उद्देश्य को प्राप्त न कर लिया जाए। 1907 में गोपाल कृष्ण गोखले ने स्पष्ट शब्दों में इस रणनीति का संक्षिप्त और विद्वतापूर्ण वर्णन करते हुए लिखा :

> संवैधानिक आंदोलन एक ऐसा आंदोलन था जिसे, संविधानिक अधिकारियों की कार्यवाही के माध्यम से अपेक्षित परिवर्तन लाने के वे हकदार थे... अपेक्षित परिवर्तनों को संविधानिक अधिकारियों पर जनमत का दबाव डाल कर उनकी कार्यवाही द्वारा लाया जाना चाहिए.... इसमें तीन बातें शामिल नहीं की गई थीं—विद्रोह, विदेशी आक्रमण की सहायता और उसके साथ सांठगांठ न करना और अपराध न करना। मोटे तौर पर, इन तीन बातों को छोड़ कर, बाकी सब संवैधानिक था... जहां तक दूसरी शर्त का संबंध है, अर्थात यह कि संविधानिक अधिकारियों द्वारा ही समस्याओं का समाधान हो, इससे यह स्पष्ट था कि अधिकारियों पर अपनी मांगें मनवाने के लिए निरंतर दबाव बनाए रखा जाए, इस विचार को त्याग दिया गया कि अधिकारियों से कोई मतलब न रखा जाए। जो भी दबाव डाला गया वह इस बात पर निर्भर करता था कि उसके पीछे जनमत की कितनी ताकत और दृढ़ता थी; और उस शक्ति और संकल्प को दृढ़ करने की आवश्यकता सर्वोपरि थी। परंतु, यह विचार कि उन्हें अधिकारियों से कोई मतलब नहीं रखना चाहिए और स्वतंत्र रूप से अपने उद्देश्य को प्राप्त करना चाहिए, अस्वीकार्य और अतर्कसंगत था।[11]

इसी प्रकार 1905 में राष्ट्रीय कांग्रेस में दिए गए अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था :

> कांग्रेस का उद्देश्य यह है कि भारतीयों के हितों को ध्यान में रख कर ही भारत पर शासन किया जाना चाहिए, और समय के साथ-साथ इस देश में भी उसी प्रकार की सरकार की स्थापना होनी चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशों में मौजूद है परंतु यह प्रगति क्रमबद्ध होनी चाहिए क्योंकि प्रगति के प्रत्येक चरण में हमारे लिए यह अनिवार्य होगा कि अगले चरण में जाने से पूर्व हम कुछ समय तक प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरें।[12]

नरमपंथियों की यह मान्यता थी कि समूचे राजतंत्र को गतिशील बनाने के लिए शिक्षित भारतवासियों और ब्रिटिश लोकतांत्रिक जनमत का दबाव पर्याप्त होगा। बाद में आने वाले राष्ट्रवादियों और समकालीन औपनिवेशिक अधिकारियों और राजनीतिमत्ताओं ने इस धारणा की खिल्ली उड़ाई। तथापि इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि 1905 के बाद 'दबाव-समझौता-दबाव' की मूल रणनीति में कोई परितर्वन नहीं हुआ, बल्कि शासकों पर राजनीतिक दबाव बनाए रखने के लिए उसकी (दबाव की) प्रकृति

में परिवर्तन किया गया। तिलक और गांधी भी ब्रिटिश शासन को सीधे तौर पर उखाड़ फेंकने के लिए कार्य नहीं कर रहे थे। उन्होंने भी "नियंत्रित जन कार्यवाही का सहारा लेकर बातचीत की तकनीक" पर जोर दिया। उनके प्रत्येक आंदोलन का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को बातचीत और समझौते के लिए बाध्य करना था; और इनमें से प्रत्येक आंदोलन के परिणामस्वरूप, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से, खुले तौर पर या किसी माध्यम के द्वारा रिआयतें प्राप्त की गई और बातचीत भी हुई।

चूंकि बाद के राष्ट्रवादियों ने कई बार तत्काल स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आह्वान किया, इसलिए इस विचार से यह गलतफहमी भी पैदा होती है कि उन्होंने एक भिन्न रणनीति पद्धति अपनाई। वास्तव में, ये आह्वान मुख्य प्रयोजन का ही अंग थे। उदाहरण के लिए, यह बताना दिलचस्प होगा कि इस प्रकार के प्रत्येक आह्वान के पश्चात, गांधीजी ने कुछ तत्कालिक मांगें रखीं, उदाहरण के लिए, 1930 की ग्यारह प्रसिद्ध मांगें, जिनका कुछ दिन पूर्व लाहौर कांग्रेस द्वारा तत्काल और पूर्ण स्वतंत्रता की मांग से कोई सीधा संबंध नहीं था।

निस्संदेह, बाद के राष्ट्रवादियों ने (चूंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण था) सरकार को राजी करने और दबाव डालने के तरीके में कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने अपनी मांगों के समर्थन में अब और अधिक जनता का दबाव डालना आरंभ किया। अब उन्होंने बुद्धिजीवियों के बजाए जनसाधारण पर, ज्ञापनों, अर्जियों और प्रस्तावों के बजाए जुलूसों, प्रदर्शनों और व्यापक जन-आंदोलन पर अधिक ध्यान देना शुरू किया। अब उनकी मांगों के पीछे एक भिन्न प्रकार का परंतु सशक्त समर्थन था। परंतु, राजनीतिक प्रगति को अभी चरणों और समझौतों अर्थात, ब्रिटिश सहमति और कार्यवाही की प्रक्रिया से होकर गुजरना था।[13]

संघर्ष के जिन रूपों को अपनाया गया वे केवल इसी रणनीतिक रूपरेखा के अनुरूप थे। गांधीवादी जन-आंदोलन में सत्ता को हथियाने का कोई प्रावधान नहीं था। इस संबंध में हिंसा अथवा अहिंसा का प्रश्न, जिसे दक्षिणपंथी, और वामपंथी समय-समय पर उछालते रहते थे, केवल ध्यान बांटने की एक तकनीक के अलावा और कुछ नहीं था। सच्चाई यह थी कि संघर्ष के गांधीवादी रूप केवल एक हद तक ही अधिकारियों पर दबाव बनाए रख सकते थे। संघर्ष के ये रूप सक्रिय क्रांतिकारी कार्यवाही, जैसे स्कूल और कालेजों (उनके बहिष्कार के स्थान पर), पुलिस थानों, कचहरियों (कोर्ट) (केवल उनके बहिष्कार के स्थान पर वैकल्पिक न्यायालयों के निर्माण), अन्य सरकारी दफ्तरों, विदेशी फर्मों, बैंको, और फैक्टरियों पर कब्जा करने अथवा सेना को शांतिपूर्ण ढंग से निरस्त्र करने की ओर नहीं ले जा सकते थे।[14] वे सामाजिक प्रबंध अथवा शक्ति के वैकल्पिक अंगों अथवा एक वैकल्पिक शासन के बुनियादी अवयवों को न तो निर्मित कर सकते थे, और न उन्होंने उन्हें निर्मित ही किया। क्रांति के यही मूल तत्व हैं, हिंसा नहीं। एक अहिंसक आंदोलन भी विदेशियों की प्रभुसत्ता

को चुनौती दे सकता था, और आरंभ में अहिंसक रह कर सत्ता हथियाने का एक प्रारंभिक बिंदु बन सकता था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि पी.सी.पी. रणनीति में हिंसा के एक चरण को दबाव के रूप में प्रयोग किया जा सकता था। परंतु, गांधीवादी रणनीति का मूल सार यही था कि शत्रु को बातचीत करने और मांगें स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए। यही एक प्रमुख कारण है कि क्यों गांधीवादी कार्यक्रम की एक महत्वपूर्ण नीति, टैक्स अदा न करने की नीति को, जो कि राज्य की प्रभुसत्ता के लिए एक बड़ी चुनौती बन सकती थी, कभी भी व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया। इससे सरकार पर बातचीत करने और रिआयतें देने के लिए काफी दबाव डाला जा सकता था, लेकिन इससे लड़ाई भी बढ़ सकती थी।

इसलिए गांधीवादी राजनीतिक दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण विचार यह था कि शत्रु का हृदय-परिवर्तन किया जाए, बातचीत के लिए दरवाजे खुले रखे जाएं, अहिंसा को इस प्रकार परिभाषित किया जाए कि उसके प्रयोग द्वारा विचारों, शब्दों और कार्यों से शत्रु को नुकसान न पहुंचाया जाए, बल्कि उसका हृदय-परिवर्तन किया जाए; सविनय अवज्ञा और "सविनय स्वच्छदंता" के बीच अंतर किया जाए। इस प्रकार, एक आंदोलन आरंभ करने के पश्चात गांधी या तो गिरफ्तार होने या फिर बातचीत के लिए बुलाए जाने की प्रतीक्षा कर सकते थे। गिरफ्तारी से एक अस्थायी गतिरोध आ जाता था, जो शीघ्र ही, सीधी अथवा मध्यस्थों द्वारा बातचीत करने पर समाप्त हो जाता था। किसी भी स्थिति में परिणाम नई राजनीतिक रिआयतों के रूप में ही सामने आता था।

कभी-कभी ये रिआयतें बातचीत और सरकारी स्तर पर समझौते का परिणाम होती थीं। और कभी-कभी, प्रकट रूप में कोई बातचीत नहीं होती थी। परंतु, ऐसी स्थिति में भी, हालांकि वे संतोषजनक नहीं होती थीं, रिआयतें मिलती थीं। ऐसी स्थिति में गांधी, जो कुछ मिलता उसी पर संतोष कर लेते थे। वे ऐसे किसी भी समझौते पर हस्ताक्षर नहीं करते थे क्योंकि ऐसा करना अत्यंत निराशजनक होता और इससे मनोबल में गिरावट आती। वे स्वयं को अलग रख कर अपने सहयोगी नेताओं को अधिकारिक राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी करने की अनुमति देते थे, जैसा कि उन्होंने 1924, 1935-36 और 1947 में भी किया, जब—हालांकि वे सत्ता हस्तांतरण के तरीके से प्रसन्न नहीं थे—उन्होंने अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रयोग करके अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को समझौता स्वीकार करने के लिए राजी किया। वास्तव में, गांधीजी और अन्य कांग्रेसी नेताओं द्वारा अपनाई गई दबाव और समझौते की रणनीति की जटिलताओं और पेचीदगियों को 1942 से पूर्व और 1945 के बाद की राजनीतिक गतिविधियों और दाव-पेंचों के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है।

III

राष्ट्रीय आंदोलन का परिवर्तनशील सामाजिक आधार उसके तीनों चरणों में परिवर्तन के तत्वों में से एक था। यह आधार प्रारंभिक नरमपंथी चरण में अत्यंत संकुचित था, अर्थात शहरी शिक्षित भारतीयों तक ही सीमित था। यह उल्लेख करने के पश्चात इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इस चरण में भी आंदोलन के सामाजिक आधार में निरंतर वृद्धि होती रही और उसमें नई सामाजिक श्रेणियां विशेषकर निम्न मध्यमवर्गीय श्रेणियां शामिल होती रहीं। देशीय समाचारपत्रों के निरंतर विकास और प्रसार से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। समाचारपत्रों के प्रकाशन में यह वृद्धि आकस्मिक नहीं थी। अधिकांश प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेतागण जैसे दादा भाई नौरोजी, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, के.टी. तैलंग, रानाडे, वी.वी. आगरकर, तिलक, गोखले, जी. सुब्रामनियम अय्यर, के.के. मित्रा, गंगा प्रसाद वर्मा, मदनमोहन मालवीय और रामपाल सिंह भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों से जुड़े रहे।

इसके साथ ही यह याद रखना भी महत्वपूर्ण है कि इस सामाजिक आधार में (जैसा कि अकसर माना जाता है) औद्योगिक और वाणिज्यिक बुर्जुआ वर्ग अथवा जमींदार और भू-स्वामी सम्मिलित नहीं थे। वास्तव में, 1880 के दशक में ब्रिटिश अधिकारियों को यह उम्मीद थी कि बड़े जमींदारों, शहरी धनी व्यापारियों और पूंजीपतियों और बुजुर्ग पुरानी शैली के राजनीतिज्ञों की सहायता से वे उन 'परिवर्तनवादी', 'आतंकवादी' और 'गद्दार और देशद्रोही' तत्वों का मुकाबला कर सकते हैं, जिनका कांग्रेस प्रतिनिधित्व करती थी। अभी तक उच्च वर्ग के भारतीयों—व्यापारियों, उद्योगपतियों, जमींदारों और उनके अलावा सफल वकीलों, डाक्टरों और सार्वजनिक सेवाओं में कार्यरत लोगों ने आंदोलन को कोई खास वित्तीय सहायता नहीं दी थी।[15] इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश प्रारंभिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं को अपनी रोजी खुद कमानी पड़ती थी,[16] और राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे उनके राजनीतिक संगठनों के पास लगभग कोई धन नहीं था। लेकिन इस तसवीर का एक दूसरा रुख भी था। वृहद वित्तीय सहायता के अभाव में राजनीतिक गतिविधि इस कारण संभव हो सकी क्योंकि उसे एक अत्यंत ही निम्न स्तर पर जारी रखा गया। वृहद वित्तीय संसाधनों के बिना विशाल जन आंदोलनों, बड़े स्तर पर चुनाव अभियानों, विस्तृत आंदोलनों और संवर्गों की सेना पर आधारित राजनीतिक मशीनरी इत्यादि (जो कि 1919 से लेकर 1947 तक गांधीवादी युग की मुख्य विशेषताएं थीं) को संगठित नहीं किया जा सकता था। इसने आंदोलन को धनी लोगों की उदारता पर निर्भर रहने को विवश कर दिया। प्रारंभिक राष्ट्रवादी अपनी राजनीतिक गतिविधि की प्रकृति के कारण बुर्जुआ वर्गों पर निर्भर रहने से बचे रहे। जैसा कि सभी मानते हैं, उग्रवादियों का प्रमुख सामाजिक आधार शहरी निम्न मध्यमवर्ग के लोग थे, जिनका देश के कुछ भागों में

राजनीतिकरण करने में वे सफल हुए थे। यह कहना रुचिकर होगा कि आतंकवादियों द्वारा चलाए गए स्वदेशी और बहिष्कार के शक्तिशाली अभियानों के बावजूद पूंजीपतियों ने उन्हें अपना समर्थन नहीं दिया। बाद में होम रूल लीगों के दिनों में भी केवल कुछ गिने चुने पूंजीपतियों ने ही दोनों लीगों को वित्तीय सहायता दी। इसके साथ ही, हालांकि आतंकवादी भी सामान्य रूप से जनसाधारण का गुणगान करते थे, परंतु जब वे वास्तविक जनसाधारण अर्थात काश्तकारों और श्रमिकों के संपर्क में आते थे, तो उनमें भी नरमपंथियों की भांति मध्यम वर्गीय आत्म-चेतना जाग्रत हो जाती थी।

जनसाधारण—काश्तकार और श्रमिक—मुख्य रूप से गांधीवादी युग में ही राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए। संभवतः यही राष्ट्रीय आंदोलन के विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। परंतु, यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है—और इसकी अकसर अनदेखी की जाती है— कि एक वर्ग के रूप में पूंजीपति भी इस आंदोलन में शामिल हुए और उसे अपना सक्रिय समर्थन दिया, हालांकि इस काल में यह समर्थन केवल वित्तीय ही था। न तो नरमपंथी और न ही आतंकवादी इस वर्ग का सक्रिय समर्थन प्राप्त करने में सफल हुए, क्योंकि प्रथम महायुद्ध के दौरान और उसके पश्चात ही यह वर्ग विकसित हुआ और साम्राज्यवाद के साथ उसके अंतर्विरोध खुल कर सामने आए। इसके अतिरिक्त, नरमपंथी और आतंकवादी आंदोलन सामाजिक और राजनीतिक रूप से पूंजीपतियों के लिए इतने महत्वपूर्ण नहीं थे कि वे उन पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करते। परंतु, एक बार जब राष्ट्रीय आंदोलन एक शक्तिशाली जनआंदोलन बन गया, तब बुर्जुआ वर्ग इसके प्रति उदासीनता और अवहेलना की नीति अपनाकर उसे (आंदोलन को) अपना विरोधी नहीं बना सकता था। इसलिए, हम एक बार फिर दोहराते हैं कि गांधीवादी युग में, आंदोलन को पूंजीपति वर्ग का सामाजिक आधार मिलना उतनी ही महत्वपूर्ण घटना थी, जितना कि मजदूरों और काश्तकारों का सामाजिक आधार मिलना।

आंदोलन के लोकचरित्र और राष्ट्रवाद के अग्र-चरित्र का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि 1918 के पश्चात केवल बंगाल में 1905 से लेकर 1907 तक की एक छोटी सी अवधि को छोड़कर छोटे जमींदारों और भू-स्वामियों, व्यापारियों और महाजनों की बहुत सी श्रेणियां राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो गईं। इसी काल में शहरी और अर्ध-शहरी निम्न मध्यम वर्ग भी राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण रूप से राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए। इसके अतिरिक्त हालांकि आंदोलन की गतिविधि में विभिन्न सामाजिक वर्गों और श्रेणियों के व्यक्ति सम्मिलित थे, लेकिन इसके तीनों चरणों में बुर्जुआ वर्ग अथवा विभिन्न सामाजिक श्रेणियां, जिन्हें 'मध्यम वर्ग' कहा जाता है, अपनी गतिविधि और आंदोलन के प्रति अपनी वचनबद्धता के कारण इसकी शक्ति का मुख्य स्रोत बना। निम्न बुर्जुआ वर्ग से आए कार्यकर्ताओं से ही आंदोलन के संवर्ग निर्मित हुए और उन्हीं से ही आंदोलन की मानसिकता और विशेषता का निर्माण हुआ।

IV

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के वर्गीय अथवा सामाजिक चरित्र में हुए परिवर्तनों को दो विभिन्न पक्षों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। राष्ट्रवादी लेखकों के एक वर्ग की यह विचारधारा रही कि प्रारंभिक राष्ट्रवादी उच्च वर्गों अथवा अधिक से अधिक शिक्षित, अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे; आतंकवादी या तो जनता या फिर कम से कम समाज के निम्न और गैर-उच्च वर्गीय श्रेणी का प्रतिनितिधत्व करते थे, और गांधी भूखे, नंगे और दलित किसानों का प्रतिनिधित्व करते थे और इस प्रकार उन्होंने (गांधी ने) राष्ट्रीय आंदोलन को एक जन आंदोलन बनाया। दूसरे लेखकों, जिनमें बहुत से मार्क्सवादी और अर्ध-मार्क्सवादी लेखक भी सम्मिलित हैं, का मत है कि प्रारंभिक राष्ट्रवादी उच्च अथवा बड़े बुर्जुआ अथवा बड़े वाणिज्यिक बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, जो अकसर ब्रिटिश सरकार का साथ देता था; आतंकवादी तुच्छ बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और यह कि गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन पूर्ण रूप से बुर्जुआ आंदोलन बन गया जो कि सामान्य रूप से बुर्जुआ वर्ग के संपूर्ण हितों और विशेष रूप से वाणिज्यिक पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था।

मेरी राय में राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों में उसके वर्गीय चरित्र को चित्रित करने में दोनों ही विचारधाराएं गलत रही हैं। वास्तव में, राष्ट्रीय आंदोलन के वर्गीय चरित्र में एक बुनियादी, संभवतः अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता उसकी निरंतरता थी, जो उसकी शुरुआत से लेकर 1947 तक कायम रही। यह एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलन था, अर्थात यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय समाज के सभी वर्गों और श्रेणियों के हितों का प्रतिनिधित्व करता था, परंतु उस पर वाणिज्यिक बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व था। इस संबंध में, तिलक और गांधी नरमपंथियों से अलग नहीं थे; वे भी कम बुर्जुआ नहीं थे।

इस बहस में इतिहास लेखन के वे सिद्धांत भी शामिल हैं जो एक राष्ट्रीय आंदोलन के वर्गीय चरित्र को निर्धारित करते हैं अथवा यह उत्तर भी देते हैं कि आंदोलन किनका प्रतिनिधित्व करता है और किस प्रकार करता है, और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की वास्तविकता के मद्दे नजर इन सिद्धांतों को किस प्रकार लागू किया जा सकता है। विभिन्न विचारधारा रखने वाले इतिहासकारों ने एक आंदोलन के वर्गीय अथवा सामाजिक चरित्र को निर्धारित अथवा स्थापित करने के लिए सामान्यतः तीन बातों को आधार बनाया है :

(1) आंदोलन का सामाजिक आधार अथवा इसमें विभिन्न सामाजिक श्रेणियां और वर्गों की भागीदारी।

(2) उन पुरुषों और स्त्रियों के वर्गीय अथवा सामाजिक स्रोत और विशेषताएं जो नेतृत्व का भार संभालते हैं और जिन्हें सीमित, कार्य की दृष्टि से आंदोलन का नेता कहा जाता है।

(3) उसके राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम, नीतियों और विचारधारा का चरित्र।

मेरा विचार है कि (i) पहले दोनों मापदंड इतिहास लेखन और समाजशास्त्रीय दृष्टि से गलत है; (ii) उनके प्रयोग से भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों में उसके सामाजिक अथवा वर्ग चरित्र के संबंध में दोनों सामान्य धारणाओं की वैधता सिद्ध नहीं होती; और (iii) तीसरे सही आधार के प्रयोग से भी इसके चरित्र में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन अथवा व्यवधान नजर नहीं आता।

(क) एक आंदोलन का सामाजिक आधार उसके रास्ते में कई प्रकार की रुकावटें खड़ी करता है और अपने आप में उसका यही एक विशेष पक्ष होता है, परंतु वह अपनी वर्ग-विषय-वस्तु का निर्धारण नहीं कर सकता। इसी बात को दूसरे ढंग से कहने का तरीका यह है कि एक आंदोलन में सामाजिक भागीदारी की प्रकृति और उसकी वर्गीय विषय-वस्तु अथवा सामाजिक चरित्र दो अलग पहलू हैं। यह जरूरी नहीं है कि एक आंदोलन इसमें भाग लेने वाली बहुमत का प्रतिनिधित्व करे, ठीक उसी तरह जैसे कि एक सेना अपने सैनिकों के हितों और एक पार्टी अपने वोटरों के हितों के लिए नहीं लड़ती।

चाहे एक आंदोलन का सामाजिक आधार संकीर्ण हो अथवा व्यापक, उसका वर्ग चरित्र समान रहता है। उसी प्रकार, जन समर्थन और संघर्ष के रूप की उग्रता से भी आंदोलन का वर्गीय चरित्र निश्चित नहीं होता। ये केवल आंदोलन की ऐतिहासिकता निर्धारित करते हैं। पूंजीपति भी संघर्ष की इच्छा कर सकते हैं, उसे बढ़ावा दे सकते हैं और कुछ निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों में उसे, कम से कम, सहन भी कर सकते हैं। इतिहास में बुर्जुआ वर्ग ने अकसर जनसाधारण को जाग्रत किया, उन्हें गतिशील बनाया और सशस्त्र संघर्ष को भी बढ़ावा दिया। वास्तविक प्रश्न सामाजिक आधार अथवा राजनीतिक संघर्ष के रूपों का नहीं बल्कि आंदोलन पर सामाजिक प्रभुत्व का है। इस प्रकार जब तक कि आंदोलन उन सीमाओं में रहा जहां बुर्जुआ वर्ग को सामाजिक विकास पर अपने वर्चस्व के लिए कोई खतरा महसूस नहीं होता था उसने जन आंदोलन को अपने हितों के लिए एक खतरे के रूप में नहीं लिया। और यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि जहां नरमपंथियों ने बुद्धिजीवियों के छोटे से सामाजिक वर्ग पर बुर्जुआ वैचारिक वर्चस्व स्थापित किया, वहीं गांधीवादी युग के राजनीतिक नेतृत्व ने किसानों, मजदूरों और निम्न मध्यम वर्गों पर बुर्जुआ, वैचारिक, राजनीतिक और संगठनात्मक वर्चस्व स्थापित किया।[17] इस प्रकार, हालांकि, नरमपंथियों, उग्रवादियों और गांधी के जन-आधार बिलकुल अलग थे, परंतु जिन आंदोलनों की उन्होंने अगुआई की वे अपने चरित्र में समान रूप से बुर्जुआवादी-राष्ट्रवादी ही थे।

अंत में, यदि एक आंदोलन के सामाजिक आधार ने, उसके सामाजिक चरित्र को निर्धारित किया था, तब भी उसके नरमपंथी और उग्रवादी चरणों को बिलकुल भी बुर्जुआवादी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि हम यह पहले ही देख चुके हैं कि

पूंजीपतियों और उनकी पूंजी ने आंदोलन में 1918 के पश्चात ही प्रभावशाली रूप में प्रवेश किया।

(ख) एक सामान्य सिद्धांत के रूप में इस बात पर भी जोर दिया जा सकता है कि एक नेतृत्व की सामाजिक उत्पत्तियों के एक आंदोलन के कार्यक्रम, नीतियों, विचारधारा और कार्य के रूपों पर निस्संदेह एक शक्तिशाली (हालांकि अप्रत्यक्ष) प्रभाव पड़ते हैं, परंतु वे उसके सामाजिक चरित्र का निर्धारण नहीं करते। उदाहरण के लिए आधुनिक काल में समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों और नेताओं की सामाजिक उत्पत्ति को देखिए। इस विषय में, यह तथ्य समान रूप से महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय नेतृत्व की सामाजिक उत्पत्तियां और अस्तित्व के तरीके तीनों चरणों के दौरान करीब-करीब एक जैसे ही थे। 1880 से 1947 तक राष्ट्रीय नेतृत्व को राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी-वर्ग कहना सबसे ज्यादा ठीक होगा। आंदोलन का सीधा नेतृत्व कभी भी पूंजीपतियों अथवा जन-साधारण अथवा मध्यम वर्गों के हाथों में नहीं था, बल्कि उस पर तिलक, गांधी, नेहरू और दूसरे राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों का एकाधिकार था। इस प्रकार, शुरू से लेकर वकीलों, डाक्टरों, और मध्यम वर्ग मूल के आत्मनिर्भर पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं का नेतृत्व पर वर्चस्व जारी रहा।

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि उग्रवादी और गांधीवादी चरणों में नेतागण उन सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनसे उनका स्वयं संबंध नहीं था। परंतु, प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं के बारे में अकसर यह माना जाता है कि वह अपने आप में ही एक वर्ग, अर्थात शिक्षित भारतीयों का वर्ग था। लेकिन, वास्तव में एक वर्ग के रूप में उस समय उनकी संख्या इतनी कम थी कि जैसा कि रिपन और दूसरों की इच्छा थी, उन्हें आसानी से औपनिवेशिक ढांचे के अंदर समायोजित किया जा सकता था। डफरिन ने प्रशासन के साथ शिक्षित भारतीयों के सक्रिय संबंध की पुरजोर वकालत की और इस पर भी जोर दिया कि विधान परिषदों की सदस्यता को व्यापक बनाया जाए और सार्वजनिक सेवाओं में उनके लिए रोजगार के क्षेत्र को विस्तार करके देश के मामलों के संचालन में उनका सक्रिय सहयोग लिया जाए। वह (डफरिन) प्रारंभिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं को तब तक ही तुष्ट करेगा, जब तक वे एक संकीर्ण वर्ग के रूप में व्यवहार करते हैं, परंतु उस समय उन्हें सहन नहीं किया जाएगा जब वे उन मांगों को उठाएंगे जो उनकी वर्ग-मांगों से अधिक होंगी, अथवा जब वे विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के प्रवक्ता होने का दावा करेंगे, अथवा जब उनके राजनीतिक कार्यक्रम और गतिविधियों को औपनिविशक ढांचे के अंदर समायोजित नहीं किया जा सकेगा। तीस वर्ष के बाद मांटफोर्ड रिपोर्ट में भी शिक्षित भारतीयों के प्रवक्ताओं के रूप में राष्ट्रवादियों के प्रति इसी प्रकार की नीति का प्रतिपादन किया गया। वास्तव में, ब्रिटेन के लिबरल और लेबर दल इसी धारणा के आधार पर इस बात पर निरंतर अफसोस करते रहे कि अभिजात रूढ़िवादी शासक

वर्ग ब्रिटिश भारत में नरमपंथियों को एक उचित भूमिका देकर उनसे समझौता करने में असफल रहे थे। परंतु, चूंकि नरमपंथियों की आधारभूत शर्तें साम्राज्य-विरोधी थीं, इसलिए सिवाय एक अस्थायी संधि के, इस प्रकार का कोई समझौता असंभव था। डफरिन और दूसरे कंजर्वेटिव शासकों को इसकी समझ थी। उन्होंने प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के संबंध में यह सही अनुमान लगाया था कि वे केवल एक वर्ग ही नहीं थे, बल्कि राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधियों के बौद्धिक झंडाबरदार थे, जिनकी राजनीतिक गतिविधि का परिणाम निश्चित रूप से ब्रिटिश अधिकारियों के साथ टकराव और साम्राज्यवाद-विरोध होगा। इसलिए, प्रारंभिक राष्ट्रवादियों को ऐसे राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के रूप में चित्रित करना सबसे अच्छा रहेगा, जो अपने विचारों और जीवन शैली दोनों से बुर्जुआ थे।

(ग) प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम और विचारधारा का उद्देश्य उस समय के सर्वाधिक प्रगतिशील राज्य, अर्थव्यवस्था और समाज के आधार पर एक आधुनिक बुर्जुआ राज्य, अर्थव्यवस्था और समाज का निर्माण करना था। उनका कार्यक्रम समाज के उन सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता था जिनका साम्राज्यवाद के साथ विरोध था। इसके साथ ही, उन्होंने उन सभी मुद्दों और मांगों को अपने कार्यक्रम में शामिल नहीं किया जिनकी वजह से भारतीय समाज के एक वर्ग का दूसरा वर्ग से टकराव होता। उनके कार्यक्रम में ऐसी कोई बात नहीं थी जिंससे अशिक्षित काश्तकारों, मजदूरों अथवा देहाती गरीबों को कोई प्रोत्साहन मिलता। चूंकि वह बुर्जुआ सामाजिक विकास के दायरे तक ही सीमित था इसलिए उनका संपूर्ण कार्यक्रम एक बुर्जुआ कार्यक्रम था। बुद्धिजीवियों के रूप में उन्होंने औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग का पक्ष लिया, भले ही वे उसका समर्थन प्राप्त करने में असफल रहे।

जब इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उग्रवादी और गांधीवादी युग के राष्ट्रवादी नेतृत्व ने भी इसी प्रकार की बुर्जुआ सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व किया। न तो तिलक और न गांधी ही कभी उदार आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम अथवा परिकल्पना से आगे गए। जहां तक जन साधारण के हितों की वकालत का संबंध था, तिलक अथवा बंगाल के उग्रवादी भी उदारवादियों से आगे नही बढ़े। गांधीजी भी कम से कम 1940 के दशक तक, इस संबंध में उदारवादियों की नीतियों का ही अनुशरण करते रहे। 'निम्नवर्ग के लोगों और दलितों के साथ अपनी पहचान बनाने' के बावजूद उन्होंने अपने किसी प्रमुख राजनीतिक अभियानों और आंदोलनों में लगान में कटौती करने, कर्ज के भार को कम करने, पुलिस और अन्य निम्न स्तर के अधिकारियों के दमन से उनकी रक्षा करने की काश्तकारों की मांगों को नहीं उठाया, भूमि के पुनर्वितरण की तो बात ही अगल थी। उदाहरण के लिए 1930 में सरकार को प्रस्तुत की गई प्रसिद्ध 11 मांगों में—जो समझौते के लिए न्यूनतम राष्ट्रीय शर्तों का प्रतिनिधित्व करती थी और गांधी के ही शब्दों में

'स्वतंत्रता का सारतत्व' थी--गांधी ने मुद्रा की विनिमय दर को फिर से 1 शि. 4 पें. करने, विदेशी वस्त्र पर सुरक्षात्मक शुल्क लगाने और भारतीय नौवहन के लिए तटीय व्यापार को सुरक्षित किए जाने की पूंजीवादी मांगों को शामिल किया। परंतु, उनमें भू-राजस्व को कम करने की काश्तकारों की केवल एक मांग को शामिल किया गया। इस अंतिम मांग को उग्रवादियों ने भी अपने आंदोलन में एक प्रमुख हथियार के रूप में प्रयोग किया।

इस प्रकार, गांधी और तिलक भी वैचारिक और राजनीतिक रूप से औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग का उतना ही प्रतिनिधित्व करते थे जितना कि उदारवादी, क्योंकि वे राष्ट्रीय हित को औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के नजरिए से देखते थे और यह सोचते थे कि यदि एक बार उन्होंने भारतीयों के मन से साम्राज्यवादी वैचारिक वर्चस्व को समाप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली, तो वे भारतीय नागरिक समाज पर बुर्जुआ वर्ग का बर्चस्व स्थापित करने में सहायक होंगे। उन्होंने लोगों को यह स्वीकार करने के लिए मार्गदर्शन और प्रशिक्षण दिया कि केवल सामाजिक विकास का बुर्जुआवादी मार्ग ही औपनिवेशिक विकास का एक मात्र उपलब्ध विकल्प था। तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि उदारवादियों और उग्रवादियों ने इस विकल्प को उस समय प्रस्तुत किया जब सिद्धांत अथवा वास्तविकता में भारतीयों और बुद्धिजीवियों के लिए सामाजिक विकास का कोई अन्य माडल उपलब्ध नहीं था, गांधीवादी युग के राष्ट्रवादियों ने इस विकल्प को उस समय प्रस्तुत किया जबकि समाजवादी विकल्प न केवल आसानी से उपलब्ध था बल्कि वह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य विकल्पों से कड़ी स्पर्धा भी कर रहा था। इसके अतिरिक्त, गांधी युग में राष्ट्रीय आंदोलन पर बुर्जुआ वर्ग की पकड़ पहले से अधिक मजबूत हो गई। दूसरी ओर, हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि आत्मपरक दृष्टि से दादा भाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, अथवा गोपाल कृष्ण गोखले भी उच्च आदर्शों और जनप्रेम से उतने ही प्रेरित थे, जितने तिलक और गांधी थे।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. तिलक ने बार-बार यह संकेत दिया था कि राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्यों के संबंध में उनमें और उदारवादियों के मध्य कोई मतभेद नहीं था. इसलिए 1907 में, जब उदारवादियों के साथ उनका संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था, तब 'नई पार्टी के सिद्धांतों' पर बोलते हुए अपने भाषण में उन्होंने कहा था ".... एक देश पर दूसरे देश का शासन कभी सफल नहीं हो सकता और इसलिए एक स्थायी सरकार का होना जरूरी है. पुरानी और नई विचारधारा के मध्य इस मूलभूत प्रस्तावना के संबंध में कोई मतभेद नहीं है". बाल गंगाधर तिलक, *हिज़ राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* संबर्द्धित संस्करण, 1919, पृ. 57.
2. तिलक ने 1907 में नेविंसन से कहा : "इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक छोटा दल ऐसा है जो ब्रिटिश

शासन को एकदम और पूर्ण रूप से समाप्त करने की बात करता है. इससे हमारा संबंध नहीं है; यह दूर भविष्य की बात है. असंगठित, निःशस्त्र और अभी तक विभाजित रहने की वजह से, ब्रिटिश प्रभुत्व को समाप्त करने का अवसर हमें अभी नहीं मिल सकता. हमें इसको सुदूर भविष्य के लिए छोड़ देना चाहिए". एच. डब्ल्यु. नेविंसन कृत *न्यू स्पिरिट आफ इंडिया* में उद्धरण, 1908, पृ. 72. 1916 के लिए देखिए उनका बेलगाम में दिया गया प्रसिद्ध होम रूल भाषण, पूर्वोद्धृत पृ. 108-18. 1920-22 में पूर्ण स्वराज्य की मांग उठाने के बाद गांधी औपनिवेशिक राज्य (डोमीनियन स्टेट्स) पर राजी हो गए. इसी प्रकार, 1931 में भी वे इस से बहुत कम पर सौदा करने को तैयार हो गए, हालांकि 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन को 1929 में कांग्रेस अधिवेशन के संपूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव के आधार पर शुरू किया गया था.

3. सक्रिय राजनीतिक संघर्ष के संगठन के मार्ग में आई कठिनाइयों का वर्णन करते हुए, 1907 में गोखले ने देश के "जन साधारण की निष्क्रियता, उदासीनता... का उल्लेख किया जो शोचनीय रूप से विभाजित और उप-विभाजित थे .... जो गरीबी और अज्ञानता से घिरे हुए थे और उन रीति-रिवाजों और संस्थाओं से बंधे हुए थे जिनसे... तरक्की के उद्देश्य के लिए शक्तिशाली, अविरल और सम्मिलित कार्यवाही संभव नहीं हो सकती थी". 'स्पीजेच' दूसरा संस्करण, नेटसन एंड कंपनी, संस्करण, नई दिल्ली, पृ. 1103.
4. 1907 में सूरत कांग्रेस में, गोखले ने उग्रवादियों से कहा : "आपको यह अहसास नहीं है कि सरकार के पास कितनी अधिक शक्ति का भंडार है. यदि कांग्रेस आपके सुझाव के अनुसार कार्य करती है तो सरकार को उसे 5 मिनट में समाप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होगी". एंड्रूज एंड मुखर्जी कृत *दि राइज एंड ग्रोथ आफ दि कांग्रेस इन इंडिया* में उद्धरण, 1939, पृ. 215.
5. इस प्रकार, 1907 में बिपिन चंद्र पाल ने अपने प्रसिद्ध मद्रास के भाषणों में कहा था : "एक दूसरा रवैया यह है कि विदेशी प्रशासन और विदेशियों में अपने विश्वास में कमी आ जाने की वजह से हमने अपने ही घर की ओर देखना सीखा है. गवर्नमेंट हाउस, संसद के सदनों, शिमला, कलकत्ता से हमारी नजरें हट गई हैं और अब हमारा ध्यान अपने देश के 30 करोड़ भूखे, नंगे, धैर्यवान और लंबे समय से कष्ट उठा रहे लोगों की ओर गया है, और इसमें हमें एक नई शक्ति नजर आती है, क्योंकि अब हम उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, जिसका हमें पहले एहसास नहीं हुआ था, और भारत के असंख्य मेहनतकश, भूखे, नंगे व्यक्तियों में हमें नई संभावनाएं, नई शक्ति और नए बीज नजर आए हैं जिन्होंने इस नए आंदोलन को जनम दिया है. जन साधारण में विश्वास, राष्ट्र की प्रतिभा में विश्वास, भगवान में विश्वास—जो ऐतिहासिक विकास के माध्यम से, युगों-युगों से भारतीयों की शाश्वत प्रतिभा का मार्गदर्शन करता रहा है, इस आंदोलन का सारतत्व है. विदेशी शासन और विदेशी राष्ट्र में हमारी आस्था कम हो जाने के कारण, भारतीय मानवता में हमारा यह उच्चतर, अधिक प्रिय, अधिक गहन और अधिक सजीव विश्वास जाग्रत हुआ है (तालियां). और नए आंदोलन को ठीक प्रकार से समझने के लिए, आपको इसे भारतीयों के प्रति नए विश्वास के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए". *'स्वदेशी एंड स्वराज्य'*, 1954, पृ. 139-38. बल हमारी ओर से दिया गया है.
6. तिलक, पूर्वोद्धृत, पृ. 69-73, 374 और 382.
7. लाजपत राय, *यंग इंडिया*, 1956, भारतीय संस्करण, पृ. 91-91.
8. देखिए तिलक, पूर्वोद्धृत, पृ. 65; विपिन चंद्र पाल, पूर्वोद्धृत, पृ. 216-20 और 241-49; लाजपत राय, पूर्वोद्धृत, पृ. 141; अरविंद घोष, *डाक्ट्रीन आफ पैसिव रेसिस्टेंस*, 1948.
9. 1915 में, मद्रास में किए गए स्वागत के उत्तर में उन सामान्य व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए, जिन्होंने दक्षिणी अफ्रीकी संघर्षों में भाग लिया था, उन्होंने कहा : "आप ने कहा कि मैंने उन महान स्त्री-पुरुषों को प्रेरित किया, परंतु मैं इसे स्वीकार नहीं करता. उन सरल स्वभाव के लोगों ने एक विश्वास के

तहत कार्य किया और कभी भी प्रतिफल की आशा नहीं की. उन्होंने ही मुझे प्रेरणा दी, मुझे उपयुक्त स्तर पर कायम रखा और उन्होंने ही अपने महान बलिदानों, विश्वास महान ईश्वर में अपने महान विश्वास द्वारा वह कार्य काने को विवश किया जिस मैं करने योग्य था". *कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 13, 1964, पृ. 52-53.

10. उन्नीसवीं सदी के अंत तक कुछ नेता यह शिकायत कर रहे थे कि निर्णय लेने की शक्तियों का प्रयोग शीर्ष पर स्थापित नेतृत्व द्वारा किया जा रहा था और कार्यकर्त्ताओं से कोई विचार-विमर्श नहीं किया जाता था. बाद के वर्षों में कांग्रेस के साधारण कार्यकर्ताओं को इसी प्रकार की शिकायत रही.
11. गोखले, पूर्वोद्धृत, पृ. 1105-6. बल मेरी ओर से दिया गया है. जस्टिस रानाडे ने इस रणनीति के एक पहलू की निम्नलिखत व्याख्या की : उदारता का अर्थ कभी भी उन परिस्थितियों से नहीं है जिनमें असंख्य अथवा अत्यधिक दूरस्थ आदर्शों की व्यर्थ ही कामना की जाती है, बल्कि, प्राकृतिक विकास की भांति, जो हमारे नजदीक है, इस दिशा में समझौते और न्याय की भावना से प्रतिदिन एक कदम और आगे बढ़ाने का प्रयास करना है". टी.वी. परावटे कृत *गोपाल कृष्ण गोखले* में उद्धरण, 1959, पृ. 463.
12. 'गोखले' पूर्वोद्धृत, पृ. 929-30. बल मेरी ओर से. यह ध्यान दिया जाना है कि अगले चरण में जाना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि प्रत्येक चरण में कुछ सीखना और रुकना.
13. इस संबंध में, 1907 में तिलक के भाषणों से निम्नलिखित अंश काफी ज्ञानवर्धक है : "...(1858) की घोषणा बेअसर रही क्योंकि आप उसे लागू नहीं कर सके .... एक वायदा किया गया, परंतु उसे लागू करने में आपने अपने आपको कमजोर साबित किया... क्या मि. मोर्ले इसे पूरा करने जा रहे हैं? प्रश्न घोषणा के स्पष्टीकरण का नहीं है. प्रश्न यह है कि उसे पूरा करने के लिए उन्हें किस प्रकार बाध्य किया जाए. (राष्ट्रवादियों को उन्हें मजबूर करना चाहिए, लेकिन उसे पूरा तो वह ही करेगा. बिपन चंद्रा) .... मैं मानता हूं कि हमें उससे कहना चाहिए; परंतु हमें इस चेतना के साथ कहना चाहिए कि मांग से इनकार नहीं किया जा सकता .... हम कहते हैं कि संघर्ष करने वालों को तैयार करो, अपनी शक्ति को संगठित करो और अपने कार्य में जुट जाओ ताकि आप जो भी मांग रखें, उसे वे अस्वीकार न कर सकें ... मुझे पूरी रोटी चाहिए, वह भी तुरंत। लेकिन यदि मुझे पूरी रोटी नहीं मिलती तो यह मत सोचिए कि मुझ में धैर्य नहीं है. मैं उनके द्वारा दी गई आधी रोटी ले लूंगा, और बाकी आधी रोटी लेने की कोशिश करूंगा". पूर्वोद्धृत, पृ. 62, 64, 66. पृ. 45 भी देखिए. बल मेरी ओर से दिया गया है. एच.डब्ल्यु. नेविनसन कहते हैं कि तिलक ने उनसे 1907 में कहा था : "हमारे सामने तात्कालिक प्रश्न यह है कि हम नौकरशाही पर किस प्रकार दबाव डालें.... इस प्रश्न का हमारा उत्तर यह है कि हमारा तथाकथित उदारवादियों से मतभेद है. वे अभी तक यह आशा करते हैं कि वे प्रतिनिधिमंडल भेज कर इंगलैंड में जनमत को प्रभावित कर सकते हैं ... हम उग्रवादियों ने दूसरे प्रकार के तरीके काम में लाने का निर्णय किया है." नेविनसन में उद्धरण, पूर्वोद्धृत, पृ. 73-74. इसी प्रकार, गांधी ने अपने नजरिए का सार प्रस्तुत करते हुए 1939 में देशी राज्यों के जन-संघर्ष नेताओं को निम्नलिखित परामर्श दिया : "मेरा विश्वास है कि अब हमें अधिकारियों से सीधी बातचीत करनी शुरू करनी चाहिए .... अभी तक, राज्य कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने अधिकारियों या अधिकारियों ने उनसे बातचीत की है; इसके परिणामस्वरूप दोनों के बीच मतभेद में वृद्धि हुई है. सत्याग्रही का यह कहना उचित नहीं है कि रास्ता दोनों ओर से निकाला जाए... सत्याग्रही का पहला और अंतिम कार्य एक सम्मानजनक रास्ते की खोज करना है .... यदि नेताओं में सक्रिय अहिंसा का तत्व मौजूद है, तो उन्हें रास्ता अवश्य मिलेगा. मैंने व्यक्तिगत रूप से सदा इसी सिद्धांत का पालन किया है ... हमारा उद्देश्य जो है वही रहना चाहिए, किंतु हमें संपूर्ण से कम के लिए भी बातचीत करने के लिए तब तक तैयार रहना चाहिए जब तक हमें यह विश्वास न हो जाए कि जो हमें मिल रहा है

वह उसी के अनुरूप है जो हम चाहते हैं और उसमें विस्तार की संभावना है." *कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 69, 1977, पृ. 323.

14. दिलचस्प बात यह है कि असहयोग आंदोलनों के दौरान शांतिपूर्ण भीड़ ने सहज रूप से यही किया. 1930 में, शोलापुर के लोगों ने करीब-करीब पुलिस का स्थान ले लिया और स्वयं सेवकों को संगठित कर के यातायात का संचालन करते रहे, जब तक कि पुलिस ने उन्हें झगड़े के लिए उत्तेजित नहीं किया. इस स्थिति पर नियंत्रण करने के लिए पंजाब शैली मार्शल लॉ और नरसंहार की जरूरत थी. यह दृष्टांत तो सर्वविदित है कि गढ़वाली सैनिकों ने पूर्ण रूप से शांत रहते हुए पठानों की भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और अपनी रायफलें लौटा दीं.
15. राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति जे.एन. टाटा की उदारता की कहानी झूठी है. उन्होंने, दो वर्ष की अवधि में कांग्रेस को केवल 1000 रु. दिए थे और वह भी 1896 में कपास पर सीमा शुल्क लगाए जाने पर गुस्से की वजह से. ऐसे बहुत थोड़े देशभक्त जमींदार और राजा थे जिन्होंने राष्ट्रवादी उद्देश्य के लिए अपना योगदान दिया; परंतु ऐसा उन्होंने व्यक्तिगत रूप से किया, न कि अपने वर्ग के प्रवक्ताओं के रूप में, और यहां तक कि अपने वर्ग के सदस्यों के रूप में भी उन्होंने ऐसा नहीं किया.
16. धन के अभाव की वजह से प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं में, दो स्वतंत्र व्यवसाय के लोगों—वकीलों, और पत्रकारों—का वर्चस्व रहा. वे दो प्रकार से स्वतंत्र थे; वे सरकारी नियंत्रण से मुक्त थे और राजनीति में बने रहने के लिए धनी व्यक्तियों के चंदे की भी जरूरत नहीं थी. दूसरी ओर, गोखले और सुरेंद्रनाथ बनर्जी को अपने समय का एक बड़ा भाग पूर्वस्नातक छात्रों को पढ़ाने में लगाना पड़ता था. जब तक कि तिलक का समाचार पत्र वित्तीय कठिनाइयों से नहीं निकला, तिलक को भी कई वर्षों तक कानून के विद्यार्थियों के लिए प्राइवेट कक्षाएं चलानी पड़ी. जी. सुब्रामनिया और बिपिन चंद्र पाल श्रमजीवी पत्रकार थे.
17. गांधी के संबंध में अकसर यह कहा गया है कि "काश्तकार सदैव उनके चिंतन और कार्यों का केंद्रबिंदु रहे". मैं इससे सहमत नहीं हूं. उन्होंने जमींदारों, भू-स्वामियों, व्यापारियों और साहूकारों के विरुद्ध काश्तकारों की प्रमुख मांगों को नहीं उठाया. राष्ट्रीय स्वतंत्रता उनके चिंतन का केंद्रबिंदु थी जो सामाजिक विकास के एक बुर्जुआ ढांचे के अंदर सीमित रही. उसमें संदेह नहीं हैं कि काश्तकारों के लिए उनके मन में बहुत हमदर्दी थी और वे उनकी अपेक्षाओं और मानसिकता को भी समझते थे. उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल करने के लिए गांधी ने अपनी इस समझ का उपयोग किया. परंतु, इस प्रकार की समझ रखना और एक वर्ग को सक्रिय बनाने के लिए उसकी मानसिकता का उपयोग करना यह कहने से भिन्न है कि यह वर्ग "उनके चिंतन और कार्यों का केंद्रबिंदु रहा." उदाहरण के लिए हिटलर, जो गांधी से बिलकुल उलटा था, को भी निम्न जर्मन बुर्जुआ वर्ग की मानसिकता की बड़ी अच्छी और गहरी समझ थी और उसने एक लोकप्रिय आंदोलन को संगठित करके सत्ता पर कब्जा जमाने के लिए उसका उपयोग भी किया. हिटलर और गांधी में यह अंतर था कि हिटलर ने निम्न बुर्जुआ वर्ग की मानसिकता का उपयोग एकाधिकारी पूंजीवाद को कायम रखने और बर्बर फासीवादी राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित करने जैसे प्रतिगामी कार्य के लिए किया, जबकि गांधी ने काश्तकारों की मानसिकता का उपयोग साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने और एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थापित करने के एक प्रगतिशील कार्य के लिए किया.

अध्याय पांच

भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद

भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद में संबंध उस युग में विकसित हुए जब भारत में साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सशक्त संघर्ष शुरू हो चुका था। इस संघर्ष और इसके विभिन्न चरणों को केवल साम्राज्यवाद और भारतीय बुर्जुआ वर्ग के मध्य अंतर्विरोध में एक प्रतिबिंब के रूप में ही नहीं देखना चाहिए। यह संघर्ष, मूल रूप से, साम्राज्यवाद और समस्त भारतीय जनता के मध्य अंतर्विरोध का एक प्रतिबिंब था, जिसका बुर्जुआ वर्ग केवल एक महत्वपूर्ण अंग था। इसके अतिरिक्त, संघर्ष के आरंभ होने से लेकर बाद में उसके विकसित होने तक बुर्जुआ वर्ग ने न तो उसका संचालन किया और न ही उसे उग्रता प्रदान की।[1]

इसलिए, बुर्जुआ वर्ग के सामने एक साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन आरंभ करने अथवा न करने और उसे आगे बढ़ाने अथवा न बढ़ाने का कोई अवसर नहीं था; बल्कि इस वर्ग को स्वतंत्र रूप से उदीयमान और विकसित हो रहे आंदोलन के प्रत्येक चरण में उसके (आंदोलन के) प्रति अपने रवैए को निश्चित करना पड़ता था, क्योंकि कभी भी आंदोलन पर बुर्जुआ वर्ग का सीधा नेतृत्व नहीं रहा। यह वर्ग, आंदोलन का विरोध करके, साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करके, अथवा आंदोलन के प्रति निष्क्रिय रह कर उसे (आंदोलन को) अपना शत्रु बना सकता था; या फिर उसे अपना समर्थन देकर अपने हितों को पूरा कर सकता था और इस प्रकार उसकी दिशा, तरीकों, सामाजिक—आर्थिक कार्यक्रम और संगठन पर अपना नियंत्रण जमा सकता था, या दूसरे शब्दों में, आंदोलन को अपने वर्गहितों के साथ राजनीतिक और आर्थिक दायरे में सीमित रख सकता था। इस संबंध में उसने जो भी निर्णय लिया वह आकस्मिक नहीं था। आंदोलन को समर्थन देने की संभावना, वास्तव में आवश्यकता, इसलिए पैदा हुई कि इस वर्ग का साम्राज्यवाद के साथ केवल वस्तुनिष्ठ संबंध था और उसमें यह क्षमता भी थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के साथ सही संबंध स्थापित करके वह उसके नेतृत्व पर अपना कब्जा जमा सकता था।

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में साम्राज्यवाद के साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग के संबंध की चर्चा की जानी चाहिए।

यहीं पर एक दूसरी मान्यता को भी स्पष्ट कर देना ठीक रहेगा। भारतीय पूंजीपति वर्ग मे पूर्ण रूप से एकरूपता नहीं थी, जिसके परिणामस्वरूप पूंजीपति वर्ग के विभिन्न अंगों और साम्राज्यवाद के मध्य अंतर्विरोध के विकास की मात्रा में निश्चित रूप से अंतर था और इस वजह से इन अंगों के दृष्टिकोण में भी भिन्नता थी। उदाहरण

के लिए, इस प्रकार का अंतर वाणिज्य तथा उद्योग, वित्त और उद्योग, प्रदेश और आकार पर आधारित था। कुछ, विशुद्ध रूप से, व्यक्तिगत अंतर भी थे। फिर भी, अपने उद्देश्य के मद्देनजर मैंने इस पूरे वर्ग के दृष्टिकोण पर विचार किया है, क्योंकि इससे साम्राज्यवाद के साथ उसके आर्थिक और राजनीतिक संबंध में एक बुनियादी एकरूपता का ज्ञान होता है। 1927 के बाद सरकार ने इस वर्ग, फेडरेशन आफ इंडियन चैंबर्स आफ कामर्स एंड इंडस्ट्री, और पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और जी.डी. बिड़ला जैसे कुछ व्यक्तियों को जो प्राथमिकता दी उससे इस एकरूपता का पता चलता है।

I

इस निबंध का मूल विचार यह है कि हालांकि भारतीय पूंजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद के साथ एक दीर्घकालिक अंतर्विरोध विकसित हो चुका था, फिर भी उसने साम्राज्यवाद के साथ अपने अल्पकालिक संबंध और उस पर अपनी निर्भरता कायम रखी।[2]

II

19वीं शताब्दी के मध्य से और विशेष रूप से 1914 के पश्चात भारत में एक आत्मनिर्भर पूंजीपति वर्ग का विकास हुआ। आरंभ से ही, उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी : *विशेष रूप से, ब्रिटिश पूंजीवाद के साथ उसका कोई व्यवस्थित संबंध विकसित नहीं हुआ, और उसका भारत में नियोजित विदेशी पूंजी में विलय नहीं हुआ।* इस बात पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। 20वीं शताब्दी के दौरान भारतीय पूंजीपति ब्रिटेन में ब्रिटिश पूंजीपतियों अथवा भारत और भारतीय बाजार के मध्य मध्यस्थों के रूप में कार्य नहीं करते थे। 19वीं शताब्दी के मध्य जब उनके कुछ पूर्वजों ने ब्रिटेन और भारत अथवा भारत और सुदूर पूर्व के बीच व्यापारियों के रूप में कार्य किया तब भी वे अपने वित्तीय साधनों का प्रयोग करके स्वयं अपना ही व्यापार करते थे, जिनकी अकसर ब्रिटिश फर्मों के साथ स्पर्धा रहती थी; उन्होंने मुश्किल से ही कभी उनके ऐजेंटों के रूप में कार्य किया होगा। न ही अधिकांश भारतीय उद्योगपतियों का भारत में ब्रिटिश उद्यमियों के छोटे साझेदारों के रूप में विकास हुआ।[3] भारतीय पूंजीपतियों का मुख्य भाग किसी भी चरण में विदेशी पूंजी, औद्योगिक अथवा वित्तीय पूंजी के अधीन नहीं था।[4] और न ही भारतीय उद्योगपति पूंजी के लिए ब्रिटिश वित्तीय पूंजी पर निर्भर करते थे। वास्तव में, ब्रिटिश पूंजी के साथ गहरी प्रतिस्पर्धा के कारण ही भारतीय औद्योगिक और वित्तीय पूंजी का विकास हुआ; और प्रमुख भारतीयों की एक शिकायत यह भी थी कि ब्रिटिश नियंत्रण में चल रही बैंकों ने भारतीय उद्योग को पर्याप्त वित्तीय सहायता नहीं दी। इस सहयोग के अभाव का मुख्य कारण

यह था कि चूंकि ब्रिटिश पूंजीपतियों का भारत में अपना एक सीधा और सुव्यवस्थित प्रशासन था। इसलिए उन्हें अब भारत में स्थानीय मध्यस्थ वर्ग की आवश्यकता नहीं थी, जिस प्रकार कि उन्हें 18वीं शताब्दी में भारत में और 19वीं और 20वीं शताब्दियों में चीन में महसूस हुई।

इस संबंध में 20वीं सदी के कुछ प्रमुख भारतीय उद्योगपतियों के पारिवारिक इतिहास से हमें काफी अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। टाटा, बिड़ला, श्रीराम, डालमिया जैन, विट्ठल दास ठाकरसी, बालचंद हीराचंद, नरोत्तम मोरारजी, सिंहानिया, कस्तूर भाई लाल भाई, अंबा लाला साराभाई, जमनालाल बजाज, लल्लू भाई सामलदास, लालजी नारनजी, किरलोसकर, मोदी, कीला चंद देवी चंद और हरिकृष्ण लाल के घरानों का विदेशी पूंजी के साथ मुश्किल से ही कोई संपर्क हुआ, उस पर निर्भरता की तो बात ही अलग है।[5]

इस प्रकार भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए विदेशी पूंजी पर निर्भर नहीं था, और वह चूंकि इस प्रकार "बंधा हुआ" नहीं था इसलिए वह भारत में ब्रिटिश शासन का मित्र भी नहीं था; बल्कि जैसा कि अगले भाग में प्रदर्शित किया जाएगा, वह इसके बिलकुल विपरीत था।

इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने आर्थिक और राजनीतिक रूप से वही भूमिका निभाई जो कि पूंजीपति वर्ग ने ब्रिटेन, अथवा फ्रांस, अथवा जर्मनी अथवा जापान में क्रमशः 17वीं, 18वीं और 19वीं शताब्दियों में निभाई थी। परंतु, वास्तव में यह अंतर इस वजह से नहीं था कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के एक एजेंट की भूमिका निभाई (जैसा कि अधिकतर विश्वास किया जाता है)। अंतर यह है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग एक ऐसे अर्ध-विकसित देश का पूंजीपति वर्ग था जो कि एक उपनिवेश के रूप में, विश्व के पूंजीवादी ढांचे का अंग था। दूसरे शब्दों में, हालांकि भारतीय पूंजीपति वर्ग एक वर्ग के रूप में, एक अधीनस्थ स्थिति में, ब्रिटिश पूंजी से जुड़ा हुआ नहीं था लेकिन वह उस अर्थव्यवस्था का अंग था, अर्थात औपनिवेशिक रूप से विश्व के पूंजीवाद से जुड़ा हुआ था और उसके अधीन था। जिन विवशताओं और कमियों के तहत इस वर्ग ने अपना कार्य जारी रखा उसका मुख्य कारण यही तथ्य था। यह तथ्य तीन कारणों से महत्वपूर्ण है :

(1) इस वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक क्षमताओं और कमियों को समझने के लिए हमें औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के ढांचे की ओर देखना चाहिए न कि पूंजीपति वर्ग की तथाकथित अधीनस्थ वर्ग स्थिति की ओर। इसी प्रकार, भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में उपनिवेशवाद की असफलता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने भी इस दिशा में कार्य नहीं किया। ऐसा तब कहा जा सकता था जब यह वर्ग स्वयं औपनिवेशिक पूंजी और उपनिवेशवाद से जुड़ा हुआ होता।

(2) चूंकि औपनिवेशिक रूप से पूंजीपति वर्ग को नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था को अधीन किया जाता है, इसलिए पूंजीपति वर्ग एक ओर तो साम्राज्यवाद के विरुद्ध और स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के लिए संघर्ष करता है, और दूसरी ओर साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने को विवश होता है क्योंकि एक औपनिवेशिक अथवा भूतपूर्व औपनिवेशिक समाज में विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ संरचनात्मक संबंध होने के कारण पूंजीवाद की स्थिति कमजोर हो जाती है।[6]

(3) केवल भारतीय पूंजीपति वर्ग की ही यह नियति नहीं रही है। चूंकि एक ढांचे के रूप में विश्व-पूंजीवाद का अस्तित्व साम्राज्यवाद के रूप में होता है, जिसके एक अंग का विकास दूसरे अंग के अविकास के कारण होता है। इसलिए, इसकी परिधि के अंदर वे राज्य, जो विकसित नहीं हो पाते, तब तक अविकसित और उपनिवेश बने रहते हैं जब तक कि वे स्वयं इस ढांचे से बाहर नहीं निकलते।

III

दीर्घकालिक संघर्ष

लगभग प्रत्येक बुनियादी आर्थिक मुद्दे पर भारतीय पूंजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद के साथ मतभेद रहा।[7] उद्योग के करीब-करीब प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय पूंजी की ब्रिटेन की स्थानीय पूंजी या फिर से भारत में ब्रिटिश पूंजी के साथ स्पर्धा रही। साम्राज्यवाद इन बुनियादी मुद्दों पर नहीं झुका, दूसरी ओर, भारतीय पूंजीपति अपने स्वतंत्र विकास की रक्षा करने के लिए दृढ़ता से डटे रहे। यहां हमारे पास केवल संघर्ष के कुछ क्षेत्रों पर प्रकाश डालने के लिए ही स्थान है।

(1) सर्वप्रथम ब्रिटेन के आंतरिक उद्योग से संघर्ष हुआ। भारतीय पूंजीपतियों ने यह बात स्पष्ट रूप से समझ ली थी कि उन्हें अपने आंतरिक बाजार पर ब्रिटिश और दूसरे विदेशी उद्योगों के बर्चस्व को सीमित करना चाहिए और उसे समाप्त करना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप, वे अपने उद्योगों को करारोपण से बचाने के लिए निरंतर संघर्ष करते रहे। बाद में जब ब्रिटिश उद्योगों को कर में रिआयत देने के लिए इंपीरियल प्रीफ्रेंस की नीति लागू की गई तब उन्होंने भारतीय उद्योगों पर उसके हानिकारक प्रभाव और गैर-साम्राज्यी देशों के साथ व्यापार की परिस्थितियों में आई गिरावट के कारण इस नीति का तीव्र विरोध किया। उन्होंने ऐसे कच्चे माल के निर्यात पर भारी कर लगाने की मांग भी रखी जिसकी भारतीय उद्योगों को आवश्यकता थी। 1930 के दशक के दौरान उन्होंने भारत सरकार को शुल्क के संबंध में, स्वायत्तता देने की मांग भी रखी।

(2) 1918 के बाद भारतीय उद्योग में बड़े पैमाने पर विदेशी पूंजी लगाने के

कारण विदेशी पूंजी का कड़ा विरोध किया गया। भारतीय पूंजीपतियों ने व्यापक रूप से प्रचलित इस अवधारणा का खंडन किया कि विदेशी पूंजी के बिना भारत का आर्थिक विकास नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि भारत में विदेशी पूंजी का निवेश, वास्तव में, देश के आर्थिक शोषण का परिणाम है जो उसे विकास की ओर न ले जाकर और अधिक शोषण की ओर ले जाएगा। उन्होंने, विशेषकर, विशाल ब्रिटिश औद्योगिक निगमों द्वारा भारतीय सहायक कंपनियां बनाने, (जिन्हें इंडिया लिमिटेड कहा गया) उनके द्वारा भारत में अपने बाजारों को सुरक्षित रखने, उनके प्रसार करने, 1920 और 1930 के दशकों के दौरान शुल्क संरक्षण, सस्ती भारतीय मजदूरी और बाजार की निकटता का लाभ उठाने के प्रयास पर कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त की। भारतीय पूंजीपतियों ने शीघ्र ही यह समझ लिया कि इन विशाल निगमों से छोटे उपक्रमों और भारतीय पूंजी के विकास-हितों को बहुत बड़ा खतरा था। उन्होंने सरकार से इस प्रकार की 'अन्यायपूर्ण' आंतरिक प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध प्रशासनिक कदम उठाने की मांग की। उन्होंने 'भारतीय उद्योगों पर भारतीय बर्चस्व' का नारा बुलंद किया। यहां यह बताना दिलचस्प रहेगा कि इन इंडियन लिमिटडों में ब्रिटिश पूंजी के साथ मुश्किल से ही किसी भारतीय पूंजीपति ने साझेदारी की।

1930 और 1940 के दशकों के दौरान भारतीय पूंजीपतियों ने अपने प्रति पक्षपात पूर्ण रवैए और (यदि आवश्यकता समझी गई) गैर-राष्ट्रीय हितों, अर्थात, ब्रिटिश पूंजी को बाहर रखने के अधिकार को अपने आंदोलन का मुख्य मुद्दा बनाया। 1931-35 के दौरान, संवैधानिक बहसों में उन्होंने विदेशी पूंजी को किसी भी प्रकार की संवैधानिक सुरक्षाएं प्रदान करने का विरोध किया और उसके बजाए ब्रिटिश और विदेशी पूंजी के विरुद्ध विभेद किए जाने की मांग रखी।

दूसरे महायुद्ध के दौरान भारतीय पूंजीपतियों ने अधिक शक्तिशाली अमरीकी पूंजी के भारत प्रवेश और युद्धोत्तर काल में "भारत पर अमरीकी बर्चस्व" और 'नए विदेशी निहित स्वार्थों' के खतरों का तुरंत सामना करने के लिए एक शक्तिशाली आंदोलन छेड़ा।

यहां इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय पूंजीपतियों ने तत्कालीन विदेशी पूंजी के निष्कासन के लिए संघर्ष नहीं छेड़ा। भारत में तत्कालीन विदेशी पूंजी का निवेश अपेक्षाकृत कम मात्रा में था और उस पूंजी के एक छोटे से अंश का इंगलैंड में ब्रिटिश एकाधिकार पूंजी के साथ सीधा संबंध था; और यदि उससे सरकारी संरक्षण वापस ले लिया जाता तो भारतीय पूंजीपतियों को यह विश्वास था कि वे विदेशी पूंजी के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। लेकिन, उनका विचार था कि किसी भी स्थिति में विदेशी पूंजी को भारतीय अर्थव्यवस्था में अपनी स्थिति मजबूत करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। और जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है उन्होंने इंपीरियल केमीकल कंपनी, लीबर ब्रादर्स, बर्मा आयल कंपनी और अमरीकी निगमों

जैसे प्रमुख देशों के विशाल औद्योगिक निगमों के प्रवेश पर आपति की।

विशेष रूप से, उन्होंने मशीनरी और मशीनी उपकरणों, आटोमोबाइल, जहाज निर्माण, पोत निर्माण, भारी रसायन, उर्वरक, खनन और पैट्रो-रसायन जैसे प्रमुख और भारी उद्योगों के सभी क्षेत्रों में विदेशी पूंजी के प्रवेश का निरंतर विरोध किया। वे चाहते थे कि इन उद्योगों को भारतीय निजी अथवा सरकारी पूंजी के लिए आरक्षित कर दिया जाए और विदेशी अथवा गैर-भारतीय स्वामित्व, और नियंत्रण के विरुद्ध कानून पारित किया जाए।

(3) भारतीय पूंजीपतियों ने भारत के बैंकिंग ढांचे पर ब्रिटिश वित्त पूंजी के वर्चस्व के विरुद्ध आवाज उठाई और लगभग 1913 से यह मांग रखी कि भारतीय शेयर धारकों या भारतीय विधान परिषद के नियंत्रण में एक केंद्रीय नियंत्रणकारी बैंक की स्थापना की जाए, जिस पर किसी हद तक भारतीयों का प्रभाव हो। इसमें किसी भी सूरत में 'लंदन शहर' का प्रभाव नहीं होना चाहिए। बीसवीं सदी के दौरान भारतीय बैंक और बीमा व्यापार से ब्रिटिश पूंजी को बाहर रखने और उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए भारतीय पूंजीपतियों ने एक गहन आर्थिक संघर्ष जारी रखा। एक बार फिर सरकार से अनुरोध किया गया कि वह तत्कालीन विदेशी कंपनियों के कार्यकलापों और विदेशी बीमा कंपनियों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाए। 1920 और 1930 के दशकों के दौरान भारतीय पूंजीपतियों ने रुपए को पौंड स्टर्लिंग से संबंद्ध किए जाने और उसका मूल्य अधिक निश्चित किए जाने के विरुद्ध संघर्ष किया क्योंकि इन सरकारी कदमों से विदेशी माल और विदेशी पूंजी के आयात को प्रोत्साहन मिलता था और इस प्रकार भारतीय पूंजी के विकास में अड़चन आती थी।

(4) विदेशी व्यापार और नौपरिवहन अतिरिक्त विनियोग का एक महत्वपूर्ण स्रोत थे और संपूर्ण भारतीय पूंजीपति वर्ग ने आयात-निर्यात के अंतर से मिलने वाले और इसी प्रकार के अन्य अदृश्य लाभों पर कब्जा जमाने के लिए किए जा रहे वैयक्तिक भारतीय प्रयत्नों का समर्थन किया। ब्रिटिश नौपरिवहन एकाधिकार के विरुद्ध भारतीय संघर्ष 1890 के दशक में आरंभ हो चुका था जो कि निरंतर असफलताओं के बावजूद बराबर जारी रहा। 1920 और 1930 के दशकों में पूंजीपतियों ने यह कानून पास करवाने का भी प्रयास किया कि भारतीय तटीय नौपरिवहन को केवल भारतीयों के लिए आरक्षित कर दिया जाए।

(5) भारतीय पूंजीपति वर्ग इस तथ्य के प्रति पूर्ण रूप से सचेत था कि उसे अपने क्रियाकलापों के लिए सक्रिय और सीधी सरकारी सहायता की आवश्यकता है और वह निरंतर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा। आर्थिक गतिविधि के करीब-करीब सभी क्षेत्रों उद्योग, बैंक व्यवस्था, बीमा, समुद्री और हवाई परिवहन, अंतर्देशीय परिवहन और कृषि—के लिए राजकीय सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया।

वास्तव में, केवल राज्य ही ब्रिटेन के देशीय उद्योगों के विरुद्ध शुल्क में रिआयत देने की स्थिति में था।

विदेशी पूंजी के साथ सीधी स्पर्धा करने में अपनी कमजोरियों को पहचानते हुए, भारतीय पूंजीपति वर्ग को यह अहसास हुआ कि विदेशी पूंजी को बाहर रखने और सीधी प्रशासनिक कार्यवाही द्वारा उस पर नियंत्रण जमाने में सरकारी कार्यवाही ही वह प्रमुख हथियार था जिसका सहारा लेकर सार्वजनिक क्षेत्र में उद्यमों को खड़ा किया जा सकता था; और यदि ऐसा नहीं किया जाता तब बड़े उद्यमों में भारी पूंजीपति निवेश की आवश्यकता होने पर भारतीय पूंजी के स्थान पर विदेशी पूंजी का निवेश किया जाएगा। उदाहरण के लिए, भारी उद्योगों, अनावश्यक खनिजों और संरचना के विस्तृत परिदृश्य के लिए भारी पूंजी की आवश्यकता थी।

सरकार के समक्ष यह मांग भी रखी गई कि वह उन उद्योगों को—जिनमें मुनाफा देर से मिलता है अथवा जिनमें अधिक जोखिम उठाना पड़ता है जैसे भारी मशीन और रसायन उद्योग और नौ परिवहन—गारंटी और वित्तीय सहायता के रूप में सीधी सहायता दे।

भारतीय पूंजीपतियों ने यह समझ लिया था कि भारी मशीनी और रासायनिक उद्योगों में, और इसी प्रकार के दूसरे उद्योगों, जैसे आटोमोबाइल, हवाई जहाज और पोत निर्माण में आत्मनिर्भरता प्राप्त किए बिना किसी भी प्रकार का वास्तविक और दीर्घकालिक विकास संभव नहीं हो सकता। लेकिन इस क्षेत्रों में औपनिवेशिक प्रशासन किसी भी स्थिति में प्रतिद्वंद्वी उद्योगों की सहायता करने को तैयार नहीं था। फिर भी गारंटी, वित्तीय सहायता, सरकारी क्रय गारंटियों, बाजार के आरक्षण और दूसरे संभव तरीकों के रूप में राजकीय सहायता के बिना भारतीय पूंजीपतियों के लिए इन उद्योगों को विकसित करना संभव नहीं था, क्योंकि उनके लिए भारी पूंजी की आवश्यकता के साथ-साथ जोखिम उठाने की क्षमता की भी आवश्यकता थी। 1930 और 1940 के दशकों में भारतीय पूंजीपतियों ने इस क्षेत्रों अपने पांव जमाने के भरसक प्रयत्न किए, लेकिन सरकारी उदासीनता और शत्रुता के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली, जिसकी वजह से वे इन क्षेत्रों में सक्रिय और बड़ी मात्रा में सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहे। इसके साथ ही, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है उन्होंने इन क्षेत्रों में विदेशी पूंजी के निवेश करने के प्रत्येक प्रयत्न का विरोध किया।

भारतीय पूंजीपतियों को सरकार से यह आशा भी थी कि वह उनकी एक प्रमुख कमजोरी अर्थात तकनीकी कर्मचारियों की कमी और स्थानीय प्रौद्योगिकी के निम्न स्तर को दूर करने में उनकी सहायता करेगी। वे चाहते थे कि भारत में कार्यरत विदेशी उद्यमों पर सरकार यह शर्त रखे कि वे भारतीय तकनीकी कर्मचारियों को अनिवार्य रूप से तकनीकी प्रशिक्षण देंगे।

भारतीय पूंजीपतियों ने इस बात को भी स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि नौकरशाही विदेशी उद्यमों की सहायता करने और स्थानीय उद्यमों के विकास में बाधा उत्पन्न करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, इसलिए उन्होंने उन प्रमुख प्रशासनिक पदों के भारतीयकरण की पुरजोर मांग उठाई जिनका संबंध अर्थव्यवस्था के संचालन से था।

इन सब मांगों को पूरा करने के लिए, सरकार को एक बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती। इसके साथ ही भारतीय पूंजीपति यह भी देख रहे थे कि औपनिवेशिक सरकार भू-राजस्व और सामाजिक अधिशेष का प्रयोग साम्राज्यी हितों को बढ़ावा देने में इस ढंग से कर रही है कि उससे आंतरिक पूंजीवादी विकास को हानि हो रही है। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने राज्य के वित्तीय संसाधनों पर भारतीय नियंत्रण को अपनी प्रमुख राजनीतिक मांग बनाया। अपने अत्यधिक समझौतावादी दौर में भी पूंजीपति वर्ग इन मांगों पर समझौता करने को तैयार नहीं था। उदाहरण के लिए, गोलमेज कांफ्रेंस की बहसों के दौरान इस वर्ग के प्रतिनिधि प्रस्तावित संविधान में वित्तीय सुरक्षा के प्रश्न पर दृढ़ रहे। उद्योंगों को सरकारी सहायता देने के प्रश्न पर हुई बहस में उन्होंने साम्राज्यी विस्तार और सुरक्षा के उद्देश्य से एक बड़ी सेना के रख-रखाव पर होने वाले भारी खर्चे, अत्यधिक प्रशासनिक खर्च और भारी सार्वजनिक ऋण की कड़ी आलोचना की क्योंकि इन खर्चों के बाद उद्योगों को सहायता देने के लिए सरकार के पास कुछ भी नहीं बचता था।

भारतीय पूंजीपतियों ने भारतीय सामाजिक अधिशेष के निकास अथवा निर्यात पर भी ध्यान दिया; आंतरिक पूंजी निवेश के लिए उन्हें इसकी अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि वह उसे रोकने के उपाय करे।

(6) इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने इस तथ्य को पूर्ण रूप से समझ लिया था कि भारत के साम्राज्यी आर्थिक शोषण की वजह से उनके दीर्घकालिक विकास में रुकावट आ रही थी और इसलिए उसने उन तीनों प्रमुख बातों का विरोध किया जिनके द्वारा ब्रिटेन भारतीय सामाजिक अधिशेष का लाभ उठाता था : भारतीय बाजार पर प्रभुत्व, विदेशी पूंजी का निवेश, औद्योगिक और वित्तीय दोनों, और सार्वजनिक पूंजी पर नियंत्रण और विशेष रूप से साम्राज्यी उद्देश्यों के लिए सेना पर अत्यधिक खर्च द्वारा अधिशेष पर सीधा कब्जा जमाना।

भारतीय पूंजीपति वर्ग ने जिन प्रमुख बिंदुओं पर एक सुस्पष्ट राष्ट्रीय नीति तैयार की थी, ब्रिटेन उन्हें मानने के लिए तैयार नहीं था इसलिए इस वर्ग ने अपनी एक निजी राष्ट्र-राज्य की स्थापना की आवश्यकता महसूस की। उसने 1929 से ही स्पष्ट रूप से इस आधार पर यह राजनीतिक मांग उठाई कि इस मांग को पूरा किए बिना किसी भी रूप में देश का आर्थिक विकास संभव नहीं था।[8] कुछ राजनीतिक और अल्पक़ालिक आर्थिक कारणों से यह वर्ग इस मांग को और इसी प्रकार की दूसरी

मांगों को अस्थायी तौर पर स्थगित करने को तैयार था लेकिन संघर्ष के दीर्घकालिक और मूलभूत विषयों के मद्देनजर वह साम्राज्यवाद के साथ एक सीमा तक ही समझौता कर सकता था।

IV

अल्पकालिक निर्भरता और सहयोग

ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय पूंजीपति वर्ग के विरोधपूर्ण रवैए में कई कारणों से परिवर्तन आया।

(1) पहला, उन्हें निरंतर विकसित होने का अवसर मिला : हालांकि उन्होंने समय-समय पर दबाव महसूस किया, लेकिन प्रत्यक्ष रूप से उनका दमन कभी नहीं किया गया। विशेषकर, दो महायुद्धों ने उन्हें अत्यधिक लाभ कमाने के अवसर प्रदान किए और उनका बड़ी तेजी से विकास भी हुआ। इससे थोड़े समय के लिए उनकी साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं में भी कमी आई।

(2) दूसरा, एक मामूली शुरुआत से, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पूंजीपति वर्ग बड़ी तेजी से उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। 18वीं और 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत की परंपरागत बैंकिंग और वाणिज्यिक पूंजी को या तो नष्ट किया गया या फिर उसे अन्य क्षेत्रों में लगाया गया। इसलिए उसके पास मुश्किल से ही कोई पुरानी अथवा मौलिक पूंजी उपलब्ध थीं, जिससे वह अपना उद्योग आरंभ करता।[9] इसके अतिरिक्त मौजूदा पूंजी, व्यापारियों, बैंकरों और महाजनों में बंटी हुई थी। अतः सामान्य संचय की प्रक्रिया को निम्न स्तर से ही आरंभ होना था। औपनिवेशिक लूट अथवा असमान व्यापार से मनचाहा मुनाफा कमाने के अवसर न मिलने, राजकीय सहायता न मिलने और विदेशी व्यापार, बैंकिंग और उनके अपने स्थानीय बाजार के क्षेत्रों में सरकार द्वारा सामान्य अवसर प्रदान न किए जाने के कारण भारतीय वाणिज्यिक और औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग द्वारा पूंजी संचय का कार्य बहुत धीमा था। इसके कई परिणाम सामने आए जिनसे इस वर्ग के सक्रिय राष्ट्रवादी राजनीति में देर से हुए प्रवेश और उसके द्वारा एक नरम राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाए जाने के कारणों का पता चलता है।

(क) भारतीय पूंजीपति वर्ग अनेक वर्षों तक कमजोर रहा और इसलिए उसमें इतना आत्मविश्वास नहीं था कि वह उस समय के अत्यधिक शक्तिशाली साम्राज्यवाद को चुनौती दे सके।

(ख) भारतीय पूंजी के विकास और उसके संचय की रफ्तार इतनी धीमी थी कि साम्राज्यवाद ने उसे सरलता से सहन कर लिया। चूंकि भारतीय पूंजी की मात्रा

बहुत कम थी, इसलिए साम्राज्यवाद ने उसे एक गंभीर चुनौती के रूप में नहीं लिया; और जब तक भारतीय पूंजी के सामाजिक अधिशेष का भाग कम था और चूंकि उससे अधिशेष को हासिल करने के साम्राज्यी रास्ते प्रभावित नहीं होते थे, इसलिए भारतीय पूंजी को विकसित होने के अवसर दिए जा सकते थे; न ही उसके पुनः निवेश के रास्ते खोजने में किसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। अतः भारतीय पूंजी के सामने कभी ऐसी कठिनाई नहीं आई जिससे उसके विकास के रास्ते में कोई रुकावट आई हो अथवा उसके समाप्त होने का संकट आया हो।

(ग) इसके परिणाम यह हुआ कि हालांकि दोनों पूंजीवादों के मध्य संघर्ष की शुरुआत बहुत जल्दी हो चुकी थी लेकिन उसके परिपक्व होने और उसमें तेजी आने में कई दशक लग गए। दोनों पक्षों को यह आशा थी कि भविष्य में यह संघर्ष अवश्य होगा—और यह एक दीर्घकालिक संघर्ष था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग राजनीतिक और वैचारिक संघर्ष के द्वारा इसकी दीर्घकालिक संघर्ष को अपने पक्ष में करना चाहता था, हालांकि वह औपनिवेशिक प्रशासन के साथ समय-समय पर अल्पकालिक समझौते, समायोजन और सहयोग करता रहा। दूसरे महायुद्ध के पश्चात जब भारतीय पूंजीपति वर्ग की स्थिति में काफी सुधार हो चुका था तब तनाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। परंतु ठीक उसी समय, लोकप्रिय राजनीतिक दबाव और तत्वों के विश्वीय संतुलन में आए परिवर्तन के कारण भारत को राजनीतिक आजादी मिल गई और अब भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यी ताकत के साथ शत्रुता मोल लिए बिना तेज विकास के एक नए युग में प्रवेश किया।

(घ) भारतीय उद्योग को अविरल और निरंतर रूप से विकसित होने का अवसर मिला, लेकिन इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता कि कम से कम 1918 तक, उसका विकास मार्क्स के दूसरे मार्ग के अनुशरण द्वारा हुआ अर्थात, ऊपर से हुआ, जिसने इस वर्ग की राजनीति को बिलकुल रूढ़िवादी बना दिया।

(ङ) आधुनिक भारत के करीब-करीब सभी प्रमुख पूंजीपति परिवारों की शुरुआत, जिन्होंने 19वीं सदी में उन्नति की, काफी निम्न स्तर की रही। उनमें से किसी का भी पुराने, तबाही से गुजरे हुए परिवारों से संबंध नहीं था। इसके विपरीत, ब्रिटिश शासन की उनकी नई यादें अपेक्षाकृत काफी सकारात्मक थीं। इसने भी कम से कम उद्यमियों की पहली अथवा दूसरी पीढ़ी में, ब्रिटिश शासन के प्रति पूर्ण संतोष की मानसिकता को जनम दिया।

(3) तीसरा, हालांकि भारतीय पूंजीपति वर्ग ब्रिटिश पूंजी पर निर्भर नहीं था, फिर भी वह कुछ समय तक औपनिवेशिक प्रशासन पर निर्भर रहा। इस पहलू की अकसर उपेक्षा की गई है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सरकार ब्रिटिश उपनिवेशवाद का एक औजार थी। परंतु, पूंजीपति वर्ग देश में, दिन-प्रतिदिन, उन प्रशासनिक अधिकारियों की शत्रुता मोल नहीं ले सकता था जिन पर अपने अनगिनत उद्देश्यों की पूर्ति के

लिए उसे निर्भर रहना पड़ता था। कम से कम गैर-ब्रिटिश प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध केवल सरकार ही शुल्क में राहत दे सकती थी। प्रमुख आंतरिक परिवहन व्यवस्था और समूचे बंदरगाह-संगठन पर उसका पूर्ण नियंत्रण था। इन दोनों के द्वारा वह व्यापार और उद्योग को प्रभावित करने की स्थिति में थी। केवल वह ही खनन संबंधी रिआयतें, (जो कोयला, लोहा, स्टील और दूसरे उद्योगों में बहुत महत्वपूर्ण थीं) जमीन के पट्टे और बिजली के उत्पादन के लिए जमीन और दूसरी सुविधाएं दे सकती थी।[10] पूंजी संचय के एक प्रमुख क्षेत्र पर भी उसका नियंत्रण था, अर्थात सरकारी ठेकों पर। उसका उद्योग विभाग अनगिनत सुविधाएं दे सकता था और उन्हें वापस भी ले सकता था। वह औद्योगिक उत्पादों की एक प्रमुख खरीददार थी। उसके पास विशेष स्थानों पर फैक्टरियां आरंभ करने की अनुमति देने और उसे वापस लेने की शक्ति भी सरकार के हाथ में थी। यदि कोई उद्योगपति समय पर कर्जा चुकाने में असमर्थ रहता तो सरकार सेंट्रल बैंक की मार्फत उसे कर्जा चुकाने के लिए मजबूर कर सकती थी। पूंजी संचय की दर पर सरकार की कर लगाने की नीति का निर्णायक प्रभाव पड़ता था। उसकी श्रम नीति उसकी शक्ति का एक दूसरा महत्वपूर्ण औजार था।

इन बातों के अतिरिक्त, प्रथम महायुद्ध के बाद पूंजीपति वर्ग को कानून और व्यवस्था बनाए रखने, और गहन सामाजिक उथल-पुथल और राजनीतिक और श्रमिक अशांति के दौर में सामाजिक शांति स्थापित करने की गारंटी के लिए सरकार पर निर्भर रहना पड़ता था। वह इस तथ्य के प्रति भी सचेत था कि यदि सरकार राष्ट्रीय आंदोलन के साथ, उसके संघर्ष के चरणों में, अपनी जिद पर अड़ी रहती है और कोई समझौता नहीं करती अथवा उसे (आंदोलन को) रिआयतें देने से इनकार कर देती है, तब राष्ट्रीय आंदोलन अत्यंत परिवर्तनवादी चरण में पहुंच जाएगा। इस प्रकार आंदोलन के प्रत्येक चरण में भारतीय पूंजीपति वर्ग सरकार पर इस बात के लिए निर्भर रहता था कि वह उसे (आंदोलन को) एक सुरक्षित सीमा में बनाए रखे।[11] अतः प्रत्येक राष्ट्रवादी लहर के दौरान पूंजीपति वर्ग को सरकार से समझौता करने की अपील करनी पड़ती थी। हालांकि, वास्तविकता यह है कि विदेशी सरकार पर यह राजनीतिक निर्भरता साम्राज्यी एजेंटों के एक वर्ग की नहीं बल्कि जन-आंदोलनों और सामाजवादी क्रांतियों के एक युग में पूंजीपति वर्ग की निर्भरता थी।

सरकार पर इस विविध प्रकार की निर्भरता ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को एक नरम राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाने और आर्थिक क्षेत्र में सरकार के साथ घनिष्ठ संबंध बना कर कार्य करने को विवश कर दिया। ऐसी स्थिति में सरकार के साथ इस वर्ग की राजनीतिक शत्रुता थोड़े समय के लिए हो सकती थी, लंबे समय के लिए नहीं। इसके साथ ही मैं फिर दोहराना चाहूंगा कि उस समय की सरकार के साथ यह घनिष्ठ आर्थिक संबंध एक स्वतंत्र पूंजीपति वर्ग का था न कि साम्राज्यी एजेंटों अथवा ब्रिटिश शासक वर्ग के एक कनिष्ठ भागीदार का जो कि ब्रिटिश भारतीय

प्रशासन पर नियंत्रण रखता था।

(4) अल्पकालिक समझौते की स्थिति का दूसरा स्रोत साम्राज्यवादी नीति थी, जो कि औपनिवेशिक ढांचे से अलग थी। हालांकि ब्रिटिश शासकों ने इस वर्ग को बुनियादी और उसके हितों को दीर्घकालिक विकास की सुविधाएं देने का विरोध किया या उनकी उपेक्षा की, लेकिन औपनिवेशिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए वे समय-समय पर उसे रिआयतें देते रहे। इस संबंध में दो बातें महत्वपूर्ण थीं। 20वीं सदी के दौरान, ब्रिटिश शासन को दो घटनाओं के कारण खतरे का एहसास हुआ : पहली घटना औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का संकट था जिसकी कृषि संबंधी गतिरोध और बड़े स्तर पर शहरी बेरोजगारी में अभिव्यक्ति हुई; और दूसरी घटना लोकप्रिय राष्ट्रीय आंदोलन का उदय थी जो बड़ी तेजी से जन-आधारित हो रहा था। आर्थिक और राजनीतिक असंतोष को दबाने की जरूरत ने औपनिवेशिक अधिकारियों को विवश कर दिया कि वे, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां प्रमुख ब्रिटिश हितों को हानि नहीं होती थी, भारतीय पूंजीपति वर्ग को रिआयतें दें।

यदि औपनिवेशिक अविकास के आर्थिक संकट और उससे उत्पन्न हुए असंतोष को सीमित रखना था तो इसके लिए भारतीय उद्योगों का थोड़ा विकास होना भी जरूरी था। दूसरे शब्दों में, भारतीय व्यापार और उद्योग को एक आर्थिक सुरक्षा कवच के रूप में कार्य करना था, विशेषकर इसलिए क्योंकि ब्रिटिश पूंजी का झुकाव भारत में बड़े स्तर पर उत्पादक निवेश की ओर नहीं था।

राजनीतिक रूप से सरकार के लिए यह भी जरूरी था कि वह पूंजीपति वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन की बड़े पैमाने पर सक्रिय सहायता करने से रोके और अपने प्रभाव का प्रयोग करके आंदोलन को 'तर्कसंगत' सीमाओं में रखे और उसमें उग्रता न आने दे।

इसलिए औपनिवेशिक अधिकारियों ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को रिआयतें दीं और उसे विकसित होने के अवसर भी दिए। उन्होंने सभी सरकारी कमेटियों, और आर्थिक मामलों से संबंधित कमीशनों में इस वर्ग के प्रवक्ताओं को प्रतिनिधित्व भी दिया। दूसरे शब्दों में, अपने मूल साम्राज्यी हितों की सुरक्षा के लिए उन्होंने इस वर्ग से सौदेबाजी भी की।

जब भी राष्ट्रवादी संघर्ष ने उग्र रूप धारण किया अथवा प्रशासन को यह लगने लगा कि भारतीय पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व आर्थिक रूप से खतरे में है, तब उसने, विशेष रूप से, इस नीति का अनुशरण किया। अब पूंजीपतियों को या तो संघर्ष से अलग रहना पड़ता था या कम से कम उसके प्रति उनकी निष्ठा में कमी तो आ ही जाती थी। यह 'फूट डालो और राज करो' और 'पुरस्कार और दंड' की नीति का एक अंग था। ठीक इसी प्रकार के अवसरों पर भारतीय पूंजीपति भी समझौते के लिए तैयार हो जाते थे, क्योंकि वे भी, एक ओर तो, राष्ट्रीय आंदोलन की उग्रता

से भयभीत हो जाते थे और दूसरी ओर खतरनाक आर्थिक संकट से बाहर निकलने को भी तत्पर रहते थे। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि वे पुरस्कार और दंड की उल्टी नीति का अनुशरण करते थे।

इस प्रकार, उदाहरण के लिए, 1905 में उद्योग विभाग आरंभ किया गया; 1916 में औद्योगिक कमीशन नियुक्त किया गया; 1922 में शुल्क संरक्षण की नीति की घोषणा की गई; 1930 में वस्त्रों के आयात पर 25 प्रतिशत शुल्क बढ़ा दिया गया; जिसे 1933 में 75 प्रतिशत कर दिया गया, और इसके साथ ही 1932 में चीनी उद्योग को संरक्षण दिया गया;[12] 1932 में ही रिजर्व बैंक के गठन का कार्य हाथ में लिया गया; 1932-33 में सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कंपनी को उसका व्यापार विस्तृत करने में सहायता दी गई; दूसरे महायुद्ध के दौरान हड़तालों को प्रतिबंधित किया गया, युद्ध के लिए किए जा रहे प्रयत्नों से संबंधित बड़े ठेकों में से भारतीय पूंजीपति वर्ग को भी हिस्सा दिया गया, और केंद्रीय स्तर पर योजना निर्मित करने और बड़े पैमाने पर भारतीय उद्योग को राजकीय सहायता देने का वायदा किया गया। और इन सभी मामलों में, जिनका ऊपर जिक्र किया गया है, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने एक समझौतेवादी दृष्टिकोण अपना कर सरकार की सहायता की।

जहां 1930 में उन्होंने गोलमेज कांफ्रेंस और विधान परिषदों का बहिष्कार किया था, वहीं 1932 में वे गोलमेज कांफ्रेंस की उप-समिति के साथ सहयोग करने को तैयार हो गए और 1932 से लेकर 1935 तक उन्होंने अपनी ऊर्जाओं का प्रयोग राष्ट्रीय कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता कराने में किया। दूसरे महायुद्ध के संपूर्ण काल में, यह वर्ग राजनीतिक रूप से ज्यादा सक्रिय नहीं रहा। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन को उन्होंने इतना प्रबल समर्थन नहीं दिया जितना कि उन्होंने 1920 और 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन को दिया था।

(5) यहां एक बार फिर यह उल्लेख किया जा सकता है कि जिन कारणों का ऊपर जिक्र किया गया है उनसे भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष की गति केवल धीमी हुई और इसके परिणामस्वरूप उन्हें अल्पकालिक रिआयतें और सुविधाएं मिलीं। दोनों के मध्य एक दीर्घकालिक संघर्ष जारी रहा क्योंकि साम्राज्यवाद अपनी आधारभूत नीति के किसी भी प्रश्न पर, अर्थात, भारतीय बाजार पर ब्रिटेन का प्रभुत्व, विशाल निगमों के सहयोगियों की मदद से ब्रिटिश पूंजी का निवेश, भारी सैनिक खर्चे, भारी उद्योग आरंभ करने में सरकारी सहायता का प्रश्न, स्थानीय प्रौद्योगिकी का विकास और भारतीय उद्योग को सामान्य वित्तीय समर्थन इत्यादि पर झुकने को तैयार नहीं था।

V

पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष

साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन को भारतीय पूंजीपतियों ने अपना व्यापक समर्थन दिया। एक ओर तो इस आंदोलन ने उन्हें साम्राज्यवाद से रिआयतें दिलाई और दूसरी ओर यह आंदोलन भी उसी समय आरंभ हुआ जब उनका ब्रिटिश पूंजी और उपनिवेशवाद के साथ दीर्घकालिक संघर्ष चल रहा था। जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, उन्होंने एक और कारण से स्वयं को राष्ट्रवादी संघर्ष से अलग नहीं किया। वे यह समझते थे कि भारतीयों में राजनीतिक रूप से एक बेचैनी थी और अपने जीवन की परिस्थितियों और साम्राज्यवाद के साथ अंतर्विरोध के कारण वे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करने पर तुले हुए थे।

पूंजीपति वर्ग यह भी जानता था कि यदि आंदोलन में भाग नहीं लेता तब भी भारतीयों की राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधि जारी रहेगी, इसलिए इस वर्ग के समक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि वह राष्ट्रवाद जैसे एक बुनियादी और शक्तिशाली सामाजिक तत्व के प्रति अपनी प्रासंगिकता को कायम रखे और उसके कार्यक्रम, संगठन, रणनीति और संघर्ष के तरीके पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करे।

साम्राज्यवाद के साथ पूंजीपति वर्ग के दोहरे संबंध, अर्थात, दीर्घकालिक विरोध और अल्पकालिक समायोजन और निर्भरता, उसे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के एक गैर-क्रांतिकारी नमूने की ओर ले गए। इस संघर्ष को हमेशा सुरक्षित और स्वीकार्य सीमाओं के अंदर ही जारी रहना था। किसी भी चरण में इसका उद्देश्य स्थायी शत्रुता और पूर्ण टकराव न होकर एक समझौते के लिए दबाव डालना था जिससे कि रिआयतें प्राप्त हों; शांति स्थापित हो और इस शांति के समय में उन रिआयतों का लाभ उठाते हुए अगले संघर्ष की तैयारी की जाए। इस प्रकार संघर्ष को दबाव (संघर्ष)—समझौता—दबाव (संघर्ष) अथवा पी.सी.पी. और धीरे-धीरे एक बुर्जुआवादी राष्ट्र-राज्य और आत्मनिर्भर आर्थिक विकास की रणनीति पर आधारित होना था। राजनीतिक उद्देश्य को साम्राज्यवाद के आकस्मिक निष्काषन द्वारा अथवा सत्ता हथिया कर नहीं बल्कि बातचीत द्वारा किए गए समझौते के द्वारा हासिल करना था।

(क) पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक रणनीति का मूल तत्व यह था कि जब भी कोई जन राष्ट्रीय संघर्ष आरंभ हो तब उसे एक सीमा के अंदर रखा जाए और कभी भी 'नियंत्रण से बाहर' न जाने दिया जाए; सरकार के प्रति पूर्ण शत्रुता नहीं होनी चाहिए और उस पर नियंत्रण होना चाहिए ताकि वातावरण कुल मिलाकर इतना कटुतापूर्ण न हो जाए कि आने वाले समय में सरकार के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने में कोई कठिनाई आए; संघर्ष को थोड़े समय के लिए होना चाहिए और उसमें

युक्तिसंगत प्रगति होने के बाद उसे बंद कर देना चाहिए। थोड़े समय तक संघर्ष जारी रखने के बाद तुरंत ही कोई समझौता होना चाहिए। वास्तव में, पूंजीपति वर्ग को जनता द्वारा की जाने वाली सीधी राजनीतिक कार्यवाही पसंद नहीं थी (उदाहरण के लिए, इस प्रकार की कार्यवाही को जी.डी. बिड़ला ने अव्यवस्था का तरीका बताया)। परंतु इस प्रकार की कार्यवाही की जरूरत को पहचानते हुए इसे एक निश्चित राजनीतिक और वैचारिक ढांचे के अंदर सीमित रखने का प्रयत्न किया गया; और जैसे ही किसी समझौते की संभावना नजर आती थी इस प्रकार की कार्यवाही को समाप्त कराने का प्रयत्न किया जाता था। किसी भी स्थिति में पूंजीपति वर्ग ने लंबी जन-राजनीतिक गतिविधि को प्रोत्साहित नहीं किया, चाहे वह अहिंसक ही क्यों न थी। इसके कई कारण थे :

(1) जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद की वस्तुगत आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में एक तत्कालिक समझौते की संभावना मौजूद थी, जो कि एक सीमित और अल्पकालिक विकास की ओर ले जा सकता था। एक लंबे समय तक जारी रहने वाले संघर्ष और जन असंतोष से भी तत्कालीन आर्थिक विकास की संभावनाएं क्षीण हो सकती थी।

(2) प्रशासन पर निर्भरता का अर्थ यह था कि पूंजीपति वर्ग पूर्ण रूप से एक लंबे समय तक सरकार का विरोध नहीं कर सकता था क्योंकि इसके परिणामस्वरूप उसे एक निर्यातक संघर्ष चलाना पड़ता और साम्राज्यवाद से शत्रुता मोल लेनी पड़ती। इसलिए उसने यह प्रयत्न जारी रखा कि 'जनता' और प्रशासन के दरमियान की 'खाई' अधिक चौड़ी न हो। इसके अतिरिक्त, एक धनी वर्ग होने के कारण उसे एक सख्त प्रशासन से दमन का अपेक्षाकृत अधिक खतरा था।

(3) इस वर्ग की सबसे बड़ी इच्छा वामपंथ अथवा परिवर्तनवादी राजनीतिक तत्वों के विकास को रोकना था। यह महसूस किया गया कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसी भी प्रकार का निर्णायक और दीर्घकालिक संघर्ष चाहे वह अहिंसक ही क्यों न हो, लोगों को एक 'रचनात्मक दृष्टिकोण' के प्रति जागरूक बनाने के बजाए 'विध्वंसक राजनीति' अपनाने की शिक्षा देगा, जिसके परिणामस्वरूप उनमें क्रांतिकारी भावनाएं जाग्रत होगी, जिनसे वर्ग-घृणा के विचार को बढ़ावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी लोगों में इस प्रकार की 'विध्वंसक' परिवर्तनवादी और वर्ग भावनाएं मौजूद रहेंगी। विदेशी शासन के विरुद्ध अविश्वास की भावनाएं, फिर भारत सरकार के विरुद्ध हो जाएंगी, इससे भी पहले, क्रांति अपरिहार्य हो जाएगी। यह केवल ब्रिटेन की ही नहीं वरन भारत की भी 'अंतिम क्रिया होगी'। यह भी महसूस किया गया कि तत्कालिक राजनीति में संघर्ष की मानसिकता कांग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े के बजाए उसके वामपंथी धड़े को अधिक मजबूती प्रदान करेगी।

यहां इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि वामपंथ के डर की वजह

से भारतीय पूंजीपति वर्ग एक लंबे और निरंतर संघर्ष में भाग लेने और 'संघर्ष की मानसिकता' से दूर रहा; परंतु इस डर के कारण वह पूर्ण रूप से साम्राज्यवाद की शरण में नहीं गया (हालांकि यह पूंजीपतियों और सरकार के बीच संपर्क और पारस्परिक सहायता का एक कारण अवश्य बना)। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण करके नहीं बल्कि कांग्रेस के दक्षिणापंथी धड़े, अर्थात दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों की सहायता करके वामपंथी धड़े को आगे बढ़ने से रोका। इस प्रकार उसने दो मोर्चो पर राजनीतिक संघर्ष जारी रखा : उन्होंने दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों की न केवल वामपंथ के विरुद्ध संघर्ष में सहायता की बल्कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में भी उनकी सहायता की।[13] दूसरे शब्दों में, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में दक्षिणपंथियों का समर्थन किया। आज यह अनुमान लगाना निरर्थक होगा कि यदि भारत में वामपंथ अधिक शक्तिशाली होता, तो वे क्या करते अथवा क्या वे तब भी राष्ट्रवाद के शिविर में बने रहते?

(ख) जहां भारतीय पूंजीपति वर्ग ने एक लंबे सामूहिक राजनीतिक संघर्ष को प्रोत्साहित करने से इनकार किया और अपने प्रभाव को प्रयोग में लाकर प्रत्येक संघर्ष को शीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न किया, वहीं उसने अपने राजनीतिक प्रभाव से यह भी सुनिश्चित किया कि किसी भी संघर्ष की समाप्ति राष्ट्रवादी आत्मसमर्पण द्वारा न हो बल्कि दोनों पक्षों की ओर से रिआयतें और समझौते द्वारा हो।

समझौता 'तर्कसंगत' हो। उसकी अपेक्षाएं ज्यादा बड़ी न हों। मांगें इतनी बड़ी न हों कि उन पर साम्राज्यवाद को समझौता करना कठिन हो जाए। इसके साथ ही, समझौते का अर्थ कभी भी 'आत्मसमर्पण' नहीं होना चाहिए; उससे सदा आर्थिक और राजनीतिक लाभ मिलने चाहिए। प्रत्येक समझौते से पूंजीपति वर्ग को पहले से अधिक उच्च स्थान प्राप्त होना चाहिए। प्रत्येक समझौते का अर्थ बुर्जुआ वर्ग की शक्ति में विस्तार होना चाहिए ताकि बिना किसी संघर्ष और क्रांति के और परिवर्तनवादी तत्वों को सफलता का कोई अवसर मिले बिना संतुलन में आधारभूत परिवर्तन हो जाए। इस प्रकार, 1920 के दशक में पूंजीपति वर्ग ने संवैधानिक प्रगति, उत्तरदायी सरकार और शुल्क और मुद्रा संबंधी स्वायत्तता के लिए आंदोलन किया; 1930 के दशक में डोमिनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक दर्जा) के लिए आंदोलन किया जिसके अंतर्गत वित्त और शुल्क पर पूर्ण भारतीय नियंत्रण की मांग के साथ ही विदेशी पूंजी के प्रवेश पर प्रतिबंध की मांग रखी गई; 1939 से 1945 तक इस वर्ग ने राष्ट्रीय सरकार को सत्ता हस्तांतरण करने के लिए आंदोलन किया जिसके अंतर्गत अर्थव्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण, युद्ध के पश्चात योजना तैयार करने के अधिकार और पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता की मांगें रखी गईं।

समझौतों और रिआयतों ने एक दूसरा राजनीतिक कार्य भी अंजाम दिया। उनसे बुर्जुआ वर्ग को जनता की राजनीतिक गतिविधि को पूर्णतया नियंत्रित करने और उसके

राजनीतिक आवेश को कम करने में सहायता मिली। यह तब तक संभव नहीं था जब तक कि समझौता व्यापक राष्ट्रवादी भावना को स्वीकार न होता। समझौते के अभाव में न केवल वामपंथ अधिक शक्तिशाली हो जाता बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन का दक्षिणपंथी धड़ा भी एक उग्रवादी कार्यक्रम अपनाने को विवश हो जाता।

तथापि समझौतों और रिआयतों की वजह से पूंजीपति वर्ग ने, किसी भी स्थिति में अपने दीर्घकालिक उद्देश्य को आंखों से ओझल नहीं होने दिया और उसे प्राप्त करने के लिए वह निरंतर संघर्ष करता रहा। प्रत्येक समझौते को अगले समझौते के एक आधार के रूप में लिया गया। प्रत्येक समझौते के पश्चात एक नए समझौते के लिए दबाव बनाया जाने लगा जिसे बड़ी तेजी से एक तर्कसंगत समय के अंदर पूर्ण होना था।

इस प्रकार साम्राज्यवाद पर निरंतर दबाव डाला गया, यद्यपि उसमें निरंतर टकराव अथवा संघर्ष की स्थिति नहीं आई। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। 1935-36 के दौरान संविधान पर समझौता कराने के लिए जी.डी. बिड़ला ने कड़ा प्रयत्न किया। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने महात्मा गांधी और ब्रिटिश नेताओं और अधिकारियों को मनाने की भरपूर कोशिश की। परंतु उन्हें जैसे ही सफलता मिली उन्होंने महादेव देसाई (और इसलिए गांधी) को लिखा कि "संविधान पर दो या तीन वर्षो तक सफलतापूर्वक अमल करने के बाद" भारतीयों को अंग्रेजों से कहना चाहिए कि "अब इसमें पूर्ण रूप से रुकावट आ गई है और एक नए अधिनियम के बिना आगे प्रगति संभव नहीं है... यह कि भारत अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट नहीं हो सकता। और जव तक कि स्थायी सहमति न हो, 'सीधी कार्यवाही की संभावना रहेगी"। समझौते की सीमित अवधि को सुनिश्चित करते हुए, एक बार फिर उन्होंने लार्ड लॉथियन को संकेत दिया "कि यदि दो अथवा तीन वर्षों के बाद कोई प्रगति नहीं होती, तो भारत सीधी कार्यवाही करने को विवश हो जाएगा"।[14]

(ग) संघर्षों और समझौतों की एक शृंखला द्वारा क्रमबद्ध राजनीति की यह संपूर्ण रणनीति भारतीय पूंजीपति वर्ग के पूंजीवादी चरित्र से उत्पन्न हुई; इसका मुख्य कारण यह था कि वह एक धनी वर्ग था, जो कि एक ऐसे युग में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था जबकि शोषित वर्ग भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे और वर्ग समाज के आधारभूत विचार को भी चुनौती दे रहे थे। इसकी एक वजह यह भी थी कि पूंजीपति वर्ग ने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों और औपनिवेशिक अधिकारियों और राष्ट्रीय आंदोलन के साथ अपने संबंधों के लिए जिन व्यक्तियों को अपना प्रवक्ता और नेता चुना था वे अत्यंत दूरदर्शी, चतुर और बुद्धिमान थे। इसलिए, यह रणनीति साम्राज्यी एजेंटों अथवा ब्रिटिश पूंजी के कनिष्ठ भागदारों की राजनीति का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी, जिनका ब्रिटिश पूंजी और साम्राज्यवाद के साथ किसी प्रकार का व्यापारिक संबंध था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग

ने एक समझौतावादी और गैर-क्रांतिकारी तरीके से साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा। लेकिन उसकी संपूर्ण रणनीति का उद्देश्य और खालिस परिणाम राष्ट्रीय आंदोलन के साथ विश्वासघात करना नहीं बल्कि साम्राज्यवाद के अंतर्गत विकास की परिस्थितियां पैदा करना, और इसके साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन पर अपना बर्चस्व स्थापित करना, ग्रामीण और शहरी तुच्छ बुर्जुआ लोकतंत्रवादियों और परिवर्तनवादियों को दक्षिणपंथी दबाव में रख कर क्रांतिकारी वामपंथ को आगे बढ़ने से रोकना था।

1947 में जब एक बुर्जुआ राष्ट्र-राज्य वजूद में आया तब यह रणनीति विशेष रूप से सफल हुई। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के संपूर्ण काल में वामपंथी तत्वों को कमजोर और विभाजित रखा गया ताकि स्वतंत्रता के पश्चात बुर्जुआ शक्ति को कड़ी चुनौती का सामना न करना पड़े।

(घ) भारतीय पूंजीपति वर्ग भारतीय समाज के एक अंग और एक अलग राजनीतिक शक्ति के रूप में राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ जुड़ा हुआ था; परंतु उसने यह आंदोलन में सीधी भागीदारी करके नहीं किया। अपनी व्यक्तिगत राजनीति में उनमें से अधिकांश उदारवादी थे; वे मुश्किल से ही कभी संवैधानिक संघर्ष से आगे गए। उनमें से अधिकतर लोगों ने सरकारी खिताबों का स्वागत किया (हालांकि गांधी, सरदार पटेल इत्यादि उनमें से कुछ खिताबधारियों को देशभक्त कहने में भी नहीं झिझके)। इसलिए पूंजीपतियों की एक बड़ी संख्या को सक्रिय साम्राज्यवाद विरोधी नहीं कहा जा सकता। उनमें से कुछ ने कांग्रेस को वित्तीय सहायता भी दी परंतु इस प्रकार के समर्थन को संभवतः बढ़ा चढ़ा कर दिखाया गया है।

इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इस संपूर्ण वर्ग ने, जिसमें इसके रूढ़िवादी सदस्य भी सम्मिलित थे, राजनीतिक रूप से कभी भी कांग्रेस का विरोध नहीं किया और वे सदा राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में ही बने रहे। हालांकि पूंजीपतियों के प्रवक्ताओं ने अपनी व्यक्तिगत और वर्गीय राजनीतिक स्थिति को स्वतंत्र बनाए रखा, असहयोग और सविनय अवज्ञा और बहिष्कार के कांग्रेसी कार्यक्रम के प्रति अधिक सम्मान प्रदर्शित नहीं किया, फिर भी, विशेषकर 1928 के पश्चात, उन्होंने कांग्रेस के राजनीतिक दृष्टिकोण का समर्थन किया। समय-समय पर औपनिवेशिक अधिकारियों के साथ अपनी आर्थिक घनिष्ठता का लाभ उठाते हुए उन्होंने राजनीतिक आंदोलन से तात्विक प्रश्नों पर समझौता करने अथवा आत्मसमर्पण करने को कभी नहीं कहा। सरकार ने भरसक प्रयास किया कि पूंजीपति वर्ग कांग्रेस को अंगूठा दिखा कर औपनिवेशिक अधिकारियों के साथ एक अलग राजनीतिक समझौता कर ले, परंतु उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया। साम्राज्यी शिविर से जुड़ने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था।

श्रम के बंटवारे के परिणामस्वरूप उन्होंने कांग्रेस को एक संगठन और गांधी को अपना नेता माना और औपनिवेशिक अधिकारियों से कहा कि वे उनके साथ

ही राजनीतिक वार्ता के द्वारा एक समझौता करने का प्रयास करें। फिर भी आर्थिक क्षेत्र में, पूंजीपति वर्ग समझौते के लिए सीधी वार्ता करता था। हालांकि कांग्रेस के अंदर वे वामपंथियों के विरुद्ध दक्षिणपंथियों का समर्थन करता था, लेकिन राजनीतिक उद्देश्यों के लिए कांग्रेस को वह एक राष्ट्रीय प्रवक्ता के रूप में देखता था। वामपंथ पर भी खुल्लमखुल्ला आक्रमण नहीं किया जाता था और 1936 में जब एक छोटे से भाग ने ऐसा करने का प्रयत्न किया तो बहुमत द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक दबा दिया गया। दूसरी ओर, राष्ट्रीय उदारवादियों और हिंदू महासभा को कभी गंभीरता से नहीं लिया गया और उन्हें कोई राजनीतिक समर्थन नहीं दिया गया।

VI

राजनीतिक मार्गों का प्रश्न

इस प्रश्न पर बहस करते हुए कि एक राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में बुर्जुआ वर्ग की क्या भूमिका हो सकती है और एक औपनिवेशिक अथवा अर्ध-औपनिवेशिक देश में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति का क्या रूप हो सकता है? वर्तमान मार्क्सवादी लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे व्यापक रूप से दो ऐतिहासिक माडलों को अनुशरण करते हैं और तात्विक रूप से संभावित मामलों में भी इन्हीं माडलों को लागू करते हैं।

इनमें पहला फ्रांसीसी माडल है जिसमें बुर्जुआ वर्ग मुख्य भूमिका निभाता है और अपनी पंक्तियों में वामपंथी धड़े के उदय से विचलित हुए बिना वीरता के साथ निरंकुश राजशाही और सामंतवादी अभिजात वर्ग को उखाड़ फेंकता है और इस प्रकार अपने नेतृत्व में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति को सफल बनाता है।

दूसरे अथवा चीनी (और रूसी) माडल में, बुर्जुआ वर्ग (लोकतंत्र, राष्ट्रवाद और भूस्वामित्व संबंधी सुधारों के लिए) लोकतांत्रिक क्रांति के रास्ते पर चलता है; परंतु अर्ध-सामंती जमींदार वर्ग और उपनिवेशवाद के साथ अपने वर्ग संबंधों और इसके फलस्वरूप राजनीति में आत्मनिर्भरता के अभाव और राजनीतिक रूप से जागरूक मजदूर वर्ग और कृषकों के विकासशील परिवर्तनवादी तत्वों के उदय के कारण यह वर्ग हिचकिचाहट की स्थिति में रहता है और अंत में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति लाने के अपने ऐतिहासिक कार्यक्रम का या तो परित्याग कर देता है या उसके साथ विश्वासघात करता है; साम्राज्यवाद का मुकाबाला करने में असफल हो जाता है, और वास्तव में, साम्राज्यवाद और अर्ध-सामंतीवादी तत्वों के साथ मिल जाता है। इस प्रकार, अपने संकीर्ण वर्ग-हितों को सुरक्षित रखने के लिए वह राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात करता है। अब दो प्रकार की स्थितियां सामने आती हैं : (1) यह विश्वाघात कुछ समय के लिए प्रतिक्रांतिकारी की प्रधानता अथवा साम्राज्यवाद और अर्ध-सामंतवाद की

पुनर्स्थापना की लोर ले जाता है। (2) वैकल्पिक स्थिति में, प्रतिक्रांति के युग के पश्चात, श्रमिक वर्ग अपनी राजनीतिक ताकत विकसित करता है, कृषक वर्ग और शहरी तुच्छ बुर्ज़ुआ वर्ग के साथ तालमेल करता है और अपने नेतृत्व में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति को संपन्न करता है और उसे शीघ्रता से समाजवाद में परिवर्तित करता है। इस माडल में यह विचार भी बहुत महत्वपूर्ण होता है कि बुर्जुआ वर्ग साम्राज्यवाद के साथ मिलकर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के साथ विश्वासघात कर सकता है। ऐसे परिणाम के अंतर्गत दो बातें निर्णायक भूमिका निभाती हैं : (i) स्वतंत्र औद्योगिक पूंजीपतियों के एक महत्वपूर्ण वर्ग का अभाव, अथवा जो मूल रूप से विदेशी पूंजी और उपनिवेशवाद पर निर्भर न हो (अथवा अपने चरित्र से साम्राज्यी एजेंट न हो); और (ii) मजदूरों और कृषकों के एक शक्तिशाली क्रांतिकारी आंदोलन का अस्तित्व जिसके डर से बुर्जुआवादी साम्राज्यवाद की शरण में चले जाते हैं।

20वीं सदी के दौरान भारतीय बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक भूमिका के अध्ययन से यह प्रदर्शित होता है कि विकास के भारतीय माडल ने इन दोनों में से किसी भी माडल का अनुसरण नहीं किया।[15] निस्संदेह, उसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सुदृढ़, क्रांतिकारी जन-संघर्ष का न तो नेतृत्व किया और न उसे अपना समर्थन दिया। इसके साथ ही, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, उसने राष्ट्रीय साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के साथ विश्वासघात नहीं किया; वह साम्राज्यवाद की शरण में नहीं गया; वह सदा साम्राज्यवाद-विरोधी खेमें से जुड़ा रहा; वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता के कार्य में भागीदारी करने को तैयार था; उसने, एक हद तक, साम्राज्यवाद से लड़ने की अपनी क्षमता का भी प्रदर्शन किया, हालांकि उसके संघर्ष का तरीका कभी भी क्रांतिकारी नहीं था; और अंत में, उसने राष्ट्रीय आंदोलन में निरंतर निम्न बुर्जुआ नेतृत्व को अपना समर्थन दिया। दूसरे शब्दों में, एक गैर-क्रांतिकारी तरीके से और आर्थिक और राजनीतिक कार्यों को एक साथ पूर्ण किए बिना उसने बुर्जुआ क्रांतिकारी कार्यों को पूरा करने में अपनी क्षमता का भी प्रदर्शन किया। वास्तव में, जो परिणाम सामने आया, वह आकस्मिक नहीं था।

पहले तो भारतीय बुर्जुआ वर्ग का विकास एक आत्मनिर्भर पूंजीपति वर्ग के रूप में हुआ जो ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के अधीन नहीं था।

दूसरे, श्रमिक वर्ग और क्रांतिकारी वामपंथ दूसरे शक्तिशाली वर्गों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता और भूस्वामित्व संबंधी क्रांति के कार्यों के लिए संगठित करने में असफल रंहे और इतने कमजोर बने रहे कि वे राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक विकास पर बुर्जुआ प्रभुत्व को चुनौती नहीं दे सके। रूस और चीन दोनों में क्रांतिकारी श्रमिक वर्गीय पार्टियों ने बुर्जुआ लोकतांत्रिक कार्यों के लिए स्वयं संघर्ष छेड़ा था। भारत में, ऐसा नहीं किया गया। न तो सर्वहारा वर्ग को इसके लिए तैयार किया गया, और न ही कृषक वर्ग और निम्न बुर्जुआ वर्ग पर उनका कोई राजनीतिक प्रभाव पड़ा।

इसका परिणाम यह निकला कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग को वामपंथ से कभी भी ऐसी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा जिस प्रकार कि रूस और चीन के बुर्जुआ वर्ग को वामपंथ की चुनौती का सामना करना पड़ा था। इस प्रकार भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने जो तीसरा रास्ता अपनाया उसमें श्रमिक वर्ग और उसके राजनीतिक नेतृत्व की राजनीतिक, वैचारिक और संगठनात्मक कमजोरियों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

तीसरे, भारतीय बुर्जुआ वर्ग विस्तृत निम्न बुर्जुआ समूह, ग्रामीण और शहरी दोनों पर अपना राजनीतिक और वैचारिक प्रभाव जमाने में सफल रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन समूहों ने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में एक बुर्जुआ विकासात्मक कार्यक्रम की परिधि के अंदर अपनी राजनीतिक और वैचारिक गतिविधि को सीमित रखा। परंतु, वह इसमें विशेष रूप से इसलिए सफल हुआ क्योंकि उसने बुर्जुआ राष्ट्रवाद को छोड़ने और उसके साथ विश्वासघात करने से इनकार कर दिया था, और इसके अतिरिक्त, इस सफलता का दूसरा कारण वामपंथ की कमजोर स्थिति भी थी। इस संबंध में गांधी की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी जिन्होंने एक ऐसी राजनीतिक तकनीक तैयार की थी जिसके अंतर्गत एक ही समय में जनता को राजनीतिक रूप से गोलबंद किया जा सकता था, उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने और अपना राजनीतिक स्वामित्व स्थापित करने अथवा राजनीतिक रूप से निरंतर कार्य करने से रोका जा सकता था। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय पूंजीपतियों ने, एक ओर तो, गांधी को अपना पूर्ण समर्थन दिया और दूसरी ओर उन्होंने यह भी सीखा कि जब तक कि जनता को कड़े राजनीतिक नियंत्रण में रखा जा सके और उसमें राजनीतिक जागरूकता की कमी हो, तो उससे भयभीत नहीं होना चाहिए; और इस प्रकार, पूंजीपतियों ने जनता के साथ रूस अथवा चीन के पूंजीपतियों से भिन्न संबंध विकसित किए।

कभी-कभी यह विचार भी प्रस्तुत किया जाता है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात किया। यह इस आधार पर कहा जाता है कि भारतीय रास्ता केवल राजनीतिक सत्ता के स्थानांतरण की ओर जाता था न कि सभी साम्राज्यी आर्थिक हितों के निष्काषन की ओर। जहां यह तथ्य, निश्चित रूप से भारत के सामाजिक विकास के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है और भारतीय रास्ते का एक महत्वपूर्ण अंग भी है, वहीं इससे 1947 में आए परिवर्तन के केंद्रीय पहलू का महत्व कम नहीं होता। न ही प्रस्तुत प्रश्न के संदर्भ में इसकी कोई प्रासंगिकता है। एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति में महत्वपूर्ण प्रश्न राज्य-सत्ता का होता है जिसे अब पूंजीवादी विकास को बढ़ावा देने के लिए प्रयोग में लाया जाता है न कि पहले की भांति उसे अवरुद्ध करने के लिए। और यहां एक महत्वपूर्ण और निर्णायक परिवर्तन हुआ।[16] इसी प्रकार, बुर्जुआ वर्ग लोकतांत्रिक क्रांति की सफलता के प्रश्न को आत्म-पोषित आर्थिक विकास को उत्पन्न करने की क्षमता अथवा बुर्जुआ लोकतांत्रिक कार्यों की तत्कालिक पूर्ति नहीं समझना चाहिए। यहां मूल भ्रम इस वजह से उत्पन्न होता है

कि बहुत से मार्क्सवादी भविष्य के संपूर्ण सामाजिक विकास के प्रश्न (उपनिवेशवाद के बाद विकास) को बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति से संबंधित करना चाहते हैं। मेरे विचार में यह गलत है। बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति का मुख्य कार्य राज्य-सत्ता के प्रश्न को तय करना और समाज के पूंजीवादी विकास के मार्ग को प्रशस्त करना है ताकि सामंतवाद और /अथवा साम्राज्यवाद फिर उसके राजनीतिक और आर्थिक जीवन की मुख्य दिशा का निर्धारण न करें। आत्म-पोषित आर्थिक विकास होता है अथवा नहीं, यह एक दूसरा मामला है और यह अर्ध-विकसित पूंजीवादी द्वारा, पूंजीवाद-साम्राज्यवाद और समाजवाद के युग में विकास करने की क्षमता से अधिक एक विस्तृत प्रश्न से जुड़ा है, केवल स्थानीय साम्राज्यी एजेंटों के प्रश्न से नहीं। जब इस प्रकार का विकास नहीं हो पाता अथवा जब बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति के कुछ दूसरे कार्य पूर्ण नहीं हो पाते, तब निश्चित रूप से दूसरे सामाजिक क्रांतिकारी तत्वों का उदय होता है। परंतु, तब वे बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति नहीं लाते, बल्कि उन्हीं कार्यों को पूरा करते हैं जो नई सामाजिक क्रांतिकारी प्रक्रिया में पूरे होने से रह जाते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी क्रांति के बाद किसी भी बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति ने अपने सभी कार्यों को तुरंत ही अथवा क्रांति के पश्चात आने वाले कई दशकों में भी पूरा नहीं किया। यदि बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति की सफलता को उसी ढंग से परिभाषित किया जाए जैसा कि आजकल बहुत से व्यक्ति उसे परिभाषित करते हैं, तब इस प्रकार की सभी क्रांतियां तब ही सफल अथवा पूर्ण हो सकती हैं जब एक समाज में समाजवाद स्थापित हो जाए।[17] उदाहरण के लिए, 1648 में जब ब्रिटेन में एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति हुई, उसकी आधारभूत बात यह थी कि तब राज्य-सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आ गई थी, जो कि अब अपने हितों, अर्थात पूंजीवादी तरीके से समाज और अर्थव्यवस्था को संगठित कर सकता था। इस प्रक्रिया में, किसी भी प्रकार के आत्म-पोषित आर्थिक विकास की गारंटी नहीं दी गई (क्योंकि उसमें कई प्रकार से बाधाएं उत्पन्न हो सकती थीं) और न ही तुरंत, नाटकीय रूप से, सामंती आर्थिक और सामाजिक संबंधों को समाप्त किया गया। इससे भी अधिक जर्मनी, जापान और इटली में हुआ। मेरा यह भी विचार है कि सत्ता के परिवर्तन से आर्थिक परिवर्तन उत्पन्न होने की दलील देना बात को घुमा फिरा कर कहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि स्वयं राज्य सत्ता का आकस्मिक परिवर्तन भी, एक हद तक, आर्थिक क्षेत्र में आए परिवर्तनों का परिणाम होता है।

कभी-कभी संभवतः भ्रम का एक कारण यह भी होता है कि 'बुर्जुआ क्रांति वाक्यांश में आए शब्द 'क्रांति' पर अधिक बल दिया जाता है। परंतु वह राज्य-सत्ता और आर्थिक संबंधों में आए आमूल परिवर्तन की ओर संकेत करता है। यह जरूरी नहीं है कि यह परिवर्तन एक सामूहिक क्रांति और एक क्रांतिकारी लोकतांत्रिक बुर्जुआ वर्ग द्वारा ही किया जाए। उसे गैर-क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रियावादी तरीकों से भी लाया

जा सकता है। इस संबंध में एक बार फिर जर्मनी और जापान का उदाहरण दिया जा सकता है।

1947 के बाद मूल आर्थिक प्रश्न बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति को पूरा करना नहीं बल्कि विश्व के पूंजीवाद से भारतीय अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक संबंधों को तोड़ना था। यदि भूतपूर्व शासक देश की पूंजी के प्रवेश को कम कर दिया जाए, तब भी यह कार्य मूलतया अपूर्ण रहेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके पूंजीपति वर्ग की मुख्य कमजोरी यह है कि वे विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ एक अधीनस्थ स्थिति में जुड़े हुए हैं। पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवादी एजेंट नहीं है। जब तक कि यह संरचनात्मक संबंध कायम रहेगा, कोई न कोई राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग इस अर्थव्यवस्था में प्रवेश करता रहेगा और इसके स्वतंत्र विकास के लिए खतरा बना रहेगा। यह संरचनात्मक संबंध आत्म-पोषित विकास के रास्ते की भी बाधा बना रहेगा। इस संरचनात्मक संबंध को तोड़ने के लिए कितने सामाजिक आर्थिक, वैचारिक और राजनीतिक परिवर्तन और सामूहिक गोलबंदी और विश्वीय पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की जरूरत है यह क्यूबा के उदाहरण से स्पष्ट होता है जहां समाजवादी क्रांति के द्वारा ही ऐसा संभव हो सका।

इसके अतिरिक्त, यह संरचनात्मक संबंध अर्ध-उपनिवेशवाद अथवा नव-उपनिवेशवाद के प्रचलन का परिणाम नहीं है। यह आधुनिक युग में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया का एक अंग है। इसके फलस्वरूप 1947 के पश्चात भारत में मुख्य कार्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष को संगठित करना नहीं (पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष जिसका अभिन्न अंग होता है) बल्कि पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष को संगठित करना था (साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष जिसका एक अभिन्न अंग होता है)। सैद्धांतिक और राजनीतिक रूप से यह विषय बहुत महत्वपूर्ण था और है क्योंकि पहली अवधारणा एक ऐसे संघर्ष की ओर ले जा सकती थी जो वास्तविकता से दूर होता अथवा साम्राज्यवाद या नव-उपनिवेशवाद से लड़ने के नाम पर अर्ध-विकसित पूंजीवाद के साथ सहयोग होता। आज, आत्म-पोषित आर्थिक विकास और लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की नहीं बल्कि स्वयं पूंजी के विरुद्ध एक संघर्ष की आवश्यकता है। और नव-उपनिवेशवाद की संभावना इसलिए पैदा होती है क्योंकि अर्ध-विकसित पूंजीवाद में स्वयं विकसित होने, राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने और गहरे सामाजिक संकट को निबटाने की क्षमता नहीं है, भले ही उसे समाजवादी देशों की सहायता प्राप्त हो। तथापि, इस विषय पर, एक अलग निबंध में, विस्तृत चर्चा की जरूरत है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. यह विचार कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन बुर्जुआ वर्ग ने आरंभ किया, यूरोपीय इतिहास को यंत्रवत लागू करने का परिणाम है. साथ ही, क्योंकि आंदोलन के किसी भी चरण में बुर्जुआ वर्ग आंदोलन की प्रमुख ताकत नहीं बना, इसलिए किसी भी चरण में आंदोलन के विकास को केवल बुर्जुआ वर्ग की भूमिका से संबंधित नहीं किया जा सकता. मैं, निश्चित रूप से, इस निबंध के द्वारा इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देना नहीं चाहता, जो 1920 से लेकर 1948 तक मार्क्सवादियों में राजनीतिक बहस का कारण बनी.
2. इस विषय पर बहुत से मार्क्सवादी लेखकों ने 1947 से पूर्व भारतीय पूंजीपति वर्ग के साथ साम्राज्यवाद के संबंध को दोहरा संबंध बताया है. परंतु इससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता : दोहरे संबंधों में से कौन सा संबंध लंबी अवधि अथवा विशेष अवसरों पर प्रमुख रहा? संबंध के दोहरे चरित्र की मान्यता केवल एक प्रगति है, उससे विश्लेषण में ज्यादा सहायता नहीं मिलती.
3. ब्रिटिश पूंजी के थोड़े से एजेंट और छोटे साझीदार थे. परंतु, वे न तो भारतीय व्यापार के मुख्यधारा से संबंधित थे और न ही भारतीय पूंजीपति वर्ग के व्यापार और वर्ग संगठनों में उनका कोई महत्व था. राजनीतिक और आर्थिक नीतियों के क्षेत्रों में साम्राज्यवाद को अपना समर्थन देकर उन्होंने पूंजीपति वर्ग से अपने आप को अलग कर लिया था.
4. बड़े बुर्जुआवादियों (भारतीय अर्थों में) के संबंध में भी यह सही था. परंतु, भारत में छोटे और मध्यम पूंजीपतियों के व्यापक प्रचलन ने, निश्चित रूप से, इस परिणाम को प्रभावित किया.
5. इन पूंजीपति घरानों के पास कोई उल्लेखनीय अर्ध-सामंती संपत्ति नहीं थी. उनमें से कई के पास, निस्संदेह बड़े पूंजीवाद फार्म अवश्य थे. यहां इस प्रश्न की कोई सीधी प्रासंगिकता नहीं है सिवाय इसके कि चीन की भांति उनके अर्ध-सामंती हित उन्हें साम्राज्यवाद का गुलाम बना देते.
6. वास्तव में, सीधे प्रशासनिक दमन के कारण ऐसा नहीं हुआ. भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था से जोड़ा जा सके न कि भारतीय पूंजीपति वर्ग का सीधा दमन करने के लिए.
7. इस लेख में मैंने, सीधे तौर पर इस वर्ग के संगठनों और प्रवक्ताओं के दृष्टिकोण का अध्ययन किया है न कि उसके वैचारिक और राजनीतिक प्रवक्ताओं के दृष्टिकोण का. वैचारिक और राजनीतिक प्रवक्ताओं का दृष्टिकोण एक अलग अध्ययन का विषय हो सकता है.
8. 16 फरवरी 1930 को *फेडरेशन आफ इंडियन चैंबर्स आफ कामर्स एंड इंडस्ट्री* की तीसरी वार्षिक सामान्य सभा में जे.डी. बिड़ला ने अपने अध्यक्षीय उत्तर में कहा : "मुझे बहुत दुख है कि हम सरकार को प्रभावित करने अथवा उसे अपने विचारों से सहमत कराने में सफल नहीं हुए हैं, लेकिन हमें इसकी आशा भी नहीं थी. हमारे देश की वर्तमान परिस्थितियों और वर्तमान राजनीतिक स्थिति में सरकार को अपने विचारों से सहमत कराना असंभव है; परंतु मेरे विचार में, हमारी वर्तमान कठिनाइयों का केवल एक यही समाधान है कि हमें उन भारतीय व्यापारियों के हाथ मजबूत करने चाहिए जो हमारे देश की आजादी के लिए लड़ रहे हैं ... स्वराज्य (आजादी) भावना का प्रश्न नहीं है. यह रोटी का प्रश्न है. देश की खुशहाली राजनीतिक आजादी की उस मात्रा पर निर्भर करती है जो हमें मिलेगी, और मेरे विचारों में यह केवल देश के हित में नहीं बल्कि पूंजीपतियों, मालिकों और उद्योगपतियों के हित में भी होनी चाहिए. हमें उन व्यक्तियों के साथ लड़ने और उनके हाथ मजबूत करने का प्रयत्न करना चाहिए जो स्वराज्य के लिए लड़ रहे हैं". *रिपोर्ट आफ दि प्रोसीडिंग्स आफ दि एन्युअल मीटिंग आफ दि फिक्की*, खंड 3, थर्ड एन्युअल मीटिंग (1930), पृ. 264-65.

9. चीन के अफीम व्यापार का बचा-खुचा मुनाफा, ब्रिटेन के साथ सूत व्यापार, छोटे सरकारी ठेके, अमरीकी गृह युद्ध के कारण कपास की मांग में वृद्धि, ब्रिटिश भारत अथवा रियासतों में व्याप्त भ्रष्टाचार से लाभ और आंतरिक परिचलन से प्राप्त होने वाला आंतरिक लाभ भारतीय बुर्जुआ वर्ग की मूल पूंजी का सीमित आधार था.
10. इसने उन उद्योगपतियों के वर्ग पर वफादार बने रहने के लिए काफी दबाव डाला जिनकी खनन, लोहा और स्टील, और विद्युत क्षेत्रों में दिलचस्पी थी. टाटा और उस जैसे दूसरे घरानों पर संभवतः इसी बात का प्रभाव पड़ा. वे सरकार के प्रति इसलिए और अधिक वफादार रहे क्योंकि वह स्टील उत्पादों की सबसे बड़ी खरीदार थी.
11. अपने एक ज्ञापन में, जिसकी एक प्रति लार्ड हेलीफिक्स को भेजी गई थी, यह बताते हुए कि वे ब्रिटिश नेताओं को अपने विचारों से अवगत कराते रहे हैं, इंगलैंड के अपने दौर के समय जी.डी. बिड़ला ने 1935 में लिखा : "दक्षिणपंथी कांग्रेसी, इस प्रकार, दो शक्तियों के विरुद्ध लड़ रहे हैं—सरकार और समाजवादी. समाजवादी यह कहकर नेताओं पर सीधा आक्रमण कर रहे हैं कि उनकी कोई उपलब्धि नहीं है. दक्षिणपंथ की उपेक्षा करके सरकार समाजवादियों की सहायता कर रही है; इन दोनों के बीच में दक्षिणपंथ कुचला जा रहा है .... बुद्धिमान भारतीय स्त्री/पुरुष ब्रिटिश सहायता की जरूरत को महसूस करते हैं; वे ब्रिटेन से दोस्ती चाहते हैं." जी.डी. बिड़ला, *इन दि शैडो आफ महात्मा : ए पर्सनल मेमोइर,* कलकत्ता, 1953, पृ. 193-95. एक बार फिर, 1937 में पद स्वीकृति पर कार्यकारिणी के प्रस्ताव का हवाला देकर, बिड़ला ने एक पत्र में वायसराय को लिखा : "मेरे विचार में कांग्रेस के दक्षिणपंथ की यह बहुत बड़ी जीत है और एक जवाबी प्रतिक्रिया से उनके हाथ जरूर मजबूत होंगे. मुझे आशा है कि आप इस स्थिति पर ध्यान देंगे.'' वही, पृ. 214.
12. ऐसे समय में जब निवेश और संचय के सामान्य रास्ते बंद हो रहे थे, भारतीय पूंजीपतियों को यह एक अच्छा अवसर मिला. तत्काल ही 30 चीनी मिलें कायम हो गई और 1934 में उसकी संख्या 1931 में 32 से बढ़कर 130 हो गई. चीनी बाजार में आई इस तेजी का लगभग प्रत्येक प्रमुख उद्योगपति ने लाभ उठाया. बहुत से पूंजीपतियों ने महसूस किया कि केवल चीनी से कमाए मुनाफे से ही वे लाभांश की पुरानी दर को कायम रख सकते थे.
13. चीन के बुर्जुआवादी साम्राज्यी एजेंटों के राजनीतिक व्यवहार से यह पूर्णतया भिन्न है जिन्होंने तीन बार, 1911 में, 1926-27 में और 1945-49 में न केवल वामपंथ पर आक्रमण किया बल्कि साम्राज्यवाद के समक्ष आत्मसमर्पण भी किया.
14. *इन दि शैडो आफ महात्मा,* पृ. 255-56.
15. कभी-कभी यह कहने की प्रवृत्ति भी होती है कि चीनी माडल से अपसरण केवल अस्थायी अथवा थोड़े समय के लिए है और अंत में चीनी (अथवा रूसी) माडल लागू किया जाएगा. वास्तव में, 1920 के दशक से ऐसा कहा जाता रहा है जब 1928 में कामिंटर्न की प्रसिद्ध कालोनियल थीसिस तैयार की गई थी. परंतु, 1947 में भारत को राजनीतिक प्रभुसत्ता का स्थानांतरण किए जाने के साथ ही उसके बाद के 25 वर्षों की लंबी अवधि पूरी हो चुकी है. इस पर ध्यान न देना बात को रहस्यमय और अतर्कसंगत बनाने जैसा है. आखिरकार, विश्लेषण के सिद्धांत की उपयोगिता के लिए भले ही लंबी अवधि दरकार हो, मगर उसकी कोई सीमा तो होनी चाहिए.
16. हालांकि आर्थिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए. भारतीय बाजार पर साम्राज्यी प्रभुत्व में कमी आई और भारतीय सामाजिक अधिशेष पर सीधा कब्जा लगभग समाप्त हो गया. तत्कालीन विदेशी पूंजी की स्थिति भी कमजोर हो गई, जबकि विदेशी पूंजी के नए प्रवेश पर प्रतिबंध लग गया.

17. यूरोप में बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांतियों के संदर्भ में इस बात को कार्ल मार्क्स ने 1949 में ही समझ लिया था : "प्रत्येक क्रांतिकारी लहर, (बुर्जुआ वर्ग और श्रमिक वर्ग बीच) वर्ग संघर्ष से उसका उद्देश्य कितना ही अलग क्यों न हो, अंत में असफल रहेगी जब तक कि मजदूर वर्ग की विजय नहीं होती ... प्रत्येक सामाजिक सुधार उस समय वह काल्पनिक रहेगा जब तक कि सर्वहारा क्रांति के बीच और सामंतवादी प्रतिक्रांति के बीच विश्वयुद्ध नहीं होता". '*वेज, लेबर एंड कैपीटल*, मास्को, 1970. पृ. 17-18.

अध्याय छह

जवाहरलाल नेहरू और पूंजीपति वर्ग, 1936

जवाहरलाल नेहरू 1933-36 के दौरान[1] अधिकाधिक परिवर्तनवादी हो गए थे। इसके बहुत से कारण थे। जैसे उस समय विश्व में आई मंदी का भारत और संपूर्ण विश्व पर प्रभाव और उसके फलस्वरूप उत्पन्न संकट और पूंजीवादी व्यवस्था का पतन, जिसकी वजह से विश्व में चारों ओर एक गहन सामाजिक परिवर्तन की संभावना प्रबल हो गई थी; 1926-27 से आरंभ हुए उनके बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा, जिसमें 1932-35 जेल प्रवास के दौरान उनके द्वारा किए गए विस्तृत अध्ययन का भी बड़ा योगदान था; 1932-34 में राष्ट्रीय आंदोलन की असफलता और इन वर्षों के दौरान उनका निरंतर जेल में रहना इत्यादि। वे न केवल एक क्रांतिकारी[2] कहलाने के हकदार हो गए, बल्कि उनका वामपंथ भी अस्पष्ट नहीं रहा। वे वैचारिक स्तर पर भारतीय राजनीति के लगभग प्रत्येक पक्ष को अधिक स्पष्टता से देखने लगे, जिसमें उनके स्वभावगत भावावेश का भी मिश्रण था। वे केवल सैद्धांतिक प्रश्नों को ही नहीं, बल्कि दृष्टिकोण, समाज के तत्वों, सामाजिक आधार और राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक रणनीति के प्रश्नों को भी एक अधिक परिवर्तनवादी और सुव्यवस्थित ढंग से देखने लगे। यह उनका सर्वाधिक 'मार्क्सवादी चरण' और उनके वामपंथी चिंतन की पराकाष्ठा थी। उनके आधुनिकतम जीवनी लेखक ने 1927-28 के नेहरू का 'एक आत्मचेतन क्रांतिकारी परिवर्तनवादी'[3] के रूप में वर्णन किया है। 1933-36 के दौरान वे एक मार्क्सवादी क्रांतिकारी साम्राज्यवाद-विरोधी बनने की स्थिति में आ गए।[4]

इस संक्रमण में काफी लंबा समय लगा और वह कभी भी पूर्ण नहीं हुआ। परंतु यह कहा जा सकता है कि इस संक्रमण का करीब-करीब अंतिम चरण, व्यवस्थित और सार्वजनिक रूप से,[5] अक्टूबर 1933 में प्रकाशित उनके लेख 'विधर इंडिया' के प्रकाशन के साथ आरंभ हुआ; और अप्रैल 1936 में लखनऊ कांग्रेस में दिए गए उनके अध्यक्षीय भाषण में इसका चरमोत्कर्ष हुआ। इस बीच उन कुछ भाषणों, लेखों, पत्रों, जेल डायरियों और 'आटोबायोग्राफी' में भी उनके विचारों को अभिव्यक्ति मिली।

परिवर्तनवादी नेहरू ने भारतीय पूंजीपतियों और कांग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े में हलचल मचा दी। उन्होंने नेहरू का मुकाबला करने और उन पर नियंत्रण रखने के लिए कुछ कदम उठाए—ऐसा करके उन्होंने उनके (नेहरू के) और उन जैसे दूसरे व्यक्तियों के प्रति अपनाई जाने वाली रणनीति को स्पष्ट कर दिया। इस लेख में नेहरू के उस परिवर्तनवाद पर विचार किया गया है जिसने पूंजीपतियों को भयभीत

कर दिया था और उस जवाबी-रणनीति पर भी चर्चा की गई है जो पूंजीपतियों और दक्षिणपंथियों ने नेहरू के विरुद्ध अपनाई।

I

1933-36 के दौरान समाजवाद के प्रति नेहरू की वचनबद्धता को अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली। 1929 में लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने पहले ही अपने आपको एक समाजवादी घोषित कर दिया था, परंतु समाजवाद की यह धारणा कुछ-कुछ अस्पष्ट सी थी।[6] वे मार्क्सवाद के प्रति भी आकृष्ट थे, परंतु अभी तक उन्होंने मार्क्सवाद को गहराई से आत्मसात नहीं किया था।[7]

अब, वे बार-बार समाजवाद और मार्क्सवाद की वकालत करते थे और दोनों शब्दों को एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग करते थे और यह कहते थे कि 'तर्क और विज्ञान उनके पक्ष में है।'[8] उन्होंने 1933 में "भारत किस ओर ?" प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया : "निश्चित रूप से सामाजिक और आर्थिक समानता के महान मानवीय लक्ष्य, राष्ट्र द्वारा राष्ट्र और वर्ग द्वारा वर्ग के शोषण को समाप्त करने और एक अंतर्राष्ट्रीय सहकारी समाजवादी संघ के ढांचे के अंदर राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ओर।"[9] और दिसंबर 1933 में उन्होंने लिखा : "समाजवादी आदर्श, साम्यवादी आदर्श, सच्चा नागरिक आदर्श है"।[10] साम्यवादियों के प्रति उन्हें कुछ संकोच था और वे कामिंटर्न के दावपेंचों की भी आलोचना करते थे।[11] लेकिन अंत में, वे साम्यवाद के प्रति वचनबद्ध नजर आने लगे... "मूल रूप से आज संसार को साम्यवाद और फासीवाद को किसी न किसी रूप में चुनना है...फासीवाद और साम्यवाद के बीच कोई बीच का रास्ता नहीं है। हमें दोनों में से एक का चयन करना है, और मैं साम्यवादी आदर्श को चुनता हूं।"[12] 20 अप्रैल 1936 को लखनऊ में उन्होंने अपनी इस वचनबद्धता को स्पष्ट शब्दों में दोहराते हुए कहा : "मुझे विश्वास है कि केवल समाजवाद में ही विश्व की और भारत की समस्याओं के समाधान की कुंजी है। ... मुझे गरीबी, व्यापक बेरोजगारी, पतन और भारतीयों की गुलामी को समाप्त करने के लिए समाजवाद के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नजर नहीं आता।"[12]

नेहरू ने 'पूंजीवाद' और 'समाजवाद' शब्दों को भी अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया। उन्होंने अक्टूबर 1933 में कहा कि "पूंजीवाद' शब्द का "केवल एक अर्थ हो सकता था : वह अर्थव्यवस्था जो औद्योगिक क्रांति के समय से विकसित हुई है ... पूंजीवाद का अर्थ लाभ कमाने के लिए उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित उत्पादन की विकसित व्यवस्था है।"[13] इसी प्रकार, समाजवाद को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा गया जो दूसरी व्यवस्थाओं से अलग थी। उसे "एक स्पष्ट मानवतावादी ढंग से परिभाषित न करके वैज्ञानिक

आर्थिक संदर्भ में परिभाषित होना था"। इसमें "हमारे राजनीतिक और सामाजिक ढांचे में व्यापक क्रांतिकारी परिवर्तन और भूमि तथा उद्योग में निहित स्वार्थों की समाप्ति" शामिल थी।[14] उन्होंने, विशेष रूप से, उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को अपनी आलोचना का केंद्र बनाया।[15] उन्होंने लखनऊ में अपने श्रोताओं से कहा कि समाजवाद का अर्थ "कुछ सीमित अर्थों के सिवाय निजी संपत्ति की समाप्ति, और वर्तमान मुनाफे की व्यवस्था के स्थान पर सहकारी व्यवस्था के एक उच्चतर आदर्श को स्थापित करना" था।[16] इसके साथ ही, समाजवाद और पूंजीवाद दोनों अर्थात, "उत्पादन और वितरण के साधनों के राष्ट्रीयकरण" और उनके निजी स्वामित्व, का समर्थन नहीं किया जा सकता था। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए "एक बीच का रास्ता" तो अपनाया जा सकता था, परंतु दो अंतर्विरोधी और विपरीत प्रक्रियाएं एक साथ नहीं चल सकतीं। इसलिए चयन तो करना ही पड़ेगा और जिस व्यक्ति का लक्ष्य समाजवाद है उसके लिए केवल एक ही रास्ता है।"[17]

नेहरू ने वर्ग विश्लेषण और वर्ग संघर्ष की भूमिका पर भी बल दिया। 17 सितंबर 1933 को प्रेस को दिए गए एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को "यह बोध होना चाहिए कि उसकी और उसके वर्ग की क्या स्थिति है।" जहां तक वर्ग संघर्ष का संबंध था, तो उन्होंने यह संकेत दिया कि वह संपूर्ण संसार में जीवन और इतिहास का एक तथ्य था। "वर्ग संघर्षों का सदैव अस्तित्व रहा है और आज भी है"। केवल "वही व्यक्ति जो यथास्थिति कायम रखने में रुचि रखते हैं, इस तथ्य को छिपाते हैं" और दूसरों को "वर्ग संघर्ष भड़काने" का दोषी ठहराते हैं। नेहरू ने कहा कि वर्ग संघर्ष "उत्पन्न नहीं किए जाते, केवल उनकी पहचान की जाती है।" राजनीतिक कार्य उस आवरण को हटाना था, जो इस वास्तविकता को छिपाने के लिए प्रयोग किया जाता है। उसे हटाने पर स्पष्ट होगा कि "कुछ वर्गों का सामाजिक व्यवस्था पर नियंत्रण है, और वे दूसरे वर्गों का शोषण करते हैं," और इसका एकमात्र इलाज "इस शोषण को समाप्त करने में है।"[18]

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र से आगे जाकर नेहरू ने बुर्जुआ सामाजिक व्यवस्था की राजनीतिक संस्थाओं की भी आलोचना की और इस प्रकार 1880 के दशक से राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा निर्मित और गांधीवादी युग में प्रचलित बुर्जुआवादी राजनीतिक विचारधारा के वर्चस्व को भी चुनौती दी। हालांकि वे राजनीतिक लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों के प्रति वचनबद्ध थे। फिर भी वे अपने विचारों में स्पष्ट थे कि "यदि राजनीतिक अथवा सामाजिक संस्थाएं इस प्रकार के परिवर्तन (एक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना) में बाधा उत्पन्न करती हैं, तो उन्हें हटाना होगा।"[19] इसके अतिरिक्त, 1936 में उन्होंने लिखा कि राजनीतिक लोकतंत्र को भी "तब ही स्वीकार किया जा सकता है, जब वह हमें सामाजिक लोकतंत्र की ओर ले जाए" क्योंकि "राजनीतिक लोकतंत्र केवल हमारे लक्ष्य का मार्ग है, हमारा अंतिम उद्देश्य नहीं है।"[20] जहां तक लोकतांत्रिक साधनों

द्वारा समाजवाद की स्थापना का संबंध था, वह भी व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था—हालांकि सैद्धांतिक रूप से वह एक संभावना बना रहा—क्योंकि "जब समाजवाद के विरोधी यह देखेंगे कि उनकी ताकत के लिए खतरा पैदा हो गया है, तो वे लोकतांत्रिक तरीके को अस्वीकार कर देंगे। अभी तक लोकतांत्रिक तरीका "राज्य अथवा समाज के मूल ढांचे के संबंध में संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने में कहीं भी सफल नहीं हुआ था। जब यह प्रश्न उठेगा तो जिस समूह अथवा वर्ग का सत्ता पर नियंत्रण है, वह स्वेच्छा से इसका परित्याग नहीं करेगा।" वास्तव में, "इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब शासक शक्तियों और शासक वर्गों ने अपनी मर्जी से सत्ता को छोड़ा हो।"[21]

अक्टूबर 1933 में उन्होंने लिखा कि पश्चिमी यूरोपीय लोकतंत्र और स्वतंत्रता के राजनीतिक सिद्धांतों ने केवल पूंजीपति वर्ग को ही लाभ पहुंचाया। आर्थिक असमानता की अनुपस्थिति में "वोट का ... बहुत कम महत्व था" और व्यावहारिकता में "मनुष्य द्वारा मनुष्य और समूह द्वारा समूह के शोषण में वृद्धि हुई थी।" इस का परिणाम यह हुआ कि "जनता की, जनता द्वारा, जनता के लिए सरकार" की धारणा पर आधारित उदारवादी सिद्धांत, व्यवहार में; "धनी वर्ग द्वारा अपने ही लाभ के लिए सरकार" में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार नेहरू ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह उदारवादी सिद्धांत भी तब ही स्थापित किया जा सकता था, "जब जनता के हाथों में सत्ता होती, अर्थात, उदारवादी सिद्धांत को समाजवाद के अंतर्गत ही कार्यान्वित किया जा सकता था।"[22]

नेहरू ने विचार-परिवर्तन बनाम बल प्रयोग के गांधीवादी द्विभाजन से भी स्वयं को पृथक करना आरंभ कर दिया। इसकी उन्होंने मार्च 1931 में शुरुआत की, जब जेल में रहते हुए उन्होंने गांधीजी से कहा कि "उनका साप्ताहिक *हरिजन* एक भी कट्टरपंथी सनातनी के विचार परिवर्तित करने में सफल नहीं होगा," क्योंकि जैसा कि जेम्स स्टुअर्ट मिल ने संकेत किया था, "मानव समुदाय के दृढ़ विश्वास उनके हितों और वर्गीय भावनाओं के साथ-साथ चलते हैं।"[23] 31 अगस्त 1932 को *पायनियर* के दिए गए एक साक्षात्कार में उन्होंने बलपूर्वक कहा कि "एक नए आधार पर समाज के पुनर्निर्माण का अर्थ मुनाफे को धनवानों से लेकर गरीबों को दिया जाना था और इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि "निहित स्वार्थ उसके लिए कभी स्वेच्छा से सहमत होंगे।"[24]

अक्टूबर 1933 में 'भारत किस ओर' के शीर्षक के अंतर्गत लिखे गए अपने लेखों में नेहरू ने इस विषय पर व्यवस्थित रूप से चर्चा करते हुए संकेत दिया कि राज्य का संपूर्ण सिद्धांत बल प्रयोग और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर आधारित था। उन्होंने पूछा : "क्या बल प्रयोग और बल प्रयोग द्वारा अधिरोपित एकरूपता दोनों का आधार नहीं है?" वास्तव में, "सेना, पुलिस, कानून, जेलें, कर इत्यादि सभी

बल प्रयोग के तरीके हैं। वह जमींदार जो लगान और अकसर बहुत से दूसरे कर वसूल करता है, बल प्रयोग पर भरोसा करता है, न कि काश्तकारों के विचार-परिवर्तन पर। फैक्टरी का स्वामी, जो भूखा मरने लायक मजदूरी देता है विचार-परिवर्तन में विश्वास नहीं रखता। दोनों ही भूख और राज्य के संगठित तत्वों को बल प्रयोग की प्रक्रिया के रूप में प्रयोग करते हैं। इसलिए धनी वर्गों को विचार-"परिवर्तन की बात करने का कोई अधिकार" नहीं है। असल समस्या निहित स्वार्थों को समाप्त करना और शासक वर्गों तथा उनके द्वारा किए जा रहे शोषण को समाप्त करने की थी। गांधी ने भी निहित स्वार्थों के लोगों से अधिकार छीनने के सिद्धांत को स्वीकार किया। लेकिन प्रश्न यह था कि ऐसा किस प्रकार किया जाए? इतिहास में ऐसा कोई "उदाहरण नहीं था कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग अथवा समूह अथवा राष्ट्र ने अपनी मर्जी से अपने विशेषाधिकारों अथवा हितों का परित्याग किया था।" इसके लिए हमेशा "एक प्रकार के बल प्रयोग" की जरूरत पड़ी। भारत भी इसका अपवाद होने नहीं जा रहा था। यहां भी, "राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए बल प्रयोग अथवा दबाव जरूरी है। वास्तव में, 1919 से आरंभ किए गए भारत के अहिंसक जन आंदोलन भी ऐसे ही बल प्रयोग अथवा दबाव की एक प्रक्रिया का अंग रहे थे; उनका आशय "दूसरे पक्ष पर दबाव डालना था।" अहिंसा और असहयोग को भी एक नकारात्मक और निष्क्रिय तरीकों के रूप में नहीं बल्कि "जन संकल्प पर अधिरोपित एक सक्रिय, गतिशील और सशक्त तरीके" के रूप में देखा जाना था।[25]

कुछ समय पश्चात नेहरू ने इस विषय को अपनी 'आटोबायोग्राफी में भी उठाया। उन्होंने, उसमें एक पूरे अध्याय में गांधीवादी विचारधारा के इस बुनियादी पहलू का नम्रता से विरोध किया। उन्होंने संकेत दिया कि "आर्थिक हितों से ही समुदायों और वर्गों के राजनीतिक विचारों का निरूपण होता है।" इसलिए, "यह कल्पना करना एक भ्रम था कि एक शक्तिशाली साम्राज्यी राज्य एक देश पर अपनी प्रभुता का त्याग कर देगा, अथवा जब तक कि उस पर प्रभावशाली रूप से दबाव न डाला जाए, अर्थात बल प्रयोग न किया जाए एक वर्ग अपनी श्रेष्ठ स्थित और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा।"[26] अध्याय के अंत में उन्होंने एक सुस्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया। यदि "समान आर्थिक न्याय और सभी के लिए अवसर युक्त एक वर्ग विहीन समाज" के लक्ष्य को प्राप्त करना है तो "वह प्रत्येक वस्तु जो इसके मार्ग में आती है उसे हटाना होगा, यदि संभव हो सके तो विनम्रता से और यदि आवश्यक हो तो बल पूर्वक"।[27]

इन वर्षों के दौरान उन्होंने मौजूदा राष्ट्रवादी विचारधारा की अपर्याप्तता की ओर संकेत किया और एक ऐसी नई विचारधारा निर्मित करने पर बल दिया, जो लोगों को उनकी स्थिति का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने योग्य बनाए।[28] सविनय अवज्ञा आंदोलन की असफलता के बाद भी उसे जारी रखने का एक कारण उनका यह विश्वास

था कि उसके जारी रहने से जन साधारण और बुद्धिजीवियों में नए विचारों का प्रसार होता था।[29]

"नई विचारधारा" शब्दों—जो अकसर उस समय के उनके पत्रों, लेखों और भाषणों में प्रयोग हुए हैं—का तात्पर्य वास्तव में मार्क्सवाद से है, क्योंकि उन्होंने मार्क्सवाद के सामान्य औचित्य को "इतिहास और राजनीति तथा अर्थशास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या" और "एक अस्पष्ट तथा आदर्शवादी समाजवाद के विपरीत एक वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिनिधि" के रूप में स्वीकार कर लिया था।[30] 15 मई 1936 को उन्होंने 'प्रोग्रेसिव ग्रुप आफ बांबे' को बताया कि "संसार की समस्याओं का समाधान केवल वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद से ही हो सकता है।"[31] 17 मई को उन्होंने कांग्रेस समाजवादियों की एक बैठक में कहा कि "समाजवाद और मार्क्सवाद के सिवाय किसी और दृष्टिकोण से इतिहास और समकालीन समस्याओं की व्याख्या नहीं की जा सकती।"[32] नेहरू ने एकाधिकारवादी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के आर्थिक संकट के संपूर्ण मार्क्सवादी विश्लेषण और उसे उखाड़ फेंकने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने 1933 में लिखा कि पूंजीवाद के संकट का "कारण संसार की संपत्ति का असमान वितरण, और कुछ हाथों में उसका केंद्रीकरण था और, ऐसा लगता है कि यह बीमारी पूंजीवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो उसके साथ-साथ बढ़ती है।" मुख्य बात यह थी कि पूंजीवादी व्यवस्था "उत्पादन के वर्तमान तरीकों के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं थी।" इसलिए, इसका यही इलाज था कि "नई तकनीक के अनुरूप एक नई व्यवस्था," दूसरे शब्दों में, "समाजवाद के रास्ते" को अपनाया जाए।[33]

नेहरू ने अपने ढंग से समकालीन मार्क्सवाद और फासीवाद का विश्लेषण किया—ऐसा उन्होंने उस समय किया जब बहुत से 'सामान्य' परिवर्तनवादी सतही 'वामपंथी' कार्यक्रम, दृष्टिकोण, लोकप्रिय आधार और यूरोप तथा एशिया में फासीवाद की संगठनात्मक सफलता के प्रति आकृष्ट हो रहे थे। नेहरू ने लिखा कि फासीवाद का उदय इसलिए हुआ क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था की असफलता के कारण मजदूर वर्ग ने उसे सशक्त चुनौती दी थी। "जब यह चुनौती खतरनाक बन गई तो उसने धनी वर्गों को अपने मतभेदों को भुलाने और अपने सामान्य शत्रु से लड़ने के लिए एकत्र होने को विवश किया। इसी वजह से फासीवाद का उदय हुआ।"[34] लखनऊ में नेहरू ने संसार की स्थिति का निष्कर्ष निकालते हुए पूंजीवाद की असफलता का मुकाबला सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग की सफलता से किया और सोवियत समाजवाद को पूंजीवाद के एक सामाजिक विकल्प के रूप में पेश किया।[35] ऐसा नहीं था कि नेहरू ने इस नए राज्य की केवल प्रशंसा ही की। उसमें "दोष, गलतियां और बेरहमी भी थीं।"[36] वहां ऐसा बहुत कुछ था जिससे "उन्हें कष्ट होता था।"[37] फिर भी "नया युग अब भविष्य का स्वप्न नहीं रह गया था।" क्योंकि "वह अब सोवियत संघ में एक सदृश्य, सजीव रूप धारण कर रहा था; कभी-कभी लड़खड़ा रहा था, लेकिन

आगे बढ़ रहा था।"[38] "यह नई व्यवस्था और एक नई सभ्यता हमारे निराशापूर्ण काल की सर्वाधिक आशाप्रद विशेषता थी।"[39]

संसार में पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की गहन समीक्षा करने के बाद, नेहरू ने "दमन किए गए लोगों की मुक्ति के लिए" भारत के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को एशिया के उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष और संसार के पूंजीवाद-विरोधी संघर्ष के साथ जोड़ने के संबंध में तर्क देना आरंभ किया।[40] अपने लखनऊ के भाषण में नेहरू ने इस गठबंधन की धारणा को और आगे बढ़ाया। भारत की समस्या "पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की विश्ववीय समस्या का केवल एक अंग" थी। इसके अतिरिक्त, यूरोप और अमरीका में समाजवाद और एशिया तथा अफ्रीका में राष्ट्रवादी आंदोलनों ने फासीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक खेमे में एकत्र होना आरंभ कर दिया था।[41] इस प्रकार, नेहरू का उस युग का अंतर्राष्ट्रीयतावाद राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण और काफी परिवर्तनवादी था; वे भारतीय राजनीति में परिवर्तन लाने और भारतीयों में समाजवादी चेतना और विचारधारा के प्रचार के लिए इसे प्रयोग करने की आशा करते थे।

II

1933-36 के वर्षों में नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर अपनी नई वैचारिक समझ की पकड़ को मजबूत करने का प्रयास करते हुए उसकी बुनियादी रणनीति और संगठनात्मक ढांचे में परिवर्तन क़रने की मांग उठाई।

सब से पहले उन्होंने 1880 के दशक से कांग्रेस नेतृत्व द्वारा अपनाई गई बुनियादी राष्ट्रवादी राजनीतिक रणनीति, अर्थात, औपनिवेशिक ताकत पर राजनीतिक दबावों के माध्यम से समझौतों की एक शृंखला द्वारा चरणों में राजनीतिक ताकत और स्वतंत्रता प्राप्ति की रणनीति को चुनौती दी। अपने पिछले लेखों में मैंने इस रणनीति को दबाव-समझौता-दबाव अथवा पी.सी.पी. कहा है।[42] इस रणनीति के तहत, प्रायः एक जन-आंदोलन के माध्यम से राजनीतिक दबाव डाला जाता है, राजनीतिक रिआयतें प्राप्त की जाती हैं; इसमें औपनिवेशिक राजनीतिक ढांचे के साथ कुछ समय के लिए शांतिपूर्ण ढंग से सहयोग भी किया जाता है, हालांकि उसे इसका ज्ञान नहीं हो पाता; जबकि दोनों ओर सद्भावना का वातावरण बना रहता है, दबाव अथवा जन-आंदोलनों की दूसरे दौर की तैयारियां की जाती हैं; अर्थात उसी क्रम की पुनरावृत्ति होती है—यह पुनरावृत्ति बड़ी तेजी से होती है। इस रणनीति के अनुसार, राजनीतिक प्रगति अधिकारियों के राजनीतिक अथवा संवैधानिक कार्यों, अर्थात, ब्रिटिश सरकार के कार्यों के माध्यम से होती है। इस प्रकार इस रणनीति का निहित तर्क यह था कि राजनीतिक सत्ता पर जबर्दस्ती कब्जा न किया जाए।

1934-36 के वर्षों की ठोस भारतीय परिस्थिति में, शक्तिशाली कांग्रेस नेतृत्व और

भारतीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व ने यह महसूस किया कि दबाव अथवा सक्रिय संघर्ष का काल पूरा हो चुका था और अब समझौते, सहयोग, और 'सद्भावना' के युग की शुरुआत होनी थी। वे वास्तव में 1933 के अंत से ही गुपचुप एक राजनीतिक समझौते की दिशा में कार्य कर रहे थे, क्योंकि उस समय तक सविनय अवज्ञा आंदोलन निश्चित रूप से ठंडा पड़ चुका था।

उस समय की परिस्थितियों में, संवैधानिक सुधारों को लागू करके ही ऐसा किया जा सकता था, जिनकी, अंत में, 1935 में घोषणा कर दी गई। ऐसा लगता था कि गांधी इन सुधारों के विरुद्ध थे, परंतु उनकी इस नीति के प्रतिपादन से कि जो कांग्रेसी विधान परिषदों में कार्य करना चाहते हैं वहां उन्हें कार्य करने दिया जाए और दूसरे 'रचनात्मक कार्यों' में जुट जाएं; यह जाहिर होता है कि उन्होंने समझौते और सहयोग के चरण को करीब-करीब अनाधिकारिक रूप से अपनी स्वीकृति दे दी थी। इसके अतिरिक्त गांधी और कांग्रेस के शक्तिशाली दक्षिणपंथी धड़े ने 1935 के अधिनियम के अंतर्गत कांग्रेस को पद त्याग की नीति अपनाने से रोकने का भरसक प्रयास किया, हालांकि उस समय वे अधिनियम की कटु आलोचना कर रहे थे।[43] शासकों और कांग्रेस के मध्य सामान्य रूप से, और गांधी के साथ विशेष रूप से, परस्पर विश्वास की भावना और 'व्यक्तिगत संपर्क' करवाने के लिए गांधी ने जिस प्रकार जी.डी. बिड़ला को प्रोत्साहित किया, उससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। बिड़ला के माध्यम से बार-बार, हालांकि खामोशी के साथ, गांधी ने ब्रिटिश राजनेताओं और अधिकारियों को यह विश्वास दिलाया कि यदि दोनों पक्षों के मध्य 'व्यक्तिगत संपर्क' स्थापित हो जाए, तो नामंजूर सुधारों पर भी अमल किया जा सकता था।

दूसरी ओर, नेहरू ने यह तर्क दिया कि यदि अपेक्षित उद्देश्य केवल 'एक नया प्रशासन' न होकर 'एक नया राज्य' था, तो सत्ता को चरणों और शासक शक्ति के साथ सहयोग द्वारा हासिल नहीं किया जा सकता था;[45] यह कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसी अवस्था में पहुंच चुका था जहां साम्राज्यवाद का तब तक विरोध किया जाए और उसके विरुद्ध तब तक एक अनवरत संघर्ष छेड़ा जाए, जब तक कि उसे उखाड़ फेंका न जाए,[46] क्षणिक विफलताओं की वजह से साम्राज्यवाद के साथ सहयोग अथवा समझौता न किया जाए—चाहे वह अल्पकालिक ही क्यों न हो, बल्कि उसका निरंतर विरोध किया जाए, हालांकि यह विरोध उस समय तक उग्र नहीं होगा जब तक इसकी गतिविधियों में एक बार फिर से तेजी नहीं आ जाती।[47]

सर्वप्रथम, नेहरू ने कहा कि साम्राज्यवाद और भारतीयों के मध्य आधारभूत अंतर्विरोध था और, इसलिए, उसका अधूरा समाधान नहीं किया जा सकता था। "... साम्राज्यवाद और भारत की स्वतंत्रता के मध्य कोई मिलन स्थल नहीं है और इसलिए शांति स्थापित नहीं हो सकती।"[48] इसका यह अर्थ था कि कोई जन आंदोलन न होने की स्थिति में भी सुधारों पर अमल करके संवैधानिक चरण आरंभ

नहीं हो सकता था।

दूसरे, प्रत्येक आंदोलन, चाहे वह राष्ट्रवादी हो या सामाजिक हो, कभी न कभी एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जब वह मौजूदा व्यवस्था के लिए खतरा बन जाता है। तब संघर्ष, स्थायी, तात्कालिक असवैधानिक और गैर-कानूनी हो जाता है। आगे समझौता की कोई संभावना नहीं रह जाती। जब "जनसाधारण राजनीति में प्रवेश" करते हैं, तब भी यही होता है। न ही इस गतिरोध से बाहर आने के लिए कोई बीच का रास्ता रह जाता है। "साम्राज्यवाद के साथ किसी हद तक सहयोग" ही केवल संघर्ष जारी "रखने का एक विकल्प रह जाता है।" परंतु, भारत अथवा विश्व-इतिहास के इस चरण में साम्राज्यवाद के साथ समझौता करना "लक्ष्य के प्रति विश्वासघात" होगा। और इसका उत्तर : "एक मात्र समाधान यही है कि दूसरी ओर रह कर संघर्ष किया जाए और समझौता किए बिना, पीछे हटे बिना और दृढ़ रह कर संघर्ष को जारी रखा जाए।"।[49] नेहरू सत्ता पर कब्जा करने की रणनीति के विचार को प्रतिपादित करने का भी प्रयास कर रहे थे, हालांकि ऐसा वे एक अहिंसक जन-आंदोलन द्वारा ही करना चाहते थे। वास्तविक ताकत, धीरे-धीरे, चरणों में "टुकड़ों में, अथवा दो आना चार आना मात्र से प्राप्त नहीं की जा सकती।" या तो साम्राज्यवाद के पास ताकत रहेगी, या भारतीय "सत्ता के दुर्ग" पर कब्जा कर लेंगे।[50] यहां वे 'दबाव-समझौता-दबाव की रणनीति के विरुद्ध दबाव-विजय की रणनीति का प्रतिपादन कर रहे थे। वे इस बात को बराबर मानते रहे कि भारत में अहिंसक जन-आंदोलन का तरीका ही संघर्ष के लिए उपयुक्त था। परंतु उनके विचार में यह तरीका, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का तरीका था न कि उसके साथ समझौता अथवा सहयोग करने का एक रास्ता था। उन्होंने बार-बार संघर्ष की रणनीति—सत्ता पर कब्जा करने के प्रश्न पर बल दिया। उन्होंने संघर्ष की पद्धतियों पर बल नहीं दिया, क्योंकि वे, उनके विचार में, प्रचलित राजनीतिक परिस्थितियों से अनुकूलित हो चुकी थीं।[51]

1935-36 के वर्षों में उन्हें यह अधिक स्पष्ट दिखाई दिया कि 1935 के अधिनियम के तहत पद स्वीकार करने का अर्थ राष्ट्रीय आंदोलन को समझौते के चरण में ले जाना होगा। इसलिए, उन्होंने पद-स्वीकृति के विरुद्ध जोरदार अभियान चलाया, क्योंकि यह रणनीति की दो पद्धतियों के बीच एक संघर्ष था। इस संघर्ष में इसलिए कटुता आ गई क्योंकि नेहरू यहां गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन की आधारभूत रणनीति को चुनौती दे रहे थे। उन्हें इसमें पूरी तरह पराजय का मुंह देखना पड़ा, और इसी वजह से उन्होंने दोबारा गांधी अथवा शक्तिशाली कांग्रेस नेतृत्व को चुनौती नहीं दी।

लखनऊ में अपने भाषण में उन्होंने इस प्रश्न के प्रति एक दृढ़ रवैया अपनाते हुए कहा कि यह इसलिए अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि "इसके साथ गहरे सैद्धांतिक प्रश्न जुड़े हुए थे।" उन्होंने कहा कि "इसके पीछे कुछ-कुछ आजादी का प्रश्न भी छिपा है" और यह भी कि "हम भारत में क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते हैं या ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के अंतर्गत छोटे-मोटे सुधारों से ही संतुष्ट हो जाते हैं। पद-स्वीकृति की अर्थ अनिवार्य रूप से, किसी न किसी रूप में, साम्राज्यवाद के दमनकारी उपकरणों के साथ हमारा सहयोग होगा, और हम अपने ही लोगों के दमन और शोषण में भागीदार हो जाएंगे।" व्यवहार में, इसका अर्थ, साम्राज्यवाद के सामने आत्मसमर्पण होगा। कांग्रेसियों के लिए इसका अर्थ "अपने आधार और पृष्ठभूमि को त्यागना होगा।" कांग्रेस को न केवल पदों को स्वीकार नहीं करना चाहिए बल्कि उसे "इसके प्रति किसी प्रकार की हिचकिचाहट का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए।" कांग्रेस द्वारा पद स्वीकार करना "एक खड्ड में गिर जाने के समान होगा जिसमें से निकलना कठिन होगा।" और अंत में इस प्रकार का प्रयास "हमारे लोगों में क्रांतिकारी भावना पैदा करने में घातक सिद्ध होगा,"[52] जबकि इसकी इस समय खास जरूरत है।

नेहरू, एक विस्तृत संदर्भ में सामान्य संसदीय गतिविधि को जरूरत से ज्यादा महत्व देने के विरोधी थे। वे विधानसभाओं में किए जाने वाले कार्य को राजनीति में एक अधीनस्थ भूमिका देने के पक्षधर थे। यह उसी सीमा तक लाभकारी था कि उसके द्वारा सीधी सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई के लिए जनता को गोलबंद किया जा सकता था।[53] उन्होंने कांग्रेसियों को भी "वास्तविक खतरे" के संबंध में चेतावनी दी और कहा कि उन्हें चुनावों के मद्दे नजर "अपने कार्यक्रम और नीति को हलका करने का मोह हो सकता था ताकि वे दुविधाग्रस्त समूहों और व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त कर सकें।"[54] विधानसभा के कार्य को हमारे "दूसरे कार्य में बाधा उत्पन्न करने से रोकने का" एक तरीका यह था कि कांग्रेस और उसकी कार्यकारिणी विधानसभा के कार्य पर सीधा नियंत्रण रखें, अर्ध-स्वशासी संसदीय बोर्डों को समाप्त कर दें।[55]

तथापि उन्होंने यह स्वीकार किया कि किसी न किसी रूप में संसदीय गतिविधि का जारी रहना जरूरी था और इसलिए उसे एक ऐसा केंद्रबिंदु होना था जिसके चारों ओर साम्राज्यवाद से समझौता किए बिना एकत्रित हुआ जा सके। इसके अतिरिक्त, जनता के सामने उस प्रक्रिया को भी स्पष्ट करना आवश्यक था जिसके द्वारा सफल राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद से सत्ता छीनने और उसे प्रयोग करने के योग्य होगा। संविधान सभा का व्यावहारिक और आकर्षक नारा देकर ही दोनों उद्देश्यों को पूरा किया जा सकेगा। नेहरू ने सर्वप्रथम 1933 में यह मांग उठाई कि भारत के भावी संविधान का निर्माण एक लोकप्रिय रूप से निर्वाचित विधानसभा द्वारा किया जाए। संविधान सभा के नारे द्वारा मौजूदा विधानसभाओं की कार्यविधि को एक सीधी चुनौती दी गई थी और इस प्रकार यह चरणों में और शासकों द्वारा राजनीतिक कार्यवाही के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त करने की रणनीति के लिए भी एक चुनौती थी, क्योंकि संविधान सभा केवल ब्रिटिश आधिपत्य समाप्त होने के बाद ही बनाई जा सकती थी। इसलिए, यह एक ऐसा नारा था "जो साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए लोगों को गोलबंद करेगा।"[56] नेहरू ने एक बार फिर, इन्हीं कारणों से, लखनऊ में एक संविधान सभा

की मांग उठाई। उन्होंने संकेत दिया कि संविधान सभा का निर्माण साम्राज्यवाद के साथ वार्ता करके अथवा ब्रिटिश संसद द्वारा एक नया अधिनियम बना कर नहीं किया जा सकता था। इसका (संविधान सभा का) अर्थ भारतीयों द्वारा सत्ता पर काबिज़ होना, "कम से कम एक अर्ध-क्रांतिकारी स्थिति" अर्थात, राष्ट्रीय संघर्ष के लिए एक नई रणनीति अपनाना होगा।[57]

नेहरू ने राष्ट्रीय आंदोलन की एक दूसरी कमजोरी—उसके अनिवार्य रूप से मध्यमवर्गीय और बुर्जुआ चरित्र—की ओर भी बार-बार संकेत किया।[58] जबकि राजनीतिक संघर्ष जनसाधारण पर आधारित था, "उसका आधार स्तंभ और नेतृत्व सदैव मध्यम वर्ग के हाथों में ही होता था।"[59] इससे कई दिशाओं में कमजोरी उत्पन्न होती थी। इससे स्वतंत्रता की एक अस्पष्ट राष्ट्रवादी भावना और विचारधारा उत्पन्न होती थी, जिससे यह बोध भी नहीं होता था "कि स्वतंत्रता का स्वरूप क्या होगा।" वह एक प्रकार के आदर्शवाद, एक रहस्यवाद और एक प्रकार के धार्मिक पुनरुत्थानवाद की भावना को भी जन्म देती थी।[60] साथ ही, मध्यम वर्ग, "एक समय में ही दो दिशाओं" में देखते थे। उनके सदस्य संसार में उन्नति करने की आशा करते थे क्योंकि उनमें से अधिकांश को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था द्वारा कुचला जा रहा था। इसके फलस्वरूप, यह नेतृत्व भी "एक ही समय में दो दिशाओं में देखता था, और संघर्ष के समय अनिश्चय की स्थिति में रहता था। एक धनी वर्ग के रूप में, वह सरकार द्वारा इसकी संपत्ति के बारे में दी गई धमकियों से भी प्रभावित होता था, और इसलिए सरकार द्वारा उस पर "दबाव डालना अथवा उसकी सहनशक्ति को झुकाना सरल था।" राष्ट्रीय आंदोलन के मध्यमवर्गीय आधिपत्य का अर्थ यह भी था कि उसकी नीतियों और विचारों तथा उसके द्वारा उठाई गई समस्याएं "अधिकांश आबादी की आवश्यकताओं के अनुरूप होने के बजाए इसी मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण पर आधारित होती थी।"[61]

इस स्थित से निकलने का एक यही रास्ता था कि आंदोलन के सामाजिक आधार, सामाजिक चरित्र और नेतृत्व में परिवर्तन किया जाए। "मध्यम वर्ग, जनता के प्रतिनिधि होने का दावा" नही कर सकते थे। अब आंदोलन के लिए यह जरूरी था कि वह "नई कड़ी और नए संबंध" स्थापित करे। ऐसा जनता को आंदोलन में शामिल करके और उसमें "काश्तकारों तथा मजदूरों की सक्रिय भागीदारी" द्वारा ही संभव हो सकता था।[62] ऐसा तभी हो सकता था जब मजदूरों और काश्तकारों के बुनियादी संगठनों, श्रमिक संघों और किसान सभाओं को कांग्रेस से सामूहिक रूप से संबद्ध करके राष्ट्रीय आंदोलन के वर्ग चरित्र और उसके साथ-साथ संघर्ष की राजनीति और सामाजिक विस्तार में परिवर्तन किए जाएं।[63] इसके अतिरिक्त कांग्रेस को इस प्रकार की किसान सभाओं और श्रमिक संघों के निर्माण को प्रोत्साहित करना चाहिए और उनके द्वारा उनकी आर्थिक मांगों के लिए दिन-प्रतिदिन किए जाने वाले संघर्ष में उनकी सहायता

करनी चाहिए।[64]

ऐसा लगता था कि गांधी ने जनसाधारण की जो भूमिका निश्चित की थी, नेहरू उन्हें उससे अलग एक और भूमिका देना चाहते थे। जबकि गांधी जनसाधारण को राजनीतिक आंदोलन में लाए, उन्होंने कभी भी जनसाधारण को स्वयं अपना नेतृत्व विकसित करने की अनुमति देना तो दूर रहा, उन्हें राजनीतिक चर्चा करने अथवा राजनीतिक कार्रवाई को विकसित करने को प्रोत्साहित नहीं किया। नेहरू ने दोनों बातों का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त, नेहरू, विचारों और विचारधारा के क्षेत्र से निकल कर राजनीतिक संघर्ष के तरीकों और संगठन की समस्याओं पर बात करने लगे थे, और इस प्रकार 14 सितंबर 1933 के गांधी द्वारा उन्हें लिखे गए पत्र में इस व्यंग्य का उत्तर देने का प्रयास कर रहे थे कि "आप ने (नेहरू ने) लक्ष्य का स्पष्ट वर्णन करने की आवश्यकता पर बल दिया है," परंतु तथ्य यह है कि "लक्ष्य की कितनी भी स्पष्ट परिभाषा क्यों न की जाए और उसकी कितनी भी अच्छी समझ क्यों न हो, यदि हम उसे प्राप्त करने के साधनों को नहीं जानते, तो हम सफल नहीं होंगे।"[65]

नेहरू ने राजनीतिक संघर्ष के साथ सामाजिक संघर्ष के एकीकरण के प्रश्न पर भी बहुत अधिक ध्यान दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्य को पुनर्परिभाषित किया। वास्तव में, उन्होंने राष्ट्रवाद की मुख्यधारा और उसकी प्रमुख अगुआ और प्रवक्ता, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ पूर्ण रूप से अपनी पहचान बना ली थी।[66] वे जानते थे कि राष्ट्रवाद देश में सबसे बड़ी शक्ति था।[67] वे यह भी स्वीकार करते थे कि एक राष्ट्रीय आंदोलन के नेता के रूप में कांग्रेस का एक बहुवर्गीय चरित्र था जो एकवर्गीय चरित्र से अलग था।[68] इसके साथ ही उन्होंने सामाजिक संघर्ष को पूर्ण रूप से राजनीतिक संघर्ष के अधीन करने की प्रवृत्ति, अथवा उससे भी अधिक राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय संघर्ष के नाम पर उसे भविष्य के लिए स्थगित करने के विचार की कटु आलोचना की। उनका विश्वास था कि यह गलत प्रवृत्ति भारतीय राष्ट्रवाद के मध्यमवर्गीय, बुर्जुआ चरित्र का परिणाम थी। मध्यमवर्गीय राष्ट्रवाद का झुकाव 'अंतर्निहित और बुनियादी' आंतरिक वर्ग संघर्षों की अवहेलना करने की ओर था और उसने "वर्ग विभाजनों अथवा सामाजिक यथास्थिति में उलट फेर करने से बचने का प्रयास किया।" इसका प्रायः यह कारण बताया जाता था कि "पहले राष्ट्रीय प्रश्नों को तय किया जाना चाहिए।"[69] परंतु, जन साधारण के सामाजिक संघर्षों को सम्मिलित किए बिना कोई भी संघर्ष वास्तविक संघर्ष नहीं हो सकता था।[70]

अक्टूबर 1933 में नेहरू ने भविष्यवाणी की, "कम से कम एशिया के कुछ देशों में राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता एक साथ आएगी।"[71] उन्होंने कहा कि भारत की स्वतंत्रता इसलिए जरूरी थी क्योंकि जनसाधारण को भारत और विदेशों में कुछ वर्गों के निहित स्वार्थों का भार वहन करना पड़ा रहा था।" इस प्रकार स्वतंत्रता की

उपलब्धि निहित स्वार्थों से मुक्ति प्राप्त करने का प्रश्न बन गई है।" दूसरी ओर, "यदि एकदेशीय सरकार विदेशी सरकार का स्थान लेती है और निहित स्वार्थों को कायम रखती है, तो यह स्वतंत्रता की परछाईं भी नहीं होगी।"[72] इसलिए, स्वतंत्रता संघर्ष का तात्कालिक उद्देश्य अथवा लक्ष्य भारतीयों के शोषण की समाप्ति होना चाहिए। राजनीतिक रूप से इसका मतलब, विदेशी शासन से मुक्ति था; सामाजिक और आर्थिक रूप से इसका मतलब "सभी प्रकार के वर्गीय विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों की समाप्ति" होना था।[73]

नवंबर 1933 में *इंडियन लेबर जर्नल* को दिए गए एक संदेश में नेहरू ने एक बार फिर इस बात पर बल दिया कि सामाजिक और राष्ट्रीय संघर्ष दोनों ही आधारभूत संघर्ष थे और इन दोनों में से किसी पर भी कोई समझौता नहीं किया जाना चाहिए।[74] इसके साथ ही उन्होंने मजदूर वर्ग से आग्रह किया कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में अपनी उचित भूमिका निभाए। मजदूरों को एकताबद्ध और संगठित होना चाहिए और "सही विचारधारा" विकसित करनी चाहिए जो उन्हें एक समाजवादी कार्यक्रम की ओर ले जाए और उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन को "मजदूरों की ओर उन्मुख करने की दृष्टि से"[75] राष्ट्रीय आंदोलन के साथ मिलकर राजनीतिक कार्यवाही करनी चाहिए। दिसंबर 1933 में, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दिए गए अपने एक भाषण में उन्होंने मजदूरों को विश्वास दिलाया कि यदि वे पूर्णरूप से राष्ट्रीय संघर्ष और स्वयं अपने सामाजिक संघर्ष में भाग लेंगे तो वे न केवल "भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता वरन सामाजिक स्वतंत्रता लाने में भी सहायक होंगे"।[76]

1934-39 के दौरान नेहरू कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं से अलग हो गए। संभवतः इसी अलगाव का कांग्रेस में दक्षिणपंथियों के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के प्रारंभिक कदम के रूप में उपयोग किया जा सकता था। 13 अगस्त 1934 को गांधी को लिखे एक पत्र में नेहरू ने कांग्रेस में अवसरवादिता की विजय पर अपनी नाराजगी प्रकट की और इसके लिए उन्होंने कार्यकारिणी को दोषी ठहराया, जिसने "हमारे आदर्शों और लक्ष्यों की परिभाषा में जानबूझ कर अस्पष्टता को प्रोत्साहन दिया था।"[77] वे कार्यकारिणी से विशेषकर इसलिए नाराज थे क्योंकि 18 जून 1934 को उसने एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें समाजवाद और समाजवादियों द्वारा "वर्गयुद्ध की आवश्यकता" और "निजी संपत्ति की जब्ती" के प्रचार की अप्रत्यक्ष रूप से निंदा की गई थी। जेल में इस प्रस्ताव को पढ़ने के बाद, उन्होंने 20 जून 1934 को अपनी डायरी में लिखा, "कार्यकारिणी का बेड़ा गर्क हो : जिन विषयों को वह नहीं समझती उन पर नेक और मूर्खतापूर्ण प्रस्तावों को पास करती है—या शायद वह उन्हें आवश्यकता से अधिक समझती है"।[78] अगस्त में उन्होंने गांधी से शिकायत की "भले ही कार्यकारिणी इस विषय को समझे अथवा न समझे, वह समाजवाद के समर्थकों की निंदा करने और उनका बहिष्कार करने को तैयार है।"[79] प्रस्ताव से "समाजवाद के

तत्वों के संबंध में आश्चर्यजनक अज्ञानता" का प्रदर्शन होता था। उन्होंने कड़े शब्दों में लिखा, "ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यसमिति की इच्छा यह है कि निहित स्वार्थों को किसी न किसी प्रकार, चाहे बेतुकी बात कह कर, भरोसा दिलाया जाए।" इसके बाद उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा : "... कुछ व्यक्तियों की जेबों से पैसा निकालने के बजाए इसे दूसरों का दिल तोड़ना ज्यादा अच्छा लगता है। वास्तव में जेबों की दिलों-दिमागों और शरीरों, मानवी न्याय और गरिमा से अधिक कीमत है।"[80] इसी पत्र के लिखे जाने के आसपास अपनी एक टिप्पणी में कहा कि "प्रस्ताव का उद्देश्य उन्हें और दूसरे समाजवादियों को कांग्रेस से दूर रखना था; अब वह इस विषय पर तटस्थ नहीं है। वह पूर्ण रूप से समाजवाद विरोधी और राजनीतिक दृष्टि से पिछले 15 वर्षों की अपेक्षा अधिक पिछड़ गई है।" न ही कार्यसमिति के सदस्य भोले भाले प्रतिक्रियावादी थे। उन्होंने "संसदीय बोर्ड अथवा उसके नेताओं के उकसाने पर प्रस्ताव पास किया है जो 'धनवानों के साथ रहकर सुरक्षित रहना चाहते हैं।"[81]

नेहरू का गांधी के साथ भी अलगाव बढ़ रहा था। इसकी प्रक्रिया 1933 में जेल में आरंभ हो गई थी। चार जून को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, मुझे डर है कि मैं मानसिक रूप से उनसे दूर होता जा रहा हूं हालांकि मेरा उनसे भावनात्मक लगाव है। उन्होंने लेनिन और कंपनी से गांधी की तुलना करते हुए लिखा : "जितना अधिक मैं उनके द्वंद्वात्मक तर्क के प्रति आकृष्ट होता हूं, मुझे बापू और अपने बीच उतनी ही दूरी नजर आती है ...।" गांधी ने "वर्तमान सामाजिक व्यवस्था" को स्वीकार कर लिया था। इससे भी बुरा यह था कि "वे उन व्यक्तियों से घिरे थे जो इस व्यवस्था के स्तंभ और लाभ उठाने वाले हैं, और, नेहरू ने कड़वाहट भरे स्वर में लिखा, जो निस्संदेह, हमारे आंदोलन और किसी भी सवैधानिक परिवर्तन से लाभ उठाएंगे।" अपनी ओर से नेहरू बिलकुल स्पष्ट थे, "मैं पूर्ण रूप से इन व्यक्तियों से अलग होना चाहता हूं।" परंतु, वे यह भी जानते थे कि ऐसा करना सरल नहीं था। "मेरे सामने व्यक्तिगत रूप से आगे कठिनाइयां आने वाली हैं। मुझे परस्पर विरोधी निष्ठाओं से लड़ना होगा।" वे जानते थे कि उनमें से एक को चुनना सरल नहीं था, और इसलिए उन्होंने लिखा : "संभवतः मेरे लिए जेल सबसे सुखद स्थान है, अभी मुझे तीन महीने और जेल में रहना है, और यहां कभी भी वापस आया जा सकता है।"[82]

कुछ सप्ताह के बाद वायसराय के साथ गांधी द्वारा वार्ता करने के प्रयासों ने उन्हें और अधिक क्रोधित कर दिया। 24 जुलाई को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, "अब मुझे और अधिक विश्वास होता जा रहा है कि मेरे और बापू के मध्य अब आगे राजनीतिक सहयोग नहीं हो सकता, कम से कम वैसा नहीं जैसा कि कभी था। यही उचित होगा कि हम अपने अलग रास्तों पर चलें।"[83]

अप्रैल 1934 में सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने पर और उससे भी

अधिक गांधी द्वारा उसके लिए बताए गए कारणों के विरुद्ध नेहरू ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। 12 मई 1934 को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा : "यदि बापू इसी प्रकार कार्य करते हैं और लोगों को बेसहारा छोड़ देते हैं, तो कोई किस प्रकार उनके साथ काम कर सकता है।"[84] इससे पूर्व, 13 अप्रैल को उन्होंने लिखा था : "यह हमारे स्वतंत्रता संघर्ष की ही नहीं बल्कि मेरे निजी जीवन की एक युगसंधि है। 15 वर्षों के बाद मैं अपने रास्ते पर चल रहा हूं, संभवतः एक निर्जन रास्ते पर जो अधिक दूर तक नहीं जाएगा।"[85] गांधी को उन्होंने दुःख और क्रोध के साथ लिखा : "मुझे अचानक और तेजी से यह अहसास हुआ कि मेरे अंदर कुछ टूट गया है, वह बंधन जिसकी मैं बहुत कद्र करता था बुरी तरह से टूट गया है ... मैंने बचपन से ही स्वयं को कुछ-कुछ अकेला महसूस किया है ... परंतु अब मैं स्वयं को पूर्णतया अकेला महसूस करता हूं जैसे मुझे किसी रेतीले टापू पर असहाय छोड़ दिया गया है।"[86] एक अप्रकाशित टिप्पणी में उन्होंने अपने मोहभंग और गांधी के साथ संबंधों के बिखराव को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया : "मेरे, बापू और दूसरे व्यक्तियों के बीच, जो कांग्रेस का नेतृत्व करते हैं, मुश्किल से ही कोई समान आधार बचा है। हमारे उद्देश्य भिन्न हैं, हमारे आध्यात्मिक दृष्टिकोण अलग हैं, और हमारे तरीकों के भी अलग होने की संभावना है... मैं दर्द के साथ यह महसूस करता हूं कि हम जिन वफादारी के बंधनों में वर्षों तक बंधे रहे, वे अब टूट गए हैं"। उन्होंने "राजनीतिक विषयों के बजाए दूसरे विषयों पर गांधी की केंद्रीयता" की शिकायत उनकी व्यक्तिगत और स्वयं पैदा की गई उलझनों, और संघर्ष के मध्य अपने साथियों का संघर्ष के बीच में (चाहे कारण कुछ भी हों) साथ छोड़ देने की शिकायत की।" आखिरकार "जो काम हाथ में लिया गया था, और उस काम में लगे साथियों के साथ वफादारी होनी चाहिए, यह बड़े दुःख की बात है कि बापू ने इस बात को कोई महत्व नहीं दिया।"[87]

इस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि 1934-35 के दौरान लिखी और 1936 में प्रकाशित *आटोबायोग्राफी* के कुछ अध्याय गांधी के विरुद्ध एक वैचारिक बहस थे हालांकि उनमें नेहरू ने एक विनम्र, मैत्रीपूर्ण और श्रद्धापूर्ण स्वर अपनाया था। संभवतः इन अध्यायों में भारतीय राष्ट्रवाद को एक नई वैचारिक दिशा देने का प्रयास किया गया था।

अतः 1936 के मध्य तक ऐसा प्रतीत होता था कि नेहरू गांधी के नेतृत्व का एक वामपंथी राजनीतिक विकल्प विकसित करने का प्रयत्न कर रहे थे। एक ऐसा विकल्प जो गांधी के नेतृत्व के बुनियादी पहलुओं, कार्यक्रम और विचारधारा, आंदोलन और उनके नेतृत्व के सामाजिक चरित्र, और उसके संघर्ष की रणनीति को चुनौती देगा। इसके अतिरिक्त, वे एक विस्तृत समाजवादी गुट के नेता के रूप में भी उभरने लगे थे, जो अभी तक संयुक्त और सुसंगत नहीं था, लेकिन उनके व्यक्तित्व के चारों ओर निर्मित हो रहा था। नेहरू ने अपनी नई विचारधारा को केवल अपनी डायरी

और कार्यसमिति में बहसों तक ही सीमिति नहीं रखा। उन्होंने इस संबंध में अंग्रेजी और हिंदी की पत्रिकाओं और अखबारों में भी विस्तार से लिखा। उनके लेखों का दूसरी भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया और अकसर उन्हें पुस्तकों और लघु पुस्तिकाओं के रूप में भी प्रकाशित किया गया। उन्होंने लगभग प्रतिदिन समाचारपत्रों को वक्तव्य भी दिए। 1936 के आरंभ में यूरोप से वापस आकर, उन्होंने सारे देश का एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक दौरा किया, विशाल जनसभाओं को संबोधित किया और विद्यार्थियों तथा युवाओं को अपनी ओर आकृष्ट किया। अप्रैल 1936 में कांग्रेस का अध्यक्ष चुने जाने के पश्चात, उन्हें लोगों के विचारों और राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित करने का अच्छा अवसर मिला।

III

नेहरू के नए वैचारिक और राजनीतिक दृष्टिकोण ने—विशेषकर कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में उसके स्पष्टीकरण ने—भारतीय पूंजीपति वर्ग को भयभीत कर दिया। जबकि इस वर्ग के शक्तिशाली, दूरदर्शी कांग्रेस समर्थक नेतृत्व ने नेहरू के प्रभाव को सीमित करने की दिशा में सुरक्षात्मक कदम उठाए, वहीं अधिक रूढ़िवादी और कांग्रेस विरोधी नेताओं ने उन पर सीधा आक्रमण करने का निश्चय किया।

इंडियन मर्चेंट्स चैंबर आफ बंबई के उपाध्यक्ष, ए.डी. श्राफ़ ने, 18 अप्रैल 1934 को इस दिशा में पहल की। तीन सप्ताह बाद 18 मई को बंबई के 21 प्रमुख व्यापारियों ने एक घोषणापत्र जारी किया, जिसे समाचारपत्रों ने "जवाहरलाल नेहरू के विरुद्ध बंबई का घोषणापत्र" कहा।[89] कुछ लोगों ने क्रमशः व्यक्तिगत ध्यान भी जारी किए—ए. डी. श्राफ़ ने दोबारा 20 मई को *टाइम्स आफ इंडिया* में; चिमनलाल सीतलवाड ने 23 मई को *टाइम्स आफ इंडिया* में, कावसजी जहांगीर ने 29 मई को *टाइम्स आफ इंडिया* में और होमी मोदी ने 11 जून 1936 को *टाइम्स आफ इंडिया* में अपने बयान दिए। इन सभी वक्तव्यों को प्रेस ने पूरी तरह से प्रचारित किया और उनके विस्तृत उद्धरण प्रकाशित किए गए। 21 प्रमुख व्यापारियों की आलोचना का मुख्य तर्क यह था :

> नेहरू यह विचार फैला रहे थे कि निजी संपत्ति अनैतिक है और इसलिए वह राज्य का संरक्षण प्राप्त करने की अधिकारी नहीं है। अतः वे निजी संपत्ति को समाप्त करने में "विध्वंसात्मक और तोड़फोड़ के कार्यक्रम" की वकालत कर रहे थे और वे "न केवल निजी संपत्ति की संस्था को बल्कि धर्म के शांतिपूर्ण अनुपालन को और यहां तक कि व्यक्तिगत सुरक्षा को भी संकट में डाल रहे थे।" उनके लखनऊ में दिए गए भाषण से यह आरोप स्पष्ट रूप से सिद्ध

> हो रहा था जिसमें उन्होंने समाजवाद की वकालत करते हुए उसे निजी संपत्ति और लाभ कमाने की प्रणाली की समाप्ति के रूप में परिभाषित किया था। उन्होंने "एक नई सभ्यता के उद्घाटन" के रूप में सोवियत संघ की घटनाओं का उल्लेख करते हुए अपनी परिकल्पना को स्पष्ट किया। इस प्रकार, उन्होंने "मौजूदा सामाजिक और आर्थिक ढांचे को ध्वस्त" करने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए। इस प्रकार के विचार, विशेष रूप से खतरनाक थे क्योंकि "वर्तमान परिस्थितियों और देश की आर्थिक तंगी के कारण उन्हें लोगों का स्वाभाविक, हालांकि बिना सोचे समझे, समर्थन प्राप्त हो सकता था।" इस प्रकार के विचारों से जनसाधारण गुमराह हो सकते थे, जिससे आगे चल कर "अव्यवस्था फैलने का डर था।" अभी तक पूंजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है लेकिन नेहरू की गतिविधियों से देश बंट सकता है और स्वराज्य मिलने में बाधा भी उत्पन्न हो सकती थी।[90]

व्यक्तिगत रूप से आलोचना करने वालों की प्रमुख चिंता यह थी कि नेहरू ने समकालीन फ़ेबियन, लेबर पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी द्वारा दी गई समाजवाद की परिभाषा को त्याग कर स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी परिभाषा को स्वीकार कर लिया था। जैसा कि चिमनलाल सीतलवाड ने कहा, "हालांकि वे अपने सिद्धांत को समाजवाद कहते हैं, परंतु वह वास्तव में रूस जैसा साम्यवाद और बोल्शेववाद है।" चिमन लाल ने आगे कहा कि इसमें संदेह नहीं कि भारत के ज्यादातर लोग "समाजवाद का स्वागत करेंगे, जिस प्रकार कि उसे पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में समझा और कार्यान्वित किया जाता है।" वास्तव में, नेहरू के प्रचार की आलोचना करने वाले अनेक लोग इस अर्थ में समाजवाद का समर्थन करने का दावा करते थे : "मुनाफे का श्रम और पूंजी के मध्य अधिक न्यायसंगत विभाजन, सभी के लिए नयूनतम जीवन स्तर सुनिश्चित करना और कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण।"[91] इसी प्रकार, कावसजी जहांगीर ने बलपूर्वक कहा कि नेहरू "पूर्णरूप से एक कम्युनिस्ट" थे और "अपने प्रचार को समाजवाद का नाम देकर अपनी असलियत छिपा रहे थे।" वे वास्तव में, "भारत में कम्युनिस्ट विचारधारा के अगुआ थे।" उन्होंने कहा कि बहस में वास्तविक विषय यह था कि "सोवियत जैसी सरकार भारत के लिए सर्वोत्तम है।"[92] और होमी मोदी ने चेतावनी दी, "उनका मतलब स्पष्ट और कार्यक्रम बहुत कुछ निश्चित है। प्रथम, राजनीतिक स्वतंत्रता और उसके बाद एक समाजवादी राज्य जिसमें निहित स्वार्थों, संपत्ति के अधिकारों और मुनाफे की प्रेरणाओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा। उन व्यक्तियों को, जिनका दिमाग मध्यवर्ती अवस्थाओं अथवा आनंदमय पड़ावों की ओर दौड़ रहा है, यह नहीं भूलना चाहिए कि वे सीधा मास्को का टिकट खरीद रहे हैं।"[93] ए.डी. श्राफ ने "वर्ग घृणा" और "वर्ग युद्ध" को बढ़ावा देने के लिए उनकी आलोचना की और कांग्रेस को याद दिलाया कि आंदोलन का प्रमुख राजनीतिक कार्य

"राजनीतिक स्वतंत्रता" प्राप्त करना है। इससे वह "संपूर्ण एकता" भंग नहीं होनी चाहिए, जिसकी अंग्रेज से रिआयतें प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है। नेहरू ने लखनऊ में जिस प्रकार की घोषणाएं की हैं, उनसे, एक दूसरे ढंग से भी देश के हित को नुकसान पहुंचेगा। उनसे औद्योगिक उपक्रम बंद हो जाएंगे और देश से पूंजी के निकास को प्रोत्साहन मिलेगा।"[94] होमी मोदी ने नेहरू के सामने वास्तविकता के एक दूसरे पहलू को प्रस्तुत किया। उन्होंने संकेत दिया कि नेहरू की विचारधारा और समाजवाद की परिभाषा और हिंसा के प्रति उनकी घृणा और शांतिपूर्ण अहिंसक तरीकों के प्रति वचनबद्धता के मध्य बड़ा अंतर्विरोध था। यह कह कर कि उनके विचारों को "बिना किसी हिंसा और विपत्तिकारी परिवर्तन" के कार्यान्वित किया जा सकता है, नेहरू अपने भोलेपन का प्रदर्शन कर रहे थे। उन्होंने पूछा "किस युग और किस देश में शांतिपूर्ण ढंग से और खूनी क्रांति के बिना इस प्रकार का आधारभूत परिवर्तन हुआ?"[95]

कुछ समय से लोगों को नेहरू के विचारों के बारे में जानकारी थी, परंतु सामान्यतया उनकी अनदेखी की जाती थी। यह आश्चर्यजनक था कि कांग्रेस अध्यक्ष का ऊंचे पद पर आसीन होने के बाद भी उनके विचार नर्म नहीं पड़े थे। इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि ये अब एक व्यक्ति विशेष के विचार नहीं थे, बल्कि देश में सबसे अधिक शक्तिशाली संगठन के अध्यक्ष के विचार थे।[96] इस बात की पूरी संभावना थी कि "कांग्रेस को वामपंथ की ओर ढकेलने, राष्ट्रीय आंदोलन पर लंबे समय से स्थापित बुर्जुआ वर्चस्व के महत्व को कम करने, और गांधी के विरुद्ध एक वामपंथी विकल्प तैयार करने और एक अधिक बड़े स्तर पर अपने विचारों को प्रचारित करने" में वे अपने उच्च पद और उसकी प्रतिष्ठा का प्रयोग करेंगे।[97] अभी तक केवल यही राहत थी कि कांग्रेस का बहुमत उनके विचारों का समर्थन नहीं करता था। चिमन लाल सीतलवाड ने चेतावनी दी, "कांग्रेस का समाजवादी वर्ग ताकतवर हो रहा था और यह संभव हो सकता है कि पंडित की पुरजोर वकालत करके वे, जैसा कि लोगों का विश्वास है, उससे पहले ही कांग्रेस पर कब्जा कर सकते हैं।"[98]

तथापि, ये प्रत्यक्ष और कटु आलोचक बंबई तक ही सीमित थे और ज्यादातर, पारंपरिक उदारवाद समर्थक अथवा राज्यभक्त और पूंजीपति वर्ग की कांग्रेस-विरोधी श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से कुछ ने न केवल नेहरू के परिवर्तनवाद का विरोध किया वरन असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के रूप में राष्ट्रवादी जुझारूपन का भी विरोध किया।[99] नेहरू ने अपने विरुद्ध जारी किए गए घोषणापत्र के 21 हस्ताक्षरकर्ताओं की जीवनी के बारे में विश्लेषण करवाया और उन्हें पता चला कि उनमें से अधिकांश उदारवादी अथवा राजभक्त थे और या वे टाटा के घराने या विदेशी पूंजी से जुड़े हुए थे, या महत्वहीन व्यक्ति थे।[100] इसके अतिरिक्त, उन्हें देश के अन्य भागों और यहां तक कि बंबई में दूसरे पूंजीपतियों का समर्थन प्राप्त

नहीं था। दूसरी ओर, बहुत से पूंजीपतियों ने उनका विरोध किया, जैसा कि नीचे खंड IV से प्रदर्शित होता है। नेहरू ने "बंबई के इन 21 व्यक्तियों" के विरुद्ध प्रहारों को जारी रखा और इन दोनों तथ्यों का भरसक उपयोग किया।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इन 21 व्यक्तियों से अलग थे। उन्होंने घबराहट में इस घोषणापत्र पर अपने हस्ताक्षर किए थे, लेकिन जैसा कि हम अगले भाग में देखेंगे, वे पूंजीपति वर्ग के उस धड़े के साथ थे जो अपेक्षाकृत अधिक गंभीर था।

IV

भारतीय पूंजीपतियों में अधिक दूरदर्शी और कांग्रेस समर्थक भी संभवतः नेहरू के विचारों से कम चिंतित नहीं थे। परंतु उन्होंने नेहरू को सीधे रास्ते पर लाने अथवा क्रोधित होकर उनके प्रभाव को कम करने का प्रयत्न नहीं किया। अप्रैल से जून 1936 तक जी.डी. बिड़ला, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और बालचंद हीराचंद के मध्य हुए पत्र व्यवहार से उनकी कार्यपद्धति स्पष्ट हो गई है।[101] पूंजीपति वर्ग के सुप्रसिद्ध राजनीतिक अगुआ और पथ प्रदर्शक, जी.डी. बिड़ला ने मुख्य रूप से इस पद्धति का प्रतिपादन किया। उनकी राजनीतिक सूझबूझ अद्वितीय थी और यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि पूंजीपति वर्ग के बाकी लोग उनकी रहनुमाई के लिए तैयार रहते थे। नेहरू से संबंधित समस्या के प्रति बिड़ला और पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने एक बहुमुखी पद्धति अपनाई।

सर्वप्रथम नेहरू के सामान्य वैचारिक झुझाव अथवा समाजवाद के पक्ष में उनके द्वारा किए जा रहे प्रचार से उन्हें कोई तात्कालिक चिंता नहीं हुई। उनकी मुख्य चिंता यह थी कि नेहरू ने पद स्वीकार करने के विरुद्ध एक दूसरा दृष्टिकोण अपना कर 1935 में अधिनियम के विरुद्ध एक चुनौती खड़ी कर दी थी। दूसरी ओर पूंजीपति, 1930-34 के सविनय अवज्ञा आंदोलन और उसके फलस्वरूप संवैधानिक वार्ताओं से मिलने वाले लाभों का उपयोग करना चाहते थे, और इसलिए सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे। पिछले दो वर्षों से बिड़ला भारत और इंगलैंड में पर्दे के पीछे रहकर ब्रिटिश अधिकारियों और कांग्रेस नेतृत्व के मध्य सद्भाव बनाने का प्रयास कर रहे थे।[102] कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में नेहरू इस स्थिति में थे कि वे इस प्रकार के प्रयासों पर पानी फेर सकते थे और दबाव-समझौता-दबाव की रणनीति को विफल कर सकते थे।[103] इसे स्वीकार करने से इनकार करने का अर्थ साम्राज्यवाद के साथ निरंतर टकराव और राष्ट्रवाद की मूल रणनीति, अर्थात दबाव-समझौता-दबाव के बजाए दबाव-विजय की क्रांतिकारी रणनीति को अपनाना होता। इस प्रकार उस समय की भारतीय राजनीति का यही महत्वपूर्ण और निर्णायक बिंदु था, जिस पर नेहरू को वश में करना था। बाकी सभी बातें इतनी महत्वपूर्ण नहीं थीं और उन पर बाद में विचार किया जा सकता था।[104]

पुरुषोत्तमदास के 18 अप्रैल और बिड़ला के 20 अप्रैल के पत्रों से यह संकेत मिलता है कि उन्होंने गांधी को यह विश्वास दिलाया था कि वे नेहरू को लखनऊ में कांग्रेस द्वारा पद अस्वीकार करने का निर्णय लेने से रोकेंगे। इस प्रकार, लखनऊ अधिवेशन की कार्यवाही का उल्लेख करते हुए पुरुषोत्तमदास ने बिड़ला से पूछा, "क्या आप सोचते हैं कि महात्मा और आपकी अपेक्षाएं पूरी हो गई हैं?" और बिड़ला का उत्तर था कि "जो कुछ हुआ है वे उससे पूर्णतया संतुष्ट हैं।" उन्होंने बलपूर्वक कहा, "महात्मा ने अपना वचन निभाया, और एक शब्द भी बोले बिना उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि कोई नई वचनबद्धता न हो।"[105] अंतिम बात में, प्रकट रूप में, पद स्वीकृति अथवा उससे इनकार और संभवतः कांग्रेस के साथ श्रमिक संघों और किसान सभाओं की सीधी संबद्धता के प्रश्न का उल्लेख किया गया था। बिड़ला का आत्मसंतोष उचित ही था, क्योंकि, यदि एक बार कांग्रेस पद स्वीकृति पर अपने निर्णय को स्थगित कर देती और पद अस्वीकार करने के लिए वचनबद्ध हो जाती तो मंत्रिमंडल वादियों की आधी जीत हो गई होती।[106] ऐसी स्थिति में महत्वपूर्ण प्रश्न साम्राज्यवाद के साथ टकराव को टालना था, नेहरू ने भी इस बात को माना था। उन्होंने "अपने भाषण में स्वीकार किया था कि ... निकट भविष्य में सीधी कार्यवाही का कोई अवसर नहीं था।"[107]

एक संबंधित समस्या कांग्रेस संगठन और पार्टी तंत्र पर नियंत्रण की भी थी। आखिर पद क्रम परंपरा में अध्यक्ष पद केवल एक ही पद था। यह भी संतोष का एक आधार था। नई कार्यसमिति के 14 सदस्यों में से 10 दक्षिणपंथी थे, अथवा जैसा कि बिड़ला ने कहा था "नेहरू की कार्यसमिति में 'महात्मा जी के धड़े' का बहुमत था।" नई कार्यसमिति में राजगोपालाचारी को शामिल किया जाना बिड़ला के लिए विशेष संतोष का विषय था। नई विधान परिषद पर नियंत्रण भी निर्णायक होगा। यदि उसमें सही व्यक्ति होंगे, तो पद स्वीकृति में भी अधिक समय नहीं लगेगा। इस संबंध में भी स्थिति आशाप्रद थी क्योकि "जो चुनाव होगा उसमें बल्लभभाई के धड़े का नियंत्रण होगा।"[108]

इसलिए, बिड़ला को विश्वास था कि राजनीतिक घटनाचक्र "सही दिशा में चल रहा था।" उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यदि लार्ड लिंलिथगो उपयुक्त कार्यवाही करें तो "कांग्रेस द्वारा पद स्वीकार करने की पूरी आशा है।"[109] इस सुखद विश्लेषण से पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास भी सहमत थे।[110]

दूसरे, इस संबंध में बिड़ला बिलकुल स्पष्ट थे कि समाजवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध सीधी लड़ाई—विशेषकर स्वयं पूंजीपतियों द्वारा—नहीं लड़ी जा सकती थी। ऐसा करना एक गलत रणनीति को अपनाना और पराजय को निमंत्रण देना होगा, और जो ऐसा करेंगे, वे अपने वर्ग के मित्र नहीं बल्कि शत्रु होंगे। इस वजह से वे नेहरू के विरुद्ध "बंबई घोषणापत्र" पर हस्ताक्षर करने वालों से बेहद नाराज थे। 26 मई 1936 को

बालचंद हीराचंद को लिखे अपने पत्र में उन्होंने कहा कि घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करके उन्होंने बुद्धिमता का परिचय नहीं दिया था। बिड़ला ने बलपूर्वक कहा कि "उनके इस कार्य ने पूंजीवाद-विरोध को बढ़ावा दिया है।"[111] उन्होंने बालचंद हीराचंद को लताड़ते हुए कहा, "आप ने अपने वर्ग के व्यक्तियों की कोई सेवा नहीं की है।"[112] वास्तव में, "आपके घोषणापत्र ने पूंजीवादी व्यवस्था को गहरा नुकसान पहुंचाया है।" इस प्रश्न पर बिड़ला ने पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को लिखे गए पत्र में अपनी दृढ़ भावनाओं को अपेक्षाकृत संयत भाषा में व्यक्त किया। इस "झुंड में आपका नाम देखकर मुझे कष्टप्रद आश्चर्य हुआ।" घोषणापत्र का "गंभीर रूप से गलत मतलब निकाला जा सकता था।" उन्होंने अपने पूंजीवादी बुजुर्ग को नम्र शब्दों में डांटते हुए कहा, "प्रकट रूप से आप ने उस घोषणापत्र की विषयवस्तु पर ध्यान नहीं दिया, जो आपकी आदत के विपरीत है। घोषणापत्र से उन तत्वों को प्रोत्साहन मिला है जो पूंजीवाद के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं—यह एक दूसरा परिणाम है, जिसकी आप आशा नहीं करते।"[113] दूसरे शब्दों में, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने स्वयं को दूरदर्शी नेता सिद्ध नहीं किया था।

बिड़ला ने विश्वास व्यक्त किया कि कांग्रेस में वामपंथ के विरुद्ध एक सफल संघर्ष छेड़ने का सही रास्ता यही था कि उसे दूसरों के माध्यम से छेड़ा जाए। इसका अर्थ यह था कि कांग्रेस में दक्षिणपंथी नेताओं को मजबूत किया जाए। उन्होंने बालचंद हीराचंद से कहा कि "हम सब समाजवाद के विरुद्ध हैं", परंतु प्रश्न यह था कि सार्वजनिक रूप से ऐसा कहने की हिम्मत किसमें है। निश्चित रूप से "एक धनी व्यक्ति द्वारा यह कहना अत्यंत भोंड़ा प्रतीत होगा कि वह देश के हित में संपत्ति छीने जाने के विरुद्ध है"। आखिरकार, कोई भी संपत्तिवान व्यक्ति संपत्ति छीने जाने का विरोध करेगा। यह सच हे कि संपत्ति को छीनना समाज के हितों के विरुद्ध है "परंतु प्रश्न यह है कि 'आप या मैं यह बात कहने के लिए उपयुक्त व्यक्ति हैं?" फिर, उपयुक्त व्यक्ति कौन था? बिड़ला का कहना था कि आप जो कुछ कहना चाहते हैं ऐसा वही व्यक्ति कहें जिन्होंने संपत्ति का त्याग किया हो।" पूंजीपतियों का काम "इस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ मजबूत करना था।" परंतु इस संबंध में भी हम व्यापारी लोग इतने अल्प दृष्टि संपन्न हैं कि हम "वल्लभ भाई और भूलाभाई जैसे व्यक्तियों की भी सहायता नहीं कर रहे हैं जो समाजवाद के विरुद्ध लड़ रहे हैं।"[114] हालांकि प्रकट रूप में बिड़ला ने केवल सरदार पटेल और भूलाभाई के नामों का उल्लेख किया, परंतु उनके मन में यह बात भी थी कि गांधी, राजा जी, राजेंद्र प्रसाद (जिनका उन्होंने 20 अप्रैल के पत्र में उल्लेख किया था) और कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेता ऐसे व्यक्ति थे जिनकी संपत्ति बचाने के उद्देश्य से मदद की जानी चाहिए थी। एक बार फिर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने बिड़ला से सहमति जताई।[115] इस सलाह से सभी प्रभावित हुए। बालचंद हीराचंद ने नेहरू की अध्यक्षता में होने वाले कांग्रेस के फिरोजपुर

अधिवेशन के लिए एक लाख रुपए दिए और बिड़ला ने, जो कुछ कहा, उसे कार्यरूप में परिणित भी किया। वर्षों तक उन्होंने कांग्रेस, गांधी के अनेक संगठनों, राजेंद्र प्रसाद और कांग्रेस के अन्य नेताओं को वित्तीय सहायता दी।[116]

बिड़ला ने यह भी उल्लेख किया कि "लखनऊ में महात्मा के लोगों ने वही किया जैसी उनसे अपेक्षा थी। राजेंद्र बाबू जमकर बोले और कुछ लोगों ने नेहरू की विचारधारा की खुल्लमखुल्ला आलोचना की।" नेहरू आरंभ से ही अल्पमत में थे, और इससे भी अधिक "जवाहरलाल नेहरू के भाषण को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया क्योंकि जो भी प्रस्ताव पास किए गए वे उनकी भाषण की भावना के विरुद्ध थे।"[117] बिड़ला इस तथ्य का उल्लेख कर रहे थे कि नेहरू के दोनों महत्वपूर्ण प्रस्तावों–पद अस्वीकृति और मजदूर तथा किसान संगठनों की कांग्रेस के साथ संबद्धता–को अस्वीकार कर दिया गया था। आगामी महीनों में भी बिड़ला की रणनीति सफल हुई। बड़ी सावधानी से एक के बाद दूसरा संकट उत्पन्न करके कांग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े ने–जिसे हाई कमांड कहा जाता था–गांधी की सहायता से लखनऊ अधिवेशन में आग उगलने वाले नेहरू को नियंत्रित और अनुशासित बना दिया। और दुर्भाग्य से, हम यहां विस्तार से इस बात पर प्रकाश नहीं डाल सकते थे कि नेहरू ने कभी झगड़ा करके, कभी उनके सामने झुक कर और कभी रूठ कर, और दक्षिणपंथियों से नीतियों के संबंध में लड़ने के बजाए आचरण और कार्यशैली के प्रश्नों पर झगड़ा करके किस प्रकार परोक्ष रूप से उनकी सहायता की।[118]

नेहरू के बारे में बिड़ला ने जो तीसरी पद्धति अपनाई वह "नेहरू को सही रूप में समझना" थी। नेहरू को एक घोर शत्रु के रूप में नहीं लिया जाना था। उन्हें ठीक प्रकार से समझना और अपने अनुसार ढालना था। 18 अप्रैल को अपने पत्र में पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, कि क्या गांधी उग्रवादी नेहरू पर अपना नियंत्रण जमाने में सफल होंगे, बिड़ला ने नेहरू की इसलिए प्रशंसा की कि नेहरू को पार्टी के अंदर अपने अल्पमत में होने का अहसास था और अध्यक्ष के रूप में उन्होंने अपनी ताकत का लाभ नहीं उठाया था।[119] इसी प्रकार बाद में उन्होंने यह शिकायत की कि बंबई घोषणापत्र के शब्दों ने "जवाहरलाल के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया था।"[120] जबकि अल्पदृष्टि संपन्न व्यक्तियों ने लखनऊ में नेहरू के भाषण में केवल उनकी गर्जना को ही सुना था। बिड़ला ने बड़ी चतुराई से यह महसूस किया कि नेहरू लखनऊ में दक्षिणपंथियों से लड़ने को तैयार नहीं थे। "जवाहरलाल एक ब्रिटिश लोकतंत्रवादी की तरह अपनी हार को खेल की भावना से लेते हैं।" बिड़ला ने प्रशंसा करते हुए कहा कि नेहरू ने अपना त्यागपत्र न देकर कांग्रेस में विभाजन को भी रोका। बिड़ला ने नेहरू की इस बुनियादी कमजोरी को भी पहचाना कि उनकी राजनीतिक कार्यवाहियां उनकी वैचारिक उड़ानों से कहीं अधिक गंभीर और तर्कसंगत थीं; दूसरे शब्दों में, उनके सिद्धांत और व्यवहार में काफ़ी बड़ा अंतर था। "ऐसा

प्रतीत होता है कि वे अपनी विचारधारा की अभिव्यक्ति कर रहे हैं, लेकिन वे महसूस करते हैं कि उसे कार्यान्वित करना असंभव है, इसलिए वे इस पर जोर नहीं देते।"[121] लगता है कि बिड़ला ने नेहरू के संबंध में इस समझ को गांधी से लिया था, क्योंकि गांधी ने 30 अप्रैल 1936 को ब्रिटेन की अगाथा हैरीसन को कुछ इसी रूप में लिखा था।

उनका भाषण उनके विश्वास की स्वीकारोक्ति है। उनकी कैबीनेट के गठन से आप देखते हैं कि उन्होंने ज्यादातर उन व्यक्तियों को चुना है जो 1920 से एक पारंपरिक विचारधारा का प्रतिनिधत्व करते हैं ... हालांकि जवाहरलाल अपने तरीकों को प्रदर्शित करने में उतावले नजर आते हैं, परंतु अपने कार्यों में वे काफी गंभीर हैं। जहां तक मैं समझता हूं, वे संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं करेंगे। और यदि उन पर संघर्ष थोप दिया जाए तो वे इससे भागेंगे भी नहीं.. मेरा अपना विचार है कि जवाहरलाल अपने सहयोगियों के बहुमत के निर्णय को स्वीकार करेंगे।[122]

एक बार फिर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने बिड़ला द्वारा नेहरू के संबंध में लगाए गए अनुमान से अपनी सहमति व्यक्त की। उन्होंने लिखा, "मुझे जवाहर की ईमानदारी के बारे में कभी संदेह नहीं था। मैं उन्हें बहुत ईमानदार मानता हूं।" तथापि उन्होंने बिड़ला के तर्क का अनुरोध करते हुए कहा कि "जवाहर को सीधे रास्ते पर लाने के लिए उनकी काफ़ी देखभाल करनी होगी।"[123]

बिड़ला-ठाकुरदास की रणनीति के इस तीसरे अंग से भारतीय पूंजीपतियों के दूसरे वर्गों ने भी सहमति व्यक्त की, और वे तुरंत ही नेहरू की 'परिचर्या' में लग गए। '21 लोगों के आक्रमण' के प्रकाशन के तुरंत बाद बंबई की अनेक पूंजीवादी संस्थाओं ने उनका अभिनंदन किया, उनके साथ अपनी एकजुटता प्रकट की और इस प्रकार उनके विरुद्ध प्रकाशित घोषणापत्र से स्वयं को अलग कर लिया। अनेक पूंजीपतियों ने उनके द्वारा मजदूरों और किसानों का पक्ष लेने की सराहना भी की।

18 मई 1936 को बंबई बुलियन एक्सचेंज के व्यापारियों और दलालों ने नेहरू को 1,501 रुपए की थैली भेंट की, देश के प्रति उनकी सेवाओं की प्रशंसा की और इस पर प्रसन्नता व्यक्त की कि "वे किसानों और मजदूरों की उन्नति के लिए अपना बहुमूल्य समय देते रहे हैं।"[124] 19 मई को बंबई के पांच व्यापारी संगठनों—मारवाड़ी चैंबर्स आफ कामर्स, दि हिंदुस्तान नेटिव मर्चेंट्स एसोसिएशन, दि बांबे काटन ब्रोकर्स एसोसिएशन और बांबे ग्रेंस एंड सीड्स ब्रोकर्स एसोसिएशन—द्वारा नेहरू का अभिनंदन किया गया।[125] 20 मई को मांडवी (बंबई) में 13 वाणिज्यिक निकायों की एक सभा की गई, जिसमें अनाज व्यापारी संघ, चीनी व्यापारी संघ, बीज व्यापारी संघ और बंबई अनाज विक्रेता संघ शामिल थे। सभा की अध्यक्षता करते हुए वेलजी लखमसी नप्पू ने कहा—"चाहे व्यापारी पंडित नेहरू के समाजवादी विचारों से सहमत हों, लेकिन वे जो विचार भी उनके समक्ष रखेंगे, व्यापारी आदरपूर्वक उन पर विचार करेंगे।"[126] उसी दिन कंट्री मेड फैंसी और ग्रे काटन पीस गुड्स मर्चेंट्स एसोसिएशन ने नेहरू

का अभिनंदन किया और देश में लाखों मजदूर-किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए उनके अथक प्रयासों की सराहना की। एसोसिएशन के अध्यक्ष, गोरधनदास गोकुलदास ने अपने स्वागत भाषण में कहा :

> ... भले ही आपके समाजवाद के सिद्धांतों ने वाणिज्यिक समुदायों में खलबली मचा दी है, हमारा विचार है कि हमारी उन्नति जनता की उन्नति पर निर्भर करती है ... यह सच है कि मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद के संबंध में कुछ उग्र विचार वाणिज्यिक समुदाय को स्वीकार नहीं हो सकते, परंतु भारत की वर्तमान स्थिति और उसके लाखों लोगों की हालत को देखते हुए ... इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज के वर्तमान रूप का पुनर्निर्माण जरूरी है।[127]

20 मई को श्री महाजन सभा के दलालों ने भी नेहरू को एक अभिनंदन पत्र भेंट किया।[128] 22 मई को बंबई के 15 प्रमुख व्यापारियों ने, जो सभी इंडियन मर्चेंट्स चैंबर की कमेटी के सदस्य थे, नेहरू से भेंट की और कांग्रेस को निरंतर समर्थन देने का वायदा किया, और नेहरू को यह विश्वास दिलाया कि घोषणापत्र को पूरे व्यवसायी समुदाय का समर्थन प्राप्त नहीं था। उन्होंने "नेहरू से समाजवाद की व्याख्या करने को कहा और पूछा कि वह कब आएगा, और क्या उन जैसी सीमाओं के व्यापारी समाजवाद के आंदोलन में अपना योगदान कर सकते थे।"[129]

यह भी उल्लेखनीय है कि शायद पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का भी यही विश्वास था कि किसी व्यक्ति पर करारी चोट करके उसे होश में लाना भी 'परिचर्या' की रणनीति का एक अंग था, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर एक कड़वी खुराक पिलाना भी 'परिचर्या' में शामिल है। इस प्रकार बिड़ला द्वारा घोषणापत्र की तीखी आलोचना से सहमति प्रकट करते हुए उन्होंने घोषणापत्र पर अपने हस्ताक्षर करने का कारण यह बताया कि वे जवाहरलाल को "उनके आक्रामक तरीके के विरुद्ध" चेतावनी देना चाहते थे, जिसके द्वारा "वे समाजवाद का प्रचार कर रहे थे, जो साम्यवाद के समकक्ष था।"[130]

V

इन सभी बातों के संबंध में नेहरू की क्या प्रतिक्रिया थी? उनका लखनऊ में दिया गया भाषण उनके परिवर्तनवाद की पराकाष्ठा और अंतिम गीत था।[131] उन्होंने कांग्रेस के प्रबंध से संबंधित मामलों में अधिक समय लगाया और अनजाने में ही वे एक परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी की भूमिका फिर से निभाने लगे। परंतु, अब भी उनमें पुरानी उग्रता शेष थी। 18 मई 1936 के तुरंत बाद उन्होंने अपने आलोचकों पर तीव्र प्रहार किए। इस दौरान लिखे गए उनके कुछ लेख 1933-36 के नेहरू की याद दिलाते हैं।

उन्होंने अपने साहस और पौरुष को सदैव कायम रखा। परंतु 1930 के दशक में प्राप्त हुई उपलब्धि धीरे-धीरे उनके हाथ से निकलने लगी। उन्होंने स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए आधारभूत रणनीति को परिवर्तित करने का प्रयास छोड़ दिया और उन्हें दबाव-समझौता-दबाव की रणनीति ने आत्मसात कर लिया। अब उन्होंने जनसाधारण को स्वतः कार्यरत होने की प्रेरणा देना बंद कर दिया; अब वे सामूहिक भागीदारी की गांधीवादी पद्धति के दायरे में और मध्यमवर्गीय नेतृत्व के कठोर नियंत्रण में रह कर कार्य करने लगे।

इससे आगे, जन साधारण की भूमिका उनके भाषणों को सुनने तक सीमित हो गई। जहां तक विचारधारा का संबंध था अब मार्क्सवाद का स्थान फेबियनवाद ने ले लिया—हालांकि कभी-कभी उनके भाषणों में पुराने मार्क्सवाद की झलक भी दिखाई पड़ जाती थी। उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक संबंधों को एकीकृत करने की रणनीति को भी छोड़ दिया।[132] दूसरा संघर्ष प्रथम संघर्ष से जुड़ा रहा, परंतु वह तेजी के साथ लुप्त हो गया। इससे पहले वे भारतीय समाजवादियों और कम्युनिस्टों की बड़ी-बड़ी बातें करने और कुछ न करने के लिए आलोचना करते थे। अब वे खुल्लम खुल्ला यह स्वीकार करते थे कि सामाजिक संघर्ष एक मौखिक आदर्श रहेगा और राजनीतिक व्यवहार में केवल राष्ट्रीय संघर्ष का ही स्थान था।

यह सब क्यों हुआ? किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में आए परिवर्तनों की व्याख्या करना हमेशा कठिन होता है। लखनऊ अधिवेशन के बाद नेहरू का जो स्वरूप सामने आया उसमें अनेक कारणों, तत्वों और घटनाओं ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। नेहरू के मार्क्सवाद, उनकी समाजवादी वचनबद्धता, और स्वतंत्रता की ओर ले जाने वाले क्रांतिकारी मार्ग के उनके सिद्धांत की अनेक अंतर्निहित कमजोरियां थीं, जिनकी हमने इस लेख के प्रथम दो खंडों में समीक्षा नहीं की, क्योंकि हमारा उद्देश्य एक समाजवादी विचारक अथवा एक क्रांतिकारी राष्ट्रवादी के रूप में उनका मूल्यांकन करना नहीं था बल्कि उनकी राजनीति और विचारधारा के उन पहलुओं को स्पष्ट करना था जो पूंजीवादी वर्ग के लिए चिंता और भय का विषय बने रहे।

उनमें से कुछ कमजोरियां सहज ही ध्यान में आती हैं—अपना स्वयं का एक राजनीतिक आधार तैयार करने में उनकी असफलता और 1936 के बाद मजदूरों और किसानों के मध्य सक्रिय कार्य और संपर्क का अभाव, गांधी के साथ उनका लगाव और अधीनता, जिसे उनके "अकेले होने और एक अलग-थलग व्यक्तित्व होने" के डर ने बढ़ावा दिया; एक समाजवादी घटक बनाने अथवा मौजूदा समाजवादियों के साथ हाथ मिलाने और कांग्रेस के बाहर किसी भी प्रकार की परिवर्तनवादी गतिविधि संगठित करने में उनकी अस्वीकृति; कांग्रेस से बाहर वामपंथ की कमजोरी मनोवैज्ञानिक रूप से उनका 1933-36 का वामपंथ, आंशिक रूप से राजनीतिक हताश का उत्पाद था, जो सविनय अवज्ञा आंदोलन की पराजय और मनोबल के टूटने से उत्पन्न हुआ। चुनावों

की उत्तेजना, देशव्यापी तूफानी दौरे, पार्टी और कांग्रेस मंत्रिमंडल का मार्गदर्शन, चीन और स्पेन के संबंध में संलग्नता और आगामी युद्धों ने मिल कर उन्हें एक मनोवैज्ञानिक शक्ति प्रदान की और निराशा, और 'अलगाव' तथा वामपंथी गतिविधियों से मुक्ति दी। दूसरे शब्दों में, जी.डी. बिड़ला और दूसरे उद्योगपतियों ने संभवतः उनका उतना ही सही मूल्यांकन किया था जितना स्वयं उन्होंने अपनी *आटोबायोग्राफी* में किया था।

इस के साथ ही, इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनकी 'परिचर्या' करने, उनका विरोध करने और सबसे अधिक कांग्रेस में दक्षिणापंथी घटक को समर्थन देने की पूंजीपतियों की रणनीति ने भी उन्हें, सर्वप्रथम सीमित करने और बाद में उन्हें एक नए रूप में ढालने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके फलस्वरूप 1947 तक पूंजीपति वर्ग उन्हें स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री के रूप में स्वीकार करने और पूंजीवादी रास्ते पर चलकर भारतीय अर्थव्यवस्था के निर्माण में उनके साथ सहयोग करने को तैयार हो गया।

संक्षिप्त नाम

(क) जवाहरलाल नेहरू की रचनाएं	संक्षिप्त नाम
1. *बंच आफ ओल्ड लेटर्स,* बंबई, 1958	*पत्र*
2. *इंडिया एंड दि वर्ल्ड,* लंदन, 1936	*भारत और विश्व*
3. *रीसेंट एसेज़ एंड राइटिंग्स,* इलाहाबाद, 1934	*लेख*
4. *गिलिंप्सेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री.* इलाहाबाद, 1934 खंड 1, और 2	*विश्व इतिहास*
5. *एन आटोबायोग्राफी,* एलाइड पब्लिकेशनन्स 1962, संस्करण	*आटोबायोग्राफी*
6. एस. गोपाल (संपा.) *सलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू*	*रचनाएं*
(ख) नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी	*नेहरू संग्रहालय*
(ग) *पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास पेपर्स*	*पुरुषोत्तमदास प्रपत्र*

संदर्भ और टिप्पणियां

1. 1933 के अंतिम समय से 1936 के प्रारंभिक समय तक उनके सार्वजनिक वक्तव्यों को एक ही क्रम में देखना होगा क्योंकि 1934-35 के दौरान वे ज्यादातर जेल में थे.
2. 13 अगस्त 1934 को उन्होंने गांधी को लिखा, "परंतु, चाहे मैं विधानपरिषद के अंदर रहकर या बाहर

रहकर कार्य करूं, मैं एक क्रांतिकारी के रूप में ही कार्य करता हूं अर्थात, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो आधारभूत और क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए कार्य करता है—चाहे वे राजनीतिक हों अथवा सामाजिक, क्योंकि मुझे विश्वास है कि दूसरे परिवर्तन भारत और संसार में शांति और संतोष नहीं ला सके." *पत्र*, पृ. 114.

3. एस. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू—ए बायोग्राफी*, खंड 1, अध्याय 7, 1975.
4. उनकी भाषा की शिथिलता और नर्मी की, जिसकी उनके वामपंथी आलोचकों ने यह कह कर आलोचना की थी कि वे "अपने वक्तव्यों के निहितार्थ से बचने" के लिए ऐसा करते थे. 10 नवंबर 1933 को एक युवा मार्क्सवादी को लिखे अपने पत्र में नेहरू ने कहा कि "उनका उद्देश्य उन नेताओं तक पहुंचना था जो इस प्रकार के विचारों और तकनीकी शब्दावली को नहीं जानते, और केवल बहादुरी का दिखावा न करके श्रोताओं को अपने साथ लेकर चलने की इच्छा से, और कांग्रेस से अलग-थलग पड़ने से बचने, और कांग्रेस को प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण वाले लोगों के हाथों में पड़ने से रोकने के उद्देश्य से ऐसा किया था." *रचनाएं*, पृ. 117-18.
5. उनके नए विचारों और राजनीति की सार्वजनिक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम *पायनियर* को 31 अगस्त 1933 को दिए गए इंटरव्यू में हुई. देखिए *रचनाएं*, 5, पृ. 506 क्रमशः.
6. *भारत और विश्व*, पृ. 27, 28.
7. देखिए एस. गोपाल, अध्याय 8.
8. *लेख*, पृ. 16.
9. वही, पृ. 24. इसी प्रकार की एक पहली घोषणा के लिए देखिए 31 अगस्त 1933 को *पायनियर* को दिया गया इंटरव्यू; *रचनाएं*, पृ. 508.
10. *लेख*, पृ. 139, पृष्ठ 136 भी देखिए.
11. वही, पृ. 40, 126.
12. वही, पृ. 126, पृ. 124 भी देखिए.
13. *भारत और विश्व*, पृ. 82-83.
14. लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व*, पृ. 82-83.
15. *लेखा*, पृ. 31.
16. *भारत और विश्व*, पृ. 82-83.
17. *लार्ड लोथियन को पत्र*, 17 जनवरी 1936, *पत्र*, पृ. 141. "एक अंग्रेज को पत्र" के शीर्षक से भारत और विश्व में भी प्रकाशित.
18. *रचनाएं* 5, पृ. 538; वही, पृ. 541 भी देखिए. *विश्व इतिहास* 2. पृ. 857.
19. *रचनाएं* 5, *जीवनी* पृ. 538; वही, पृ. 541 भी देखिए; *विश्व इतिहास*. 2, पृ. 857.
20. *लार्ड लोथियन को पत्र*; पृ. 143.
21. वही, पृ. 141-43.
22. *लेख*, पृ. 30-31. इससे पहले 10 अक्टूबर 1932 को उन्होंने इंदिरा गांधी को एक पत्र में लिखा : "लोगों को एक लंबे समय के पश्चात इस बात का पता चला कि केवल कानून के सामने समानता और वोट का अधिकार पाने से वास्तविक समानता अथवा स्वतंत्रता अथवा प्रसन्नता नहीं मिलती, और जो व्यक्ति ताकत में होते हैं उनके पास शोषण करने के दूसरे तरीके भी होते हैं." *गिलिम्पसेज*, पृ. 575.
23. *रचनाएं*, पृ. 460.
24. वही, पृ. 508.
25. *लेख*, पृ. 33, 35.

26. *जीवनी,* पृ. 544.
27. वही, पृ. 508.
28. उदाहरण के लिए, *रचनाएं* 5, पृ. 479, 489, 523. लेख, पृ. 18, 40, *रचनाएं* 6, पृ. 10-11; लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व,* पृ. 79.
29. *जीवनी,* पृ. 504.
30. लेख, पृ. 135, इसके साथ देखिए वही, पृ. 30, 123; लार्ड लोथियन को *पत्र;* पृ. 14; *रचनाएं* 5, पृ. 541; *विश्व इतिहास,* 2, पृ. 853.
31. *टाइम्स आफ इंडिया* में रिपोर्ट, 17 मई, पृ. 11.
32. *टाइम्स आफ इंडिया* में रिपोर्ट, 19 मई 1936, पृ.14. इंदिरा को लिखे पत्र नं. 34 में मार्क्सवाद के प्रति उनका मैत्रीपूर्ण और लगभग शिष्य जैसा व्यवहार भी देखिए, हालांकि 10 फरवरी 1933 के इस पत्र में उन्होंने स्वयं को मार्क्सवादी नहीं कहा है। *गिलिंपससेज* II, पृ. 851. *पा.टि.*
33. *लेख,* पृ. 10-16.
34. वही, पृ. 14. लखनऊ भाषण भी देखिए, *भारत और विश्व,* पृ. 69.
35. लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व,* पृ. 67, 69, 83, 101; और सोवियत युनियन पर एम.आर. मसानी की पुस्तक की भूमिका, 25 फरवरी 1936, नेहरू पत्र, संग्रहालय; *लेख,* पृ. 123.
36. मसानी की पुस्तक की भूमिका, पूर्वोद्धृत.
37. *भारत और विश्व,* पृ. 83.
38. मसानी की पुस्तक की *भूमिका,* पूर्वोद्धृत.
39. *भारत और विश्व,* पृ. 83.
40. *लेख,* पृ. 18-19.
41. *भारत और विश्व,* पृ. 70, 81. इससे पूर्व सितंबर 1933 में उन्होंने गांधी को लिखा था, "हमारे अपने हितों के संकीर्ण और अंतर्राष्ट्रीय कल्याण और मानवी प्रगति के व्यापक आधार दोनों पर मेरे विचार में हमें संसार के प्रगतिशील तत्वों का साथ देना चाहिए". *पत्र* तारीख 13 सितंबर 1936, डी.जी. तेंदुलकर की रचना 'महात्मा' में, नई दिल्ली, 1969 पुनर्मुद्रण, खंड III, पृ. 306.
42. '1947 से पूर्व भारतीय पूंजीपति वर्ग' और 'प्रारंभिक राष्ट्रवादी गतिविधि में निरंतरता के तत्व'.
43. देखिए आगे.
44. जी.डी. बिड़ला, *इन दि शेडो आफ दि महात्मा,* कलकत्ता, 1953, अध्याय 11-18.
45. *जीवनी.*
46. *रचनाएं,* पृ. 21, 79, 94, 102-03. वे 1932 में ही इस दिशा में अग्रसर हो रहे थे, देखिए *रचनाएं* 5, पृ. 386.
47. वही, पृ. 67, 74.
48. *लेख,* पृ. 22.
49. *लेख,* पृ. 21, 38-40, 141-42; *रचनाएं* 5, पृ. 532-36; *रचनाएं* 6, पृ. 87-88. 18 जनवरी 1934 को नेहरू ने कलकत्ता में अपने भाषण में इस कथन को और अधिक विस्तृत रूप दिया, और इसके लिए उन्हें 2 वर्ष की सजा हुई. प्रयुक्त तर्कों को दोहराते हुए उन्होंने कहा 'चूंकि भूख भारतीय राष्ट्रवाद को गति प्रदान करती है. इसलिए यदि नेता और संगठन कमजोर भी पड़ जाएं, समझौता अथवा विश्वासघात कर लें; फिर भी वह (भूख) एक प्रेरणा बनी रहेगी और जनता को आगे ढकेलती रहेगी; *रचनाएं* 6, पृ. 101-5.
50. *रचनाएं* 6, पृ. 104.
51. उदाहरण के लिए देखिए, *रचनाएं* 5, पृ. 532-37, 544.

52. *भारत और विश्व*, पृ. 90-95. उन लोगों को उत्तर देते हुए जो यह तर्क देते थे कि चुने हुए लोकप्रिय मंत्रिमंडल जनता को कुछ राहत पहुंचाएंगे और उसकी दमन से रक्षा करेंगे, नेहरू ने संकेत दिया कि जबकि उनके पास बहुत कम ताकत थी और राहत पहुंचाने में उनकी क्षमता सीमित थी, कांग्रेस मंत्रिमंडल को प्रशासनिक घाटे के बजट और मजदूरों तथा किसानों के दमन की जिम्मेदारी में साम्राज्यवादी तंत्र के साथ भागीदारी करनी होगी. उनका विचार था, "ताकत के बिना जिम्मेदारी लेना सदैव खतरनाक होता है." वही. पृ. 91. जिन लोगों ने यह कहा था कि यदि कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाएगी तो उसे अधिक मतदाता वोट देंगे, इसके उत्तर में नेहरू ने कहा, "ऐसा तभी होगा जब हम झूठे वायदे करके उन्हें धोखा दें. लेकिन यदि हम वायदे पूरे नहीं करते तो हमें तुरंत सजा मिलेगी और यदि हमारे वायदे समुचित होंगे तो असफलता अनिवार्य होगी." वही. पृ. 93.
53. *भारत और विश्व*, पृ. 89.
54. वही.
55. वही, पृ. 65.
56. *लेख*, पृ. 70-72.
57. *भारत और विश्व*, 88-89.
58. *लेख*, पृ. 3-4; *पत्र*, पृ. 48.
59. लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व*, पृ. 77.
60. *लेख*, पृ. 3.
61. लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व*, *पृ.* 77-78.
62. वही, पृ. 79-81, वही, पृ. 95 भी देखिए और *रचनाएं* 6, पृ. 101.
63. लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व*, पृ. 101-104.
64. वही, पृ. 103.
65. तेंदुलकर, खंड 3, पृ. 309.
66. *लेख*, पृ. 42. *रचनाएं* 6, पृ. 17-18, 118, 126.
67. वही, पृ. 128-29.
68. वही, पृ. 129-31; लखनऊ भाषण, *भारत और विश्व*, पृ. 84.
69. *लेख*, पृ. 406.
70. वही, पृ. 17.
71. वही, लार्ड लोथियन को पत्र भी देखिए, *पत्र*, पृ. 144.
72. *लेख*, पृ. 19.
73. वही, पृ. 21. इसी प्रकार 1933 में नेहरू ने गांधी से कहा कि "आजादी प्राप्त करने की समस्या निहित स्वार्थों को जनता के हित में बदलने की समस्या बन जाती है. जिस सीमा तक ऐसा किया जाएगा, उसी सीमा तक आजादी आएगी." *पत्र*, तारीख 13 सितंबर 1933. तेंदुलकर खंड III, पृ. 305.
74. *लेख*, पृ. 127.
75. *रचनाएं*, पृ. 546-47.
76. *लेख*, पृ. 131-132.
77. *पत्र*, पृ. 115.
78. *रचनाएं* 6, पृ. 259.
79. *पत्र*, पृ. 115. अपनी जीवनी में नेहरू ने एक बार फिर इस विषय पर टिप्पणी की और संकेत दिया कि "वर्तमान व्यवस्था का आधार लगातार जब्ती है, और इसे समाप्त करने के लिए ही सामाजिक

परिवर्तनों को प्रस्ताव रखा गया है; मजदूरों के श्रम-उत्पाद का एक हिस्सा प्रतिदिन जब्त कर लिया जाता है; एक किसान की भूमि पर हद से ज्यादा लगान दिया जाता है. वह इसे दे नहीं पाता और उसकी भूमि जब्त कर ली जाती है." पृ. 587.

80. *पत्र*, पृ. 116. उस समय नेहरू यह नहीं जानते थे कि कार्यकारणी का प्रस्ताव गांधी ने लिखा था.
81. 'कांग्रेस लीडर्स एंड देयर पालिसी' पर टिप्पणी, अगस्त 1934, *नेहरू के पत्र. रचनाएं* भी देखिए, पृ. 270-73.
82. *रचनाएं* 5, पृ. 478-79. उसी दिन अचानक उनकी डायरी में एक प्रविष्टि से यह स्पष्ट होता है कि उनके अवचेतन मन में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा था. यह प्रविष्ट एक.एन. राय से संबंधित है—"मैं अकसर एम.एन. राय के बारे में सोचता हू. वह बेचारा संसार में अकेला है और कोई उसके बारे में सोचता तक नहीं है." वही, पृ. 479.
83. वही, पृ. 489.
84. *रचनाएं*, 6, पृ. 251.
85. वही, पृ. 248.
86. पत्र, पृ. 113.
87. अगस्त 1934 की टिप्पणी, नेहरू के प्रपत्र, रचनाएं भी, 6, पृ. 272-73. *जीवनी* भी देखिए, पृ. 505-08. गांधी से अलगाव एक प्रवृत्ति थी, जो घटती-बढ़ती रही (चढ़ाव के लिए देखिए *रचनाएं* 5, पृ. 532, 537-387) और अंत में 1936 से लेकर 1946-47 तक गांधी के प्रति वफादारी की विजय हुई.
88. फाइल नं. 130, नेहरू के प्रपत्र, भाग 2.
89. संपूर्ण घोषणापत्र 20 मई 1936 के *ट्रिब्यून* में प्रकाशित हुआ है. हस्ताक्षरकर्ताओं में नौरोजी सकालतवाला, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास चिमनलाल सीतलवाड़, फीरोज़ सेठना, कावसजी जहांगीर, शाहपुरजी बिल्लीमोरिया, होमी मोदी, बालचंद हीराचंद, वी.एम. चंदावरकर, मथुरादास विशनजी, चुन्नीलाल बी. मेहता और के.आर.पी. श्राफ शामिल हैं.
90. वही,
91. *टाइम्स आफ इंडिया,* 23 मई 1936.
92. *टाइम्स आफ इंडिया,* 29 मई 1936.
93. *टाइम्स आफ इडिया,* 11 जून 1936.
94. फाइल संख्या 130. नेहरे के प्रपत्र भाग II.
95. *टाइम्स आफ इंडिया,* 11 जून 1936.
96. उदाहरण के लिए देखिए कावसजी जहांगीर का वक्तव्य, *टाइम्स आफ इंडिया,* 29 मई 1936.
97. चिमनलाल सीतलवाड़, कावसजी जहांगीर, होमी मोदी, और ए.डी. श्राफ के उपर्युक्त वक्तव्य देखिए.
98. *टाइम्स आफ इंडिया,* 23 मई 1936. ए.डी. श्राफ भी देखिए. फाइल नं. 130 नेहरू के प्रपत्र, भाग 2.
99. उदाहरण के लिए देखिए उपर्युक्त ए.डी. श्राफ और कावसजी जहांगीर के वक्तव्य.
100. फाइल नं. 130 नेहरू के प्रपत्र, भाग II विश्लेषण ने प्रदर्शित किया कि हस्ताक्षरकर्ताओं में से केवल दो भारतीय पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे—पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और बालचंद हीराचंद. टिप्पणी ने संकेत किया कि बालचंद हीराचंद अपनी राय और राजनीति बदलने के लिए बदनाम थे जबकि पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जब तीसरी गोलमेज कांफ्रेंस में भाग लेने को सहमत हो गए थे, तो भारतीय वाणिज्यिक समुदाय ने उन्हें छोड़ दिया था.
101. फाइल न. 177/1936-43 पुरुषोत्तम दास प्रपत्र , संग्रहालय.
102. जी.डी. बिड़ला, *इन दि शेडो आफ दि महात्मा,* पृ. 142-215.

103. इस दौरान पूंजीवादी राजनीति रणनीतिक की तफसील के लिए देखिए बिपन चंद्रा, *दि इंडियन कैपीटलिस्ट क्लास एंड इम्पीरीयलिज्म बिफोर 1947.*
104. इसी आधार पर बिड़ला ने ब्रिटिश राजनेताओं से कांग्रेस के दक्षिणापंथी धड़े को रिआयतें देने को कहा. देखिए वही, पृ. 401; और जी.डी.बिड़ला. *इन दि शेडो आफ महात्मा,* पृ. 193-95, 214, ब्रिटेन और भारत में बिड़ला की वार्ताओं का उल्लेख करते हुए पुरुषोत्तमदास ने 23 अप्रैल 1936 को बिड़ला को लिखा. "मेरा विश्वास है कि अब पिछले वर्ष लंदन में हुई आपकी वार्ताओं को एक ठोस रूप देने का समय आ गया है." फाइल नं. 177/1836-43, पुरुषोत्तमदास प्रपत्र.
105. वही.
106. एस. गोपाल, अध्याय 13.
107. बिड़ला पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास को, 20 अप्रैल 1936, फाइल नं. 177/1936-43, पुरुषोत्तमदास प्रपत्र.
108. वही, उम्मीदवारों का चुनाव एक संसदीय बोर्ड के द्वारा किया जाना था जिसके अध्यक्ष सरदार पटेल थे. देखिए राजेंद्र प्रसाद, *आत्मकथा,* पृ. 427, 430.
109. बिड़ला का पत्र पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को, 20 अप्रैल 1936 पूर्वोद्धृत.
110. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का *पत्र* बिड़ला को, 23 अप्रैल 1936 पूर्वोद्धृत.
111. फाइल नं. 177/1936-37 पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास प्रपत्र.
112. यह अंश एक असाधारण वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति करता है. बिड़ला अपने पूंजीपति साथियों को जातिभाई मानते हैं, इसलिए वे वर्ग सामंजस्य और अखंडता पर जोर देते हैं.
113. बिड़ला का पत्र पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को, 1 जून 1936, फाइल नं. 177/1936-43, पुरुषोत्तमदास प्रपत्र. बिड़ला ने यह भी लिखा, "आप इतने होशियार व्यक्ति हैं कि आप बिना सोचे-समझे कोई कदम नहीं उठाते और इस वजह से मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि आपने एक दस्तावेज पर अपने हस्ताक्षर किए."
114. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का पत्र बिड़ला को, 29 मई 1936, फाइल नं. 177/1936-43 पुरुषोत्तमदास प्रपत्र.
115. जी.डी. खानोलकर, *बालचंद हीराचंद,* बंबई 1969, पृ. 342.
116. देखिए जी.डी. बिड़ला, *इन दि शैडो आफ महात्मा.*
117. बिड़ला पत्र पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को, 20 अप्रैल, 1936 पूर्वोद्धृत. नेहरू का विरोध ज्यादातर गुजरात, बिहार तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश से आए लोगों ने किया, अर्थात वे उन प्रदेशों से आए थे, जिन पर सरदार पटेल, राजेंद्र प्रसाद और राजाजी का नियंत्रण थ. *इंडियन ऐनुअल रजिस्टर,* खंड 1, 1936, पृ. 284.
118. लेकिन देखिए एस. गोपाल, अध्याय 13.
119. बिड़ला का *पत्र* पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को, 20 अप्रैल 1936 पूर्वोद्धृत.
120. बिड़ला का *पत्र* पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को 1 जून 1936, पूर्वोद्धृत.
121. बिड़ला का *पत्र* पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास को, 20 अप्रैल 1936 पूर्वोद्धृत.
122. गांधी का *पत्र* अगाथा हैरीसन को, 30 अप्रैल 1936, पृ. 175-76.
123. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का पत्र बिड़ला को, 23 अप्रैल 1936, पूर्वोद्धृत.
124. *टाइम्स आफ इंडिया,* 20 मई 1936.
125. *ट्रिब्यून,* 20 मई 1936.
126. *टाइम्स आफ इंडिया,* 20 मई 1936.
127. फाइल नं. 230, नेहरू के प्रपत्र, भाग 2.
128. *टाइम्स आफ इंडिया,* 22 मई 1936.

129. *ट्रिब्यून*, 23 मई 1936; *टाइम्स आफ इंडिया*, 23 मई 1936.
130. पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का पत्र बिड़ला को, मई 1936 पूर्वोद्धृत.
131. देखिए एस. गोपाल अध्याय 13.
132. यह बहुत महत्वपूर्ण पहलू है, हालांकि हम इस पर विचार नहीं कर सकते. नेहरू स्वयं एक समाजवादी अथवा साम्यवादी पार्टी बनाने में अक्षम थे, परंतु वे एक क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी की अगुआई में बनाए गए एक वाम मोर्चे के अध्यक्ष के रूप में अवश्य ही काम कर सकते थे. लेकिन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी इतनी कमजोर थी कि वह इस प्रकार की एक आत्मनिर्भर राजनीतिक भूमिका नहीं निभा सकती थी, और नेहरू स्वयं ऐसा करने में अक्षम थे.

अध्याय सात

आधुनिक भारत और साम्राज्यवाद

I

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी के दौरान भारत को पूर्ण रूप से एक अधीनस्थ, उपनिवेशी अवस्था में विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ दिया गया। ब्रिटिश पूंजीवाद के विकास में वह (भारत) एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले एक आदर्श उपनिवेश के रूप में उभरा। यह केवल एक संयोग ही नहीं था कि 1750 के दशक में अंग्रेजों द्वारा भारत की लूट और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत एक साथ आरंभ हुई। उदाहरण के लिए, 1765 के पश्चात एक समय भारत से संपत्ति का निकास अथवा एकतरफा पूंजी का स्थानांतरण ब्रिटिश राष्ट्रीय आय का 2 से 3 प्रतिशत था जबकि केवल 5 प्रतिशत ब्रिटिश राष्ट्रीय आय का निवेश किया जा रहा था। 1760 के बाद के वर्षों के दौरान जब ब्रिटेन संसार के प्रमुख विकासशील पूंजीवादी देश के रूप में विकसित हो रहा था, भारत संसार के 'प्रमुख पिछड़े उपनिवेशी देश के रूप में उभर रहा था।

19वीं शताब्दी के दौरान भारत ने ब्रिटिश उत्पादकों, विशेष रूप से सूती, बुने हुए वस्त्रों और बाद में लोहा और स्टील उत्पादों और रेलवे स्टोरों के लिए एक प्रमुख बाजार के रूप में कार्य किया। भारत, ब्रिटेन के लिए खाने-पीने की वस्तुओं और कच्चे माल का भी एक महत्वपूर्ण सप्लायर था। भारतीय अफीम ने त्रिपक्षीय व्यापार को विकसित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने चीनी लोगों के आर्थिक शोषण में बहुत सहायता की। 19वीं शताब्दी के दूसरे अर्ध-भाग में 305 अरब (लगभग 350 मिलियन पौंड स्टर्लिंग) की लागत से भारतीय रेलों का निर्माण हुआ जिससे ब्रिटिश पूंजी के निर्यात की निकासी के लिए सबसे बड़ा मार्ग प्रशस्त हुआ। भारत की अधिकांश यातायात व्यवस्था, आधुनिक खानें और उद्योग, विदेश व्यापार, तटवर्ती और अंतर्राष्ट्रीय जल-परिवहन, बैंक और बीमा कंपनियां ब्रिटिश नियंत्रण में थीं। 1858 के पश्चात लगभग 100 वर्षों तक, ब्रिटेन को भारतीय निर्यात से विदेशी मुद्रा मिलती रही जिसकी उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घाटा पूरा करने के लिए आवश्यकता थी। भारतीय तटवर्ती क्षेत्रों से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाला व्यापार ब्रिटिश जल परिवहन के विकास का मुख्य कारण था।

भारत, ब्रिटेन के मध्यम और उच्च वर्गों के बेरोजगार युवाओं की एक बड़ी संख्या को रोजगार देता था (1892 में भारतीय बजट का एक तिहाई भाग भारत में अंग्रेजों पर खर्च होता था)। इससे न केवल इन वर्गों को सहायता प्राप्त होती थी बल्कि ब्रिटिश राजनीतिक प्रक्रिया भी बिना किसी विघ्न अथवा तनावों के निर्बाध रूप से चलती रहती थी। दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों वर्गों के बेरोजगार युवाओं की प्रवृत्ति अपनी आर्थिक स्थिति, आदर्शवाद और बौद्धिक असंतोष के कारण प्रगति करने की थी। इस प्रकार दक्षिणपंथी युवाओं की मानवतावादी और आदर्शवादी प्रवृत्ति को मिशनरी गतिविधियों में और वामपंथी युवाओं की प्रवृत्ति को फेबियनवाद में अभिव्यक्ति मिलती थी।

'ब्रिटिश साम्राज्य में सर्वाधिक चमकीले रत्न' के रूप में भारत ने साम्राज्यवाद की विचारधारा में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने ब्रिटेन के शासक वर्गों को बालिग मताधिकार के आरंभ होने के बाद भी अपनी राजनीतिक सत्ता को कायम रखने में सहायता की। इससे उन्हें उस समय अपने समाज को पूंजीवाद के चारों ओर जोड़ने में भी सहायता मिली जब वह (समाज) वर्ग-संघर्ष के कारण विभाजित हो रहा था। इस प्रकार 'ब्रिटिश साम्राज्य में सूरज कभी नहीं छिपता' के नारे में निहित दंभ और वैभव का प्रयोग श्रमिकों को संतुष्ट रखने के लिए किया गया जबकि वास्तविक जीवन में गंदी गलियों में उनके मकानों पर सूरज मुश्किल से ही कभी चमकता था।

भारत ने एक दूसरे क्षेत्र में भी, जिसकी अकसर अवहेलना की गई है, एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन सबमें ब्रिटेन को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ा।[1] भारत अपने ऊपर प्राप्त की गई विजयों का संपूर्ण खर्च वहन करता था, जिसमें 1857 के विद्रोह के बाद की विजय भी शामिल थी। दूसरे, जब उपनिवेशवाद के हितों में रेलवे, शिक्षा, एक आधुनिक कानून व्यवस्था, सिंचाई के विकास और देहाती क्षेत्रों में प्रशासन के गहन प्रवेश के द्वारा आंशिक रूप से भारत को आधुनिक बनाना अनिवार्य हो गया, तो सारा खर्च भारत को ही उठाना पड़ा।

अंत में, एक बार जब 1870 के बाद संसार के विभाजन और फिर पुनर्विभाजन का संघर्ष गहरा हो गया तब भारत ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रमुख सशस्त्र पुलिसमैन के रूप में कार्य किया और उसके विस्तार और उसे कायम रखने के लिए भौतिक और मानवीय साधनों को जुटाया। भारतीय सेना और भारतीय धन की सहायता से अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत, फारस की खाड़ी के क्षेत्र, पूर्वी अफ्रीका, मिस्र, सूडान, बर्मा, चीन और कुछ हद तक दक्षिणी अफ्रीका को ब्रिटिश क्षेत्र में मिलाया गया। दक्षिणी एशिया के प्रथम महायुद्ध के दौरान भी यही सब हुआ।[2]

इस संपूर्ण युग में, महायुद्धों की अवधि के सिवाय, केवल ब्रिटिश भारतीय सेना ही वह उच्च स्तरीय सैनिक टुकड़ी थी जो ब्रिटेन को उपलब्ध थी। यही उन प्रमुख कारणों में से एक है कि क्यों, एक बार जब भारतीय सेना और पूंजी से ब्रिटेन का नियंत्रण समाप्त हो गया तब एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ताश के

पत्तों की तरह बिखर गया।

यहां इस बात पर भी ध्यान दिया जा सकता है कि 1870 के बाद विशेष रूप से इसी समय जब प्रतिद्वंद्वी पूंजीवादी शक्तियों द्वारा ब्रिटिश आर्थिक प्रभुत्व को चुनौती दी गई, जब बाजारों, कच्चे मालों और निवेश के क्षेत्रों की तलाश गहरी हुई और जब बालिग मताधिकार ने श्रमिक वर्गों को लुभाने के लिए नई वैचारिक अपीलें खोजना आवश्यक कर दिया था तब भारत में ब्रिटिश शासन को भारत पर और अधिक शक्तिशाली और सचेत रूप से लागू किया जा रहा था और भारतीयों को स्वतंत्र व्यापार और स्वराज्य के लिए प्रशिक्षित करने के पिछले वायदों का एक 'हितैषी निरंकुशता' के सिद्धांत के पक्ष में परित्याग किया गया। इसके अतिरिक्त, प्रशासनिक और दूसरे कदमों और उच्च्य अफसरशाही के कट्टर ब्रिटिश चरित्र द्वारा भारत को ब्रिटिश पूंजीवाद के एक गुप्त सुरक्षित स्थान के रूप में कायम किया गया। इसका एक दिलचस्प परिणाम यह हुआ 1947 में पश्चात ही अमरीकी पूंजीवाद को भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रवेश मिल सका और उसे संपर्क बनाने और देश के आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक जीवन में अपने लिए एक आधार बनाने में बहुत से मूल्यवान वर्ष बिताने पड़े।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत पर उसके प्रभुत्व से, विशेषकर 20वीं शताब्दी में, इतना अधिक आर्थिक लाभ नहीं हुआ जितना कि दोनों, कट्टर साम्राज्यवादियों और भारतीयों तथा साम्राज्यवाद विरोधियों द्वारा दावा किया जाता है। इससे यह साबित करने का प्रयत्न किया जाता है कि आधुनिक साम्राज्यवाद का कोई आर्थिक उद्देश्य नहीं था। यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में भारत अब ब्रिटिश माल के लिए इतना बड़ा बाजार नहीं रह गया था जितनी कि आशा की जाती थी, और न ही आशानुसार वह (भारत) ब्रिटिश पूंजी का अवशोषक रह गया था। आशा और पूर्ति के मध्य एक बड़ा रिक्त स्थान था। परंतु इससे कोई बात गलत साबित नहीं होती। यह केवल उन आंतरिक अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति करता है जिनमें भारत के अपने लंबे शोषण के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद घिर चुका था। यदि साम्राज्यवाद को उनका पूर्ण रूप से शोषण करना था तब यह आवश्यक था कि भारत और उसके निवासी सामान्य रूप से अपनी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाएं और आर्थिक रूप से विकसित हों, परंतु इस शोषण ने भारत के विकास को असंभव बना दिया। इसलिए, एक बार जब भारत के वर्तमान आंतरिक बाजार पर कब्जा कर लिया गया तब गरीब भारतीय काश्तकार न तो ब्रिटिश उत्पादों के एक खरीददार के रूप में स्वयं को विकसित कर सकता था और न ही भारत में विदेशी स्वामित्व वाले उद्योगों के लिए उपभोक्ता-आधार बना सकता था। इसी प्रकार, एक बार जब एक काश्तकार पर हद से ज्यादा लगान थोप दिया जाता था तब ब्रिटिश वित्त-व्यवस्था अथवा ब्रिटिश उच्च्य एवं मध्य वर्गों द्वारा भारतीय सरकारी राजस्व की और अधिक लूट नहीं की

जा सकती थी। दूसरी ओर, सीमित भारतीय बाजार में बहुत से क्षेत्रों में भारतीय पूंजी ब्रिटिश पूंजी से प्रतिद्वंद्विता करने में अधिक साहसी थी। उदीयमान साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन का मुकाबला करते हुए ब्रिटिश शासक न तो एक हद से ज्यादा भारतीय बुर्जुआ वर्ग को नाराज कर सकते थे और न ही काश्तकारों पर अधिक कर लगा सकते थे। इसलिए, साम्राज्यवादी शोषण उन सपनों को पूरा नहीं कर सका जिन्होंने अब तक भारत में साम्राज्यवादी नीतियों को प्रेरित किया था।

इसी दौरान, भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन विकसित हुआ। 1947 के पश्चात महान ताकतों के साथ भारत के संबंधों के विकास में इसके कुछ पहलुओं ने प्रभावकारी भूमिका निभाई।

(क) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन उपनिवेशवाद की एक बुद्धिमत्तापूर्ण, लंबी जांच पड़ताल और उसकी आर्थिक जड़ों और उद्देश्यों के एक बहुमुखी विश्लेषण पर आधारित था। 19वीं शताब्दी के अंत से पूर्व ही साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के प्रर्वतकों ने उपनिवेशवाद की भूमिका को भली भांति समझ लिया था। उसने प्रत्यक्ष रूप से कर लगा कर भारतीय आर्थिक अतिरेक का शोषण किया। अप्रत्यक्ष रूप से अपने उत्पादकों के माल को बेचने और भारत से कच्चे माल को खरीदने के लिए भारत को न केवल कृषि संबंधी पश्चप्रदेश के रूप में विकसित किया बल्कि अपने इस नए चरण में भारतीय श्रम के शोषण और महानगरीय पूंजी के निवेश द्वारा वह भारतीय पूंजी का दमनकर्ता भी बन गया। उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हित भारतीय अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन बनाने में ही है। इसके अतिरिक्त वे यह भी प्रचारित करने लगे कि उपनिवेशवाद एक दैविक घटना अथवा ब्रिटेन के शासक दलों की राजनीतिक नीति का मामला नहीं था बल्कि ब्रिटिश समाज और अर्थव्यवस्था के चरित्र और प्रकृति, उसके शासक वर्गों की आवश्यकताओं और भारत के साथ ब्रिटेन के संबंधों के कारण उसका उदय हुआ था। 1918 के पश्चात साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन-संघर्ष के प्रभाव के अंतर्गत आधुनिक साम्राज्यवाद की जटिल आर्थिक बनावट की यह समझ और अधिक मजबूत हो गई। रूसी क्रांति और मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों के प्रसार ने भी इसे और भी शक्तिशाली बनाया। इसके परिणामस्वरूप 1947 के बाद आने वाले विदेशी आर्थिक घुसपैठ के खतरों के प्रति भी चेतना विकसित हो गई। ऐसा विशेष रूप से, निजी विदेशी पूंजी निवेश के क्षेत्र में हुआ है। उसके आर्थिक औेर राजनीतिक परिणामों दोनों को स्पष्ट करते हुए, 1870 के दशक से ही भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व ने विदेशी पूंजी पर आक्रमण शुरू कर दिया। विदेशी पूंजी को इस रूप में नहीं देखा गया कि उससे भारत का विकास हो रहा था बल्कि यह समझा गया कि वह भारत का विनाश कर रही थी; उसके साधनों का शोषण कर रही थी और उसे कमजोर बना रही थी। उदाहरण के लिए, 1 जून 1901 के *बंगाली* ने लिखा कि विदेशी निवेशों का विस्तार शीघ्र ही देश

को बर्बाद कर देगा। "और निश्चित रूप से हमारे राष्ट्र को सदा के लिए आर्थिक रूप से ब्रिटिश पूंजी के अधीन कर देगा।" बिपिन चंद्र पाल ने 12 अगस्त 1901 के अपने साप्ताहिक *न्यू इंडिया* में विदेशी पूंजी के प्रति इस राष्ट्रवादी रवैए की निम्नलिखित तरीके से अभिव्यक्ति की :

> देश के प्राकृतिक साधनों को काम में लाने के लिए विदेशी और ज्यादातर ब्रिटिश पूंजी का प्रवेश, एक सहायता के बजाए वास्तव में, लोगों की आर्थिक स्थिति के वास्तविक सुधारों में सबसे बड़ी अड़चन है। विदेशी पूंजीपतियों द्वारा देश का यह शोषण सरकार और देशवासियों दोनों को बर्बादी की ओर ले जाएगा ... यह राजनीतिक दृष्टि से भी उतना ही बड़ा खतरा है जितना कि आर्थिक दृष्टि से। और नए भारत का भविष्य पूर्ण रूप से इस दोधारी विपत्ति के शीघ्र और परिवर्तनवादी उपचार पर निर्भर करता है।

राजनीतिक खतरे को भी स्पष्ट रूप से पहचान लिया गया। 1885 में जी.वी. जोशी ने लिखा :

> यदि राजनीतिक रूप से कहा जाए और यदि हम इतिहास को गलत ढंग से अध्ययन नहीं करते तो ताकत को संपत्ति और धन की ओर आकर्षित होना चाहिए और देश में एक शक्तिशाली विदेशी व्यापारिक हित शासन में एक बड़ा समस्यात्मक सक्रिय तत्व बनने में असफल नहीं होगा; वह हमेशा अपने स्वार्थी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी ताकत और प्रभाव का प्रयोग करेगा और सरकारी कार्यों में अपना वर्चस्व कायम रखेगा।

23 सितंबर 1989 के *हिंदू* ने टिप्पणी की :

> जब एक देश में विदेशी पूंजी का निवेश हो जाता है तब उस देश का प्रशासन एकदम बांडधारकों की दिलचस्पी का विषय बन जाता है।

राष्ट्रवादियों ने बहुत पहले से ही विदेशी ठेकेदारों के प्रवेश के बिना विदेशी पूंजी के प्रयोग के विचार को प्रस्तुत करना आरंभ कर दिया था। इसे एक शक्तिशाली राज्य (सार्वजनिक) क्षेत्र बनाने में प्रयोग किया जाना था जो दो प्रकार के विदेशी पूंजीपतियों को बाहर रखता। पहला, सार्वजनिक क्षेत्र ऐसे उद्योगों का निर्माण करेगा जिनका निर्माण निजी भारतीय पूंजी के लिए कठिन होगा और जिन्हें दूसरे रूप में विदेशी पूंजीपतियों द्वारा तैयार किया जाना था। दूसरे, विदेशी पूंजी और भारतीय उद्यम के मध्य राज्य (सार्वजनिक) क्षेत्र एक मध्यस्थ और एक सुरक्षा की दीवार के रूप में कार्य करेगा। वह विदेशी पूंजी उधार लेगा और उसका प्रयोग या तो वह स्वयं करेगा या फिर अपने वित्तीय संस्थानों द्वारा उसे भारतीय पूंजीपतियों को उधार देगा।

राष्ट्रवादी आंदोलन ने बड़े पूंजी, चल संपत्ति क्षेत्र को उसका आधार मानकर स्वयं को तेज औद्योगीकरण के प्रति शक्तिशाली रूप में वचनबद्ध किया। लोकप्रिय चेतना के स्तर पर भी यह बात सच थी। 1947 के पश्चात भारतीय आर्थिक योजनाओं को अपने हितों में मोड़ने के प्रयत्न में साम्राज्यी दबाव को इस जागरूकता के कारण एक शक्तिशाली अड़चन का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रवादी आंदोलन ने निकास की रचना (विदेशी जोखिम इत्यादि द्वारा लाभ का निर्यात) और असमान व्यापार द्वारा साम्राज्यवादी शोषण के विचार को व्यापक रूप से लोकप्रिय बना दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि 1947 के पश्चात विदेशी पूंजी के बड़े स्तर पर निवेश और विकसित पूंजीवादी देशों और भारत के मध्य व्यापार के तरीके, दोनों के प्रति लोग अत्यधिक संवेदनशील हो गए।[3]

(ख) राष्ट्रवादी आंदोलन ने धीरे-धीरे एक बड़े पैमाने पर लोगों का राजनीतीकरण किया और आंदोलन में उनकी भागीदारी को निश्चित किया। इसके अतिरिक्त, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बुनियादी पड़ जाने से अधिकांश राष्ट्रवादी और दूसरे जन संगठन लोकतांत्रिक दिशा में संगठित हुए। यह 1947 के बाद दो परिणामों की ओर ले गया : एक ओर तो संसदीय लोकतंत्र का नागरिक अधिकारों और बालिग मताधिकार के साथ वायदा किया जाना था और साम्राज्य-विरोधी आंदोलन में लोकप्रिय भागीदारी की कीमत के रूप में उन्हें अस्तित्व में लाना था; दूसरी ओर, 1947 के पश्चात भारत की सरकार को लोकप्रिय राय के प्रति निरंतर ध्यान देना पड़ा और उसे अपनी नीतियों का आधार बनाना पड़ा। इसमें संदेह नहीं है कि इस राय को चालाकी के साथ प्रयोग करने की सरकार के पास अद्भुत क्षमता होती है। परंतु वामपंथी दलों से अपेक्षाकृत खुली प्रतिस्पर्धा की स्थिति में और अपने स्वयं के राष्ट्रवादी घटक के दबाव के कारण इस चालाकी का प्रयोग कुछ सीमाओं के अंदर ही किया गया है। सरकार और शासक वर्गों के लिए साम्राज्यवाद विरोधी चेतना की अवहेलना करना संभव नहीं हुआ है। वे यदि ऐसा चाहते भी तब भी यह संभव नहीं हो सकता था, जिस प्रकार कि खुले और पूर्ण रूप से पाकिस्तान, 1949 से पूर्व चीन, दक्षिणी कोरिया, फिलिपींस, मलेशिया, इंडोनेशिया, दक्षिणी एशिया इत्यादि के अलोकतांत्रिक शासनों ने किया।

(ग) 1930 और 1940 के दशकों में एक प्रभावकारी वामपंथी घटक वजूद में आया। उसने बुद्धिजीवियों, युवाओं, श्रमिक वर्ग और देश के कुछ भागों में काश्तकारों में अपना एक मजबूत आधार तैयार किया। हालांकि वह संगठनात्मक रूप से काफी कमजोर और आजादी से पूर्व और बाद में राजनीतिक रूप से वयस्क बुर्जुआवादी नेतृत्व को चुनौती देने में सक्षम नहीं रहा, फिर भी प्रत्येक अवस्था में इसमें विकास की काफी संभावनाएं रही हैं। वह एक प्रकार से, निरंतर एक पार्श्व खिलाड़ी के रूप में बना रहा है। जनसाधारण पर इसके प्रभाव की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

वास्तव में, 1947 के बाद बुर्जुआवादी नेतृत्व ने कार्यक्रमात्मक स्तर पर, विशेष रूप से दो मुद्दों पर—एक, साम्राज्यवाद विरोध और दूसरा सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित सामाजिक विकास (जैसा कि समाजवाद के अस्पष्ट उद्देश्य से प्रदर्शित होता है)—उसे विभाजित, अस्पष्ट और कमजोर बनाए रखा है। सरकार द्वारा साम्राज्यवादी ताकतों के साथ गठबंधन न करने अथवा साम्राज्यवाद को बुनियादी रिआयतें न देने की एक वजह वामपंथी पार्टियों का डर रहा है।

(घ) अपने संघर्ष के दौरान भारतीय राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवाद के विरोध और संसार के दूसरे भागों में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों के साथ अखंडता प्रदर्शित करने की एक विदेश नीति विकसित की। 1870 के दशक से उन्होंने अफ्रीका और एशिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार में भारतीय सेना के प्रयोग का विरोध किया। 1878 से 1914 तक बर्मा के देशभक्तों, अफगानों, उत्तरी-पश्चिमी फ्रंटियर की जनजातियों, आई हो हुआन (बाकसर) विद्रोह के समय चीनियों, तिब्बत, मिस्र, सूडान और अफ्रीका के दूसरे निवासियों के साथ बड़े शक्तिशाली रूप में अखंडता की भावनाओं का प्रदर्शन किया गया और उन्हें लोकप्रिय बनाना गया। 1920 के दशक में साम्राज्यवाद विरोध की नीति को और अधिक विकसित किया गया। उपनिवेशी लोगों के साथ भारतीयों की अखंडता और सारे संसार में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रहरी के रूप में भारत की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए 1927 के कांग्रेस के अधिवेशन में डा. एम.ए. अंसारी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा :

> यूरोप द्वारा लोकहितैषी सेंधमारी का इतिहास, कांगो से लेकर केंटन तक, खून और कष्टों में लिखा हुआ है। एक बार जब भारत स्वतंत्र हो जाएगा तब साम्राज्यवाद का संपूर्ण दुर्ग ढह जाएगा क्योंकि वह (भारत) साम्राज्यवाद की महराब का मूल पत्थर है।

1930 के दशक में राष्ट्रीय कांग्रेस ने संसार के किसी भी भाग में साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक कड़ा दृष्टिकोण अपनाया और एशिया तथा अफ्रीका में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों का समर्थन किया। जापान के अखिल एशिया प्रचार के बावजूद राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1937 में चीन पर जापानी आक्रमण की भर्त्सना की और "चीनियों के प्रति हमदर्दी व्यक्त करने के लिए भारतवासियों से जापानी माल का बहिष्कार करने को कहा।" भारतीयों की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना और विश्व स्तर पर साम्राज्यवाद तथा समाजवाद और राष्ट्रीय मुक्ति के तत्वों के मध्य संघर्ष के चरित्र की बढ़ती हुई समझ को 1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिए गए अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली :

> हमारा संघर्ष केवल स्वतंत्रता के एक अधिक व्यापक संघर्ष का भाग था और वे तत्व जिन्होंने हमें प्रेरित किया, बे संसार के करोड़ों लोगों को प्रेरित कर रहे

> थे और उन्हें सक्रिय बना रहे थे। पूंजीवाद ने अपनी कठिनाइयों के कारण फासीवाद को अपना लिया ... वह अपने देशों में भी अपने साम्राज्यवादी प्रतिरूप की भांति वैसा ही बन गया जैसा कि साम्राज्यवाद के अधीन उपनिवेशी देशों में है। इस प्रकार फासीवाद और साम्राज्यवाद नए पतनशील पूंजीवाद के दो रूप हैं... पश्चिम में समाजवाद और पूर्वी तथा अधीन देशों में उदीयमान राष्ट्रवाद ने फासीवाद और साम्राज्यवाद के इस सम्मिश्रण का विरोध किया।

हालांकि 1940 और 1950 के दशकों के दौरान जवाहरलाल नेहरू और शक्तिशाली कांग्रेस राजनीतिक नेतृत्व ने 'साम्राज्यवाद की पूंजीवाद के रूप में' इस समझ का बड़ी तेजी से परित्याग किया, फिर भी पूंजीवादी ताकतों के साथ अपने संबंधों का विकास करने में उन्हें इस व्यापक चेतना पर गहराई से ध्यान देना पड़ा है।

(ङ) हालांकि 1947 में भारत आर्थिक रूप से अर्ध-विकसित था फिर भी उसने एक शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग को विकसित कर लिया था। और, अधिक महत्वपूर्ण यह है कि यह वर्ग एक स्वतंत्र वर्ग के रूप में विकसित हुआ न कि साम्राज्यवादी एजेंटों के वर्ग अथवा विदेशी पूंजी के एक छोटे भागीदार के रूप में। उसके शक्तिशाली वर्गों का ब्रिटिश अथवा अंतर्राष्ट्रीय अर्थ प्रबंध अथवा उदीयमान दैत्याकार संस्थाओं के साथ कोई स्पष्ट संबंध अथवा भागीदारी नहीं थी। उसके अपने वित्तीय और औद्योगिक ढांचे के आधार पर उसके अपने एकाधिकार के ढांचे का विकास हुआ। उत्पादक संघों और न्यासों द्वारा भारत अथवा विदेश में ब्रिटिश पूंजी के साथ संबंधित होने के बजाए भारतीय एकाधिकार पूंजी एक बहुपक्षीय सामूहिक चरित्र के आधार पर विकसित हुई जो कि विस्तृत क्षेत्रों, औद्योगिक, व्यापारिक तथा वित्तीय गतिविधियों की विविधता को प्रभावित करता था। इसलिए भारतीय पूंजीपति वर्ग, कुल मिलाकर साम्राज्यवाद विरोधी और विदेशी पूंजी विरोधी था। अपना विकास चाहते हुए यह वर्ग बड़ी विदेशी पूंजी की मातहती से भयभीत था। अंतर्राष्ट्रीय बड़ी पूंजी द्वारा हड़प लिए जाने के बजाए इस वर्ग की एक सुरक्षात्मक दीवार के रूप में सरकार द्वारा एक शक्तिशाली सार्वजनिक क्षेत्र विकसित करने के लिए पूर्ण सहमति थी। इस कार्य में उसके एकाधिकार और सांद्रित चरित्र ने सहायता की; शक्तिशाली प्रशासनिक कदमों से भी उसे सहायता मिली जिसकी वजह से वह बाहरी पूंजीपतियों का मुकाबला करने की आशा कर सकता था। हालांकि इस विषय पर तफसील से अध्ययन नहीं हुआ है फिर भी यह सुझाव दिया जा सकता है कि जब 1950 के दशक में जन सहयोग और समझौतों का दौर आया तो ये छोटे और मध्यम पूंजीपति ही थे जो कि सहयोग करने के लिए सबसे ज्यादा तैयार थे और यह कि बड़े पूंजीपतियों की अपेक्षा विदेशी पूंजी ने उनके साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने को तरजीह दी क्योंकि छोटे और मध्यम पूंजीपतियों पर सरलता से नियंत्रण रखा जा सकता था।

II

साम्राज्यवाद के साथ संबंध और 1947 के बाद नवउपनिवेशवाद का खतरा

भारत 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हुआ और उसके सामाजिक विकास पर भारतीय पूंजीवादी वर्ग का नियंत्रण हो गया। उपनिवेशी युग में, भारतीय अर्थव्यवस्था, एक अधीन स्थिति में विश्वीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ दी गई थी और यही भारतीय अर्थव्यवस्था के उपनिवेशीकरण का सारतत्व था। उपनिवेशवाद के राजनीतिक प्रभुत्व के अंत का अर्थ भारतीय अर्थव्यवस्था से, अपने आप से ही, उपनिवेशवाद की सामाप्ति नहीं था और न हो सकता था। वास्तव में, उपनिवेशी अर्थव्यवस्था एक उपनिवेश में पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के स्वतंत्र विकास की एक मात्रा को निगल सकती थी और उसने ऐसा किया भी था।

इस दस्तावेज की परिकल्पना यह है कि भारत की सरकार और भारतीय पूंजीपति वर्ग का उद्देश्य 1947 से ही एक आत्मनिर्भर और संतुलित राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास और साम्राज्यवादी आर्थिक नियंत्रण और प्रभुत्व से बचाव रहा है। न तो 1947 से पूर्व और न ही 1947 के बाद भारतीय पूंजीपति वर्ग न तो मूल रूप से साम्राज्यी एजेंटों का वर्ग और न ही साम्राज्यी एकाधिकारों का एक छोटा भागीदार रहा है। उपनिवेशवाद के अंतर्गत एक स्वतंत्र पूंजीपति वर्ग के रूप में इसका विकास और उपनिबेशवाद के प्रति इसका विरोध और उसके विरुद्ध संघर्ष ने पहले ही यह संकेत कर दिया था कि वह जानबूझ कर साम्राज्यवाद के चुंगल में नहीं फंसेगा और न ही नवउपनिवेशवाद का स्वागत करेगा। सामान्य रूप से बड़े एकाधिकार वाली संस्थाओं और साम्राज्यवादी संसार के अंतर्राष्ट्रीय समूहों और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने भारत के अंदर कोई खास प्रभाव नहीं जमाया है। सब मिला कर, आयात पर रोक और प्रतिबंधों तथा अधिकारों का प्रयोग भारतीय पूंजीपतियों के स्वामित्व और नियंत्रण वाले उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए किया गया है न कि अंतर्राष्ट्रीय निगमों की सहायक कंपनियों की स्थापना को सुविधाजनक बनाने के लिए। तकनीकी सहयोग के समझौतों और विदेशी निवेश की वृद्धि के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के बड़े अथवा छोटे, राष्ट्रीय बुर्जुआवादी बड़े विदेशी निगमों के साथ भागीदारी कर रहे हैं। वास्तव में, भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी पूंजी के निवेश को सावधानीपूर्वक नियंत्रित किया गया है, हालांकि विशेष सीमाओं के अंदर उसे काफी प्रोत्साहन भी दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अभी तक विदेशी पूंजी भारत में आने से 'झिझकती' और 'शर्माती' रही है। इसके अतिरिक्त भारतीय अर्थव्यवस्था का एक भी ऐसा प्रमुख अथवा आर्थिक रूप से रणनीतिक क्षेत्र

नहीं है जहां विदेशी पूंजी का वर्चस्व हो। अंत में, आज भारतीय अर्थव्यवस्था में मुश्किल से ही विदेशी पूंजी का कहीं महत्वपूर्ण स्थान होगा, वर्चस्व की स्थिति की तो बात ही अलग है।

इसलिए भारत का न तो और उपनिवेशीकरण हुआ है और न ही निकट भविष्य में उसके एक नवउपनिवेश बनने की संभावना है। बल्कि, अर्धविकसित भारतीय पूंजीवाद स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के रास्ते का अनुसरण करने के लिए संघर्ष कर रहा है और करता रहेगा।

इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीय पूंजीवाद साम्राज्यवाद पर निर्भर नहीं है अथवा यह कि साम्राज्यवाद उसके स्वतंत्र विकास में एक गंभीर बाधा नहीं है। जबकि साम्राज्यवाद पर भारत की निर्भरता भारतीय पूंजीपति वर्ग पर साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व का परिणाम नहीं है, फिर भी साम्राज्यवाद पर भारतीय अर्थव्यवस्था की निर्भरता के कारण वह अभी तक यहां मौजूद है। ऐसा इसलिए है कि भारत विश्वीय पूंजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है और अधीनस्थ स्थिति में है। इस प्रकार, भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके विकास पर 'बाहरी प्रतिबंध 'संरचनात्मक' हैं अर्थात, विश्व में पूजीवाद के ठीक प्रकार संघटित होने की वजह से वे (प्रतिबंध) उसके (पूंजीवाद के) उत्पाद हैं। विश्वीय पूंजीवाद से संसार के एक भाग में तो विकास होता है और दूसरे भाग में अर्धविकास होता है। इसलिए अर्धविकसित भारतीय पूंजीवाद ने स्वयं को एक दुविधा में पाया है। वह स्वतंत्र रूप से विकसित होने का प्रयत्न करता है परंतु वह ऐसा विश्वीय पूंजीवाद से अपने संरचनात्मक संबंधों को तोड़े बिना करता है। इसका परिणाम यह होता है कि विकास में अड़चन आती है। और साम्राज्यवादी आर्थिक ढांचे पर आर्थिक निर्भरता कायम रहती है। दूसरी ओर, आज की स्थिति में पूंजीवाद की सीमाओं के अंदर रहकर, संसार के पूंजीवादी ढांचे से अलग होने के भी प्रयत्न को, यदि उसे सफल होना है तो, अपरिहार्य रूप से क्रांतिकारी होना होता है, जैसा कि क्रांति के पश्चात क्यूबा के आरंभिक अनुभव से ज्ञात होता है। भारतीय पूंजीवाद, इसलिए इस दिशा में एक परिवर्तनवादी प्रयास करने को भी सहमत नहीं हुआ है। जैसा कि 1947 से पूर्व भारतीय पूंजीपति वर्ग और भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सामूहिक लामबंदी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की एक गैर-क्रांतिकारी अथवा 'किसी प्रकार से पार होने' की रणनीति विकसित की थी, तब से उन्होंने आत्मनिर्भर पूंजीवादी विकास की ठीक वैसी ही रणनीति का अनुसरण किया है, यह आशा करते हुए कि सावधानीपूर्वक नियंत्रित राजनीतिक सीमाओं के अंदर और आंतरिक सामाजिक ढांचे में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाए बिना आर्थिक विकास धीरे-धीरे साम्राज्यवाद पर निर्भरता को समाप्त कर देगा। इस मोल-तोल में, भारत आज भी एक विकासशील परंतु अभी तक एक अर्धविकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाले स्वतंत्र देश की स्थित में है, जो अभी तक साम्राज्यवाद

पर निर्भर करता है।

इस रणनीति के वे कौन से तत्व हैं जिनकी वजह से यह व्यवस्था अभी तक अपना अस्तित्व कायम रखने में सफल रही है और वे कौन से संभावित कारण हैं जो उसकी असफलता की ओर ले जा सकते हैं?

(क) पहला, भारत में शासन, धीरे-धीरे, आंतरिक रूप से एक प्रकार के सामाजिक और आर्थिक सुधारों के एक बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रहा है (हालांकि ऐसा एक गैर क्रांतिकारी तरीके से और धनी वर्गों के हितों में किया जा रहा है) जिसे सामान्यतया बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति के समापन से संबंधित किया जाता है। नकारात्मक रूप से देखा जाए तो हालांकि भारत आंतरिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का परिवर्तनवादी ढंग से पुनर्गठन नहीं कर रहा है, फिर भी वह (भारत) आंतरिक रूप से च्यांग काई शेक जैसे एक नवउपनिवेशी अथवा अर्ध-सामंती कार्यक्रम का अनुशरण नहीं कर रहा है। सामाजिक स्तर पर, शिक्षा का एक बड़े पैमाने पर प्रसार हो रहा है, स्त्रियां भी एक बड़े पैमाने पर शिक्षित हैं; विशेष रूप से शहरों में स्त्रियों के दमन में सामंतवादी रंग के स्थान पर बुर्जुआवादी रंग आता जा रहा है; जाति व्यवस्था कम से कम इस हद तक तो समाप्त हो गई है कि वह पूंजीवाद के विकास में अड़चन नहीं बनती (ग्रामीण क्षेत्रों में निम्न जातियों का दमन कृषि-मजदूरी को कम करने और लगान को बढ़ाने का एक औजार बन जाता है) और पारिवारिक संबंध भी बड़ी तेजी से बुर्जुआवादी रंग ले रहे हैं। सांस्कृतिक और नैतिक लोकाचार पर भी करीब-करीब धन का प्रभुत्व हो गया है। ब्रिटेन जर्मनी और जापान की भांति भूस्वामित्व संबंधी संबंधों के ढांचे को, धीरे-धीरे पूंजीवादी दिशा में परिवर्तित किया जा रहा है, हालांकि यह खेत जोतने वाले और खेत में काम करने वाले मजदूरों की कीमत पर हो रहा है। राजनीतिक रूप से, गांव से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक संसदीय लोकतंत्र और बालिग मताधिकार का प्रचलन है। नागरिक अधिकारों और संसदीय लोकतंत्र का, एक आधुनिक पूंजीवादी तरीके से, उल्लंघन भी होता है और उन पर आक्रमण भी किए जाते हैं। भारतीय प्रशासन, हालांकि वह भ्रष्ट है, किसी भी स्तर से आधुनिक है और पूरी तरह से छोटे और बड़े बुर्जुआवादियों के समक्ष झुका हुआ है।

(ख) एक अत्यंत परिपक्व और दूरदर्शी बुर्जुआवादी राजनीतिक नेतृत्व ने साम्राज्यी प्रवेश का मुकाबला करने के लिए राज्य-सत्ता का प्रयोग आर्थिक, प्रशासनिक कदम उठा कर और आधुनिक उद्योग में सार्वजनिक और सरकारी क्षेत्र को एक अत्यंत सक्रिय भूमिका देकर किया है। दैत्याकार साम्राज्यी एकाधिकार के निगमों और कम असमान शर्तों पर अंतर्राष्ट्रीय वित्त प्रबंध का मुकाबला करने के लिए आर्थिक ताकत राज्य के हाथों में केंद्रित रही है। उद्योगों और आधारतत्वों के निर्माण के लिए सरकारी क्षेत्र का प्रयोग किया गया है जिसका कि देशी पूंजी से निर्माण नहीं होता और जो विदेशी

पूंजी के प्रयोग को अपरिहार्य बना देता। सरकारी औद्योगिक और वित्तीय संस्थानों का प्रयोग विदेशी पूंजी को (उसे प्रत्यक्ष रूप से ताकतवर होने के अनुमति दिए बिना) अर्थव्यवस्था में शामिल करने के लिए किया गया है। दैत्याकार निगमों के अधिक वित्तीय ताकत के लाभ, तकनीक क्षमता और एकाधिकार को विनिमय नियंत्रण, अधिक कर और निषेधाज्ञाओं द्वारा उनके उत्पादों को देश से बाहर रख कर राज्य सत्ता के प्रयोग द्वारा निष्प्रभावी बना दिया गया है। और इस प्रकार तापगृह की परिस्थितियों में अधिक कमजोर स्थानीय पूंजी को विकसित होने के अवसर प्रदान किए गए हैं। राज्य के साधनों का प्रयोग इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और तकनीकी श्रमिकों की एक बड़ी सेना को प्रशिक्षित करने में किया गया है। प्रशासनिक साधनों द्वारा विश्व के पूंजीवाद के साथ आर्थिक एकता को भी समाप्त करने का प्रयास किया गया है।

(ग) तीसरे, समाजवादी देशों से आर्थिक सहायता और तकनीकी सहयोग और उनके साथ व्यापार के विकास ने एक गैर-क्रांतिकारी तरीके से बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयासों में और आत्मनिर्भर पूंजीवाद को विकसित और मजबूत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनका साम्राज्यवादी देशों को भारत के सामने एक एकाधिकारिक फ्रंट प्रस्तुत करने से रोकने के लिए न केवल सौदेबाजी के काउंटरों के रूप में प्रयोग किया गया है। बल्कि उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र को मजबूत बनाने, बड़े पूंजी माल क्षेत्र की बुनियाद डालने, हवाई जहाज जैसे रणनीतिक उद्योगों को विकसित करने और भारतीय उद्योग, यातायात व्यवस्था और सैनिक ढांचे पर विदेशी तेल एकाधिकारों की पकड़ को समाप्त करने में भी सहायता की है। यह बताना दिलचस्प होगा कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने समाजवादी देशों के साथ आर्थिक संबंधों के विकास का समर्थन किया और किसी दूसरे पूंजीवादी देश के मुकाबले में इन संबंधों का एक बड़ी हद तक उपयोग किया।

(घ) चौथे, 1947 में अपने आरंभ से ही भारतीय बुर्जुआवादी व्यवस्था को राजनीतिक वैधीकरण की अत्याधिक प्रगतिशील व्यवस्था, अर्थात, बुर्जुआवादी लोकतंत्र पर आधारित किया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की तरह, भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व ने सामूहिक लामबंदी और सामूहिक कार्यवाही की एक शैली विकसित की जिसने एक ओर तो लोगों को राजनीति से जोड़ा और दूसरी ओर उन्हें बिना किसी राजनीतिक अगुआई के छोड़ दिया; इसी प्रकार भारतीय राजनीतिक नेतृत्व ने संसदीय लोकतंत्र का प्रयोग लोगों को सरकार में भागीदारी करने का संतोष देने और उसमें उन्हें एक प्रभावशाली आवाज उठाने से वंचित करने के लिए किया है। फिर भी, प्रत्येक चुनाव ने लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या को राजनीतीकरण किया है और "राजनीतिक रूप से उनका समाजीकरण" किया है। इसके परिणामस्वरूप किसी भी अवस्था में लोगों ने राजनीतिक व्यवस्था की वैधता पर संदेह नहीं किया है। इस व्यवस्था के अत्याधिक परिवर्तनवादी आलोचकों को भी इसके कानूनों की सीमाओं के अंदर

रहकर ही कार्य करना पड़ा है। इसलिए राजनीतिक लोकतंत्र की वजह से राजनीतिक नेतृत्व ने पूंजीवादी विकास का सारा बोझ सामान्य व्यक्तियों के कंधों पर डाल दिया है। इससे भी अधिक, आत्म-संपोषित विकास की असफलता और रहन सहन के स्तरों को ऊंचा उठाने की असफलता ने उस तरह के आंतरिक राजनीतिक संकट को जन्म नहीं दिया है जिसकी वजह से साम्राज्यवादी तत्व एक निर्णायक पैमाने पर आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप करते।

(ङ) भारत की विदेश नीति ने (विशेष रूप से जब राजनीतिक असंतोष आरंभ होने लगा था उसके बाद) विविध सामाजिक तत्वों का शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व के चारों ओर मजबूती प्रदान करने में प्रमुख भूमिका निभाई है। आत्मनिर्भर पूंजीवादी विकास के रास्ते पर चलने, खुली साम्राज्यी ब्लैकमेल का मुकाबला करने और वामपंथी विरोध के उत्साह को कम करने के लिए विदेशी नीति और उसकी मजबूती प्रदान करने की भूमिका का सचेत रूप से प्रयोग किया गया है।

(च) भारत में पूंजीवाद के विकास का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि पूंजीवाद विरोधी वामपंथी घटक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को गंभीरता से चुनौती देने में असफल रहा है, जबकि वस्तुगत परिस्थितियां इस प्रकार की चुनौती के पक्ष में थीं।[4] जिस प्रकार 1947 से पहले बुर्जुआवादी राष्ट्रवादी नेतृत्व को, किसी भी अवस्था में, वामपंथी नेतृत्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता की एक स्वतंत्र लामबंदी पर आधारित एक गंभीर वामपंथी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा, उसी प्रकार 1947 के बाद भी न तो भूस्वामित्व संबंधी समस्या पर, न ही साम्राज्यी आर्थिक प्रवेश पर और न ही विकास के पूंजीवादी तरीके के प्रश्न और परिणामों पर कोई भी वामपंथी, सामूहिक, राष्ट्र-स्तर पर राजनीतिक गोलबंदी नहीं की गई है। बहुत से वामपंथी विचार रखने वाले व्यक्तियों की यह धारणा रही है कि क्रांतिकारी तत्वों और 'स्वामित्व छिन जाने के' डर के कारण बुर्जुआवादी बड़ी तेजी से प्रतिक्रियावादी बन जाएंगे, आर्थिक विकास और राजनीतिक लोकतंत्र सहित आंतरिक बुर्जुआवादी सुधारों का परित्याग कर देंगे और एक कम्युनिस्ट विरोधी और जन-विरोधी आंदोलन में साम्राज्यवाद के साथ मिल जाएंगे। इस धारणा में 'एक' गलत बात यह रही है कि उसने इस प्रकार की एक धमकी भरी क्रांतिकारी शक्ति की उपस्थिति को मान लिया है।

यह इस रूप में नहीं हुआ है। सुधारवादी बुर्जुआवादी अर्ध-सामंतवाद और साम्राज्यवाद तथा कृषि और उद्योग दोनों में पूंजीवाद का निर्माण करने में तेजी से इसलिए सफल हुआ है क्योंकि वामपंथ इतना शक्तिशाली था कि उसने उसे (बुर्जुआवादी को) सावधान रखा है, परंतु वामपंथ उसके लिए इस हद तक एक खतरा भी नहीं बना कि वह (बुर्जुआ वर्ग) साम्राज्यवाद और सामंतवाद की गोद में पनाह लेने को विवश हो जाए। दूसरे शब्दों में, यहां एक द्वंद्वात्मक, और एक दूसरे को ताकतवर बनाने वाला विकास भी हुआ है। बुर्जुआवादी उदारवाद और सुधारों, आत्मनिर्भर

पूंजीवादी विकास, और साम्राज्यवादी गठजोड़ और राजनीतिक व्यवस्था से अलग रहने की नीति ने लोगों पर अपना राजनीतिक प्रभाव बनाए रखने और वामपंथ को कमजोर करने में बुर्जुआवादी नेतृत्व की मदद की है। इसके साथ ही वामपंथ की कमजोरी न बुर्जुआवादियों को उदार बने रहने, पूंजीवाद को विकसित करने और साम्राज्यवादी गुट से अलग रहने में भी मदद की है।

फिर भी, स्वतंत्र पूंजीवादी विकास की रणनीति दो बुनियादी दबावों को झेलती है। आज एक अर्ध-विकसित पूंजीवादी देश के लिए उन बुनियादी आंतरिक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बिना विकसित होना असंभव है जो अपरिहार्य रूप से अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी रास्ते से बाहर रखते हैं। दूसरे, जब तक कि वह एक मातहत स्थिति में विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एक सुगठित भाग है, वह अपने विकास में बुनियादी दबावों को झेलता है। इसलिए, भारत के लिए पूंजीवादी रास्ते का अनुसरण करते हुए राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करना असंभव लगता है।[5] परंतु इस बात पर सावधानीपूर्वक विचार करना चाहिए कि बाहरी और आंतरिक दोनों स्तरों पर दबाव संरचनात्मक हैं अथवा व्यवस्था से संबंधित हैं; अथवा उसमें उनका निर्माण किया जा रहा है। साम्राज्यवाद पर भारत की निर्भरता एक व्यवस्था की निर्भरता है जो कि विश्वीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भारत की स्थिति से उत्पन्न हुई है। यह निर्भरता भारतीय अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूंजी की पकड़ भारतीय पूंजीपति वर्ग के साम्राज्य समर्थक चरित्र अथवा पूंजीपति वर्ग के विदेशी पूंजी में एक छोटे भागीदार होने अथवा प्रत्यक्ष एवं राजनीतिक रूप से भारतीय राज्य पर विदेशी सहायता अथवा वित्तीय पूंजी द्वारा साम्राज्यवाद के प्रभुत्व के कारण उत्पन्न नहीं हुई है। जैसा कि पहले संकेत दिया गया था, न तो विदेशी पूंजी न ही अंतर्राष्ट्रीय निगम और न ही वित्तीय पूंजी भारतीय अर्थव्यवस्था में एक प्रभावशाली अथवा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पूंजी और सहयोग समझौतों दोनों के अर्थों में भारत में अमरीकी निजी विदेशी पूंजी ब्रिटिश विदेशी पूंजी के मुकाबले में अधीनस्थ स्थिति में है। व्यापार, सहायता, विदेशी पूंजी, और प्रौद्योगिक सहयोग के क्षेत्रों में 'भारत ने ईमानदारी से काम किया है।" यहां भी, भारत शक्तिशाली अमरीकी साम्राज्यवाद की तुलना में संपूर्ण विश्वीय पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत है। निस्संदेह, दूसरे अर्ध-विकसित देशों की भांति, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पराधीनता को झेल रहा है, जो विशिष्ट उद्योगों में एक प्रकार के विदेशी नियंत्रण की ओर ले जा सकता है।[6] फिर भी यह इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यह एक बार फिर, व्यवस्था की निर्भरता का मामला है।

वास्तव में, इस सबका यह अर्थ नहीं है कि आत्मनिर्भर पूंजीवाद की रणनीति का अनुसरण करने में भारत निरंतर नव-उपनिवेशवाद के खतरे का सामना नहीं करता है। परंतु उसे इस प्रकार का खतरा, मुख्य रूप से, अपने अर्ध-विकसित पूंजीवाद की संरचनात्मक और सामाजिक असमर्थता से उत्पन्न होगा, क्योंकि वह स्वयं का और

देश का इस हद तक विकास नहीं कर पाएगा जहां सामाजिक जरूरतें एक न्यूनतम वांछित स्तर पर पूरी हो सकें। जब सामाजिक असफलता और अधिक स्पष्ट होने लगेगी और जनता को उसे और अधिक नापसंद करने लगेगी और एक सही नेतृत्व इस असंतोष को और अधिक बढ़ावा देने लगेगा, तब पूंजीपति वर्ग और शक्तिशाली नेतृत्व साम्राज्यवादी ताकतों से आर्थिक और राजनीतिक समर्थन लेने को विवश हो जाएंगे। वे इन आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विश्वीय पूंजीवाद के साथ अपने संबंधों को मजबूत करने को विवश हो जाएंगे, जो आंशिक रूप से इन्हीं संबंधों से उत्पन्न होती हैं। जन-विद्रोह के वास्तविक खतरे की स्थिति में, व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए पराश्रित राजनीतिक और सैनिक संपर्क भी बनाए जा सकते हैं। परिकल्पनात्मक रूप से, यह समाजवादी देशों पर निर्भरता को भी बढ़ावा दे सकता है। कुछ वर्ष पहले, कोई भी इस संभावना से इनकार कर सकता था कि एक लोकप्रिय विद्रोह का दमन करने के लिए समाजवादी देश पूंजीवादी शासन की मदद कर सकते हैं। परंतु आज ऐसी संभावना अनर्गल प्रतीत नहीं होती। नवउपनिवेशवाद को बाहर रखने और विकासशील पूंजीवाद की आत्मनिर्भरता को मजबूती प्रदान करने के नारे के तहत ऐसा हो सकता है। इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि इस प्रकार के नवउपनिवेशवाद के आर्थिक और राजनीतिक खतरे का सामना केवल भारत जैसे अकेले भूतपूर्व उपनिवेश को ही नहीं करना पड़ता। जैसा कि बहुत पहले लेनिन ने कहा था, दूसरे विकासशील अथवा विकसित पूंजीवादी देशों को भी इससे खतरा हो सकता है। आज भारत की स्थिति पुर्तगाल, स्पेन, इटली अथवा 19वीं और बीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में अलग-अलग समय पर रूस जैसी भी है। इसके अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की अत्यंत एकताबद्ध व्यवस्था में कनाडा, स्पेन, ग्रीस और यूगोस्लाविया जैसे देशों अथवा जापान और स्कैंडिनेविया के देशों को भी निरंतर इस खतरे का सामना करना पड़ता है। भारत के मामले में केवल इस खतरे की निकटता और मात्रा अधिक हैं।

इसलिए, भारत में साम्राज्यवाद, अर्ध-उपनिवेशवाद, अथवा नवउपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष को पूंजीवाद के विकास विरोधी एक संघर्ष का रूप लेना है। इस समय भारत एक ऐसा नवउपनिवेश अथवा अर्धउपनिवेश नहीं है जिस पर विदेशी पूंजी का वर्चस्व है। साम्राज्यी प्रवेश और नवउपनिवेशवाद का खतरा इसलिए पैदा होता है क्योंकि भारत स्वतंत्र पूंजीवाद के रास्ते का अनुसरण करता है। इसी प्रकार, साम्राज्यी दबाव, मुख्य रूप से राजदूतों, वर्ल्ड बैंक के अधिकारियों, विदेशी पूंजी नियंत्रण इत्यादि द्वारा नहीं बल्कि आर्थिक वास्तविकताओं द्वारा डाला जाता है। यही वजह है कि भारत में संयुक्त राष्ट्र ने अपना संपूर्ण प्रयास, मुख्य रूप से, पूंजीवादी व्यवस्था के विकास अथवा निजी उद्यम और अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के साथ उसके उलझाव को और केवल गौणतः अमरीकी निवेश को बढ़ावा देने के लिए किया गया है। यही वजह है कि

एक बार जब संयुक्त राष्ट्र अमरीका को यह स्पष्ट हो गया कि भारत को दी जाने वाली रूसी आर्थिक सहायता का उद्देश्य समाजवाद का निर्माण नहीं बल्कि पूंजीवाद का निर्माण है, सामाजिक क्रांति के तत्वों को नहीं बल्कि पूंजीवाद के तत्वों को शक्तिशाली बनाना है, तो उसने सोवियत सहायता के विरुद्ध गंभीर स्वर में आपत्ति उठाना बंद करवा दिया। अब इस प्रकार की सहायता की, भारत के विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय बोझ में भागीदारी कह कर प्रशंसा भी की गई।

इस स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि एक अधीनस्थ स्थिति में विश्व की पूंजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था और इसी प्रकार की दूसरी अर्ध-विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण पर अभी भी गंभीर रूप से विचार किया जाना है। यह स्पष्ट है कि यहां केवल उत्पादकों के लिए बाजारों अथवा कच्चे माल के स्रोतों अथवा निवेश के क्षेत्रों के रूप में इन देशों का प्रयोग इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि सहायता, व्यापार, वित्त प्रबंध, निवेश, प्रौद्योगिकी, विज्ञान, प्रतिभाओं के पलायन, आंतरिक विद्रोह के विरुद्ध सैनिक सुरक्षा और बाहरी शत्रुओं, और संस्कृति और विचारधारा द्वारा एक विश्वव्यापी ढांचे में उनका एकीकरण है (उदाहरण के लिए, समस्त पूंजीवादी संसार में; जिसमें उसका अर्ध-विकसित भाग भी सम्मिलित है, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का संघटित विकास)।

संदर्भ और टिप्पणियां

यह ब्रिटेन में भारत की ब्रिटिश जीत और सभी प्रकार के ब्रिटेन विरोधी प्रतिरोधों के विरुद्ध करीब-करीब किसी भी प्रकार के लोकप्रिय विरोध की अनुपस्थिति की व्याख्या करता है. उदाहरण के लिए, भारत में तलवारों और तीर कमानों से लड़ रहे कई हजार आदिवासियों को शस्त्रों से सुसज्जित, अनुशासित अंग्रेज सेना द्वारा मार डाला गया. एक दूसरा उदाहरण, 1857 में देहली पर दोबारा कब्जा करने के बाद केवल देहली ही में अंग्रेज सेना द्वारा 25000 व्यक्तियों के कत्लेआम को 'विद्रोह का एक उपयुक्त प्रतिशोध' माना गया. इसी प्रकार, भारत में विजय और दमन के लिए जिस मानवशक्ति का प्रयोग किया जाता था वह या तो भारतीय होती थी या फिर से वे यूरोपीय 'स्वयंसेवक' होते थे जिन्हें ब्रिटिश, आयरिश और यूरोपीय समाजों की निम्न श्रेणियों में से भर्ती किया जाता था. एक बार फिर सम्मानीय ब्रिटिश नागरिकों को अपने पुत्रों से हाथ नहीं धोना पड़ता था. इसलिए, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुश्किल से ही कोई 'घिनावने' अथवा दुखपूर्ण पहलू थे. कोई भी चाय की चुस्की लेते हुए, सुबह के समाचारपत्र में ताकत, वैभव और मानवतावादी कार्यों के संबंध में पढ़ते हुए अपने दिन की शुरुआत कर सकता था.

2. वास्तव में लातीनी अमरीका में भारतीय सेना का प्रयोग नहीं किया जा सकता था और यह इस बात को स्पष्ट करता है कि वहां धीरे-धीरे अनौपचारिक साम्राज्य पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका का कब्जा हो रहा था.
3. क्योंकि नए साम्राज्यी प्रवेश के विरुद्ध संघर्ष में इस जागरूकता और 'डर' ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है इसलिए साम्राज्यवादी देशों में इस प्रकार के 'डरों' को दूर करने के लिए सामाजिक

विज्ञानों—इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की सेवाएं ली गई हैं; यह साबित करने के लिए कि यह संपूर्ण विचार गलत और अतिशयोक्ति पर आधारित है और 'राष्ट्रवादी भ्रम' का परिणाम है. उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आंदोलनों की वैधता को राष्ट्रीय मनोविज्ञान के आधारों पर स्वतंत्रता की एक अव्यावहारिक इच्छा और नए 'विशिष्ट वर्ग के हितों की अभिव्यक्ति के रूप में मान्यता दी जाती है. परंतु उपनिवेशी समाजों के सभी वर्गों और श्रेणियों के साम्राज्यी शोषण विरोधी चरित्र से निरंतर इनकार किया जाता है और उसे केवल एक 'विचारधारा' का नाम दिया जाता है.

4. भारत और विदेश दोनों में, वामपंथी की यह धारणा उसकी एक प्रमुख गलती रही है कि चूंकि वामपंथ व्यवस्था को उखाड़ फेंकने में असफल रहा है, व्यवस्था अथवा सामाजिक व्यवस्था 1947 से ही यथास्थिति में रहे हैं और जब तक कि उन्हें उखाड़ न फेंका जाए, वे इसी स्थिति में रहेंगे परंतु इतिहास स्थिर नहीं रहता, उसमें निरंतर परिवर्तन आते रहते हैं. निश्चित रूप से दूसरे कारणों के साथ पूंजीवाद इसलिए विकसित होता है क्योंकि उसे समाप्त नहीं किया जाता है.
5. एक बार फिर दोहराया जाता है कि 1947 से ही यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत कमी है, एक नवउपनिवेश होने की प्रवृत्ति नहीं. भारतीय राजनीति और सामाजिक विकास में 'नवउपनिवेशवाद' नहीं बल्कि पूंजीवादी मार्ग मूल मुद्दा है.
6. आज साम्राज्यवादी कार्यक्रम में जो महत्वपूर्ण भूमिका प्रौद्योगिक वर्चस्व निभाता है और, इसलिए साम्राज्यी आर्थिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष में आत्मनिर्भर प्रौद्योगिकी के विकास के संघर्ष को जो महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए उसका अभी तक साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य में भी पर्याप्त रूप से विश्लेषण नहीं किया गया है. यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि प्रौद्योगिकी को भी वही भूमिका दी जाने चाहिए जो 1920 और 1930 के दशकों में भारी, महत्वपूर्ण पदार्थों वाले उद्योग को दी गई थी.
7. पिछले 25 वर्षों में और सैन्य रूप-में भारत को संयुक्त राष्ट्र के खेमे से जोड़ना मुश्किल से ही भारत के प्रति संयुक्त राष्ट्र की नीति का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है.

अध्याय आठ

1920 के दशक में उत्तरी भारत में क्रांतिकारी आतंकवादियों का वैचारिक विकास

I

1920 के दशक के दौरान उत्तरी भारत के क्रांतिकारी आतंकवादी अपने जीवनकाल में लोकप्रिय नायक बन गए थे और तब से अब तक नायक बने हुए हैं। परंतु उनकी लोकप्रिय छवि ऐसे साहसी युवाओं की थी और है जो राष्ट्रवाद की निर्मल और 'विशुद्ध' भावनाओं से शराबोर थे और उनके दिलों में 'मातृभूमि की वेदी पर, अपने आप को बलिदान करने की प्रबल इच्छा थी। वास्तव में उनके आलोचक उनके संबंध में कठोर बातें कहते थे। परंतु, उनके प्रशंसकों और आलोचकों दोनों का विश्वास है कि इन साहसी युवाओं की कोई सामाजिक विचारधारा नहीं थी; उनके कार्यों का मार्ग निर्देशन करने के लिए उनके पास कोई दृष्टिकोण नहीं था अथवा दूसरे शब्दों में वे 'बुद्धिहीन देशभक्त' थे। क्रांतिकारी आतंकवादी इस व्यापाक रूप से प्रचलित विचार के प्रति पूर्णतया सचेत थे। जैसा कि उनकी बहुत सी सार्वजनिक घोषणाओं में से एक में टिप्पणी की गई थी। "जिन उच्च आदर्शों को वे संजोए हुए हैं उनकी उदारता और वे महान बलिदान जो उन्होंने किए हैं उनके प्रति कुछ ही व्यक्ति संदेह व्यक्त करते हैं, लेकिन चूंकि उनकी सामान्य गतिविधि अधिकतर गोपनीय रहती है, इसलिए, देश उनकी वर्तमान नीति और इरादों से परिचित नहीं है।"[1] इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने, समय-समय पर, बहुत से वक्तव्यों और पुस्तिकाओं का प्रकाशन और वितरण किया; उनमें से कुछ राष्ट्रीय समाचार पत्रों में भी छपी। उनमें बहुत सी अब उपलब्ध हैं; हालांकि बहुतों को अभी खोजना है। इसके साथ ही, क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेने वाले कुछ व्यक्तियों द्वारा अभी हाल ही में कई उत्कृष्ट आत्मकथाओं को प्रकाशित किया गया है। पुराने विश्वास पर आग्रह करने के लिए अब मुश्किल से ही कोई बहाना बचा है।

II

उत्तरी भारत में 1920 के दशक का क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन स्थिति में कई नए तत्वों का उत्पाद था। वास्तव में प्रथम महायुद्ध के दौरान राश बिहारी बोस और सचिंद्रनाथ सान्याल के प्रयासों, हार्डिंग बम कांड, गदर आंदोलन, मणीपुरी षड्यंत्र और

फर्स्ट लाहौर कांसपीरेसी केस जैसे पूर्व क्रांतिकारी आंदोलनों के कंधों पर इसका उदय हुआ। उनके पीछे बंगाल, महाराष्ट्र और यूरोप के आंतकवादी आंदोलन की पृष्ठभमि भी थी।

इससे भी अधिक, वह असहयोग आंदोलन और भारतीय राजनीति पर उसके स्थायी प्रभाव का उत्पाद था। नए क्रांतिकारी आंदोलन के करीब-करीब सभी महत्वपूर्ण सदस्य असहयोग आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग ले चुके थे और गांधीजी द्वारा एक वर्ष के अंदर स्वतंत्रता प्राप्त करने के वायदे ने जो आशाएं जगाई थीं और जिसके कारण अभूतपूर्व लहर उठी थी, उनसे उत्पन्न प्रचंड उत्साह में भी वे बराबर के शरीक थे। उदाहरण के लिए, जोगेश चंद्र चटर्जी, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव, जतिन दास, भगवती चरण वोहरा, यशपाल, शिव वर्मा, डा. गया प्रसाद और जैदेव कपूर ने अहिंसक सत्याग्रह में भाग लिया। परंतु असहयोग आंदोलन की असफलता ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया। जिस ढंग से आंदोलन वापस लिया गया उससे उन युवकों में बहुत गहरा असंतोष था जिन्होंने गांधीजी के आहवान का अनुसरण करते हुए अपने स्कूलों, कालेजों और घरों को छोड़ दिया था। हिंदू-मुस्लिम एकता के स्थान पर सांप्रदायिक दंगों की ज्यादती और पारस्परिक सांप्रदायिक घृणा से उत्पन्न जहरीली वातावरण ने इस असंतोष को गहरी हताशा में परिवर्तित कर दिया था। इन आदर्शवादी युवकों को चौरीचौरा में कोई गलत बात नजर नहीं आई। न ही वे राजनीति और नैतिकता के एक ऐसे सिद्धांत को महत्व दे सकते थे जिसने एक ही बार में एक शक्तिशाली आंदोलन को समाप्त कर दिया था। न ही वे उन दो विकल्पों से संतुष्ट थे जो राष्ट्रवादी नेतृत्व ने उनके समक्ष रखे थे : स्वराज्यवादियों की संसदीय राजनीति अथवा परिवर्तनविरोधियों का तथाकथित रचनात्मक कार्य। इन युवाओं ने प्रचलित निराशावाद और हताशा पर जितना अधिक विचार किया, उन्हें शक्तिशाली राष्ट्रवादी नेतृत्व की मूल रणनीति और उसे मजबूती प्रदान करने वाली गांधीवादी राजनीतिक विचारधारा में उतनी ही अधिक कमी नजर आई। गांधीवाद को छोड़ कर वे नए विकल्पों की खोज करने लगे। यह खोज उन्हें एक ओर तो समाजवाद और दूसरी ओर क्रांतिकारी आंतकवाद की ओर ले गई। उन्होंने दोनों को अपनाया, जैसा कि आधी सदी पहले क्रांतिकारी रूसी युवाओं ने किया था।

तीसरी घटना जिसने उन्हें प्रभावित किया—हालांकि आरंभ में बहुत ही अस्पष्ट रूप से—वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात श्रमिक वर्ग की लहर थी। इस नए सामाजिक तत्व का क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन के पुराने और उदीयमान नेताओं द्वारा सावधानीपूर्वक अवलोकन किया गया। वे इस नए वर्ग की क्रांतिकारी संभावनाओं को देख सकते थे और उनकी यह इच्छा थी कि वह राष्ट्रवादी क्रांति में भाग ले।[2] 1928 में जब सारे देश में हड़ताल की लहर चली तो श्रमिक वर्ग के प्रभाव को बड़ी तेजी से महसूस किया गया।[3]

रूसी क्रांति और भारी आंतरिक कठिनाइयों और शक्तिशाली बाहरी शत्रुओं के विरुद्ध स्वयं को सुदृढ़ करने में नए समाजवादी शासन की सफलता का भी युवा क्रांतिकारियों पर प्रभाव पड़ा। यह उन्हें मार्क्सवादी साहित्य और समाजवाद पर दूसरी किताबों के अध्ययन की ओर भी ले गया। पुरानी पीढ़ी के क्रांतिकारी आतंकवादियों ने 1924 के आसपास ही रूसी क्रांति पर बहस करना आरंभ कर दिया था।[4] धीरे-धीरे भारत में सोवियत संघ के संबंध में और अधिक सूचना आने लगी। लाहौर में, सोवियत संघ पर साहित्य आसानी से उपलब्ध था और लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित द्वारिका दास पुस्तकालय में बड़ी उत्सुकता से उसका अध्ययन किया जाता था।[5] इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। भगतसिंह और सुखदेव सोवियत संघ को अपने आदर्शों के निकटतम राज्य के रूप में देखने लगे।[6] सोवियत संघ को लोकप्रिय बनाने में क्रांतिकारी आंदोलन के सार्वजनिक घटक (गोपनीय घटक के प्रतिकूल) ने जो ध्यान दिया उससे भी सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव का प्रदर्शन हुआ। अगस्त 1928 में सार्वजनिक घटक, नौजवान भारत सभा ने परिवर्तनवादी कांग्रेसियों के साथ "फ्रेंड्स आफ रशा वीक" मनाया। उसी महीने में सभा ने रूसी क्रांति की प्रशंसा करने के लिए एक सभा की।[7] जेलों में बंद क्रांतिकारियों ने भी इसी प्रकार का प्रचार जारी रखा। 24 जनवरी 1930 को लाहौर षड्यंत्र मामले के कैदियों ने अदालत में 'लेनिन दिवस' मनाया और मास्को को अपनी शुभकामनाएं भेजीं।[8] इसी प्रकार नवंबर 1930 में उन्होंने क्रांति की वर्षगांठ पर सोवियत संघ को शुभकामनाएं भेजीं।[9]

आतंकवादी क्रांतिकारियों द्वारा सोवियत संघ से आर्थिक और दूसरी सहायता लेने की उत्सुकता और भारतीयों को कलाओं और तरीकों में प्रशिक्षण के लिए वहां भेजना और क्रांतिकारी प्रक्रिया का संगठन सोवियत प्रभाव का एक महत्वपूर्ण पहलू था। 1926 में जब हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के अशफ़ाक उल्ला को काकोरी षड्यंत्र केस में गिरफ्तार किया गया तब वे रूस जाने की योजना बना रहे थे।[10] 1928 में नव स्थापित हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन (आर्मी) एसोसिएशन ने विजॉय कुमार सिनहा को सोवियत संघ भेजने के लिए अपना प्रतिनिधि बनाया।[11] इसके बाद यशपाल और सुरेंद्र पांडेय को सोवियत संघ भेजने के चंद्रशेखर आजाद द्वारा किए गए प्रयास बेकार गए।[12] न केवल क्रांतिकारियों में समाजवादी विचारों का प्रयास करने में बल्कि उनमें से बहुतों को आतंकवादी विचारों से हटाने में रूसी क्रांति का प्रभाव एक प्रमुख कारण था।[13]

युवा आतंकवादी क्रांतिकारियों ने उन छोटे कम्युनिस्ट वर्गों से भी संपर्क स्थापित किए जो सारे देश में अंकुरित हो रहे थे। विशेष रूप से पंजाब में लेकिन कानपुर और इलाहाबाद में भी उन्होंने कम्युनिस्टों से निकट संपर्क कायम किए।[14] 1928 से 1930 के वर्षों के दौरान कम्युनिस्ट वर्गों और आतंकवादी क्रांतिकारियों ने नौजवान भारत सभा में एक साथ मिलकर कार्य किया।

धीरे-धीरे, क्रांतिकारी वर्ग और व्यक्ति हताशा और जड़ता की मनोवृत्ति से बाहर निकलने लगे। उनका सबको सम्मिलित करके संगठन निर्माण करने का प्रयास 1924 में हिंदुस्तान रिपब्लिकन आर्मी के गठन की ओर ले गया और "पुराने नेताओं" जैसे शचींद्रनाथ सान्याल, जोगेशचंद्र चटर्जी और रामप्रसाद बिसमिल ने उसकी अगुआई की।[15] एच.आर.ए. के कार्यक्रम और विचारधारा—जिसके भगतसिंह, शिव वर्मा, सुखदेव और आजाद जैसे युवक सदस्य थे—पुराने और नए विचारों का सम्मिश्रण थे। एक प्रगतिशील कार्यक्रम की ओर आकृष्ट होने में एच.आर.ए. ने युवा क्रांतिकारियों की सहायता की। उसने पुरानी परंपरा के साथ निरंतरता बनाए रखने में भी उनकी सहायता की।[16] इसका परिणाम एक विकसित क्रांतिकारी समाजवादी नजरिए के साथ एक क्रांतिकारी कार्यक्रम के रूप में सामने आया, जो अब भी अपने निजी अथवा घटक कार्यक्रम में आतंकवादी प्रकृति की सशस्त्र कार्यवाही के शामिल करने का प्रयत्न करता था। नया कार्यक्रम पूर्ण रूप से, उस समय स्पष्ट हुआ जब 9 और 10 सितंबर 1928 को युवा क्रांतिकारियों के घटक फिरोजशाह कोटला मैदान पर एकत्रित हुए, नए नेतृत्व का निर्माण किया और एक अंतर के साथ अपनी पार्टी को एक नया नाम—दि हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (आर्मी) दिया।[17]

III

नई पीढ़ी के आतंकवादी क्रांतिकारी विचारों और विचारधारा वाले लोग थे।[18] उनके विचार बड़ी तेजी से विकसित हो रहे थे और उनका, एक प्रकार से उनकी गतिशीलता के संदर्भ में ही अध्ययन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि विचारों के एक निश्चित समूह के किसी दूसरे आंदोलन के संबंध में होता है, सभी भागीदारों द्वारा इन विचारों को सुसंगत रूप में स्पष्ट नहीं किया गया। कुछ ने, स्वाभाविक रूप से विचारकों की भूमिका ले ली। उदाहरण के लिए भगतसिंह और भगवती चरण वोहरा की स्पष्ट रूप से यही भूमिका थी। ये दोनों व्यक्ति, अपवादस्वरूप, काफी बुद्धिमान थे और उनमें अपने विचारों को लिखित रूप में रूपांतरित करने की क्षमता थी। शिव वर्मा, विजॉय कुमार सिनहा, सुखदेव और बाद में यशपाल आंदोलन के दूसरे विचारक थे। ये व्यक्ति (यशपाल के सिवाय, जो आंदोलन में बाद में शामिल हुए) आंदोलन के उद्देश्यों में समाजवादी उद्देश्य को शामिल करने के लिए भी जिम्मेदार थे। परंतु इतनी ही महत्वपूर्ण यह बात भी है कि दूसरों ने इन विचारों पर वाद-विवाद किया, उन्हें समझा और पूरी जिम्मेदारी के साथ उन्हें स्वीकार किया। उदाहरण के लिए, चंद्रशेखर आजाद केवल सेना के एक नेता ही नहीं थे, वे दूसरों से अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों को तब तक पढ़वाते थे और उनकी व्याख्या कराते थे जब तक कि वे स्वयं उन विचारों को समझ नहीं लेते थे। वे विचारों के क्षेत्र में प्रत्येक प्रमुख मोड़ को

समझते थे और पूर्ण बहस और उससे स्वयं कायल होने के बाद ही उसका सर्मथन करते थे।[19] भगवती चरण द्वारा *'दि फिलासफी आफ बम'* का मसौदा आजाद के आग्रह पर और उनके साथ लंबी बहस के बाद लिखा गया था।[20]

विचारकों के स्तर पर, क्रांतिकारी विचारों को बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित किया गया था और उनकी स्पष्ट व्याख्या की गई थी, जैसा कि दस्तावेजों के एक सरसरे अध्ययन से, जिनका उद्धरण नीचे दिया गया है, भी प्रदर्शित होता है। युवा क्रांतिकारी अपने प्रतिपादन में स्पष्टता लाने के लिए विशेष सावधानी से काम लेते थे क्योंकि वे इस बात के प्रति पूर्णतया सचेत थे कि या तो जानबूझ कर या फिर अज्ञानता के कारण "क्रांतिकारियों का गलत ढंग से प्रतिनिधित्व किया गया है और उन्हें गलत समझा गया है।" वे चाहते थे कि लोगों के मन में "उनकी क्रांतिकारियों के रूप में" सही पहचान हो।[21] वास्तव में, उनके विचार इसलिए और कम स्पष्ट हुए क्योंकि उनकी व्याख्या पार्टी के कम शिक्षित और कम स्पष्ट सदस्यों द्वारा की गई, जैसा कि इंद्रपाल के धड़े द्वारा लिखित इश्तहारों, 'आतिशी चक्कर' के अध्ययन से स्पष्ट होता है।

IV

क्रांतिकारी आतंकवादियों ने अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की परिभाषा और विकास में सबसे अधिक प्रगति की। उन्होंने वैचारिक स्तर पर जिन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया वे ये थे—विदेशियों के विरुद्ध उनके संघर्ष के लक्ष्य क्या थे? समाज और राज्यव्यवस्था में वे किस प्रकार के परिवर्तन लाना चाहते थे? वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और शासन के ढांचे के स्थान पर किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था और शासन के ढांचे की स्थापना की जाएगी? और, विशुद्ध रूप से बौद्धिक स्तर पर, वे समाज के शोषित और दलित वर्गों के एक जन-आंदोलन के विकास और संगठन की धारणा बनाने में भी सफल हुए। एक नई सामाजिक व्यवस्था के आधार पर समाज के पुनर्निर्माण और वर्ग-भेद और वर्ग-वर्चस्व के उन्मूलन पर आधारित समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए इस आंदोलन की अगुआई क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों ने की।

निम्नलिखित खंड में अधिक विस्तार से उनके विचारों में इस विकास का खाका प्रस्तुत करेंगे। परंतु, आरंभ में इस विचार का खंडन करना आवश्यक है कि क्रांतिकारी चिंतन में सभी प्रमुख परिवर्तन उनकी कैद के दौरान और मुख्य रूप से जेल में गंभीर अध्ययन के अवसर प्राप्त होने के कारण आए। वास्तव में, भगतसिंह ने अपने बुनियादी वैचारिक प्रतिपादन अपनी कैद के प्रारंभिक दौर में किए जो कि उनके पूर्व अध्ययन और चिंतन पर आधारित थे; और उन्होंने 1929 से पूर्व के समय में इस संबंध में बहुत अधिक प्रगति की। इसके अतिरिक्त, उन्होंने दूसरे मार्क्सवादी समाजवादी और

क्रांतिकारी साहित्य के अलावा कार्ल मार्क्स की *कैपीटल* का अध्ययन भी कर लिया था। इस बात से इनकार नहीं है कि नए अनुभवों, अध्ययन और वाद-विवाद के कारण क्रांतिकारियों की सोच में निरंतर विकास हुआ। परंतु जो जेलों में थे उन्होंने जेल में रहकर और जो गिरफ्तारी से बच गए उन्होंने बाहर रह कर यह सब प्राप्त किया। उदाहरण के लिए, भगवती चरण, चंद्रशेखर आजाद और यशपाल के साथ ऐसा ही हुआ। सिद्धांत के अर्थों में क्रांतिकारी आतंकवादियों का सर्वाधिक परिपक्व लेखन *दि फिलासफी आफ बम* उन व्यक्तियों द्वारा किया गया जो किसी प्रकार गिरफ्तारी से बच गए थे।

V

भारत को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना और क्रांति द्वारा भारतीय समाज को परिवर्तित करना क्रांतिकारी आतंकवादियों की पहली मुख्य वचनबद्धता थी। 'लांग लिव रेवोलूशन', अर्थात 'इंकलाब ज़िंदाबाद' के नारे में इस वचनबद्धता को एक सार्थक अभिव्यक्ति मिली।

क्रांति के प्रति उनकी वचनबद्धता पूर्ण थी। उनके लिए, क्रांति केवल एक ऐतिहासिक घटना अथवा उत्सुकता नहीं थी। वह भारत में एक विशेष ऐतिहासिक स्थिति की मांग भी नहीं थी। वह मानवता का "एक अविभाज्य अधिकार" थी। इससे भी अधिक वह मानवी प्रगति का शाश्वत सिद्धांत थी। यदि मानव समाज को स्थिर नहीं होना था और उसे पतन के अशुभ तत्वों के अधीन नहीं होना था, तो उसे क्रांति की एक चिरस्थायी प्रक्रिया की आवश्यकता थी। इसलिए, वह मानवतावादी सिद्धांतों का सही मूर्तरूप थी। एच.एस.आर.ए. के घोषणापत्र (1929) के अनुसार :

> सत्ता और विशेषाधिकार के स्वामियों के लिए क्रांतियां हमेशा एक आतंक रही हैं। (परंतु) क्रांति एक घटना है जिसे प्रकृति प्रेम करती है और जिसके बिना प्रकृति में अथवा मानवी मामलों में कोई प्रगति नहीं हो सकती। क्रांति निराशा का एक दर्शन अथवा अपराधियों का एक विश्वास नहीं है। क्रांति भगवान विरोधी हो सकती है, परंतु निश्चित रूप से, वह मानव विरोधी नहीं है। वह एक सजीव, जीवित तत्व है जो नए और पुराने, जीवन और जीवित मृत्यु, प्रकाश और अंधकार के मध्य एक निरंतर संघर्ष की ओर संकेत करता है। क्रांति के बिना, कोई सामंजस्य, कोई सुरीलापन, कोई ताल नहीं है। यदि आकाश में से निरंतर चल रही परिक्रमा को हटा दिया जाए तो आकाशमंडल का वह संगीत जिसका कवि गुणगान करते हैं एक अवास्तविकता बन जाएगा। क्रांति कानून है, क्रांति व्यवस्था है और क्रांति सत्य है।

क्रांतिकारी अव्यवस्था और अराजकता से भयभीत नहीं थे जिनसे कि उस समय का बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग काफी भयभीत था। पुनरुद्धार से पहले विनाश का कार्य अनिवार्य था। 1925 में एच.आर.ए. द्वारा प्रकाशित *दि रिवोल्यूशनरी* ने घोषणा की थी–एक नए सितारे के जन्म के लिए "अव्यवस्था जरूरी है और जीवन के जन्म के साथ पीड़ा और दर्द भी झेलने होते हैं।" एच.एस.आर.ए. के घोषणापत्र (1929) ने इस अराजक प्रवृत्ति का पूर्ण समर्थन किया।

क्रांति का अर्थ एक संपूर्ण संघर्ष भी था–समझौतों के बिना एक संघर्ष, एक ऐसा संघर्ष जिसमें पूर्ण विजय होनी थी। *दि फिलासफी आफ दि बम* इस घोषणा के साथ समाप्त हुई : "न हम दया की याचना करते हैं और न दया करते हैं। हमारा युद्ध अंत तक है–विजय तक अथवा मृत्यु तक।"

वास्तव में, हम जिस युग पर बहस कर रहे हैं उसमें क्रांति का इस प्रकार का गुणगान और इसकी वेदी पर कुर्बान हो जाना कोई आश्चर्यजनक बातें नहीं थीं। वह सारी बातें उन्हें अपने पूर्ववर्तियों से विरासत में मिली थीं। एच.आर.ए. के नेताओं, भगतसिंह और उनके साथियों ने पहली बार क्रांति के क्षेत्र और उसकी परिभाषा को एक विस्तृत और व्यापक रूप प्रदान किया।

भगतसिंह और उनके दूसरे साथियों ने बार-बार इस बात से इनकार किया कि क्रांति की पहचान हिंसा और 'पिस्तौल और बम की पूजा' के साथ होनी थी। ये कुछ मामलों में, जब आवश्यक हो, क्रांति लाने के साधन थे।[23] अब क्रांति को केवल एक राजनीतिक कार्य के रूप में नहीं देखा जाना था। यही वजह है कि विद्रोह एक क्रांति नहीं था हालांकि वह क्रांति की ओर ले जा सकता था।[24] क्रांति की एक अधिक गहरी, अधिक व्यापक सामाजिक विषय-वस्तु थी। उसका उद्देश्य समाज का पुनुरुद्धार करना और "स्पष्ट अन्याय" पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना था।[25] क्रांति "बेहतर जीवन के लिए परिवर्तन की एक इच्छा, एक भावना" थी।[26] अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन करना लोगों की इच्छा थी।[27] भगवती चरण ने क्रांति को, इससे भी आगे, "सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक आजादी" के रूप में परिभाषित किया।[28] 6 जून 1929 के भगतसिंह और दत्त के वक्तव्य में इस अवस्था को पूर्णतया स्पष्ट किया गया :

> क्रांति से हमारा मतलब समाज की एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसे सामाजिक खराबियों और विभंगों से खतरा न हो, जिसमें सर्वहारा की प्रभुसत्ता को मान्यता दी जाएगी और जिसके परिणामस्वरूप एक विश्व संघ पूंजीवाद की गुलामी और साम्राज्यी युद्धों के कष्टों से मानवता को मुक्ति दिलाएगा।

क्रांतिकारी प्रक्रिया के इस विचार से आरंभ करते हुए, क्रांतिकारी आतंकवादी केवल अब पूर्ण राष्ट्रीय आजादी की उपलब्धि के परिदृश्य से ही संतुष्ट नहीं थे। राष्ट्रीय

आजादी को भी एक नई सामाजिक व्यावस्था के एक साधन के रूप में देखा जाना था। आरंभ में इस आकांक्षा को 1925 में एच.आर.ए. की घोषणा में अभिव्यक्ति मिली जिसमें कहा गया था कि वह "उन सभी व्यवस्थाओं को समाप्त करने का सर्मथन करती है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को संभव बनाती हैं।"[29] दिसंबर 1928 में सांडर्स की हत्या के बाद लाहौर में जो पोस्टर लगाया गया उसमें घोषणा की गई कि क्रांतिकारी "एक क्रांति के लिए कार्य कर रहे हैं जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त कर देगा।"[30] 7 अप्रैल 1929 को केंद्रीय विधान परिषद में जो लाल पर्चे फेंके गए उनमें इस उद्देश्य की पुष्टि की गई।[31] थोड़ी सी अधिक शिष्टता के साथ '*दि फिलासफी आफ बम*' ने पाठकों को "एक नए समाज की स्थापना करने के लिए आमंत्रित किया जिसमें राजनीतिक और आर्थिक शोषण एक असंभावना" बन जाएगा।

इस समानतावादी मांग के पश्चात दूसरा अगला कदम—एक समाजवादी समाज की मांग—शीघ्रता से उठाया गया। जब वे अपनी पार्टी, एच.आर.ए., को पुनर्संगठित करने के लिए 9 और 10 सितंबर 1928 को देहली में एकत्रित हुए तब समाजवाद उत्तरी भारत के क्रांतिकारी आतंकवादियों का अधिकारिक लक्ष्य बन गया। यहां भगत सिंह ने यह प्रस्ताव रखा कि पार्टी का नाम बदल कर हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (आर्मी) रख दिया जाए। उन्हें सुखदेव, विजॉय कुमार सिनहा और शिव वर्मा ने भरपूर समर्थन दिया। अंत में उनके प्रस्ताव को मान लिया गया।

नाम में परिवर्तन केवल एक संकेत ही नहीं था। उसे पूरे वाद-विवाद और बहस के बाद बदला गया था। कई भागीदारों ने इस आधार पर आपत्ति उठाई कि रामप्रसाद बिस्मिल, सचींद्रनाथ सान्याल और जोगेश चंद चटर्जी जैसे नेताओं के साथ इसके संबंध होने के कारण पुराने नाम ने काफी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है। परंतु अंत में वे इस बात से कायल हो गए कि जिस संघर्ष को वे आरंभ करने वाले थे उसके बदले हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चरित्र को स्पष्ट करने के लिए नाम में परिवर्तन जरूरी था।[32]

न ही क्रांतिकारी आंदोलन में, एक लक्ष्य के रूप में समाजवाद को शामिल करना कोई जल्दी में उठाया गया कदम था। एच.आर.ए. ने इस दिशा में पहले ही कुछ अस्पष्ट कदम उठाए थे। 3 अक्टूबर 1924 को कानपुर में एच.आर.ए. कौंसिल की मीटिंग में "सामाजिक क्रांतिकारी और कम्युनिस्ट सिद्धांतों को सिखाने"[33] का निर्णय लिया गया। एच.आर.ए. के प्रकाशन, *दि रिवोल्यूशनरी* में रेलों, यातायात और संचार के दूसरे साधनों और स्टील और जहाज-निर्माण जैसे बड़े स्तर के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखा जा चुका था। दूसरे निजी और छोटे स्तर के व्यापार उद्यमों के लिए उसने सहकारी संघों के संगठन का सुझाव दिया था।

धीरे-धीरे, अधिकाधिक क्रांतिकारी समाजवादी विचारों के प्रभाव में आए। 1924

में जोगेश चंद्र चटर्जी समाजवाद के प्रस्तावक बन चुके थे।[34] पंजाब और यू.पी. दोनों में युवा क्रांतिकारी समाजवाद में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे।[35] उनमें से बहुत से कम्युनिस्ट घटकों के संपर्क में थे।[36]

समाजवाद का लक्ष्य अस्पष्ट और पेचीदा विचारों अथवा तरुण-उतावलेपन पर आधारित नहीं था। गहन अध्ययन और वाद-विवाद के बाद उनकी यह विचारधारा तैयार हुई थी। लाहौर में, भगतसिंह ने क्रांतियों, विशेषकर रूस, आयरलैंड और इटली की क्रांतियों, पर साहित्य को हासिल करने में द्वारिकादास पुस्तकालय की मदद की। 1924-27 के वर्षों के दौरान उन्होंने स्वयं क्रांतियों पर पुस्तकों का गहराई से अध्ययन किया। उन्होंने सुखदेव और दूसरे लोगों की सहायता से कई अध्ययन मंडल संगठित किए और वहां गहन राजनीतिक बहस जारी की।[37] जे.एन. सान्याल ने, जो लाहौर षड्यंत्र केस में भगतसिंह के साथ जेल में थे, एक बुद्धिजीवी के रूप भगतसिंह का निम्नलिखित मूल्यांकन किया है :

> भगतसिंह अत्यंत बहुपठित व्यक्ति थे और उनके विशेष अध्ययन का क्षेत्र समाजवाद था... हालांकि समाजवाद उनका खास विषय था, उन्होंने रूसी क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास का—19वीं शताब्दी में उसके आरंभ से लेकर 1917 की अक्टूबर क्रांति तक—बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। आम तौर से यह विश्वास किया जाता है कि इस विशेष विषय के ज्ञान में भारत में बहुत कम लोगों से उनकी तुलना की जा सकती है। बोल्शेविक शासन के अंतर्गत रूस में किए गए आर्थिक प्रयोगों ने भी उन्हें बहुत अधिक आकृष्ट किया।[38]

भगतसिंह की समाजवादी प्रतिभा को कैदखाने में पनपने और विकसित होने का अवसर मिला। उनके बौद्धिक प्रयत्नों—उनके द्वारा जेल का एक वास्तविक विश्वविद्यालय में परिवर्तन—की कहानी का उनकी भतीजी वीरेंद्र संधु द्वारा बड़े विस्तार से वर्णन किया है।[39] भगतसिंह ने कई किताबें लिखीं, जिनमें से चार प्रमुख किताबें *आटोबायोग्राफी, दि डोर टू डेथ, दि आइडियल आफ सोशलिज्म,* और *दि रिवोल्युशनरी मूवमेंट आफ इंडिया* थीं। दुर्भाग्य से सभी की पांडुलिपियां खो गई हैं।[40] भगवती चरण और सुखदेव ने समाजवादी विचारों का बड़ी गहराई से अध्ययन किया। बाद में यशपाल इस विषय के एक गंभीर विद्यार्थी के रूप में सामने आए। उन्होंने न केवल आर. पाम दत्त की पुस्तक *मार्डन इंडिया* को पढ़ा बल्कि उसका हिंदी में अनुवाद भी किया।[41]

यह भी समान रूप से महत्वपूर्ण है कि भगतसिंह और दूसरों ने समाजवाद के सिद्धांतों में पार्टी के सदस्यों की शिक्षा को सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया। क्रांति में विज्ञान की भूमिका के प्रति वे पूर्ण रूप से सचेत थे। लाहौर उच्च न्यायालय के सामने भगतसिंह ने संकेत दिया था कि "क्रांति की तलवार चिंतन की सान पर पेनी की जाती है।"[42] जेल में उन्होंने गांधी का एक "दयावान लोकहितैषी" के रूप में वर्णन

किया था और यह संकेत दिया था कि "परोपकार की नहीं बल्कि एक गतिशील, वैज्ञानिक सामाजिक ताकत" की आवश्यकता है।[43] इसलिए, देहली कांफ्रेंस के बाद जब पार्टी के कार्यालय को आगरा ले जाया गया तब भगतसिंह ने वहां तत्काल ही एक पुस्तकालय कायम किया जिसमें अर्थशास्त्र मुख्य विषय था। यहां सदस्यों को निरंतर समाजवाद और दूसरे क्रांतिकारी विचारों का अध्ययन करने और उन पर वाद-विवाद करने के लिए प्रेरित किया जाता था।[44] भगवान दास माहौर ने, जो उस समय लगभग एक किशोर सदस्य थे, यह बताया है कि किस प्रकार भगतसिंह ने उन्हें मार्क्स की *कैपीटल* और दूसरी पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।[45]

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगतसिंह और उनके मित्र समाजवाद अथवा मार्क्सवाद के बड़े विद्वान नहीं थे, लेकिन वे केवल नौसिखिए भी नहीं थे। उन्होंने कुछ रास्ता तय कर लिया था और वे धीरे-धीरे भारतीय क्रांति की समस्याओं की वैज्ञानिक समाजवादी समझ की ओर अपने अध्ययन और चिंतन द्वारा आगे बढ़ रहे थे।[46] उदाहरण के लिए, भगतसिंह ने समझ लिया था कि एक व्यवस्था के रूप में समाजवाद एक वांछनीय व्यवस्था के लिए केवल एक व्यक्तिगत लालसा का उत्पाद नहीं है बल्कि इससे अधिक सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता का वस्तुगत उत्पाद है।[47] सुखदेव को लिखते हुए (सुखदेव अविश्वासों से उत्पीड़ित थे और जेल में भगतसिंह के साथ मृत्यु दंड की सजा के कार्यान्वयन की प्रतीक्षा कर रहे थे) भगतसिंह ने टिप्पणी की :

> यदि हम मैदान में नहीं आते तो क्या इसका यह अर्थ होता कि कोई क्रांतिकारी कार्यवाही नहीं होती? यदि आप ऐसा सोचते हैं तो आप गलत हैं। यह सच है कि हमने एक बड़ी हद तक (राजनीतिक) वातावरण को परिवर्तित करने में सहायता की। इसके साथ ही हम केवल अपने समय की जरूरत के उत्पाद भर हैं। मैं तो यह भी कहूंगा कि कम्युनिज्म का जन्मदाता, मार्क्स, वास्तव में इस विचारधारा का प्रर्वतक नहीं था। यह यूरोप में औद्योगिक क्रांति ही थी जिसने एक विशेष प्रकार के चिंतन के बहुत से व्यक्तियों को जन्म दिया। मार्क्स केवल उन व्यक्तियों में से एक था। अपनी स्थिति में मार्क्स ने निस्संदेह अपने समय के आंदोलन को एक विशेष गति प्रदान करने में सहायता की। मैंने या आपने इस देश में समाजवादी अथवा कम्युनिस्ट विचारों को उत्पन्न नहीं किया है। दूसरी ओर, वे हम पर हमारे समय और परिस्थितियों के प्रभाव का परिणाम हैं। इसमें संदेह नहीं है कि हमने एक सरल और विनम्र तरीके से इन विचारों के प्रचार में अपना योगदान दिया है।[48]

समाजवादी समाज का निर्माण किस प्रकार होता है और इस निर्माण में किन बिंदुओं को छोड़ना चाहिए—यह ठोस समझ उनकी समाजवादी समझ की सीमा को स्पष्ट करती

है। वास्तव में इसी प्रश्न पर एच.आर.ए. को एच.एस.आर.ए. में परिवर्तित किया गया था। जबकि एच.आर.ए. ने संयुक्त राष्ट्र के संघीय गणतंत्र की स्थापना को अपना तात्कालिक उद्देश्य बनाया था, जिसका मूल सिद्धांत बालिग मताधिकार होना था[49] एच. एस.आर.ए. ने, जैसा कि उस के नाम से स्पष्ट होता है, समाजवादी गणतंत्र की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया।

VI

एच.एस.आर.ए. के नेतृत्व ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि समाजवाद ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक उत्पाद था और इसलिए, एक व्यवस्था के रूप में वह पूंजीवाद का विरोधी था। इसलिए, पूंजीवाद की समाप्ति समाजवादी व्यवस्था की पहली उपलब्धि होगी। 6 जून 1929 के अपने वक्तव्यों में और इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के सामने अपने बयानों में भगतसिंह और दत्त ने इसे स्पष्ट कर दिया था। इस संबंध में '*दि फिलासफी आफ दि बम*' समान रूप से निश्चयात्मक थी। इसने घोषणा की थी : "क्रांति पूंजीवाद के लिए मौत की घंटी बजा देगी।"

यह स्वीकार किया गया कि समाजवाद समाज में वर्ग-तत्वों के एक नए सहसंबंध का प्रतिनिधित्व करेगा। संपूर्ण समाजवादी विचारधारा को समाज के वर्ग विश्लेषण पर आधारित किया गया था। समाजवाद, समाज में अब तक के शोषित वर्गों, श्रमिकों और काश्तकारों की मुक्ति और अर्थव्यवस्था, समाज और राज्यव्यवस्था में उनके वर्चस्व पर आधारित होगा।[50] भगतसिंह और दत्त द्वारा दिया गया 6 जून का वक्तव्य इस दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करता है। यह संकेत करने के पश्चात कि उनके सिद्धांत की क्रांति "प्रत्यक्ष अन्याय पर आधारित वर्तमान व्यवस्था" को बदल देगी, उनके वक्तव्य में आगे कहा गया :

> उत्पादकों और श्रमिकों को समाज का अत्याधिक आवश्यक तत्व होने के बावजूद उनकी मेहनत का फल खाने वाले शोषकों द्वारा लूट लिया जाता है और उन्हें उनके बुनियादी अधिकारों से वंचित रखा जाता है। एक ओर, काश्तकार जो सबके लिए अनाज पैदा करता है अपने परिवार के साथ भूखा मरता है। वह बुनकर जो संसार के बाजारों में बुने हुए वस्त्र भेजता है अपने और अपने बच्चों का बड़ी कठिनाई से तन ढक सकता है। राज मिस्त्री, लोहार और बढ़ई, जो शानदार महलों का निर्माण करते हैं गंदी गलियों में जीवित रहते हैं और मर जाते हैं, और दूसरी ओर, पूंजीवादी शोषक, समाज के परजीवी अपनी सनक पर लाखों उड़ा देते हैं ... इसलिए, आमूलचूल परिवर्तन अनिवार्य है और जो लोग इसे महसूस करते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे एक समाजवादी आधार पर समाज को पुनर्संगठित करें।[51]

शोषण और वर्ग हितों के अतिरिक्त एच.एस.आर.ए. के नेताओं ने इस ठोस प्रश्न को भी उठाया कि राज्य-सत्ता पर किसका नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने कहा कि समाजवाद राज्य के एक नए ढांचे का प्रतिनिधित्व भी करता है जिसमें सत्ता श्रमिकों और काश्तकारों के हाथों में होती है।[52] इसके साथ ही, समाजवाद तब तक स्थापित नहीं किया जा सकता जब तक कि शोषक वर्गों के नियंत्रण में कार्य कर रहे राज्य के वर्तमान औजारों पर समाजवादी क्रांतिकारी तत्वों द्वारा कब्जा नहीं कर लिया जाता। अक्टूबर 1930 में जेल से भेजे गए एक संदेश में भगतसिंह ने कहा :

> क्रांति से हमारा मतलब वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकना है। इसके लिए राज्य-सत्ता पर कब्जा करना अनिवार्य है। राज्य के औजारों पर इस समय विशेषाधिकार वाले वर्ग का कब्जा है। जनता के हितों की सुरक्षा, वास्तविकता में हमारे आदर्श का रूपांतरण, अर्थात, कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों के अनुसार समाज की बुनियाद डालना, इन औजारों पर हमारे कब्जे की मांग करते हैं।

समाजवाद के अंतर्गत राज्य का स्वरूप क्या होना था? यहां क्रांतिकारियों ने "सर्वहारा की तानाशाही" के सिद्धांत को स्वीकृति दी थी। '*फिलासफी आफ दि बम*' में घोषणा की : क्रांति "सर्वहारा की तानाशाही को स्थापित करेगी और राजनीतिक सत्ता की कुर्सी से समाज के परजीवियों को सदा के लिए निष्कासित कर देगी।"[53]अदालती सुनवाई के दौरान भगतसिंह और उनके साथी कैदियों ने इस धारणा को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयास किया कि उनके सिद्धांत की क्रांति और श्रमिक वर्ग के भाग्य और उसके नेतृत्व के कार्य में निकट संबंध है। 13 जून 1929 को भगतसिंह और बी.के. दत्त ने असेंबली बम कांड के निर्णय का "इंकलाब जिंदाबाद" और "सर्वहारा जिंदाबाद" के नारों से स्वागत किया। लाहौर षड्यंत्र केस की सुनवाई के दौरान सभी कैदी अदालत में आने के बाद तीन नारे लगाया करते थे : "इंकलाब जिंदाबाद", "सर्वहारा जिंदाबाद" और "साम्राज्यवाद मुर्दाबाद, मुर्दाबाद।"[55]

VII

बढ़ती हुई समाजवादी जागरूकता ने क्रांतिकारी आतंकवादियों को निरंतर पूंजीवाद के साथ साम्राज्यवाद को जोड़ने में भी सहायता की। उनकी साम्राज्यवाद और विदेशी शासन की समझ भावनात्मक राष्ट्रवाद से भी आगे निकल गई। वे पूंजीवाद और आधुनिक साम्राज्यवाद, पूंजीवादी आर्थिक शोषण और राष्ट्रों की गुलामी के मध्य निकट संबंध देखने लगे।[56]

भारत के अंदर, विदेशी शासन को वर्ग शासन के एक रूप अथवा विदेशी पूंजीपतियों के शासन के रूप में देखा गया।[57] तब समाजवाद को एक निश्चित उपचार

के रूप में देखा गया जो वर्ग शासन और आर्थिक शोषण को समाप्त करके सच्ची आजादी लाएगा।[58] इस युग की सभी क्रांतिकारी आतंकवादी दस्तावेजों में यह समझ व्याप्त है और उन नारों में भी अंर्तनिहित थी जहां स्वतंत्रता मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की समाप्ति के साथ जुड़ी हुई थी। उदाहरण के लिए, एच.एस.आर.ए. के घोषणापत्र में कहा गया : "इसलिए, अब सर्वहारा की आशा समाजवाद पर केंद्रित है, जो अकेला संपूर्ण आजादी की स्थापना और सभी सामाजिक भेदों और विशेष अधिकारों की समाप्ति की ओर ले जा सकता है।"

एक बार जब समाजवादी दृष्टिकोण ने उन्हें संपूर्ण समाज, जिसमें भारतीय समाज भी सम्मिलित था, के वर्ग-आधारित चरित्र को समझने में समर्थ बना दिया, तब क्रांतिकारी आतंकवादियों ने स्वयं को स्थानीय शोषक वर्गों के विरुद्ध भी व्यवस्थित कर लिया। जिस शक्तिशाली ढंग से वे विदेशी पूंजी के शासन की भर्त्सना करते थे उसी ढंग से उन्होंने भारतीय पूंजीपतियों और जमींदारों के वर्चस्व की भी निंदा की और यह घोषणा की कि क्रांति का उद्देश्य दोनों को समाप्त करना है। एच.एस.आर. ए. के घोषणापत्र के अनुसार :

> आज भारत के सर्वहारा की स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। उसे दो प्रकार के खतरे का सामना करना है। उसे एक ओर तो विदेशी पूंजीवाद और दूसरी ओर भारतीय पूंजी के कपटपूर्ण आक्रमण को झेलना है : भारतीय पूंजी विदेशी पूंजीवाद के साथ मिल जाने की एक प्रगतिवादी प्रवृत्ति का प्रर्दशन कर रही है।

भगतसिंह ने जेल से एक संदेश में लिखा, "किसानों को अपने आप को न केवल विदेशी बोझ से बल्कि जमींदारों और पूंजीपतियों के बोझ से भी मुक्त करना है।"[59] उनका 3 मार्च 1931 का संदेश भी और अधिक स्पष्ट था : भारत में संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक कि "मुट्ठीभर शोषक अपने हितों के लिए सामान्य व्यक्तियों की मेहनत का शोषण क़रते रहेंगे। इसका महत्व बहुत कम है कि ये शोषक, विशुद्ध रूप से ब्रिटिश पूंजीपति हैं अथवा ब्रिटिश और भारतीय भागीदार हैं; अथवा विशुद्ध भारतीय हैं।"[60]

यहां इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि क्रांतिकारी आतंकवादियों ने भारतीय समाज का कोई विस्तृत वर्ग विश्लेषण नहीं किया। ग्रामीण समाज का ठोस विश्लेषण नहीं किया गया; भारतीय पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के साथ उसके पेचीदा संबंध पर कोई बहस नहीं की गई। वे भूस्वामियों, जमींदारों और साहूकारों और औद्योगिक पूंजीपतियों में भी स्पष्ट भेद करने में असफल रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके लिए पूंजीवाद ही आर्थिक शोषण का मूर्तरूप एवं प्रतीक दोनों था। हालांकि, समाज के प्रति वर्ग-दृष्टिकोण पर उनकी गहरी पकड़, समाजवाद के प्रति उनकी वचनबद्धता, उनका साम्राज्यवाद विरोध, और उनके द्वारा श्रमिक वर्ग की महत्वपूर्ण

एवं प्रमुख भूमिका की पहचान स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसलिए, यह आकस्मिक नहीं था कि एक बार जब उनका आंदोलन चरमांत पर पहुंच गया तो क्रांतिकारी आतंकवादियों की एक बड़ी संख्या मार्क्सवाद और कम्युनिज्म की ओर मुड़ गई।[61]

VIII

व्यावहारिक क्रांतिकारियों के रूप में, एच.एस.आर.ए. के नेताओं ने इस प्रश्न पर भी विचार किया : क्रांति के लिए कौन लड़ेगा अर्थात उसे कौन लाएगा, अर्थात, दूसरे शब्दों में, उनके आंदोलन का सामाजिक आधार क्या होना था? क्रांति के सामाजिक आधार के प्रश्न पर एच.एस.आर.ए. का नेतृत्व कार्यक्रमात्मक अथवा सैद्धांतिक स्तर पर बहुत स्पष्ट था। उनके आंदोलन को सामान्य व्यक्तियों, श्रमिकों और काश्तकारों, युवाओं और परिवर्तनवादी बुद्धिजीवियों पर आधारित होना था। इस प्रश्न पर *'दि फिलासफी आफ दि बम'* स्पष्ट थी : अपील में "युवाओं, श्रमिकों और काश्तकारों और क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों को संबोधित किया गया था।" इस बिंदु पर नौजवान भारत सभा (1928) का घोषणापत्र भी स्पष्ट था : "देश को तैयार करने का भविष्य का कार्यक्रम 'जनता द्वारा जनता के लिए क्रांति' के उद्देश्य के साथ आरंभ होगा।"[62] सभा के प्रमुख उद्देश्यों में से एक, जैसा कि उसके नियमों और अधिनियमों में कहा गया था, श्रमिकों और काश्तकारों का संगठन था।[63] ग्रामीण क्षेत्रों में काम के महत्व पर बल देने के लिए सभा ने गांवों में अपनी शाखाएं खोलने का भी निर्णय किया।[64] जनवरी 1930 में एच.एस.आर.ए. की केंद्रीय कार्यकारिणी की कानपुर सभा ने, जिसमें दूसरे लोगों के साथ चंद्रशेखर आजाद, भगवती चरण वोहरा, यशपाल और कैलाशपति ने भी भाग लिया था, विद्यार्थियों, श्रमिकों और काश्तकारों के बीच तेजी से कार्य करने और इस उद्देश्य के लिए पार्टी संगठन में एक पृथक विभाग बनाने का निर्णय लिया, जिसमें सेठ दामोदर दास और भगवती चरण को क्रमशः अध्यक्ष और सचिव होना था।[65] इसी प्रकार 1931 में, भगतसिंह ने घोषित किया, "हमारा मुख्य उद्देश्य काश्तकारों और श्रमिकों का संगठन होना चाहिए।"[66]

एक दूसरे कोण से भी संघर्ष में आम जनता की भूमिका पर बल दिया गया। एच.एस.आर.ए. के नेताओं को यह विश्वास हो गया था कि पूंजीपति और उच्च वर्ग विदेशी ताकत के साथ जुड़ने की प्रवृत्ति दिखा रहे हैं और ऐसी संभावना थी कि वे बीच में ही आजादी के संघर्ष को छोड़ देंगे।[67] तब केवल सामान्य व्यक्तियों पर ही भरोसा किया जा सकता था और केवल उनके पास ही आजादी के संघर्ष को आगे जारी रखने की ताकत थी। जैसा कि भगतसिंह ने कहा : "राष्ट्र केवल संगठित श्रमिकों, किसानों और सामान्य व्यक्तियों की ताकत पर ही एक सफल संघर्ष चला सकता है।"[68] काश्तकारों, श्रमिकों के मध्य क्रांतिकारी कार्य पर बल और उनकी

क्रांतिकारी संभावनाओं की पहचान क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन में कोई नई बातें नहीं थीं, हालांकि उनके क्रांति के सामाजिक आधार होने पर बल देना एक नई बात थी। इसके पहले, 1924 में एच.आर.ए. ने भी "श्रमिक और काश्तकार संगठनों को आंरभ करने का निर्णय लिया था जिनमें विभिन्न कारखानों, रेल विभाग और कोयला क्षेत्रों में एसोसिएशन की ओर से श्रमिकों को संगठित और नियंत्रित करने के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की सेवाएं ली जानी चाहिए।"[69]

फिर भी, यह सब सिद्धांत में अथवा कार्यक्रमात्मक स्तर पर ही था। व्यवहार में, सामान्य व्यक्तियों को संगठित करने अथवा उनके मध्य बुनियादी राजनीतिक कार्य करने का बहुत कम प्रयास किया गया। 1928 में नौजवान भारत सभा ने एक या दो भू-स्वामित्व संबंधी आंदोलनों में भाग लिया और काश्तकारों को अपने आपको संगठित करने के लिए कुछ निर्देश भी जारी किए।[70] सभा की केवल मोरिंडा, अंबाला में एक शाखा थी और जारनवाला और तालागोंग में दो तहसील शाखाएं थीं, और ये सब निष्क्रिय थीं।[71] सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, सभा की गतिविधियां शहरों और उनके मध्यम और उच्च वर्ग के क्षेत्रों तक सीमित थीं।[72] इसी प्रकार, अजय घोष और कुछ दूसरे व्यक्तियों ने, संभवतः कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के प्रभाव में आकर कानपुर में मजदूरों के साथ काम किया।[73] देहली षड्यंत्र केस के इकबाली गवाह और इससे पूर्व एच.एस.आर.ए. की केंद्रीय समिति के एक सदस्य कैलाशपति ने अपनी गवाही में कहा कि जबकि जनवरी 1931 में समिति ने श्रमिकों, काश्तकारों और विद्यार्थियों के बीच तेजी से कार्य करने का निर्णय लिया था, किसी को भी काश्तकारों के बीच कार्य करने की जिम्मेदारी नहीं सौंपी गई।[74]

यथार्थ में एच.एस.आर.ए. सामान्य व्यक्तियों के बीच किसी प्रकार का राजनीतिक कार्य करने में असफल रही। उनके साथ इसका मुश्किल से ही कोई संबंध अथवा संपर्क था। उनकी वर्ग-शक्ति को संगठित करने और वर्ग संघर्षों में उनका नेतृत्व करने की तो बात ही अलग है। उन वर्गों से तो करीब-करीब कटी हुई ही थी जिन्हें उसने अपने कार्यक्रम में क्रांतिकारी आंदोलन का सामाजिक आधार माना था। यह एच.एस.आर.ए. की सबसे महत्वपूर्ण कमजोरियों में से एक थी।

सच्चाई यह थी कि एच.एस.आर.ए. की मुख्य अपील परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी युवकों से थी। सिद्धांत में युवकों को एक दोहरी भूमिका निभानी थी। उन्हें श्रमिकों और काश्तकारों के लिए क्रांतिकारी समाजवादी संदेश के वाहक के रूप में कार्य करना था,[75] और उन्हें क्रांति के लिए सीधी लड़ाई भी लड़नी थी। व्यवहार में एच.एस.आर.ए. के नेतृत्व ने राजनीतिक कार्य के लिए अपना लगभग पूरा भरोसा युवकों पर किया : युवाओं के क्रांति का अगुआ होना था। श्रमिकों और काश्तकारों की व्यापक भागीदारी और नेतृत्व भी लक्ष्य बना रहा, लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं हो सका क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि श्रमिक और काश्तकार अभी तक 'निष्क्रिय,' 'गूंगे'

और 'बेजुबान' हैं।[76] इसलिए, युवकों को क्रांति का वास्तविक निर्माता होना चाहिए, उन्हें जनता की ओर से कार्य करना चाहिए और अपने कार्य और बलिदान द्वारा उसे जगाना चाहिए।[77]

जब क्रांतिकारी आतंकवादी अपने वास्तविक और निकटतम श्रोताओं से किसी बात पर विचार करने की प्रार्थना करते थे तो वह अत्यंत भावात्मक होती थी। *'दि फिलासफी आफ दि बम'* के अनुसार : "युवाओं की बेचैनी में मानसिक दासता से मुक्त होने और धार्मिक अंधविश्वास से, जो उन्हें जकड़े हुए हैं, छुटकारा पाने में क्रांतिकारी पहले ही क्रांति का आगमन देखते हैं।"1929 में 'दि मैनीफेस्टो आफ दि एच.एस.आर.ए.' में युवकों से अपील करते हुए उनके ऐतिहासिक लक्ष्य को रेखांकित किया गया जो कि अपने मनोभाव, काव्यात्मकता और युवाओं के आदर्शवाद पर बल की वजह से चीन में चार मई के आंदोलन के प्रवर्तकों की अपीलों की याद दिलाती है। अपील में से निम्नलिखित लेखांश यह संकेत करता है कि क्रांतिकारी आतंकवादी किस प्रकार की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करते थे और जिस पर अपनी बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने में वे स्वयं विश्वास करते थे :

> भारत का भविष्य युवकों के हाथों में है। वे धरती के लवण हैं। कष्ट झेलने में उनकी पहल, उनका साहस और उनकी अद्‌भुत कुर्बानी साबित करती हैं कि उनके हाथों में भारत का भविष्य पूर्ण रूप से सुरक्षित है... युवाओ—भारतीय गणतंत्र के सिपाहियो, सावधान हो जाओ! आराम मत करो, अपने पैरों को कांपने मत दो ... तुम्हारा उद्देश्य महान है। देश के प्रत्येक कोने में जाओ और भविष्य की क्रांति का आधार तैयार करो, जो अवश्य आएगी ... खाली मत बैठो .... खड़े हो! ... अपने साथी भारतीय युवकों के उपजाऊ मन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध नफरत का बीज बो दो। और जब यह बीज अंकुरित हो जाएंगे तब शक्तिशाली वृक्षों का एक जंगल विकसित होगा, क्योंकि तुम इन बीजों को अपने खून से सींचोगे।[78]

व्यावहारिकता में, सभी प्रकार की क्रांतिकारी आतंकवादी सार्वजनिक गतिविधियों, उनके सारे प्रचार, जिसमें "मृत्यु द्वारा प्रचार" भी सम्मिलित था, का लक्ष्य युवक ही थे। आंदोलन को सामाजिक आधार निम्न मध्यम वर्ग के युवक ही थे। एच.एस.आर.ए. के लगभग सभी सदस्यों को समाज के इसी वर्ग से भर्ती किया गया था।[79]

युवाओं पर बल देने का एक कारण यह समझ थी कि क्रांतिकारियों की वर्तमान पीढ़ी का काम क्रांति लाना नहीं बल्कि उसकी तैयारी करना था। भगतसिंह अपने आप को क्रांति के एक उद्‌घोषक के रूप में देखते थे। क्रांति तब ही आरंभ की जाएगी जब समाजवाद और क्रांति के विचार लोकप्रिय हो जाएंगे। तब जनसाधारण क्रांति ले आएंगे। केवल युवकों के पास ही बुद्धि, संवेदनशीलता, घरेलू चिंताओं से

आजादी और क्रांति के कार्य को पूरा करने के लिए बलिदान और वीरता की भावना है। इसी वजह से क्रांति की तैयारी के चरण में युवकों को इतनी प्रमुखता दी जा रही है।

एक दूसरे कारण ने भी क्रांतिकारी आतंकवादियों को युवकों पर भरोसा करने के लिए प्रेरित किया। उनका विश्वास था कि प्रचार का सबसे महत्वपूर्ण रूप "कार्य द्वारा प्रचार" या आतंकवादी और दूसरी वीरतापूर्ण कार्यवाही द्वारा था। उनके कार्यों से क्रांति तो नहीं आती थी, लेकिन उसकी तैयारी के लिए इस प्रकार के कार्यों की अत्याधिक आवश्यकता थी। इसलिए उन्हें एक द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध का सामना करना पड़ा। क्रांति से पहले भी, जिसे जनसाधारण लाएंगे, क्रांतिकारी कार्यों को पूरा करने के लिए व्यक्तियों की आवश्यकता थी। दूसरे शब्दों में जनसाधारण की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को जगाने के लिए क्रांतिकारी चेतना और अपने जीवन का बलिदान करने की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता थी। इस कार्य को निम्न मध्यम वर्ग के युवकों ने किया।[80] परंतु क्रांतिकारी चेतना आरंभ से ही विशुद्ध रूप से राष्ट्रवादी थी और इसलिए, इन युवकों को मुख्य रूप से राष्ट्रवादी कार्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता था। यह दूसरा अंतर्विरोध था जिसका एच.एस.आर.ए. के नेताओं को सामना करना पड़ा। सिद्धांत में वे (युवक) पूर्ण रूप से समाजवाद के प्रति वचनबद्ध हो चुके थे, व्यवहार में वे राष्ट्रवाद से आगे नहीं जा सकते थे।

IX

क्रांतिकारी आतंकवादी कभी भी राजनीतिक रूप से "उड़ान भरने" में सफल नहीं हुए। वे, जैसा कि उन्होंने स्वयं देखा, पहले प्रारंभिक चरण में ही अटके रह गए। उन्हें एक खास विचारधारा और राजनीतिक व्यक्तित्व से रहित नायकों के रूप में लोकप्रियता तो मिली, परंतु वे अपनी पार्टी के लिए जनसाधारण का समर्थन जुटाने में असफल रहे। निरंतर और घोर दरिद्रता, जो उन्हें घेरे रही, इस बात को साबित करती है। न ही वे एक भी सामूहिक क्रांतिकारी कार्यवाही करने और सरकार के विरुद्ध कोई सशस्त्र कार्यवाही करने में सफल हुए। इस प्रकार, उनके थोड़े से सफल व्यक्तिगत राजनीतिक और आतंकवादी कार्य मानो हवा में लटके रह गए और उनके कार्यक्रम के अर्थों में, वे असफल रहे। वास्तव में, वे स्वयं इस प्रकार के कार्यों को लोगों को क्रांति के रास्ते पर ले जाने और सामूहिक विद्रोह और सशस्त्र संघर्ष के लिए व्यापक समर्थन और सदस्यता जुटाने के साधनों के रूप में देखते थे। सच यह है कि वे जन साधन के साथ संपर्क स्थापित करने के रास्तों और साधनों को भी नहीं पा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी कार्यवाही ने उनकी पंक्तियों को काफी बड़ी क्षति पहुंचाई और वे दोबारा इन पंक्तियों को भरने में असफल रहे। 1930 के

दौरान कोई भी "नाटकीय कार्यवाही" संगठित नहीं की जा सकी। चंद्रशेखर आजाद द्वारा सावधानीपूर्वक बनाई गई सारी योजनाएं बेकार गईं। आंतरिक तू-तू मैं-मैं ने बहादुरों की इस टोली में विभाजन कर दिया। हिंदी समाचारपत्रों में अब भी इन गहरे मतभेदों की गूंज सुनाई देती है। पार्टी को समाप्त करना पड़ा और वह शीघ्र ही छोटे, तेजी से लुप्त होते हुए वर्गों में बिखर गई। साहसी चंद्रशेखर आजाद भी, जिन्होंने बड़े जीवट के साथ भाग्य के झटकों को बार-बार सहा था, आशा छोड़ने लगे, हालांकि वे अंत तक 'कार्यवाहियों' की योजना बनाते रहे। फरवरी 1931 में उनकी मृत्यु के साथ ही उत्तरी भारत में क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन लगभग समाप्त हो गया।

एच.एस.आर.ए. अपने दूसरे राजनीतिक उद्देश्यों में भी असफल हुई। वह राष्ट्रीय आंदोलन के शक्तिशाली गांधीवादी नेतृत्व के विरोध और प्रतिक्रिया के रूप में वजूद में आई थी। अपने वजूद के अल्प समय में उसने इस नेतृत्व और इसकी विचारधारा का सीधा मुकाबला किया। "कार्य द्वारा प्रचार" के उनके कार्यक्रम के उद्देश्यों में से एक, जनसाधारण और युवकों को गांधीवाद से हटा कर अपनी ओर आकृष्ट करना था। वे वास्तव में गांधी के गैर-क्रांतिकारी समझौतेवादी नेतृत्व के विरोध में क्रांतिकारी होने का दावा करते थे। फिर भी 1929, 1930 और 1931 में अपनी अत्याधिक लोकप्रियता के बावजूद वे गांधी के मुकाबले में एक वैकल्पिक नेतृत्व प्रदान करने में असफल रहे। वास्तव में, वे राष्ट्रीय आंदोलन पर क्रांतिकारी समाजवादी वर्चस्व स्थापित करने और उसे एक क्रांतिकारी मोड़ देने के अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहे। कुल मिला कर राष्ट्रीय आंदोलन गांधीवादी खांचे में अटका रहा।

समाजवाद के विचार को लोकप्रिय बनाना और राष्ट्रवादी युवकों की पंक्तियों में समाजवादी जागरूकता का प्रचार करना एच.एस.आर.ए. के उद्देश्यों में से एक था। ऐसा नहीं लगता था कि एच.एस.आर.ए. को इसमें अधिक सफलता मिली। उनके प्रशंसकों की अधिकांश संख्या समाजवादी विचारधारा के प्रति उनकी वचनबद्धता की गहराई से अनभिज्ञ रही। ऐसा, वास्तव में आंशिक रूप से सरकार द्वारा उनके सभी प्रकार के लेखन का दमन करने के कारण हुआ। उनके पास लाहौर में नौजवान भारत सभा, '*दि फिलासफी आफ दि बम*' के उनके अपने भूमिगत वितरण (जो केवल एक बार 26 जनवरी 1930 को हुआ) और कभी-कभी *दि ट्रिब्यून* और दूसरे समाचारपत्रों में प्रकाशित उनके संदेशों के सिवाय (जिनके द्वारा उनके विचारों का प्रसार किया जा सकता था) कोई दूसरा साधन नहीं था। केवल पंजाब में ही, किसी हद तक एच. एस.आर.ए. और नौजवान भारत सभा समाजवादी विचारों के संवाहक बन सके। उनके विचार और उन विचारों के पीछे उनकी बलिदान करने की प्रतिष्ठा बाद के वर्षों में एक क्रांतिकारी समाजवादी चेतना के प्रसार में संभवतः शक्तिशाली औजार बन सकते थे, यदि कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियों ने उनका सही प्रयोग किया होता। परंतु कुछ अजीब कारणों से ये पार्टियां ऐसा करने में असफल रहीं।

क्रांतिकारी आतंकवादियों का तात्कालिक उद्देश्य देश में क्रांतिकारी चेतना का प्रसार करना था। फांसी पर चढ़ने से कुछ देर पहले भगतसिंह ने शिव वर्मा से कहा था, "क्रांतिकारी पार्टी से जुड़ने के समय मैंने सोचा था कि यदि देश के प्रत्येक कोने में 'इंकलाब जिंदाबाद' के नारे को फैला दूंगा तो मुझे अपने जीवन की पूरी कीमत मिल जाएगी ... मेरे विचार में किसी के जीवन की इससे बड़ी कीमत नहीं हो सकती।"[81] और, इसमें कोई संदेह नहीं है कि भगतसिंह की यह इच्छा पूर्ण हुई। लेकिन इस नारे की सार्वभौमिक स्वीकृति और क्रांतिकारी आतंकवादियों के संघर्षों और आत्म-बलिदानों के कारण उन्हें मिली प्रशंसा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने राष्ट्रवादी चेतना को एक क्रांतिकारी मोड़ दिया। इसमें संदेह नहीं है कि देश में वामपंथी आंदोलन और काश्तकारों और मजदूरों के संगठनों और आंदोलनों को इस नारे को एक 'युद्ध की घोषणा' बनाना था। परंतु, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है यह नारा शीघ्र ही केवल स्वतंत्रता प्राप्ति की राष्ट्रवादी इच्छा का प्रतीक बन गया।

साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को जगाने में क्रांतिकारी आतंकवादियों को बड़ी सफलता मिली। केवल राष्ट्रवाद के उद्देश्य के लिए वे देश को जगाने और अपने देशवासियों के प्रेम और सम्मान को जीतने में सफल हुए। यह कोई कम सफलता नहीं थी परंतु उनकी सफलता का फल पारंपरिक कांग्रेसी नेतृत्व को मिला जिसकी उन्होंने बुर्जुआवादी और मध्यम वर्ग के रूप में भर्त्सना की थी और जिसका स्थान लेने की वे आशा करते थे और जो वास्तव में सक्रियता से साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की अगुआई कर रहा था। दूसरे शब्दों में उन्हें बड़ी और असली सफलता एक दूसरे क्षेत्र में मिली, और इसके परिणाम उन परिणामों से बहुत अलग थे जिनकी उन्हों ने आशा की थी। यह एक दिलचस्प ऐतिहासिक विरोधाभास की ओर ले गया। जबकि लगभग 90 प्रतिशत क्रांतिकारी आतंकवादी बाद में मार्क्सवाद अथवा कम्युनिज्म के प्रति वफादार हो गए। उनके अपने साहसिक कार्य और नारे गांधीवादी नेतृत्व के प्रति समर्पित वामपंथ की ओर झुकाव रखने वाले कांग्रेसियों की विरासत बन गए।

मूल रूप से उनकी असफलता को उनकी विचारधारा और उनके काम के मध्य अंतर्विरोधों की एक श्रृंखला में व्यक्त किया जा सकता है। जबकि सिद्धांत में वे समाजवाद के प्रति वचनबद्ध थे, व्यवहार में वे राष्ट्रवाद से आगे नहीं जा सके। सिद्धांत में वे सामूहिक कार्यवाही और सशस्त्र संघर्ष चाहते थे परंतु व्यवहार में वे आतंकवादी अथवा व्यक्तिगत कार्यवाही से ऊपर नहीं उठ सके। जबकि सिद्धांत में वे अपने आंदोलन को जनसाधारण काश्तकारों और मजदूरों पर आधारित करना चाहते थे—व्यवहार में वे केवल शहरी निम्न मध्यम वर्ग और तुच्छ बुर्जुआ युवकों को ही प्रेरित कर सके। जबकि सिद्धांत में वे एक जनआंदोलन का निर्माण और नेतृत्व करना चाहते थे, व्यवहार में वे साहसी युवकों की एक छोटी टोली बने रहे। जबकि सिद्धांत

में उनके छोटे संगठन को एक कक्ष के रूप में कार्य करना था जिसके चारों ओर देश के विद्रोही क्रांतिकारी तत्वों को एकत्रित होना था, व्यवहार में उन्हें मूल घटक की एकता को कायम रखना भी कठिन और अंत में असंभव हो गया।

उनकी असफलता के दूसरे दो पहलुओं पर भी विचार किया जा सकता है। उन्हें असफलता केवल उनके सिद्धांत और व्यवहार में सामंजस्य न बिठाने के कारण ही नहीं हुई, इसका एक कारण यह भी था कि वे सैद्धांतिक और कार्यक्रमात्मक स्तर पर राष्ट्रवाद और समाजवाद का एकीकरण नहीं कर सके। अपने कार्यक्रम में वे एक ही प्रयास में राष्ट्रवादी और समाजवादी दोनों क्रांतियां लाने की आशा करते थे। चूंकि ऐतिहासिक परिस्थितियां, स्पष्ट रूप से, इस प्रकार के सहयोजन के अनुकूल नहीं थीं, व्यावहारिकता में इसका अर्थ समाजवादी चेतना और राष्ट्रवादी चेतना को दो अलग-अलग खानों में रखना था जिसके परिणामस्वरूप या तो पहली को दूसरी के अधीन होना पड़ता या फिर इसको दूसरी से अलग करना पड़ता। इस अंतर्विरोध ने एक दूसरा रूप धारण किया। जबकि एच.एस.आर.ए. का नेतृत्व समाजवादी विचारों को स्वीकार करने और उनको समझने में बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था, उसके सामान्य कार्यकर्ता सिद्धांत के प्रति उदासीन रहे और उन्होंने लगभग पूर्ण रूप से क्रांतिकारी राष्ट्रवादी चेतना के स्तर पर कार्य किया।[82]

जहां एक क्रांतिकारी स्थिति होती है, जहां एक छोटे से स्तर पर भी क्रांति की शुरुआत राजनीतिक जड़ता से निकलने का अकेला रास्ता नजर आती है, जहां प्रचार और संगठन के लिए समय और सुविधाएं (कानूनी परिस्थितियां) नहीं होतीं और जहां, इनके साथ-साथ या तो राजनीतिक पिछड़ेपन, सरकारी दमन या गैर-क्रांतिकारी राजनीतिक प्रभाव के तहत लंबी गुलामी के कारण जन साधारण में राजनीतिक चेतना और कार्यकर्ता मौजूद नहीं होते वहां मध्यम और निम्न मध्यम वर्गों के परिवर्तनवादी युवाओं पर भरोसा करना और जन-क्रांति की बात करना सभी राजनीतिक परिस्थितियों, कार्यक्रम और पार्टियों का एक ऐतिहासिक धर्मसंकट प्रतीत होता है। स्थिति में तेजी से परिवर्तन लाने का प्रयत्न न करने और अपनी गतिविधि को सामूहिक संगठन, सामूहिक विद्रोह अथवा सशस्त्र कार्यवाही से न जोड़ने में एच.एस.आर.ए. के नेतृत्व ने गलती की। वे एक छोटे स्तर पर भी, सरकार के खिलाफ एक संगठित सशस्त्र कार्यवाही करने में भी असफल रहे। और यह इस तथ्य के बावजूद हुआ कि सैद्धांतिक आधार पर क्रांति के प्रति क्रांतिकारी आतंकवादियों का नज़रिया अधिक सही था, और आरंभ से ही उन्होंने एक सशस्त्र संघर्ष आरंभ करने की योजना बनाई थी जो तेजी से सामूहिक विद्रोह साम्राज्यवाद के अंत और एक समाजवादी गणतंत्र की स्थापना की ओर ले जाएगा। परंतु उनके पास अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने का समय नहीं था। दो या तीन वर्षों के अंदर ही उन सबको या तो गिरफ्तार कर लिया गया या फिर मार डाला गया और इन वर्षों के दौरान भी एक अत्यंत स्थिर और

कार्यकुशल प्रशासन उनका निरंतर पीछा करता रहा। उनकी यह सोच संभवतः उनकी प्रमुख गलतियों में से एक थी कि मुट्ठी भर युवकों द्वारा क्रांति की शुरुआत की जा सकती थी, और वह भी एक ऐसे समय में जबकि साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए (हालांकि गैरक्रांतिकारी साधनों द्वारा) बुर्जुआवादी राष्ट्रवादी नेतृत्व के पास काफी ताकत बची थी।

उनका यह विश्वास कि साहसी युवकों के कार्यों अथवा मृत्यु द्वारा किया गया प्रचार एक क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलन के निर्माण की ओर ले जाएगा, क्रांतिकारी आतंकवादियों की एक दूसरी गलती थी। यह राजनीतिक तत्वों और क्रांति की सहज उत्पत्ति में भी आंख मूंद कर विश्वास करने जैसा था। केवल यही विश्वास अपने अत्यधिक विशिष्ट नेताओं को "मृत्यु द्वारा प्रचार" कार्य में भाग लेने के लिए भेज सकता था। परंतु देश में ऐसे राजनीतिक तत्व पार्टियां, वर्ग व्यक्ति—कहां थे जो महान बलिदानों के कारण मुक्त और उत्तेजित भावनाओं का लाभ उठाते! वास्तव में, लोगों को यह बताने के लिए कि वे क्यों मर रहे हैं, उनके पास कोई राजनीतिक व्यवस्था भी नहीं थी। दूसरी ओर, उन्हें संभवतः यह विश्वास था कि उनके बलिदानों के साथ उनके मृत्यु को चुनौती देने वाले बयान, लोगों को प्रभावित करेंगे, उन्हें शिक्षित करेंगे और उन्हें स्वयं को संगठित करने की ओर ले जाएंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके क्रांतिकारी विचार मुश्किल से ही लोगों तक पहुंचे। लोगों को वे सरल साहसी व्यक्ति प्रतीत हुए जो अपने देश के लिए मृत्यु को चुनौती देते थे। उन्होंने केवल एक राष्ट्रवादी चेतना उत्पन्न की। उस बुर्जुआवादी राष्ट्रवादी नेतृत्व ने—जिसके पूंजीपति-समर्थक चरित्र का भंडाफोड़ करके वे उसका स्थान लेना चाहते थे—राष्ट्रवाद के अपने मार्के को लोकप्रिय बनाने के लिए उनके नामों और बलिदानों का प्रयोग किया।

इससे इनकार नहीं है कि कार्य द्वारा प्रचार राजनीतिक शिक्षा का एक शक्तिशाली हथियार हो सकता था। परंतु यह केवल तब ही होता जब वह शांतिपूर्ण अथवा हिंसक, संगठित आंदोलन का एक अंग बन जाता। ऐसा नहीं था कि एच.एस.आर.ए. का बुद्धिमान नेतृत्व, एक हद तक, इस मूल राजनीतिक तथ्य के प्रति सचेत नहीं था। इसी वजह से भगतसिंह, भगवती चरण, राम कृष्ण और एहसान इलाही ने किसी न किसी अवस्था में अपनी ऊर्जाओं के मुख्य भाग को नौजवान भारत सभा के काम में लगाया। केवल लाहौर ही एक ऐसा शहर था जहां भगतसिंह और उनके साथियों के महान बलिदान के कारण वामपंथियों में एक राजनीतिक आंदोलन की शुरुआत हुई, और यह मुख्य रूप से इस वजह से हुआ क्योंकि वहां जेलों के अंदर संघर्ष चलाने को सभा मौजूद थी। इसी प्रकार 1930 में लोगों तक अपने राजनीतिक संदेश पहुंचाने के लिए आजाद और यशपाल ने एक राजनीतिक संगठन बनाने के निराशाजनक प्रयत्न किए। परंतु ये प्रयत्न अदना और निष्फल थे और वे किसी भी प्रकार मृत्यु

द्वारा प्रचार का मुकाबला नहीं कर सके।

उस समय, एक प्रकार से एक गहरी व्यक्तिगत और राजनीतिक त्रासदी का प्रदर्शन किया जा रहा था। जब एच.एस.आर.ए. के नेतृत्व के समाजवादी वैचारिक ज्ञान और अनुभव का विस्तार हो रहा था, वे आगे सही रास्ते को देख सकते थे।[83] परंतु, वे अपने आतंकवादी अतीत के बहुत निकट थे। वास्तव में उस अतीत ने ही उनके वर्तमान के एक भाग का निर्माण किया था, क्योंकि ये नौजवान कुछ ही महीनों में दशकों का सफर तय कर चुके थे। जब भी वे अलग होना चाहते थे, जैसा कि असेंबली बम केस के मामले में हुआ, उन्होंने ऐसा पुराने तरीके के खोल में रह कर ही किया। वीरता के प्रति उनकी वचनबद्धता ने उन्हें पूरी तरह आतंकवाद से अलग नहीं होने दिया।

अंतिम चरणों में 1930 के पिछले अर्ध-भाग और 1931 में वे कैद भुगत रहे अपने साथियों के वीरतापूर्ण बलिदानों के गौरव को पहले ही की भांति कायम रखने के लिए लड़ रहे थे। राजनीतिक वास्तविकता ने उन्हें इतनी गहरी चोट पहुंचाई थी की भविष्य में क्रांति की परिकल्पना से वे पीछे हट गए। अंत में, हम भगतसिंह को इस समस्या से जूझते हुए देखते हैं कि किस प्रकार—इस तथ्य को जाहिर किए बिना कि मौत की सजा की प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने अपनी राजनीति पर पुनर्विचार किया था—जेल से बाहर युवाओं तक राजनीति की सही समझ पहुंचाई जाए। अंत में, उनके अंदर के समाजवादी ने आतंकवादी पर विजय पा ली थी। जिस वीरतापूर्ण बलिदान के विचार को उन्होंने आतंकवाद से ग्रहण किया था उसका परित्याग किए बिना, वे इस परिवर्तन को भारतीय युवकों तक पहुंचाने का निराशाजनक प्रयास कर रहे थे।[84] बाहर, चंद्रशेखर आजाद विरक्त भाव से एक शहीद की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे और भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरू के जीवन को बचाने के असफल प्रयत्न कर रहे थे; वे इस मामले में गैर-क्रांतिकारी नेताओं से हस्तक्षेप करने की लगभग याचना कर रहे थे। अब उन्हें इस बात की समझ आ गई थी कि उनके जीवन की क्या कीमत है। इसके बदले वे कुछ समय के लिए क्रांतिकारी कार्यवाही स्थगित करने को भी तैयार थे। उसी समय, उन्होंने थोड़े से बाकी बचे बुद्धिजीवी सदस्यों में से दो, यशपाल और सुरेंद्र पांडेय, को सामूहिक संगठन और क्रांति-निर्माण की कला सीखने के लिए सोवियत संघ भेजा। क्योंकि दूसरों की भांति उन्होंने भी यह महसूस कर लिया था कि क्रांतिकारी आतंकवादियों का तरीका असफल हो चुका है और केवल विस्तृत और व्यापक आधार के जनआंदोलन ही क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।[85] वास्तव में यह समझ (अहसास) अब कुछ समय से, उनकी चेतना का एक अंग बन रही थी।

X

अंत में यह कहा जा सकता है कि क्रांतिकारी, आतंकवादी समाज, राज्य, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और क्रांति की एक समाजवादी समझ के मूल तत्वों तक पहुंचने में सफल हुए। यदि क्रांतिकारी सिद्धांत को व्यावहारिक रूप दिया जाता तो यह समझ और अधिक गहरी हो सकती थी। दूसरी ओर, उनके पास क्रांतिकारी राजनीतिक कार्यवाही की व्यवस्था, संगठन और एक क्रांतिकारी दल की भूमिका का अभाव था। फिर भी उन्होंने, हर समय, अपनी क्रांतिकारी चेतना को कायम रखा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. *दि मेनीफेस्टो आफ दि हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन*, दिसंबर 1929 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में बांटा गया (इसके पश्चात इसका 'मेनीफेस्टो' कह कर हवाला दिया जाएगा). स्रोतः *हिस्टरी आफ दि फ्रीडम मूवमेंट*, फेज़ III, बी 38/3.
2. सचींद्र नाथ सान्याल, *बंदी जीवन*, हिंदी में (देहली, 1963), पृ. 237.
   वीरेंद्र संधु, *युगद्रष्टा भगत सिंह*, हिंदी में (देहली, 1968), पृष्ठ 139, यशपाल, *सिंहावलोकन*, हिंदी में (लखनऊ, 1951), खंड 1, पृष्ठ 138, अजय घोष, *आर्टिकल्स एंड स्पीचेज़* (मास्को, 1962), पृ. 15.
3. यशपाल नं. 2, पृ. 138.
4. जोगेश चंद्र चटर्जी, *इन सर्च आफ फ्रीडम* (कलकत्ता 1967); सान्याल, नं. 2, पृ. 314.
5. यशपाल नं. 2, पृ. 96
6. जे.एन. सान्याल, *सरदार भगतसिंह* (लाहौर, 1931), पृष्ठ. 26, एच.आर. वोहरा की गवाही, *ट्रिब्यून*, 30 नवंबर 1929, अजय घोष को भी देखिए, नं. 2, पृ. 15.
7. सी.आई.डी के राय बहादुर भगवान दास द्वारा नौजवान भारत सभा पर टिप्पणी, तारीख 27 मई 1929. *होम (पालिटिकल) प्रोसीडिंग्स*, 130 और के. डब्ल्यु, 1930, पृ. 40-41.
8. देखिए *ट्रिब्यून*, 26 जनवरी 1930.
9. अजय घोष, नं. 2, पृ. 25.
10. जे.सी चटर्जी, नं 4, पृ. 247 और 391.
11. बी.के. सिनहा के साथ साक्षात्कार.
12. यशपाल, नं. 2, खंड 3, पृ. 49 और 59.
13. जे.एन. सान्याल नं. 6, पृ. 26.
14. सोहन सिंह जोश और पी.सी. जोशी के साथ साक्षात्कार.
15. जे.सी चटर्जी टि. 4, पृ. 20, 208-9. जे.एन. सान्याल टि. 6, पृ. 12.
16. युवा क्रांतिकारियों ने इस बात पर जोर दिया कि पुरानी पीढ़ी के क्रांतिकारियों के साथ निरंतरता बनाई रखी जाए. उदाहरण के लिए *यंग इंडिया* में देखिए सुखदेव का *पत्र*, 23 अप्रैल 1923, पृ. 82. इसी प्रकार भगतसिंह ने भी कर्तारसिंह सरामा के आदर्श को सदैव अपने सामने रखा. सचींद्र नाथ सान्याल की पुस्तक *बंदी जीवन*, भाग 1 उनके वैचारिक आधार और प्रचार कार्य के लिए एक पाठ्य पुस्तक के समान थी. इसी प्रकार, लाहौर षड्यंत्र केस के कैदियों ने श्यामजी कृष्ण वर्मा की मृत्यु पर अपना शोक संदेश भेजने में भी तत्परता दिखाई. *ट्रिब्यून*, 8 अप्रैल 1930.

17. यशपाल के अनुसार, प्रो. जयचंद विद्यालंकार और जे.एन. सान्याल को जानबूझ कर आने नहीं दिया गया क्योंकि वे पुराने विचारों के थे और बैठक में भाग लेने वाले आंदोलन का नया उद्देश्य निश्चित करने और अपने संगठन के लिए नया मार्ग चुनने के लिए कृतसंकल्प थे. देखिए यशपाल, टि. 4, पृ. 145.
18. हि.रि.ए. के नेताओं ने आंदोलन में विचारों के महत्व को 1925 में ही महसूस किया था. जिला संगठन के लिए यह अनिवार्य योग्यता रखी गई. सदस्य में अपनी मातृभूमि के संदर्भ में वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को समझने की क्षमता होनी चाहिए. जे.सी. चटर्जी, *दि कांस्टीट्यूशन आफ दि एच.आर.ए.* टि. 4, पृ. 341.
19. यशपाल, टि. 2. पृ. 148-49. अजय घोष का यह कहना सही नहीं है कि चंद्रशेखर नए विचारों पर ध्यान नहीं देते थे. उन्होंने यह गलती मुख्यतः इस वजह से की है जब आजाद का एक नेता के रूप में विकास हुआ उस समय वे जेल में थे. वास्तव में, आजाद ने सिद्धांतकार के रूप में दूसरे साथियों की श्रेष्ठता को स्वीकार किया और उन्हें इस विषय में अपनी सीमाओं का पूर्ण ज्ञान था.
20. यशपाल टि. 2. खंड 3, पृ. 66, 67.
21. *दि फिलासफी आफ़ दि बम.*
22. भगतसिंह और दत्त का 6 जून 1929 का वक्तव्य.
23. माडर्न रिव्यु को भगतसिंह और दत्त का पत्र, *ट्रिब्यून,* 24 दिसंबर 1929, मैनीफ़ेस्टो, भगतसिंह आदि, टि. 22.
24. भगतसिंह और दत्त का *पत्र,* टि. 23.
25. भगतसिंह आदि टि. 22.
26. भगतसिंह और दत्त का *पत्र,* टि. 23.
27. भगतसिंह एन.के. निगम कृत 'बलिदान' में उद्धृत, दिल्ली (प्रकाशन वर्ष नहीं) पृ. 11.
28 *दि फिलासफ़ी आफ दि बम,* टि. 21.
29. जे.सी चटर्जी, टि. 4, पृ. 338.
30. गोपाल ठाकुर की रचना '*भगतसिंह : दि मैन एंड हिज आईडियाज* में उद्धृत (नई दिल्ली 1958), पृ. 9.
31. *ट्रिब्यून,* 10 अप्रैल 1929.
32. जे.एन. सान्याल टि. 6, पृ. 28-29.
33. *प्रोसीडिंग्स आफ दि एच.आर.ए. काउंसिल मीटिंग,* 1924.
34. जे.सी. चटर्जी टि. 4, पृ. 242.
35. यशपाल टि. 2, पृ. 96, अजय घोष, टि. 2, पृष्ठ. 36. 1924 में लाला लाजपत राय ने भगतसिंह को रूसी एजेंट कहा था और यह शिकायत की थी कि "भगतसिंह मुझे लेनिन बनाना चाहते थे." वी. संधु टि. 2, पृ. 316.
36. उनमें से अनेक, जिनमें भगतसिंह भी थे, कानपुर बोल्शेविक केस से प्रभावित हुए होंगे, क्योंकि उस समय वे कानुपर में थे.
37. जे.एन. सान्याल, टि. 6. पृ. 15.
38. वही, पृ. 103.
39. बी. संधु, टि. 2. पृ. 234-35, 237, 261, 285, और 306.
40. वही, पृ. 237 और 306.
41. यशपाल टि. 2. पृ. 196.
42. वी. संधु, टि. पृ. 196.

43. जे.एन. सान्याल, टि. 6, पृ. 106.
44. वही, पृ. 32-33; यशपाल दि. 2 खंड 1, पृष्ठ. 190.
45. बनारसी दास चतर्वेदी (संपा) भगवान दास माहौर, *यश की धरोहर* (दिल्ली, 1968), दूसग संस्करण, पृ. 27, 28.
46. यशपाल टि. 2, पृ. 145; महोर टि. 45, पृ. 26.
47. भगतसिंह का अंतिम संदेश, विश्वनाथ वैशंपायन, अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद, परिशिष्ट 5, भाग 2-3, पृ. 306 (वाराणसी, 1967).
48. वी. संधु में उद्धरित टि. 2, पृ. 241. यह अति रुचिकर है कि भगतसिंह स्वयं को एक महान स्वतंत्रता सेनानी न समझ कर मुख्यतः समाजवादी विचारों का प्रचारक मानते थे.
49. *दि रिवोल्यूशनरी,* हि.रि.ए. द्वारा प्रकाशित, 1925.
50. *दि फिलासफी आफ दि बम.*
51. भगतसिंह आदि, टि. 22.
52. रूल्स एंड रेगूलेशंस आफ दि नौजवान भारत सभा, पंजाब 1 मई 1928; मेरठ कांस्पीरेसी केस 1929, उर्दू की दस्तावेज का अंग्रेजी अनुवाद, एग्जीबिट न.पी. 205 (टी) नौजवान भारत सभा पर रिपोर्ट, *होम (पालिटिकल) प्रोसीडिंग्स,* फा. 130, और के. डब्ल्यु (1930), पृ. 40 और पृ. 10, *दि फिलासफी आफ दि बम.*
53. भगतसिंह आदि भी देखिए, टि. 22.
54. *ट्रिब्यून,* 14 जून 1929.
55. 1929-30 के दौरान *ट्रिब्यून* में इस मामले की रिपोर्ट देखिए. उदाहरण के लिए देखिए *ट्रिब्यून* 6 अक्टूबर 1929.
56. देखिए भगतसिंह आदि, टि. 22, *दि फिलासफी आफ दि बम,* और वैशंपायन में *दि लास्ट मैसेज आफ भगतसिंह,* टि. 47.
57. इसके बाद, भगतसिंह और दत्त ने अपने 6 जून के वक्तव्य में शोषकों के (जिनमें सरकार देश की सबसे बड़ी शोषक है) के आर्थिक ढांचे का उल्लेख किया.
58. *दि फिलासफी आफ दि बम.*
59. गोपाल ठाकुर में उद्धरित, टि. 30 पृ. 39.
60. देखिए वैशंपायन, टि. 47, खंड 2-3, पृ. 304, साथ ही देखिए *दि फिलासफी आफ दि बम.*
61. देखिए माहूर टि. 45 पृ. 10. यशपाल टि. 2, खंड 2, पृ. 263-264.
62. गोपाल ठाकुर में उद्धरित, टि. 30 पृ. 39.
63. नौजवान भारत सभा के नियम आदि, 52. पृ. 35, जे.एन. सान्याल भी देखिए, टि. 6, 25.
64. *होम (पालिटिकल) प्रोसीडिंग्स,* फा. 130, के. डब्ल्यु (1930), पृ. 10.
65. कैलाशपति की गवाही, *प्रोसीडिंग्स आफ दिल्ली कांस्पीरेसी केस,* खंड 1, पृ. 229. यशपाल, टि. 2, खंड 2, पृ. 153-54.
66. गोपाल ठाकुर में उद्धरित, टि. 30, पृ. 39.
67. *दि मैनीफेस्टो आफ भगतसिंह,* गोपाल ठाकुर में उद्धरित, टि. 30, पृ. 39.
68. गोपाल ठाकुर में उद्धरित टि. 30, पृ. 39.
69. जे.सी. चटर्जी में *हि.रि.ए. का संविधान,* टि. 4, पृ. 342. ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक शक्ति के रूप में श्रमिकों की प्रभावकारिता के बारे में शचित सान्याल के प्रत्यक्ष अनुभव का ही यह परिणाम था. देखिए एच. सान्याल, टि. पृ. 237.
70. *होम (पालिटिकल) प्रोसीडिंग्स,* फा. 130, और के. डब्ल्यु (1930) पृ. 38 और आगे. उनका 'सभा'

के कीर्ति किसान भ.ग से संबंध हो सकता है.

71. वही, के डब्ल्यु., पृ. 13.
72. वही, पृ. 36 और आगे.
73. लाहौर षड्यंत्र केस में, ललित कुमार मुखर्जी की गवाही, *ट्रिब्यून,* 7 दिसंबर 1929.
74. *कैलाशपति की गवाही,* टि. 65, पृ. 299.
75. लाहौर में विद्यार्थी सम्मेलन में भगतसिंह और दत्त का संदेश, *ट्रिब्यून* 22 अक्टूबर 1929, कैलाशपति की गवाही, टि. 65, पृ. 299.
76. *पीसफुल एंड लेजीटिमेंट,* हि.सो.रि.ए. द्वारा प्रकाशित *पैंफ्लेट, कापीज़ आफ दि एकजीविट्स इन लाहौर कांस्पीरेसी केस* (II)}, *हिस्टरी आफ दि फ्रीडम मूवमेंट,* फेज 2, रीजन (III) 6/3 एक्जीविट पी. एन भगतसिंह आदि को भी देखिए, टि. 22.
77. *पीसफुल एंड लेजीटिमेंट,* भगतसिंह आदि, टि. 12; भगतसिंह वी. संधु में उद्धरित दि. 2, पृ. 323; यशपाल टि. 4, खंड 2, पृ. 12.
78. भगतसिंह द्वारा युवाओं का गुणगान, वी संधु द्वारा उद्धरित, टि. 2, पृ. 133.
79. यशपाल टि. 2, पृष्ठ. 139, खंड 2, पृ. 132; के.एन., निगम, टि. 27, पृ. 11.
80. यशपाल टि. 2, खंड 2. पृ. 262.
81. वी. संधु टि. 2 पृ. 238 में उद्धरित.
82. देखिए माहूर टि. 45, पृ. 27-28; यशपाल टि. 2, खंड 2, पृ. 262. दूसरे लाहौर षड्यंत्र केस में इंटरपाल और मदन गोपाल की गवाही और वैंशपायन टि. 47.
83. लेखक फरवरी 1931 में भगतसिंह द्वारा लिखित इस विचार से सहमत है कि 1929 में गिरफ्तार किए जाने से पूर्व ही उन्होंने आतंकवाद को छोड़ दिया था. देखिए वी. संधु, टि. 2, पृ. 244.
84. वही.
85. माहौर देखिए, टि 45, पृ. 117; निगम, टि. 27, पृ. 104; अजय घोष, टि. 2, पृ. 31. उनके द्वारा अपनी असफलता को स्वीकार करना और वैकल्पिक रास्ता चुनने के लिए सहमत होना क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में बौद्धिक और राजनीतिक ईमानदारी की एक अद्भुत घटना है.

अध्याय नौ

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और सांप्रदायिक समस्या

I

भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राज्यतंत्र के उपनिवेशीकरण के बहुपक्षीय परिणाम हुए। एक परिणाम तो यह था कि भारतीयों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने की एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया की शुरुआत हुई; और दूसरा परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद और भारतीयों के हितों के मध्य केंद्रीय अंतर्विरोध के रूप में एक राष्ट्रीय, साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन का उदय हुआ।

राष्ट्रीय आंदोलन राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया पर आधारित था, जबकि उसने (राष्ट्रीय आंदोलन ने) स्वयं इस प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। आंदोलन की बढ़ती हुई ताकत, आंशिक रूप से, इस बात पर निर्भर करती थी कि जनता में एक राष्ट्र का अंग होने की चेतना किस हद तक थी, क्योंकि राष्ट्र के हितों को साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए एक संघर्ष की आवश्यकता थी। परंतु, राष्ट्रीयता की यह चेतना—एक राष्ट्र होने की यह भावना—वस्तुगत यथार्थ से अपने आप ही पैदा नहीं हो सकती थी। उसके लिए आत्म-ज्ञान की एक कठिन, श्रमसाध्य प्रक्रिया जरूरी थी, जिसमें साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष स्वयं एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी।

परंतु, राष्ट्र निर्माण की यह प्रक्रिया, अपने स्वभाव से ही, एक अत्यंत विशिष्ट प्रक्रिया थी और है। इसके अतिरिक्त, नए सामाजिक वर्गों और श्रेणियों का निर्माण और लोगों पर साम्राज्यवाद का प्रभाव भी एक विशेष ढंग से हुए जिनके परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद और भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विविध संबंधों का उदय हुआ। इसलिए, विभिन्न सामाजिक वर्गों और उपवर्गों तथा विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाई क्षेत्रों इत्यादि के लोगों में राष्ट्रीय और साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना का असमान विकास हुआ। भारतीय जनसाधारण में एक समान राष्ट्रीय चेतना लाना और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सामान्य संघर्ष में उन्हें संगठित करना उन कठिन कार्यों में से एक था जिन्हें नेतृत्व को पूरा करना था।

राष्ट्रवाद के साथ सांप्रदायिकता का उदय इस कार्य में एक बड़ी बाधा थी। 1880 के दशक से ही ये प्रयत्न किए गए कि मुस्लिम विस्तृत राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल न हों : दूसरी ओर, राष्ट्रीय आंदोलन ने विभिन्न धर्मों के लोगों को एकताबद्ध करने, और ऐसा करने के लिए, विघटनकारी सांप्रदायिक ताकतों के विरुद्ध लड़ने का संकल्प किया। इस संबंध में उसकी मूल रणनीति के अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम होने थे।

II

'ऊपर से एकता स्थापित करने' के प्रयत्न को इस रणनीति का मुख्य तत्व कहा जा सकता है। आरंभ में उन मध्यम और उच्च वर्गीय मुस्लिम नेताओं को जीतने का प्रयास किया गया जिन्हें मुस्लिमों के नेताओं के रूप में स्वीकार किया जाता था। एक बार जब इन नेताओं को विश्वास में लेने के बाद उनसे मुस्लिम जनसाधारण मध्यम वर्गों को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का काम लिया जाता और इस प्रकार हिंदू-मुस्लिम एकता की स्थापना की जाती और इससे साम्राज्यवाद पर राजनीतिक रिआयतें देने के लिए दबाव डाला जाता।

मध्यम और उच्चवर्गीय मुसलमानों को 'संरक्षण' देने और उनके हितों को 'सुरक्षित' रखने का विचार इस रणनीति की एक प्रमुख विशेषता थी हालांकि, सैद्धांतिक रूप से, यह संरक्षण अल्पसंख्यकों के अधिकारों को दिया जाना था, लेकिन नेताओं के बीच बातचीत के दौरान कभी मुश्किल से ही अल्पसंख्यक समुदाय के धार्मिक, सांस्कृतिक, अथवा सामाजिक अधिकारों का उल्लेख किया जाता था। इसके बजाए यह बातचीत हमेशा मध्यमवर्गीय मुसलमानों को नौकरी की गारंटी देने और मध्यम और उच्चवर्गीय मुसलमानों को राजनीतिक और प्रशासनिक सत्ता में हिस्सा देने के इर्दगिर्द मंडराती रहती थी। उदाहरण के लिए, मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों में बालिग मताधिकार की मांग के बजाए यह मांग रखी गई कि अधिकांश सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित की जाएं जिससे कि इन प्रदेशों में स्वतः ही मुस्लिम विधायकों की एक बड़ी संख्या में आने की गारंटी हो जाए। मुस्लिम किसानों और श्रमिकों के आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा के प्रश्न को किसी स्थिति में भी नहीं उठाया गया, क्योंकि संप्रदायवादी भी यह महसूस करते थे कि ये अधिकार हिंदू किसानों और श्रमिकों के अधिकारों से अलग नहीं थे।

उच्च स्तर पर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के प्रयास करीब-करीब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही आरंभ हुए। 1888 में, इलाहाबाद में अपने चौथे अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया कि "विषय समिति अथवा कांग्रेस के किसी भी अधिवेशन में अध्यक्ष द्वारा किसी ऐसे विषय पर बहस करने की अनुमति नहीं दी जाएगी जिसे प्रस्तुत करने पर हिंदुस्तान अथवा मुस्लिम प्रतिनिधि सर्वसम्मति अथवा लगभग सर्वसम्मति से विरोध करें।" 1889 में पूना में, अपने अगले अधिवेशन में कांग्रेस ने विधान परिषदों के सुधार की मांग उठाई, जिसमें अल्पसंख्यकों के लिए समस्त जनसंख्या में उनकी संख्या के अनुपात में सीटों के आरक्षण की मांग भी सम्मिलित थी। प्रारंभिक नरमपंथी राष्ट्रवादी नेताओं की विचार पद्धति का सकारात्मक पहलू यह था कि उन्होंने राजनीतिक और वैचारिक क्षेत्रों में अपने वैज्ञानिक प्रयासों द्वारा जन साधारण को विकसित हो रही एकता, साम्राज्यवाद के विरुद्ध

लड़ाई में उनके सामान्य हितों, और इस लड़ाई में एकता की आवश्यकता के प्रति सचेत किया।

लोकमान्य तिलक ने भी, जब उन्हें हिंदू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता का अहसास हुआ, इसी रणनीति का अनुसरण किया। वे उस लखनऊ पैक्ट के प्रमुख निर्माता बने जिसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को एकताबद्ध करने का प्रयास का प्रतिनिधित्व किया। ये नेतागण एकताबद्ध होकर संवैधानिक सुधारों के लिए उपनिवेशी अधिकारियों पर दबाव डाल सकते थे। इसके परिणामस्वरूप किए गए समझौते और संयुक्त राजनीतिक पहल को साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सामूहिक संघर्ष की तैयारी के एक भाग के रूप में नहीं लिया गया, क्योंकि न तो मुस्लिम लीग के नेतागण और न ही नरमपंथी कांग्रेसियों से यह आशा की जाती थी कि वे इस प्रकार के संघर्ष में भाग लेंगे या उसमें भाग लेने की उनकी इच्छा थी।

राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान खिलाफत के नेताओं के साथ महात्मा गांधी की एकता, हिंदू-मुस्लिम एकता का सबसे सफल प्रयत्न था। इस प्रयत्न में जनता की शिरकत भी थी। यह प्रयत्न मुस्लिम जनसाधारण और मध्यम वर्गों को असहयोग आंदोलन में लाने के उद्देश्य से प्रेरित था; और एक हद तक ऐसा करने में उसे सफलता भी मिली। इस लिहाज से एकता का यह प्रयत्न बाद में हुए हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रयत्न से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न था।

इसके साथ ही, मध्यम और उच्च वर्गों के नेताओं के साथ सहमति को प्रोत्साहन देना गांधीवादी रणनीति का एक बुनियादी पहलू था। साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के लिए धार्मिक मंजूरी प्राप्त करने के लिए मुस्लिम उलेमाओं (पारंपरिक विद्वानों और धर्मगुरुओं) को राजनीति में लाना लाभकारी और अनिवार्य समझा गया। इससे भी अधिक, हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए 'खिलाफत' को एक विषय के रूप में चुना गया जिसका सामान्य व्यक्तियों के जीवन और उनके जीवन पर साम्राज्यवाद के प्रभाव से कोई संबंध नहीं था। अपने धार्मिक महत्व के कारण खिलाफत एक लोकप्रिय आंदोलन था, परंतु वह एक जनआंदोलन नहीं था।

इसके अतिरिक्त, चूंकि मुस्लिम जनता और निम्न मध्यम वर्गों को साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में शीर्षस्थ नेताओं की सहमति से और एक धार्मिक प्रश्न पर शामिल किया गया था, इसलिए वे अपनी मौजूदा चेतना के साथ ही आंदोलन में शामिल हुए। वे एक धार्मिक भावना से आंदोलन में शामिल हुए थे न कि अपने लोकतांत्रिक और आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा और प्रगति के लिए। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि समझौते की शर्तों ने गांधी और राष्ट्रीय नेतृत्व को यह अवसर भी नहीं दिया कि वे असहयोग—खिलाफत आंदोलन में भागीदारी करने वाली मुस्लिम जनता में एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, और साम्राज्यवाद-विरोधी राजनीतिक चेतना अथवा सामाजिक ताकतों की चेतना लाते। आंदोलन ने उनके सामने साम्राज्यवाद के

साथ उनके आर्थिक और सामाजिक हितों के टकराव को भी स्पष्ट नहीं किया। जैसा कि पहले नरमपंथी और उग्र राष्ट्रवादियों ने किया था या जैसा कि महात्मा गांधी द्वारा अपने असहयोग आंदोलन में किया जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकतर मुसलमान, जिन्होंने खिलाफत आंदोलन में सक्रिय भागीदारी की, आधुनिक साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा अथवा राजनीतिक् संगठन के आधुनिक सिद्धांतों, जैसे धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र, से अपरिचित रहे। इसके बजाए, राजनीति अथवा राजनीतिक समस्याओं में धार्मिक दृष्टिकोण के हस्तक्षेप को वैधता प्रदान की गई और उसे बढ़ावा दिया गया। जब खिलाफत आंदोलन वापस लिया गया, तब उसमें राष्ट्रीयता का कोई तत्व नहीं बचा था। केवल मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे गिने चुने शक्तिशाली धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी नेता ही बचे थे।

मुस्लिम नेताओं को अपनी तरफ मिलाने के लिए कांग्रेस ने खिलाफत के विषय से हट कर कुछ और कदम भी उठाए। उसने 1920 में नागपुर अधिवेशन में 1888 के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया (जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है) और उसे अपने संविधान में भी शामिल कर लिया। लखनऊ पैक्ट के आधार पर कांग्रेस कार्यकारिणी ने 1921 में और आगे बढ़ कर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तक अपने सभी स्तरों पर मुसलमानों के लिए सीटों का आरक्षण करने के सिद्धांत की सिफारिश की। बाद में उसने पंजाब प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी से सिखों के संबंध में भी इसी सिद्धांत को अपनाने की सलाह दी।

1921 में जब सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगों का खतरा दोबारा पैदा हुआ तब कांग्रेस ने 'हिंदू-मुस्लिम मतभेदों को निबटाने का एक कार्यक्रम तैयार करने के लिए' सर्वप्रथम एक उच्च स्तरीय कमेटी का गठन किया जिसमें दो नेता, कांग्रेस अध्यक्ष, वी.जे. पटेल और हकीम अजमल खान शामिल थे और उसके बाद एक चार सदस्यीय कमेटी का गठन किया जिसमें इन दोनों नेताओं के अलावा मदन मोहन मालवीय को शामिल किया गया; एक मुस्लिम नेता को हकीम अजमल खान द्वारा मनोनीत किया गया। 1923 में गया में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में डा. अंसारी से कहा गया कि "वे एक राष्ट्रीय समझौते का एक ऐसा कार्यक्रम तैयार कराएं जिसे "विभिन्न समुदायों के मुख्य प्रतिनिधियों और प्रभावशाली व्यक्तियों में उनकी राय जानने के लिए वितरित किया जाए ...।" इस प्रकार, जनता को उसमें सम्मिलत अथवा शिक्षित किए बिना ही, नेताओं के मध्य से एक कार्यक्रम द्वारा सांप्रदायिक समस्या का समाधान होना था। जनता को इस महत्वपूर्ण मामले पर बहस करने अथवा निर्णय करने के योग्य नहीं समझा गया।

1923 में, सी.आर. दास ने "मुस्लिम हितों," अर्थात, उच्च और मध्यमवर्ग के मुसलमानों के हितों को 'सुरक्षा' प्रदान करने के जो प्रयास किए उनका उद्देश्य भी शीर्ष स्तर पर एक समझौता करना था। इसी प्रकार, मोतीलाल नेहरू ने भी राजा

महमूदाबाद जैसे नेताओं के साथ वार्ता द्वारा सांप्रदायिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया।

वास्तव में, कांग्रेस ने हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के जितने भी गंभीर प्रयत्न किए वे हिंदू, मुस्लिम और सिख सांप्रदायिकता और कांग्रेस के शीर्ष नेताओं से बातचीत करके ही किए गए। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी ताकतों की रक्षक एवं सक्रिय संगठनकर्ता के रूप में कार्य करने के बजाए कांग्रेस ने अकसर विभिन्न सांप्रदायिक नेताओं के बीच एक मध्यस्थ की भूमिका निभाई।

सांप्रदायिक दंगों के सिलसिले में भी यही रणनीति अपनाई गई। दंगों का संगठन करने वालों के और उस दृष्टिकोण के विरुद्ध जो दंगों को बढ़ावा देने में सहायक होता है, मुश्किल से ही कोई सामूहिक राजनीतिक और वैचारिक संघर्ष संगठित करने का प्रयास किया गया। असहयोग आंदोलन की 'सीमित सामूहिक गोलबंदी तकनीक' का प्रयोग भी नहीं किया गया। इसके बजाए, राजनीतिक प्रयास को करीब-करीब पूरी तरह से तात्कालिक सांप्रदायिक झगड़े को समाप्त करने तक ही सीमित रखा गया। इसके लिए एक उदारवादी शैली में हिंदू और मुस्लिम नेताओं को एक साथ बैठा कर उनसे स्थानीय अथवा राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर कराए जाते थे। 1920 में गांधी के प्रसिद्ध अनशन का भी इससे ज्यादा कोई और परिणाम नहीं निकला की विभिन्न 'समुदायों' के शीर्ष नेताओं में एक सतही समझौता हो गया।

यह विचार-पद्धति कितनी हास्यास्पद, प्रभावहीन और कपटपूर्ण थी यह तब प्रकट हुआ जब उच्च स्तर पर एकता स्थापित करने के लिए 'हिंदू' नेताओं को मुस्लिम लीग के अधिवेशनों में और 'मुस्लिम' नेताओं को हिंदू महासभा के अधिवेशनों में उपस्थित रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। व्यावहारिक रूप में, इसका अर्थ यही था कि उन्हें शिष्टता के साथ विरोधी संप्रदायवादियों के सांप्रदायिक भाषणों यहां तक कि उनकी गालियां सुनने तक के लिए विवश किया जाता था और वे खून का घूंट पीकर रह जाते थे।

III

सांप्रदायिक समस्या के प्रति शीर्ष पर एकता स्थापित करने का जो दृष्टिकोण अपनाया गया उसमें कुछ अंतर्निहित कमियां थीं।

चूंकि शीर्ष सांप्रदायिक अथवा राष्ट्रीय नेताओं को हिंदुओं अथवा मुस्लिमों अथवा सिखों के प्रवक्ताओं के रूप में स्वीकार कर लिया गया था, इसलिए उनकी संपूर्ण राजनीति और विचारधारा को भी यह मानकर स्वीकार कर लिया गया कि वे हिंदुओं, मुस्लिमों और सिखों और उनके हितों और आचरण का 'प्रतिनिधित्व' कर रही थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में धार्मिक समुदायों के सिद्धांत को मान्यता और

अप्रत्यक्ष स्वीकृति भी मिल गई। यह विश्वास किया जाने लगा कि वास्तविक जीवन में मुस्लिम समुदाय, हिंदू समुदाय और सिख समुदाय का वजूद है, यह कि इस प्रकार के प्रत्येक समुदाय का समान इतिहास है और इन समुदायों के सदस्यों के, धार्मिक हितों के अतिरिक्त, समान आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक हित हैं, उनका एक 'समान उद्देश्य' है और वे "सब मिल कर एक विशिष्ट समाज" के सदस्य हैं। राष्ट्रवादियों और संप्रदायवादियों में मुख्य अंतर यह था कि राष्ट्रवादी इन समुदायों को एकताबद्ध करना चाहते थे ताकि वे एकजुट होकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ सकें और संप्रदायवादी यह चाहते थे कि ये समुदाय एक दूसरे से घृणा करें और आपस में लड़ते रहें।[1] दोनों पक्षों ने सांप्रदायिकता के तर्क को स्वीकार किया। इसलिए राष्ट्रवादी, समुदायों में एकता लाने के लिए लड़ें। जबकि संप्रदायवादियों ने सांप्रदायिकता को और बढ़ावा दिया। जिन्ना आरंभ में, दोनों दृष्टिकोण अपना सकते थे।[2] इसलिए, भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में आरंभ से ही एक आधारभूत सांप्रदायिक दृष्टिकोण अपनाया गया जिसके तहत भारत के विविध प्रकार के लोगों को एकता के सूत्र में पिरोने के बजाए विभिन्न समुदायों और उनके नेताओं में एकता स्थापित करने के प्रयत्न किए गए।

इसके कुछ और परिणाम भी समाने आए। उदाहरण के लिए, संप्रदायवादी कभी हिंदू हितों और कभी राष्ट्रीय एकता की दुहाई देकर कभी राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रवेश पाने में और कभी उसे छोड़ने में सफल होते रहे। और पक्के धर्मनिरपेक्ष कांग्रेसियों को पलक झपकते ही घोर संप्रदायवादी करार दे दिया जाता था।

शीर्ष पर एकता स्थापित करने की रणनीति का एक पहलू यह भी था कि वह हिंदू-मुस्लिम एकता की बातचीत में संलग्न राजनीतिक नेताओं को अपने समुदायों के आधार पर सोचने के लिए प्रोत्साहित करती थी। इनमें से बहुत से नेताओं की संपूर्ण राजनीतिक स्थिति केवल हिंदू अथवा मुस्लिम होने की वजह से ही थी। इसी वजह से उन्हें दूसरे लोगों ने महत्वपूर्ण नेताओं के रूप में मान्यता दी। इसी वजह से वे महान नेताओं के साथ महत्वपूर्ण बातचीत में शामिल हो जाते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि उनमें से सर्वश्रेष्ठ नेताओं को भी एक राष्ट्रवादी मुस्लिम अथवा एक राष्ट्रवादी हिंदू की स्थिति से एक सामान्य राष्ट्रवादी के रूप में स्थापित करना कठिन हो गया। राष्ट्रवादी कहलाने की स्थिति में उनका राजनीतिक महत्व ही कम हो जाता था।

सांप्रदायिक नेताओं के साथ निरंतर बातचीत ने साम्राज्यवाद-विरोधी मुस्लिमों की स्थिति को कमजोर कर दिया। उन्हें निरंतर राष्ट्रवादी मुसलमानों के रूप में सोचने और कार्य करने के लिए विवश किया जाता। मौलाना अबुल कलाम आजाद और आसफ अली जैसे 'सामान्य राष्ट्रवादी' बहुत कम लोग रह गए थे।

शीर्ष से एकता स्थापित करने की विचार-पद्धति का एक राजनीतिक अथवा ऐतिहासिक औचित्य हो सकता था। उसे गैर-राजनीतिक जनता को राजनीतिक तथा

सांप्रदायिक मुद्दों को समझाने के एक अभियान में एक प्रवेश-बिंदु के रूप में प्रयोग किया जा सकता था या सांप्रदायिक नेताओं में सांप्रदायिक सद्‌भाव के सामान्य वातावरण का तत्काल लाभ उठाकर सांप्रदायिक दृष्टिकोण और विचारधारा पर कड़ा प्रहार किया जा सकता था। परंतु, ऐसा कुछ भी नहीं किया गया। शीर्ष पर एकता को राजनीतिक उपलब्धि की पराकाष्ठा और राष्ट्रीय एकता के संबंध में राजनीतिक कार्यवाही के अंत के रूप में देखा गया। मालवीय और जिन्ना, अथवा लाला लाजपत राय, डा. अंसारी, और सरदार महताब सिंह, अथवा एक सर्वदलीय कांफ्रेंस, जिसमें सभी सांप्रदायिक नेता और पार्टियां शामिल होती थीं, के बीच समझौते को सबसे बड़ा कार्यक्रम माना जाता था।

IV

सांप्रदायिक समस्या के प्रति पारंपरिक राष्ट्रीय नेतृत्व की विचार पद्धति की एक बुनियादी कमजोरी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की प्रकृति से उत्पन्न हुई, जिसमें न तो निरंतरता थी, न वह स्थायी रूप से साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने के विरुद्ध था और न ही उसने सामान्य व्यक्तियों को स्थायी राजनीतिक गतिविधियों में मशगूल रखा। वास्तव में, साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने की प्रवृत्ति और संघर्ष से जनता को हटा देना सांप्रदायिकता के निरंतर प्रसार और विकास का मुख्य कारण था। सच्चाई यह है कि भारतीयों के आधारभूत सामान्य हित और उनकी एकता ज्यादातर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, आर्थिक और सामाजिक विकास की आवश्यकताओं और समान वर्गहितों से उत्पन्न हुए थे। समान हितों की उनकी चेतना—जो उनके धार्मिक, जातीय और भाषाई विभाजनों को समाप्त कर सकती थी—को केवल साम्राज्यवाद के विरुद्ध और उनके हितों के लिए एक संघर्ष द्वारा विकसित और मजबूत किया जा सकता था। इस संबंध में राष्ट्रवादी तत्वों को संप्रदायवादियों पर वर्चस्व प्राप्त था। राष्ट्रवादी तत्व, चाहे उनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती थी अथवा कांग्रेस के अंदर और बाहर वामपंथी घटक अथवा पार्टियां करती थीं, वस्तुगत रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी थे और इसलिए वे सभी साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं, आंदोलनों ओर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे। दूसरी ओर, संप्रदायवादियों की सबसे बड़ी कमजोरी का कारण, विशेष रूप से 1937 के पश्चात औपनिवेशिक अधिकारियों ने संप्रदायवादियों को पूरा समर्थन दिया, साम्राज्यवाद के साथ उनका संबंध और उसका उग्र रूप से विरोध करने से इनकार था। यदि साम्राज्यवाद के विरुद्ध निरंतर जनसंघर्ष चलाया जाता तो निश्चित रूप से सांप्रदायिक ताकतों का भंडाफोड़ किया जा सकता था या फिर उन्हें साम्राज्यवाद-विरोधी मुख्यधारा में लाया जा सकता था और इस प्रकार उनकी सांप्रदायिकता और जनता पर उनके प्रभाव को समाप्त किया जा सकता था।

इस संबंध में यदि हाल के इतिहास पर एक नजर डालें तो बड़ी दिलचस्प जानकारी

प्राप्त होती है। ऐसा लगता है कि जब भी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष अपनी ऊंचाई पर था सांप्रदायिकता में कमी आई, और जब सांप्रदायिकता ने सिर उठाया तो संघर्ष में कमी आ गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एक ओर होम रूल लीग के गठन और दूसरी ओर गदर पार्टी के समर्थकों के सशस्त्र संघर्ष के कारण जैसे ही साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन में तेजी आई, साम्राज्यवाद-समर्थक सांप्रदायिक ताकतों में अपेक्षाकृत काफी कमजोरी आ गई। 1918 से लेकर 1922 तक के वर्ष साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष और हिंदू-मुस्लिम एकता दोनों के सुनहरे वर्ष थे। मुस्लिम लीग और दूसरे सांप्रदायिक घटकों का प्रभाव केवल नाम मात्र को था। वास्तव में, उस समय उनमें से किसी का भी, निम्न और मध्यम वर्गों में भी, जन आधार नहीं था। साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के वापस लिए जाने के बाद ही संप्रदायवादी सक्रिय हुए। आंदोलन के अचानक समाप्त होने से उत्पन्न हताशा और असंतोष ने सांप्रदायिक कड़वाहट को बढ़ाने में काफी मदद की। अब सरकार और धनी वर्ग अपनी दशा सुधारने के लिए जनता के कमजोर और असंबद्ध संघर्षों को एक सांप्रदायिक रंग दने में कामयाब हो गए। इससे भी ज्यादा, 1922 के बाद संसदीय राजनीति की स्वीकृति के कारण कांग्रेस के अंदर और बाहर 'हिंदू' और 'मुस्लिम' नेताओं की एक फौज खड़ी कर दी। फिर भी, असहयोग आंदोलन की समाधि के बाद उसका इतना प्रभाव तो रहा कि सांप्रदायिकता केवल उन्हीं मुट्ठी भर नेताओं तक सीमित रही जिनका सामाजिक आधार समाज के मध्यम वर्गों और उच्च वर्ग की कुछ श्रेणियों तक ही सीमित था। सांप्रदायिक दंगों के बावजूद, 1920 के दशक में सांप्रदायिक मोर्चे पर कामयाबी हासिल करने की संभावना बनी रही।

1926 के पश्चात वामपंथ के उदय, श्रमिक संघों और युवा आंदोलनों के विकास और साइमन कमीशन विरोधी आंदोलन ने एक बार फिर जनता में जोश भर दिया और सांप्रदायिक तनावों को कम कर दिया। दूसरे, सविनय अवज्ञा आंदोलन ने सारे देश का अपनी गिरफ्त में ले लिया। 1920 से लेकर 1922 तक के पहले आंदोलन के विपरीत, जनता ने इसमें अपनी अलग शिकायतों सहित हिंदुओं अथवा मुसलमानों के रूप में नहीं बल्कि भारतीयों के रूप में भाग लिया।[3] सांप्रदायिक पार्टियां और नेता अपना चेहरा छिपाने को विवश हो गए। उनमें से बहुत से या तो आंदोलन में शामिल हो गए, या कम से कम उन्होंने उसे अपना समर्थन दिया, या फिर उन्होंने करीब-करीब राजनीतिक संन्यास ले लिया। 1931-32 तक मुसलमानों ने आंदोलन में सक्रिय भागीदारी की। वास्तव में, राष्ट्रीय आंदोलन पहली बार दो मुस्लिम बहुल क्षेत्रों—उत्तरी-पश्चिमी सीमावर्ती राज्य और कश्मीर में फैल गया। इसी प्रकार मेवातियों (मुस्लिमों) ने अलवर के राजा के विरुद्ध संघर्ष आरंभ कर दिया। इससे भी ज्यादा, मुस्लिम और हिंदू युवक और मज़दूर और बहुत सी जगहों पर काश्तकार कम्युनिस्टों, भगतसिंह की नौजवान भारत सभा, नेहरू और सुभाष बोस की राजनीतिक अगुआई

में काम करना चाहते थे।

1931 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगन और औपनिवेशिक अधिकारियों के साथ सौदेबाजी करने की नीति ने एक बार फिर सांप्रदायिक नेताओं को उभरने में सहायता की। इसी दौरान औपनिवेशिक अधिकारियों ने सांप्रदायिकता को प्रमुख मुद्दा घोषित किया, जिसे संवैधानिक सुधारों से पहले ही तय किया जाना था। उन्होंने अपनी मर्जी से चुने हुए सांप्रदायिक राजनीतिक नेताओं को गोलमेज कांफ्रेंस में खुली छूट दे दी। दुर्भाग्य से, कांग्रेसी नेतृत्व जो साम्राज्यवाद के साथ एक समझौते के द्वारा राजनीतिक प्रगति की आशा कर रहा था। शीघ्र ही, हालांकि अनचाहे ही इस जाल में फंस गया।

शीघ्र ही सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से आरंभ हो गया और 1933-34 में इसकी असफलता और वापसी तक संप्रदायवादियों को उभरने का कोई अवसर नहीं मिला। यहां तक कि मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा भी, जो कि खुल्लम-खुल्ला सर्वाधिक सांप्रदायिक संगठन थे, 1936 तक शक्तिहीन बने रहे। 1932 तक लीग के अंदर सामंतवादी, खुल्लम-खुल्ला सांप्रदायिक और साम्राज्यवाद सर्मथक तत्वों की संख्या बहुत थोड़ी थी; और मुस्लिम लीग के नेताओं की एक बड़ी संख्या के कांग्रेस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध थे। 1934-37 के दौरान भी जब कांग्रेस ने सरकारी सुधारों, और भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के विरुद्ध लड़ने और साम्राज्यवाद-विरोधी जन-संघर्ष फिर से आरंभ करने की अपनी वचनबद्धता के साथ केंद्रीय और प्रादेशिक विधान परिषदों का चुनाव लड़ा, तब भी सांप्रदायिक ताकतें कमजोर ही रहीं और सिर नहीं उठा सकीं। इसी दौरान उन्हें यह डर भी था कि कहीं जनता उन्हें कांग्रेस विरोधी समझ कर साम्राज्यवाद समर्थक न समझने लगे। 1937 के चुनावों में किसी प्रकार की भी कांग्रेस लीग अथवा हिंदू-मुस्लिम कड़वाहट नहीं थी। न ही 1937 के चुनावों में लीग को कोई विशेष सफलता मिली; न तो उसने अधिक सीटें जीतीं न उसे अधिक मत मिले और न ही उराके प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि हुई। मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी उसे मुस्लिम समुदाय का अधिक समर्थन नही मिला। प्रांतीय विधान परिषदों में मुसलमानों के लिए आरक्षित कुल 482 सीटों में से उसे केवल 108 सीटें प्राप्त हुई। 7,319,445 मुस्लिम मतदाताओं में से केवल 321,722 ने लीग के उम्मीदवारों के पक्ष में अपना मत दिया। इस प्रकार उसे मुस्लिम निम्न और मध्यम वर्गों का भी समर्थन नहीं मिला। दूसरे शब्दों में, अभी तक भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक विभाजन ने कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई थी।

1937 के दौरान और उसके बाद सांप्रदायिक ताकतों को पनपने और तेजी से सांप्रदायिकता फैलाने का अवसर मिला। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत की नई सरकार के 1935 के अधिनियम के तहत कांग्रेस ने पद स्वीकार कर लिया और स्वयं को एक संसदीय पार्टी में तबदील कर लिया। उसने साम्राज्यवाद-विरोधी उग्र जन

संघर्ष के संदेशों को त्याग दिया और इसे भविष्य के लिए स्थगित कर दिया। विधान परिषदों में भी उसने साम्राज्यवाद-विरोधी मजदूर-किसान समर्थक, और जन समर्थक राजनीति के बजाए बुर्जुआ-जमींदार समर्थक राजनीति चलाई। इसके अतिरिक्त, उदीयमान वामपंथ भी अपने सिद्धांत से हट कर, कांग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े की रणनीति का कोई भी विकल्प जनता के सामने रखने में असफल रहा।

लेकिन 1942 के बाद मुस्लिम लीग को और उत्तर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को उस समय वास्तविक सफलता मिली जब भारत छोड़ो आंदोलन की लहर को दबा दिया गया था (यहां इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि इस दौरान आंदोलन के प्रति लीग के विरोध के बावजूद किसी प्रकार की सांप्रदायिक समस्या नहीं थी)। कांग्रेस के नेतागण जेलों में बंद थे। कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद विरोधी जन आंदोलन का नेतृत्व संभालने में असफल हो गए। वे इस गलत धारणा का शिकार हो गए कि फासीवाद-विरोधी विश्वयुद्ध का समर्थन कैसे किया जाए। और, भारतीय उच्च, मध्यम और निम्न मध्यवर्गों ने युद्ध के दौरान नौकरियों, ठेकों और अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए सभी प्रकार की राजनीति को त्याग दिया।

V

सामान्य रूप से सांप्रदायिकता और विशेष रूप से हिंदू सांप्रदायिकता के विरुद्ध एक अनवरत और सैद्धांतिक संघर्ष आयोजित करने में असफलता सांप्रदायिक समस्या के संबंध में राष्ट्रवादी विचार-पद्धति की एक बुनियादी कमजोरी थी। इस पहलू के कई आयाम थे।

मुस्लिम समुदाय भारत में अल्पमत में था। साम्राज्यवादी लेखक, अधिकारी वर्ग और राजनेता और सक्रिय सांप्रदायिक नेता, हिंदू और मुस्लिम दोनों, मुस्लिम जनता, मध्यम वर्ग और बुद्धिजीवियों को इस तथ्य के प्रति हमेशा सचेत करते रहते थे। वह (मुस्लिम समुदाय) ऐसी स्थिति में रह रहा था जहां एक छोटा परंतु मुखर हिंदू सांप्रदायिक तत्व निरंतर देश के हिंदूकरण का उपदेश देता रहता था और राष्ट्रीय स्वतंत्रता को इसी और इसी प्रकार के दूसरे उद्देश्यों के समान मानता था। इसके परिणामस्वरूप उन्हें (मुस्लिमों को) निरंतर यह डर सताता रहता था कि उनका न केवल दमन किया जाएगा बल्कि धीरे-धीरे उन्हें समाप्त भी कर दिया जाएगा।

ऐसी स्थिति में, एक धर्म निरपेक्ष, एकताबद्ध राष्ट्रवादी आंदोलन का आयोजन बहुमत की सांप्रदायिकता के विरुद्ध एक सक्रिय संघर्ष के आधार पर ही किया जा सकता था। दूसरी ओर, यदि इसके प्रति जरा सी भी नरमी दिखाई जाती तो इससे अल्पसंख्यकों के मन में शंकाएं उत्पन्न हो सकती थीं और इस प्रकार, मुस्लिम सांप्रदायिक नेताओं को मुस्लिम जनता और बुद्धिजीवियों में अपना आधार बनाने में

सफलता मिल सकती थी।

इसमें संदेह नहीं है कि राष्ट्रीय आंदोलन का शक्तिशाली कांग्रेसी नेतृत्व धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक संकीर्णता से दूर था। उसने आंदोलनों के दौरान भी हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए प्रचार जारी रखा। बहुत से नाजुक क्षणों में उसने हिंदू संप्रदायवादियों का तुष्टीकरण करने से इनकार किया; लेकिन फिर भी उसने किसी भी स्थिति में हिंदू सांप्रदायिकता पर सीधा राजनीतिक और वैचारिक आक्रमण नहीं किया।

इस तथ्य की मान्यता को इस आक्रमण का आरंभिक बिंदु होना था कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक सांप्रदायिकताओं का स्वरूप अथवा विचारधारा एक जैसी न हों, यद्यपि उनकी विषय-वस्तु एक जैसी थी, फिर भी उनके रूप में अवश्य ही भिन्नता होनी थी, क्योंकि अपने अल्पसंख्यक चरित्र की वजह से अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता खुल्लमखुल्ला एक वर्गीय, संकीर्ण, अलोकतांत्रिक और फूट डालने वाला दृष्टिकोण अपनाती है और उसे "अल्पसंख्यकों की सुरक्षा" की बात करनी होती है। दूसरी ओर बहुसंख्यक संप्रदायवादी यह जानते हैं कि बहुसंख्या द्वारा शासन का लोकतांत्रिक सिद्धांत उन्हें सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक वर्चस्व के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने और मध्यम और उच्च वर्गों के लिए नौकरियां दिलाने के और दूसरे आर्थिक लाभों को प्राप्त करने के अवसर दे सकता है। इसलिए, बहुसंख्यक संप्रदायवादी राष्ट्रवादी चोगा पहन कर आसानी से लोकतंत्र, अवसरों की समानता, गुणवत्ता के आधार पर स्पर्धा इत्यादि ऊंचे सिद्धांतों की बात कर सकते हैं। जबकि मुस्लिम सांप्रदायिक राष्ट्रवादी को मजबूर होकर यह जाहिर करना होता था कि वह एक अच्छा राष्ट्रवादी था और इसके साथ ही वह 'मुस्लिम अधिकारों की रक्षा करना' चाहता था; हिंदू सांप्रदायिक राष्ट्रवादी को खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक नजरिया अपनाने की जरूरत महसूस नहीं होती थी क्योंकि वह यह मान सकता था कि बहुसंख्या का सिद्धांत, निश्चित रूप से 'हिंदू-अधिकारों' की रक्षा करेगा।[4]

इसलिए, राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए यह जरूरी था कि वह एक राष्ट्रवादी और एक संप्रदायवादी के बीच इस आधार पर अंतर न करे कि राष्ट्रीय मांगों को उठाने वाला राष्ट्रवादी और वर्गीय मांगों को उठाने वाला सांप्रदायिक था। वे सभी व्यक्ति, जिन्होंने धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार कर लिया था, धर्मनिरपेक्ष नहीं थे। उनमें से अनेक व्यक्तियों की थोड़ी और घनी मात्रा में सांप्रदायिक विचारधाराएं और वफादारियां थीं। वे भी कभी-कभी उतने ही सांप्रदायिक हो जाते थे जितने कि मुस्लिम संप्रदायवादी। दूसरे शब्दों में, एक हिंदू संप्रदायवादी एक मुस्लिम अलगाववादी जैसा नजर नहीं आता था। वह राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक विश्वास की ज्यादा बात करता था।[5] परंतु वह मुस्लिम संप्रदायवादियों जैसा ही घोर सांप्रदायिक था। इस वजह से राष्ट्रवादी नेतृत्व को हिंदू संप्रदायवादियों की विचारधारा मनोविज्ञान और राजनीतिक दृष्टिकोण को अधिक गहराई से समझना था। उसे केवल हिंदू महासभा को मुस्लिम लीग के बराबर मान

कर यह संतोष नहीं कर लेना चाहिए था कि उन्होंने हिंदू सांप्रदायिकता को कमजोर कर दिया है, बल्कि अपने उन कार्यकर्ताओं पर भी नजर रखनी थी जिनमें विभिन्न प्रकार के हिंदू संप्रदायवादी मौजूद थे। इस प्रकार की हिंदू सांप्रदायिकता (जिसने राष्ट्रवाद का आवरण ओढ़ रखा था) के विरुद्ध एक संघर्ष चलाए बिना उस मुस्लिम सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ना संभव नहीं था जो अपने स्वभाव से ही राष्ट्रवादी पंक्तियों से बाहर थी।

ऐसा करने के बजाए, कांग्रेस के नेतृत्व ने खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक तत्वों को और उन व्यक्तियों को भी कांग्रेस में शामिल होने और स्थानीय स्तर से लेकर अखिल भारतीय स्तर तक नेतृत्व संभालने की अनुमति दी जिनका राजनीतिक और वैचारिक झुकाव सांप्रदायिकता की ओर था, या वे कांग्रेसी अथवा दूसरे राष्ट्रवादी नेताओं की अनदेखी के कारण कांग्रेस में राष्ट्रवादियों के रूप में कार्य कर रहे थे। इस प्रकार के सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों ने अकसर कांग्रेस छोड़ी और राजनीतिक रूप से उसका विरोध किया। लेकिन उसने तुरंत बाद ही उन्हें बिना किसी आत्म-समीक्षा और तात्कालिक राजनीति अथवा सांप्रदायिक विचारधारा का परित्याग किए बिना कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा फिर से कांग्रेस में शामिल कर लिया जाता था। उस संबंध में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं।

पंडित मदन मोहन मालवीय खुल्लमखुल्ला हिंदू महासभा और कांग्रेस में आते-जाते रहे। 1931 तक उन्होंने दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में हिंदू सांप्रदायिकता का प्रतिनिधित्व किया और 1932 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के लिए उन्हें अध्यक्ष नियुक्त किया गया; और मई 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने उनसे और डा. अंसारी से केंद्रीय विधान परिषद के चुनाव लड़ने के लिए एक कांग्रेस स्वराज्यवादी संसदीय बोर्ड गठन करने को कहा। पंजाब में, गोपीचंद भार्गव प्रांतीय विधान परिषद में एक दिन हिंदू सांप्रदायिक प्रतिनिधि बन जाते थे और दूसरे दिन कांग्रेसी और गांधीवादी नेता बन जाते थे। पंजाब और बंगाल दोनों में अनेक कांग्रेसी नेताओं को नौकरियों के संबंध में संवैधानिक बहसों अथवा सांप्रदायिक दंगों में 'हिंदू पक्ष' का समर्थन करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। 1922 के बाद बहुत से राष्ट्रवादियों ने खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक मुद्दे उठाए और अपने-अपने सांप्रदायिक संगठनों में शामिल हो गए, परंतु शीघ्र ही वे विधान परिषदों में स्वराज्यवादी कुर्सियों पर भी विराजमान हो जाते थे। 1926 में कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन में मोतीलाल नेहरू ने सांप्रदायिक राष्ट्रवादी आलोचकों की इन शब्दों में शिकायत की :

> स्वराज्यवादियों की करारी हार हुई है... लेकिन यह हार इस वजह से नहीं हुई कि वे स्वराज्यवादी थे, बल्कि इसलिए हुई कि वे राष्ट्रवादी थे ... यह लड़ाई राष्ट्रवादी ताकतों और धन, पूर्ण भ्रष्टाचार, आतंकवाद और झूठ द्वारा समर्थित सांप्रदायिकता के बीच हुई। कांग्रेस के विरोधियों, हिंदू और मुसलमान दोनों, का

> यह नारा था कि "धर्म खतरे में है।" खुले आम मेरी यह कह कर निंदा की गई कि मैं गाय का मांस खाता हूं, गायों को मरवाता हूं, मस्जिदों के आगे संगीत पर पाबंदी लगाने का समर्थक हूं और इलाहाबाद रामलीला के जुलूस पर पाबंदी लगाने के लिए अकेला जिम्मेदार मैं ही हूं ... मेरे डाक बंगलों और निरीक्षण बंगलों में ठहरने और यूरोपीय शैली में बने भोजन के खाने को इस झूठे प्रचार की पुष्टि माना गया। फिर भी उसके तुरंत बाद, वे और उनके सांप्रदायिक आलोचक स्वतंत्रता संघर्ष में एक साथ कदम मिला कर आगे बढ़ रहे थे!

यहां इस पर ध्यान देना भी महत्वपूर्ण होगा कि शुद्धि और संगठन आंदोलनों को आरंभ करने का कार्य भी प्रमुख कांग्रेसियों और दूसरे राष्ट्रवादियों द्वारा किया गया। दूसरे कांग्रेसियों ने तब लीग़ और तंज़ीम आंदोलनों के संगठन में सक्रिय रूप से भाग लेकर उनका अनुसरण किया। कांग्रेसी नेतृत्व ने किसी की भी भर्त्सना नहीं की। लंबी बहस के पश्चात केवल इतना ही कहा गया कि वे अपनी गतिविधियों द्वारा किसी पर दबाव न डालें।

इसी प्रकार, बहुत से राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने पूर्ण रूप से राष्ट्रवादी और आंशिक रूप से सांप्रदायिक प्रवक्ताओं के रूप में कार्य किया। उदाहरण के लिए लाहौर के *ट्रिब्यून* की एक राष्ट्रवादी समाचारपत्र के रूप में ख्याति थी और इस बात को सब स्वीकार करते थे। परंतु, वह सरकारी नौकरियों, विधान परिषद इत्यादि में हिंदुओं को अधिक हिस्सा लेने के लिए उकसाता रहता था और सांप्रदायिक दंगों के दौरान खुले आम 'हिंदू-समर्थक' अर्थात, हिदू-सांप्रदायिक दृष्टिकोण अपनाता था। इलाहाबाद के *लीडर* और कलकत्ता की *अमृत बाजार पत्रिका* के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। महात्मा गांधी और जी.डी. बिड़ला के साथ अपने संबंध के बावजूद *हिंदूस्तान* टाइम्स भी हिंदू महासभा से अपना संबंध तोड़ने को तैयार नहीं था।

मुसलमानों के लिए इस प्रकार के समाचारपत्रों और व्यक्तियों की दो अलग प्रकार की भूमिकाओं अथवा उनके जीवन में (समाचारपत्रों और व्यक्तियों के जीवन में) निरंतर परिवर्तन होने वाले राष्ट्रवादी और सांप्रदायिक चरणों में भेद करना अत्यंत कठिन था। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादियों के प्रति कड़वाहट में और अधिक वृद्धि हुई और उन्हें पाखंडी समझा जाने लगा।

उनके कांग्रेसी नेताओं ने राष्ट्रवादी नेताओं और धर्म प्रचारक या कम से कम धर्म-सुधारक की दोहरी भूमिका निभाई। हालांकि सैद्धांतिक रूप से यह कहा जा सकता था कि किसी भी व्यक्ति के एक अच्छा भारतीय और एक अच्छा हिंदू अथवा एक अच्छा मुसलमान होने में कोई हर्ज नहीं था, लेकिन व्यवहार में यह केवल उनके व्यक्तिगत जीवन पर ही लागू हो सकता था। इसलिए एक ऐसे देश में जहां अनेक धर्मों के मानने वाले लोग रहते थे और जहां सरकार के पूर्ण समर्थन की वजह से सांप्रदायिक तत्व सक्रिय थे, इस प्रकार की दोहरी सार्वजनिक भूमिका निभाना न तो

संभव था और न वांछनीय। इससे लोगों में भ्रम फैला जिसका सांप्रदायिक नेताओं ने पूरी तरह लाभ उठाया।

यहां इस बात का भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि मदन मोहन मालवीय, एन. सी. केलकर, अणे और 1922 के बाद के लाजपत राय जैसे सांप्रदायिक नेताओं के अतिरिक्त सांप्रदायिक विचारधारा भी कांग्रेस की पंक्तियों में गहराई से प्रवेश कर चुकी थी। कांग्रेस की अग्र पंक्तियों में से अनेक नेता किसी हद तक सांप्रदायिकता का शिकार हो चुके थे। इसका बाद में उस समय बहुत भयंकर परिणाम सामने आया जब उनमें से कई नेता, उदाहरण के लिए के.एम. मुंशी, 1937 में प्रांतों में मंत्री बने। न ही 1947 में सरदार पटेल के राजनीतिक व्यवहार को एक आकस्मिक और क्षणिक पथ भ्रष्टता के रूप में लिया जा सकता है। इसकी गहरी ऐतिहासिक जड़ें थीं, और वे केवल उनके व्यक्तिगत जीवन से ही संबंधित नहीं थीं।

राष्ट्रवादी पंक्तियों में सांप्रदायिक विचारधारा के प्रवेश का एक अद्भुत उदाहरण भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक अवधारणा का विशेषकर उसे सूक्ष्म रूपों में, व्यापक प्रचलन था। अनेक कांग्रेसी नेता खुल्लमखुल्ला यह कहते और लिखते थे कि एक हजार वर्षो के विदेशी शासन के अंतर्गत भारत को काफी नुकसान उठाना पड़ा है और 'मुस्लिम शासन' के दौरान भारतीय समाज और संस्कृति का बड़ी तेजी से पतन हुआ है। प्राचीन भारतीय समाज, राज्यतंत्र, अर्थव्यवस्था और संस्कृति के गुणगान को राष्ट्रवादी विचारधारा का लगभग एक मूल तत्व समझा जाता था। लगभग सभी कांग्रेसी नेता शिवाजी, महाराणा प्रताप और गुरु गोविंदसिंह को ऐसे राष्ट्रीय नायकों के रूप में महिमामंडित करते थे जिन्होंने "विदेशी शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी।" सेठ गोविंद दास जैसे नेताओं और लेखकों ने उस प्रत्येक छोटे राजपूत और बुंदेल जमींदार को वीर बना दिया जिसने किसी मुस्लिम फौजदार, सूबेदार अथवा सरदार के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी। इसी प्रकार, अनेक कांग्रेसी नेताओं ने हिंदी के मुद्दे को अंग्रेजी के विरुद्ध न उठा कर उर्दू के विरुद्ध उठाया और उसका (हिंदी का) लोकतंत्र और लोकतांत्रिक संस्कृति के आधार पर नहीं बल्कि खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक आधारों पर प्रचार किया। उर्दू को विदेशी एवं मुसलमानों की भाषा करार दिया गया, जबकि हिंदी की हिंदुओं की भाषा के रूप में प्रशंसा की गई।

कांग्रेस और राष्ट्रीय नेतृत्व उन सामाजिक और सांस्कृतिक वर्जनाओं, अलग रहने की प्रवृत्ति और संकीर्णता के विरुद्ध एक अभियान का गठन करने में भी असफल रहे जिनका मुसलमानों के साथ अपने व्यवहार में हिंदू प्रदर्शन करते थे। यह सही है कि सांप्रदायिकता के फैलने का केवल यही एक कारण नहीं था क्योंकि सदियों से मुसलमानों ने उपरोक्त बातों को भेदभाव के रूप में नहीं लिया है। हिंदू और मुसलमानों में एक दूसरे के प्रति जातीयता अथवा श्रेष्ठता की भावना भी नहीं थी। ये भेदभाव और वर्जनाएं धर्म पर आधारित थीं। परंतु, यह नहीं भूलना चाहिए कि

उनका रूप पूर्णतया सामाजिक था। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम संप्रदायवादियों ने इन वर्जनाओं इत्यादि का प्रयोग मुस्लिम मध्यम वर्गों में हिंदू-विरोधी भावनाओं और सांप्रदायिकता की आग को भड़काने के लिए किया। उस समय यह आवश्यक था कि इन सामाजिक वर्जनाओं, विशेषकर उनके भेदभावपूर्ण पहलुओं के विरुद्ध लड़ा जाता और उन्हें समाप्त किया जाता। इस प्रकार का संघर्ष आरंभ न करना आश्चर्यजनक था क्योंकि हरिजनों और स्त्रियों के प्रति भेदभाव और इसी प्रकार की वर्जनाओं के विरुद्ध इसी प्रकार के संघर्ष चलाए जा रहे थे। यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि इस असफलता का कारण राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं में सामाजिक रूप से प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव था।

शीर्ष स्तर पर बातचीत द्वारा सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने के राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रयासों में सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों और सांप्रदायिक विचारधारा के प्रति नरम नीति प्रमुख अड़चन बनी। संभवतः यह पूर्ण विचार-पद्धति से वस्तुगत कारणों से असफल हुई। औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा सांप्रदायिक नेताओं और पार्टियों को दिया गया सक्रिय सर्मथन भी एक कारण था। दूसरा कारण यह था कि संप्रदायवादियों और निहित आर्थिक और सामाजिक हितों में गहरे आपसी संबंध थे। परंतु, इस विचार-पद्धति की सफलता के जो भी अवसर थे, अथवा मुस्लिम जनता के सामने मुस्लिम सांप्रदायिक नेतृत्व का बातचीत द्वारा भंडाफोड़ करने के जो भी अवसर मौजूद थे वे इसलिए खो दिए गए क्योंकि कांग्रेसी नेतृत्व अपनी पंक्तियों के अंदर और बाहर हिंदू संप्रदायवादियों के दबाव का डटकर मुकाबला नहीं कर सका। वास्तव में, 'सांप्रदायिक सुरक्षा उपायों' पर वार्ता करने का संपूर्ण तर्कशास्त्र इस विचार पर आधारित था कि एक अल्पसंख्यक समुदाय, चाहे उसका गठन कैसे भी हुआ हो, के मन में कुछ डर अवश्य होते हैं, चाहे वे बहुसंख्यक समुदाय द्वारा दबाव बनाए रखने अथवा दमन करने के अतर्कसंगत और आधारहीन डर ही क्यों न हों। इससे भी अधिक शीर्ष पर वार्ता करने की इस विचार-पद्धति की संपूर्ण प्रभावात्मकता बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों के प्रति एक उदार दृष्टिकोण अपनाने में है, ताकि वास्तविक जीवन के अनुभव के आधार पर अतर्कसंगत डर धीरे-धीरे समाप्त हो जाएंगे। यदि वह इस उदारता का प्रदर्शन नहीं कर सकती तो फिर एक नेतृत्व को 'सांप्रदायिक सुरक्षा उपायों' पर वार्ता करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। उसे तब एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इस खेल को खेलना और उसके नियमों का पालन न करना आत्मघाती था। हिंदू सांप्रदायिकता के दबाव में आकर कांग्रेसी नेतृत्व ने यही किया।

हिंदू-मुस्लिम और कांग्रेस-लीग वार्ताओं का संपूर्ण इतिहास इस आलोचना का सबूत है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रवादी नेतृत्व ने यह भली भांति समझ लिया था कि पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मध्यम वर्गीय मतदाताओं पर आधारित राजनीति के कारण राजनीतिक व्यवस्था विकृत हो रही थी और भारतीय राजनीति के स्वस्थ विकास के लिए संयुक्त

निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा उसका स्थानापन्न अत्यंत आवश्यक था। वास्तव में, 1920 और 1930 के दशकों की राजनीतिक परिस्थितियों में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने के लिए कोई भी बलिदान बड़ा बलिदान नहीं था। फिर भी कई अवसरों पर जब दूसरी रिआयतों के बदले में मुस्लिम संप्रदायवादियों ने संयुक्त मतदाता क्षेत्रों की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, तब कांग्रेसी नेतृत्व उसका लाभ उठाने में असफल रहा क्योंकि वह हिंदू-सांप्रदायिक जनमत की उपेक्षा करने को तैयार नहीं था। इस प्रकार ऐसे तीन अवसर—1927 में नेहरू कमीशन रपट पर बहस के दौरान, 1931 में दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में, और 1932 में सर्वदलीय एकता कांफ्रेस में—खो दिए गए। वास्तव में, 1932 में संयुक्त मतदाताओं के प्रश्न पर वार्ता की संभावना से ब्रिटिश सरकार इतना अधिक घबरा गई थी कि उसने अपने सांप्रदायिक फैसले की घोषणा कर दी जिसके तहत मुस्लिम संप्रदायवादियों की लगभग सभी मांगें स्वीकार कर ली गईं और पृथक मतदान क्षेत्रों की व्यवस्था को कायम रखा गया। अब दूसरी सुरक्षा, जिसकी मुस्लिम संप्रदायवादी मांग कर सकते थे, वह केवल पृथक राज्यव्यवस्था थी। इसलिए अब उन्होंने एक कमजोर केंद्र की मांग रखते हुए इसी रास्ते पर चलना आरंभ कर दिया।

राष्ट्रीय नेतृत्व और हिंदू संप्रदायवादियों ने अब अपनी एक दूसरी विशेषता का प्रदर्शन किया : मुस्लिम संप्रदायवादियों द्वारा रखी गई जिन मांगों को वे स्वीकार करना नहीं चाहते थे, औपनिवेशिक अधिकारियों के दबाव में आकर उन्होंने उन मांगों को मान लिया, और इस प्रकार उन्होंने मुस्लिम संप्रदायवादियों को साम्राज्यवाद की गोद में पनपने का अवसर दिया।

राष्ट्रवादी नेतृत्व अपने ही दल में हिंदू सांप्रदायिकता और हिंदू सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों का मुकाबला करने में असफल रहा, इसका एक परिणाम यह हुआ कि वह मुस्लिम और सिख सांप्रदायिकता के प्रति भी इसी प्रकार के 'उदारवाद' का प्रदर्शन करने को विवश हो गया। इसके अतिरिक्त, अपने मुस्लिम समर्थकों में एक मजबूत, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने के बजाए वह उन राष्ट्रवादी मुसलमानों पर भरोसा करने और वास्तव में उन्हें बढ़ावा देने को विवश हो गया जिन्होंने इस प्रकार के राष्ट्रवाद के कारण अपने निहित स्वार्थों को पूरा करना आरंभ कर दिया था। वे निस्संदेह राष्ट्रवादी थे लेकिन उनका राजनीतिक महत्व इस तथ्य पर निर्भर करता था कि वे स्वयं मुस्लिम और मुस्लिमों के 'प्रतिनिधि' थे। ऐसी स्थिति में मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे सशक्त राष्ट्रवादी एक पुरावशेष होकर रह गए। सांप्रदायिकता ने देश में स्थायी रूप से अपनी जड़ें जमा लीं और कांग्रेसी नेतृत्व में सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों के विरुद्ध एक मैत्रीपूर्ण संघर्ष छेड़ने की भी हिम्मत नहीं रही। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का पालन इस प्रकार किया गया कि जिस प्रकार हिंदू राष्ट्रवादियों को हिंदू महासभा में कार्य करने की अनुमति दे दी गई थी उसी प्रकार राष्ट्रवादी मुसलमानों को भी खुले तौर पर मुस्लिम लीग में कार्य करने की अनुमति दे दी गई।

सैद्धांतिक कारण के अलावा, हिंदू सांप्रदायिकता के विरुद्ध एक सक्रिय संघर्ष छेड़ने में कांग्रेसी नेतृत्व की असफलता का एक दूसरा कारण उसकी संसदवाद की नीति और उसका मध्यवर्गीय सामाजिक आधार था। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने, विशेषकर 1930 के दशक में, एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसमें आर्थिक अवसर लगभग समाप्त हो गए थे और मध्यम और निम्न वर्ग के भारतीयों में बेरोजगारी बढ़ रही थी। यहां तक कि सीमित अवसरों और संसाधनों का लाभ उठाने के लिए वे एक दूसरे से स्पर्धा करने को विवश हो गए थे। इनमें वे लोग जो अंततः साम्राज्यवाद को समाप्त करना चाहते थे, उन्हें भी अपने निर्वाह की चिंता सताने लगी। चूंकि एक प्रेरणात्मक, शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन की अनुपस्थिति में, मध्यम वर्गों को यह लगा कि उन्हें राष्ट्रीय संसाधनों में से कुछ हिस्सा दिलाने में सांप्रदायिक तथा वर्गीय आधार एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल मध्यवर्गीय मुसलमानों का ही नहीं हिंदू-मध्यम वर्गों का झुकाव भी सांप्रदायिकता की ओर हो गया।

कांग्रेसी नेतृत्व अपने साम्राज्यवाद-विरोधी अभियानों के दौरान जनता और सभी लोगों के क्षणिक उत्साह पर भरोसा करके कुछ हद तक मध्यवर्गों की उपेक्षा कर सकता था। परंतु, जब विधान परिषदों और स्थानीय निकायों के चुनावों का समय निकट आता था तब क्योंकि जनसाधारण को वोट देने का अधिकार नहीं था, उन सांप्रदायिक निम्न मध्यम और मध्यम वर्गों पर भरोसा करना होता या जिनमें उन नेताओं का बहुत सम्मान था जो राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ 'हिंदू-हितों के संरक्षक' भी थे। पृथक मतदान की व्यवस्था होने के कारण हिंदू और मुस्लिम प्रत्याशियों दोनों को इन वर्गों पर निर्भर रहना पड़ता था। 1926 में पंजाब और यू.पी. के चुनाव में करारी हार और समस्त देश में सामान्य आधार खोने के रूप में स्वराज्यवादियों को सांप्रदायिक राष्ट्रवादियों के विरोध करने का खामियाजा भुगतना पड़ा।

इसलिए, इसे केवल एक संयोग ही नहीं माना जाएगा कि हिंदू मुस्लिम एकता सम्मेलनों और संवैधानिक बहसों में सशक्त राष्ट्रवादी भी मदन मोहन मालवीय जैसे नेताओं अथवा हिंदू सांप्रदायिक जनमत का सीधा विरोध करने से डरते थे, हालांकि निजी तौर पर वे उस राय से सहमत नहीं होते थे। केवल बालिग मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था से ही चुनाव लड़ने वालों को मुक्ति मिल सकती थी। लेकिन दशकों में जो आदत पड़ी है। वह अभी तक छूटी नहीं है। इसके अतिरिक्त निम्न मध्य, मध्य और उच्च वर्ग, जो अभी तक आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं, आज भी सिवाय बंगला जैसे कुछ क्षेत्रों में जहां वामपंथ शक्तिशाली है, सांप्रदायिक और दूसरी विघटनकारी विचारधाराओं से प्रभावित हो रहे हैं।

VI

जवाहरलाल नेहरू एक ऐसे कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने शीर्ष पर समझौते द्वारा सांप्रदायिक समस्या का समाधान करने की नरमपंथी तिलकवादी गांधीवादी रणनीति की कमजोरी को स्पष्ट रूप से समझ लिया था। इस विषय पर 1934 से लेकर 1939 तक के उनके लेखन में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, और उनके चिंतन में भी गहनता है। उन्होंने इस समस्या पर, सबसे पहले मार्क्सवादी विचार पद्धति को लागू करने का प्रयास किया। वे स्पष्ट रूप से यह देखने में भी सफल हुए कि राष्ट्रीय एकता जनता की एकता के रूप में होनी चाहिए न कि नेताओं के बनावटी रूप से आयोजित एक सुविधाजनक गठबंधन के रूप में।

1936-37 के दौरान उन्होंने कांग्रेस के अंदर हाल ही में प्राप्त हुई अपनी रणनीतिक स्थिति का प्रयोग मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ एक कामचलाऊ एकता स्थापित करने के प्रयत्नों को रोक कर किया। उन्होंने, एक उग्र साम्राज्यवाद विरोधी वैकल्पिक राजनीतिक नीति अपनाकर, सवैधानिक जाल में फंसने से इनकार करके, जनसाधारण को अपनी राजनीति का आधार बना कर, और वर्ग मांगों के आधार पर मुस्लिम कृषक वर्ग और मजदूरों के मध्य राजनीतिक कार्य करके और उनका समर्थन प्राप्त करके इस प्रकार के प्रयत्नों का विरोध किया, इस प्रकार उन्होंने न केवल मध्यम और उच्च वर्ग के सांप्रदायिक नेताओं की उपेक्षा की बल्कि उनके सामंतवाद-समर्थक और पूंजीवाद-समर्थक रुझान का पर्दाफाश भी किया। यह विशेष रूप से इसलिए जरूरी था क्योंकि औपनिवेशिक अधिकारी और सांप्रदायिक नेता देश में अधिकांश वर्गीय और सामाजिक अंतर्विरोधों को एक सांप्रदायिक रंग दिया करते थे। अपने राजनीतिक कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए नेहरू ने सुझाव रखा कि भारत सरकार के 1935 के अधिनियम का बहिष्कार किया जाए, उसके अंतर्गत प्रांतीय मंत्रिमंडल बनाने से इनकार किया जाए, मजदूरों और किसानों के संगठनों को सीधे कांग्रेस के साथ संबद्ध किया जाए, कांग्रेस समाजवादियों और कम्युनिस्टों के साथ सहयोग किया जाए और एक विशाल मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम आरंभ किया जाए।

लेकिन इस कार्यक्रम पर कभी अमल नहीं हुआ। वह आरंभ होने से पहले ही समाप्त हो गया। नेहरू केवल अपने पद ही की रक्षा कर पाए। जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे उसी दौरान प्रांतों में कांग्रेस ने पद स्वीकार किए। कांग्रेस के दक्षिणपंथी घटक ने कांग्रेस के साथ मजदूरों और किसानों के संगठनों की संबद्धता के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस मंत्रिमंडल खुले तौर पर किसान-समर्थक और मजदूर-समर्थक नीतियां अपनाने में असफल रहे। दूसरी ओर, अनेक प्रांतों में, उदाहरण के लिए पंजाब और बंगाल में स्थानीय कांग्रेसी नेतृत्व ने एक जमींदार समर्थक और साहूकार-सर्मथक नज़रिया अपनाया। विशाल मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम को कभी भी

गंभीरता से नहीं लिया गया क्योंकि उसे एक परिवर्तनवादी भू-स्वामित्व संबंधी कार्यक्रम और कस्बों और शहरों में मजदूर-समर्थक और दस्तकार सर्मथक नीतियों को अपनाए बिना आरंभ नहीं किया जा सकता था।

चूंकि शक्तिशाली कांग्रेसी नेतृत्व ने एक बुर्जुआवादी दृष्टिकोण अपनाया हुआ था इसलिए ऐसा होना अनिवार्य था। दूसरी ओर, अपनी अव्यावहारिकता की वजह से सांप्रदायिकता के प्रति नेहरू की विचारपद्धति पूर्ण रूप से विफल हो गई। उनके परिवर्तनवाद ने शीर्ष पर वार्ताओं और समझौते का मार्ग अवरुद्ध कर दिया, लेकिन जब 1947 में यही रास्ता अपनाया गया तो इसके बहुत भयंकर परिणाम सामने आए; यदि 1937-39 के दौरान यही रास्ता अपनाया जाता तो कम नुकसान हुआ होता।[6] इसके साथ ही, नेहरू और वामपंथी तत्व कांग्रेस के अंदर और बाहर या तो इतने कमजोर थे कि वे इस प्रश्न पर अपनी नीति को कार्यान्वित नहीं कर सके या फिर उन्हें ऐसा करने में राजनीतिक निष्कासन का खतरा महसूस होता था। उदाहरण के लिए नेहरू द्वारा मुस्लिम लीग के इस दावे का विरोध करना सही था कि वह (लीग) मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि थी, परंतु इस प्रकार के दावे को एक वास्तविकता में तबदील होने से रोकने के लिए उन्होंने सक्रिय राजनीतिक और संगठनात्मक कदम नहीं उठाए। उन्होंने यह ठीक कहा था कि कांग्रेस को मुस्लिम जनसाधारण के साथ सीधे बातचीत करनी चाहिए लेकिन, वे इस प्रकार का सीधा संपर्क स्थापित करने में असफल रहे। मुस्लिम जनसाधारण में अपना कोई आधार बनाए बिना, कांग्रेस ने शीर्ष पर अपना लचकीलापन खो दिया। और यह उस समय हुआ जब 1937 के चुनावों में कांग्रेस की जीत, नेहरू की परिवर्तनवादी गर्जना और वामपंथ के तेज उदय से बुरी तरह भयभीत होकर मुस्लिम लीग और औपनिवेशिक अधिकारी भारी जोड़तोड़ करने में लगे थे। वे शीर्ष पर यू.पी.के राष्ट्रवादी मुसलमानों, पंजाब के यूनियनवादियों और बंगाल की कृषक प्रजा समिति को लीग में शामिल कर रहे थे, और निम्न स्तरों पर लीग को एक परिवर्तनवादी, और यहां तक कि एक साम्राज्यवाद विरोधी छवि देने का प्रयत्न कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि नेहरू ने उच्च वर्ग की मुस्लिम सांप्रदायिकता पर चोट तो की, लेकिन वे उसे समाप्त नहीं कर सके; जिसकी उन्हें एक दशक की अवधि के अंदर ही कीमत चुकानी पड़ी। सच्चाई यह है कि ऐसी राजनीति जो ठोस राजनीतिक कार्यवाही पर आधारित न हो, वह अप्रासंगिक होती है और उसके परिणाम भयंकर होते हैं।

VII

भारतीय राजनीति की वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन राष्ट्रवादी राजनीति के ढांचे के अंतर्गत सांप्रदायिक समस्या का कोई भी समाधान, परिवर्तनवादी अथवा रूढ़िवादी

संभव नहीं हो सकता था। केवल शक्तिशाली वामपंथ और जन-आधारित राजनीति से ही कोई समाधान संभव हो सकता था। इस प्रकार की राजनीति का अस्तित्व था ही नहीं और किसी दूसरे रास्ते से काम चलने वाला नहीं था।

सभी ऐतिहासिक स्थितियों का तत्काल समाधान नहीं हो सकता। भूत और वर्तमान के अंतर्संबंधों की उपेक्षा करके इस प्रकार के त्वरित समाधानों की खोज करना, बेकार के रूमानी प्रयास करना है। समाधान के लिए, वर्षों तक परिस्थितियों को अनुकूल बनाना पड़ता है और तत्वों को तैयार करना होता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी राष्ट्रों और समाजों में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उनकी समस्याओं का टुकड़ों में समाधान नहीं किया जा सकता, चाहे सद्‌भावपूर्ण व्यक्तियों द्वारा कितना ही कठिन प्रयत्न क्यों न किया जाए।

भारत में, 1930 के दशक में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी, जिसमें उसकी (भारत की) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के लिए एक आमूलचूल परिवर्तन, अर्थात, एक क्रांति की आवश्यकता थी। नेहरू को इस वास्तविकता का अहसास था। दुर्भाग्य से वे और वामपंथी इस संपूर्ण स्थिति का फायदा नहीं उठा पाए और न उसे पूरी तरह समझ पाए।

जैसा कि सांप्रदायिक, प्रांतीय, भाषाई और जातीय दंगों से जाहिर होता है, यह स्थिति आज भी मौजूद है। औपनिवेशिक शासन की राजनीति और अविकास को जड़ से न उखाड़ फेंकने की कीमत 1947 में देश का दो भागों में विभाजन करके चुकानी पड़ी। अविकसित पूंजीवाद की असफलता के इस चरण में एक समाजवादी क्रांति लाकर ही भारतीयों की एकता को कायम रखा जा सकता है। गहरे अर्थों में यह भी कहा जा सकता है कि 1947 के विभाजन का कारण यह था कि भारतीय जनता किसानों और मजदूरों के संगठनों का और एक ताकतवर समाजवादी आंदोलन का विकास करने में असफल रही। हमारी कोशिश यही होनी चाहिए कि अब इतिहास की पुनरावृत्ति न हो।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. इस विचार-पद्धति का प्रभाव सर्वव्यापी रहा है. आज सर्वाधिक धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों में से भी कुछ लोग हिंदू, अथवा सिख अथवा मुस्लिम समुदाय के अस्तित्व, विचारधारा और भावना इत्यादि की बात करते हैं. वास्तव में, इस शब्दावली का प्रयोग अवैज्ञानिक है और इसका अर्थ आंशिक, हालांकि जानबूझ कर नहीं, रूप से सांप्रदायिक दृष्टिकोण की स्वीकृति है.
2. इस प्रकार 1924 में जिन्ना यह दावा कर सकते थे कि "मुस्लिम समुदाय को संगठित करने का उनका दावा हिंदुओं के साथ झगड़ा करने के विचार से नहीं बल्कि उनके साथ एकताबद्ध होने, सहयोग करने और मातृभूमि की सेवा करने के लिए था." उन्हें विश्वास था कि "यदि एक बार मुस्लिम

संगठित हो जाएं तो वे हिंदू महासभा के साथ मिलकर दुनिया को दिखा सकते हैं कि हिंदू और मुस्लिम भाई भाई हैं.

3. जैसा कि डब्ल्यु.सी. स्मिथ ने अपने *'माडर्न इसलाम इन इंडिया'* में संकेत दिया है : "आंदोलन स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही जनता का एक बहुत बड़ा प्रयास था, और यह प्रदर्शित करता था कि धार्मिक रूप से एकताबद्ध हुए बिना, संघर्ष में लिप्त होकर, भारतीय जनता में राजनीतिक विचारों और कार्यवाही के लिए एकताबद्ध होने की क्षमता थी. उन्होंने, खुशी के साथ एक साथ काम किया, लड़े और कठिनाइयां झेलीं."
4. वास्तव में, भारतीय राजनीतिक विकास के सर्वाधिक आश्चर्यजनक पहलुओं में से एक यह पहलू था, अब भी है, कि हिंदू संप्रदायवादी इस स्थिति से संतुष्ट नहीं थे, बल्कि उन्होंने हिंदुओं में अल्पसंख्यकों जैसी 'डर की मानसिकता' पैदा करने का प्रयत्न किया. हिंदुओं को एक इकाई के रूप में संगठित करने के लिए, उन्होंने उन्हें (हिंदुओं को) मुस्लिमों के प्रभुत्व का डर दिलाया. इस दुःस्वप्न की वास्तविकता बताने के लिए उन्होंने इस विषय पर गंभीरता से बहस की कि मुसलमानों की अफगानिस्तान, ईरान, और अरब द्वारा सहायता की जा रही है.
5. 1920 और 1930 के दशकों के राजनीतिक नेताओं को यह पहलू बड़े स्पष्ट रूप में नजर आया. उदाहरण के लिए, चौधरी खलीकुज्जमां ने, जो उस समय एक राष्ट्रवादी मुस्लिम थे, सितंबर 1934 में डा. अंसारी को लिखा : "यदि मालवीय जी और अणे राष्ट्रवादी होने का दावा करते हैं, तब मेरे विचार में प्रत्येक संप्रदायवादी मुसलमान, जो अपने समुदाय के अधिकारों के लिए ईमानदारी से लड़ता है, और इसकी आड़ में सरकारी रिआयतें और व्यक्तिगत लाभ लेने का प्रयत्न नहीं करता, वह राष्ट्रवादी है."
6. गांधीवादी रणनीति की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने करोड़ों मुसलमानों से असहयोग आंदोलन में सक्रिय भागीदारी कराई; नेहरू की रणनीति का, क्योंकि वह उसे सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं कर पाए, कोई परिणाम नहीं निकला. गांधी के नेतृत्व में शीर्ष पर वार्ता द्वारा सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने के गंभीर प्रयत्न निरंतर जारी रहे; नेहरू ने जिस परंपरा को कायम किया, उसका 1947 में भी अनुसरण किया गया कि यदि हम सांप्रदायिकता की उपेक्षा करते रहे; उसे बुरा कहते रहे और उसकी भर्त्सना करते रहे तो उसका प्रभाव धीरे-धीरे कम हो जाएगा.

अध्याय दस

लार्ड डफ़रिन और भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व का चरित्र

अपने निजी पत्र-व्यवहार में, 6 नवंबर 1888 की अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में और 30 नवंबर 1888 को सेंट एंड्रूज दिवस पर दिए गए अपने भाषण में लार्ड डफरिन ने बार-बार इस बात पर जोर दिया था कि उदीयमान भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व "भारतीयों के केवल एक सूक्ष्म-वर्ग का प्रतिनिधित्व" करता था और वह "सूक्ष्म-अल्पमत" में था।[1] उसने इस बात पर भी जोर दिया कि यह नेतृत्व जनता के हितों के प्रति उदासीन था और उसका रवैया भी शत्रुतापूर्ण था।[2] अपने पहले कथन के सबूत में डफरिन ने एक हद तक समाजशास्त्र का सहारा लिया। उसने घोषणा की कि भारतीय समाज वर्गों में विभाजित था, जिनमें घोर शत्रुता थी। परंतु उसने भारतीय समाज को जमींदारों, व्यापारियों, उद्योगपतियों, ब्रिटिश पूंजीपतियों और यहां तक कि जातियों के रूप में भी विभाजित नहीं किया, भारतीयों और विदेशियों के रूप में विभाजित करने का तो प्रश्न ही नहीं था। इसके बजाए उसने यह खोज की कि भारतीय समाज 'शिक्षित बाबुओं" और "अशिक्षित जनता" में विभाजित था।[3]

अपने दूसरे कथन के सबूत के रूप में कि (राष्ट्रवादी नेतागण, जिनका अकसर बाबू वर्ग अथवा बाबू आंदोलनकर्मियों के रूप में वर्णन किया जाता था, जनता के हितों के विरुद्ध थे) डफरिन ने बंगाल में हाल ही में बनाए गए पट्टेदारी कानून, आय कर लागू किए जाने और नमक कर में वृद्धि के प्रति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रवादियों की दूसरी प्रमुख संस्थाओं, सर्वोच्च कानून परिषद के भारतीय सदस्यों और बाबू आंदोलनकारियों के लोकमत-विरोधी रवैए का उल्लेख किया।[4] उसने बलपूर्वक कहा कि "स्थानीय संस्थाओं ने हमारे हाल ही के भूमि कानून का कड़ा प्रतिरोध किया था।"[5] आय कर और नमक कर के संबंध में उसने लिखा :

> हमारे खजाने में कर के रूप में आने वाली राशि का अधिकतर अंश जनता द्वारा दिया जाता है, जबकि केवल 4,00,000 व्यक्ति ही आय कर अदा करते हैं। यदि इस प्रश्न पर भारतीयों (जनता) की "आवाज" के आधार पर निर्णय लिया जाना है तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे यह राय देंगे कि नमक कर में एक पाई की भी वृद्धि किए बिना आय कर को दस गुना बढ़ा दिया जाए; परंतु सर्वोच्च परिषद के सभी सदस्यों ने नमक कर में वृद्धि को स्वीकार करते हुए आय कर में वृद्धि का कड़ा विरोध किया ...।[6]

इसके साथ ही, "स्वयं कांग्रेस ने भी आय कर में वृद्धि न किए जाने के बारे में प्रस्ताव पारित किया है।"[7]

डफ़रिन ने दावा किया कि यदि सर्वोच्च परिषदों में भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की राष्ट्रवादी मांग को स्वीकार कर लिया गया तो सरकार के लिए लोकहित में कदम उठाना कठिन हो जाएगा, क्योंकि शिक्षित भारतीय ऐसे प्रयत्नों का विरोध करेंगे।[8] उसने कहा कि वास्तविकता यह थी कि जहां सरकार "हमेशा जन-हित में कार्य कर रही थी" शिक्षित वर्ग, "अपने स्वभावानुसार, प्रजा के हितों के विरुद्ध अपने हितों को बढ़ावा दे रहे थे"[9] डफ़रिन ने नार्थ ब्रूक को लिखा : "उदाहरण के लिए, यदि और अधिक भारतीय सदस्य परिषद में उपस्थित होते तो हमें अभी हाल के भूमि संबंधी कानून को पास कराने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता और उसका कड़ा विरोध होता।"[10]

बाद के अधिकारियों और सरकारी लेखकों ने डफरिन के विचारों का समर्थन किया। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक यह है कि हाल के समय में भी उसके विचारों की समीक्षा किए बिना उन्हें स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है।[11] मैं दो प्रकार से डफरिन के कथन की समीक्षा करूंगा : सर्वप्रथम, समकालीन राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधियों और प्रवृत्तियों के संदर्भ में और दूसरे, डफरिन की अपनी प्रवृत्तियों और नीतियों के संदर्भ में। मैंने अपनी रचना *दि राइज़ एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया* में उपरोक्त दोनों तरीकों में से पहले की गहन समीक्षा करने का प्रयास किया हे। दूसरे क्षेत्र में अभी तक काम नहीं हुआ है। इस प्रयत्न को इस दिशा में एक छोटा सा आरंभिक प्रयास समझना चाहिए।

I

डफरिन ने भूमि कानून से संबंधित राष्ट्रीय नेतृत्व के दृष्टिकोण पर जो आक्षेप लगाए हैं उनका वास्तव में कोई आधार नहीं है। यहां जमींदार पट्टेदार समस्या पर राष्ट्रवादियों ने क्या रवैया अपनाया, हमारा इससे कोई संबंध नहीं है, हालांकि यह संकेत किया जा सकता है कि राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रगतिशील वर्गों ने लगान-वृद्धि और बेदखली का कड़ा विरोध किया था और इसके साथ ही जमींदारों द्वारा पट्टेदारों के दमन का भी विरोध किया था।[12]

डफरिन ने सामान्यतः 1885 के बंगाल पट्टेदारी अधिनियम का उल्लेख किया है। इस बिल का प्रस्ताव सर्वप्रथम 1879 में रखा गया और 1883 में इस विषय पर एक बिल पेश किया गया। जमींदारों ने इस बिल की कड़ी आलोचना की। 1885 में पास किए जाने से पहले सेलेक्ट कमेटी ने इस बिल में व्यापक परिवर्तन किए। अब हम यह देखेंगे कि मूल विधेयक में महत्वपूर्ण किसान समर्थक प्रावधानों का क्या

हुआ : (i) विधेयक के अनुसार भूमि पर कब्जे का अधिकार उस सारी रैयत को दिया जाना था जो एक ही गांव अथवा इलाके में भूमि पर खेती कर चुके थे। (ii) विधेयक में यह प्रावधान भी रखा गया कि भूमि पर विरासत के अनुसार कब्जा रहेगा और उसे हस्तांतरित करने का अधिकार भी होगा।(3) लगान-वृद्धि के संबंध में विधेयक में यह प्रावधान किया गया कि रैयत द्वारा अदा जाने वाला लगान कुल फसल के 1/5 से अधिक नहीं होगा और 10 वर्षों से पहले लगान में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। (4) विधेयक में कहा गया कि गैर-कब्जा प्राप्त किसान की बेदखली होने पर उसे हर्जाना दिया जाएगा। अधिनियम में से इस प्रावधान को निकाल दिया गया।[13] इस प्रकार, 1885 का अंतिम अधिनियम मूल विधेयक का एक अत्यंत कमजोर रूप था। इसके अतिरिक्त, वह कब्जा-प्राप्त रैयत के पट्टेदार को किसी भी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने में असफल रहा।

अब हम यह देखेंगे कि राष्ट्रवादियों और डफरिन ने इन प्रावधानों के प्रति क्या रवैया अपनाया।

डफरिन द्वारा बार-बार अपने कथन को दोहराए जाने के बावजूद राष्ट्रवादियों ने बंगाल और उससे बाहर विभिन्न उपायों के उस किसान समर्थक स्वरूप का समर्थक किया जिनका 1880 से 1884 तक सरकार ने प्रस्ताव रखा था। मैंने अपनी उपरोक्त रचना[14] में इनका विस्तार से वर्णन किया है। इंडियन एसोसिएशन, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, और बंगाल के राष्ट्रवादी समाचारपत्रों की एक बड़ी संख्या ने काश्तकारों के पक्ष में अपना सक्रिय समर्थन दिया। काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान न किए जाने पर अकसर सरकार की आलोचना की गई। काश्तकारों के अधिकारों को मजबूती प्रदान करने की मांग उठाई गई और काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने के सरकारी प्रयासों के विरोध में जमींदारों द्वारा चलाए जा रहे आंदोलन की भर्त्सना की गई। उदाहरण के लिए, उनमें से अनेक ने यह महसूस किया कि लगान में वृद्धि करने के जमींदारों के अधिकार पर लगाए गए प्रतिबंध पर्याप्त नहीं थे और लगान-वृद्धि की अधिकतम सीमा बहुत अधिक रखी गई है। कुछ ने तो यह मांग भी रखी कि जमींदार और रैयत के बीच लगान का स्थायी बंदोवस्त होना चाहिए। बहुत से राष्ट्रवादियों ने मांग की कि कब्जा-प्राप्त रैयत के पट्टेदारों को सुरक्षा देने और भूप्रदान को रोकने के उपाय किए जाएं। उनके द्वारा सुझाया गया एक कदम यह था कि जमीन पर कब्जे का अधिकार उस व्यक्ति को न दिया जाए जिसका कब्जाधारी द्वारा नामांकन किया जाता है बल्कि यह अधिकार उसे दिया जाए जो वास्तव के इस भूमि पर खेती करता है।

चूंकि 1883 के विधेयक की किसान समर्थक प्रावधानों में सेलेक्ट कमेटी और सरकार ने धीरे-धीरे कांट छांट करना आरंभ किया था इसलिए बंगाल के अधिकांश राष्ट्रवादियों ने विधेयक में परिवर्तन करने के लिए सरकार की कड़ी आलोचना की।

बंगाल के राष्ट्रवादियों में से प्रगतिशील तत्वों ने उसी समय रैयत के पक्ष में

एक जन-अभियान का संगठन किया। 1880, 1881 और 1885 के दौरान, इंडियन एसोसिएशन और दूसरी संस्थाओं ने बड़ी संख्या में रैयत की जनसभाएं कीं और उनमें से कुछ सभाओं में तो 10 हजार से लेकर 20 हजार तक रैयत की उपस्थिति थी। इन सभाओं को सुरेंद्र नाथ बनर्जी, आनंद मोहन बोस, द्वारिका नाथ गांगुली और दूसरे राष्ट्रवादियों ने संबोधित किया।

देश के दूसरे भागों में से बहुत से प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेताओं और समाचारपत्रों ने—जिन *मराठा इंडियन स्पैक्टेटर, नेटिव ओपिनियन, ट्रिब्यून* और *केसरी* उल्लेखनीय हैं—भी 1883 के विधेयक का समर्थन किया। जस्टिस रानाडे ने इस विधेयक का समर्थन नहीं किया क्योंकि उनका विश्वास था कि बंगाल की भूमि-संबंधी समस्या का समाधान नहीं करेगा—उनका विरोध जमींदार समर्थक झुकाव के कारण नहीं था। उन्होंने शक्तिशाली जमींदारों द्वारा किए जा रहे दमन के विरुद्ध कमजोर पट्टेदारों को कानूनी सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता को महसूस करते हुए सरकार द्वारा इस प्रकार का विधान बनाने के अधिकार को न्यायसंगत ठहराया।

राष्ट्रवादियों द्वारा 1883 के विधेयक को व्यापक समर्थन दिए जाने के विपरीत केवल कुछ महत्वहीन राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने जमींदारों के पक्ष का समर्थन किया, और केवल एक राष्ट्रवादी समाचारपत्र *अमृत बाजार पत्रिका* ने मध्यवर्ती पट्टेदारों की मांगों का समर्थन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1883 के बंगाल के पट्टेदारी कानून के प्रति राष्ट्रवादी रवैए के जो सबूत हमारे सामने हैं वे डफरिन के कथन को न्यायोचित नहीं ठहराते, बल्कि एक दूसरे निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं।

दूसरी ओर, जब हम 1883 के विधेयक के प्रति डफरिन के दृष्टिकोण की जांच करें तो हमें पता चलता है कि जो कुछ उसने बाद में राष्ट्रवादी रवैए के संबंध में कहा, वह संभवतः स्वयं उसी के संबंध में कहा जाता तो ठीक रहता। यह डफरिन ही था जिसने बंगाल के जमींदारों के हितों को सुरक्षा प्रदान की और विधेयक के नरम किसान-समर्थक प्रावधानों का विरोध किया, जो उसके भारत आगमन से पूर्व ही विधेयक में रखे गए थे। आरंभ से ही उसने इस विधेयक और 'उसके किसानों के प्रति एक विरोधपूर्ण रवैया' अपनाया। 23 दिसंबर 1884 को राज्य के सचिव को लिखे गए अपने पत्र में उसने 1883 के विधेयक की निंदा करते हुए उसे "अनावश्यक रूप से हिंसक और एकतरफा" कहा और एक आइरिश भूस्वामी की तरह बोलते हुए उसने सारा दोष "दो आयरलैंडवासियों, मि. मेकडोनल और मि. किनली के सिर मढ़ दिया, जिन्होंने अपनी तिकड़म लड़ा कर गवर्नर से यह काम करा लिया। उनमें से एक बंगाल सरकार का सचिव और दूसरा एक न्यायाधीश है। दोनों ही चालाक व्यक्ति है, और जैसा कि हम जानते हैं दोनों की भावनाएं जमींदार-विरोधी है।" उसने आगे कहा : "इस विषय में मेरी परिषद भी अधिक उदार है और उसमें उस कटुता

का अभाव है जो रिवर्स थाम्पसन के सलाहकारों में पाई जाती है।"[15] वास्तव में, डफरिन का विश्वास था कि "बंगाल के लिए कानून बनाना" इतना आवश्यक नहीं था। उसने 23 सितंबर 1884 को राज्य-सचिव को लिखा : "ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी बंगाल में स्थिति पूर्णतया किसानों के पक्ष में है और जमींदारों के घोर विरोधी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि बंगाल में किसानों को भारी लगान अदा नहीं करना पड़ता।"[16] एक सप्ताह के बाद उसने यह राय ज़ाहिर की कि वह इस मामले में निर्णय को स्थगित करना ज्यादा पसंद करता।[17] चूंकि ऐसा करना ठीक नहीं होता, इसलिए वह बंगाल सरकार पर विधेयक के उन प्रावधानों में परिवर्तन करने के लिए दबाव डालने लगा "जो मुझे लगता है कि जमींदारों के लिए बहुत कठोर हैं और ऐसा करना उचित नहीं है।"[18]

डफरिन ने 1885 के विधेयक के लगभग प्रत्येक किसान-समर्थक प्रावधान का विरोध किया और उसमें संशोधन करने के लिए दबाव डाला। इस प्रकार (1) उसने एक रियासत में बसी हुई ऐसी रैयत की भूमि पर कब्जा जमाए रखने के अधिकार के विस्तार का विरोध किया जिसके पास उसी रियासत में भूमि थी; विरोध का आधार यह था कि "यह प्रावधान अधिनियम के कब्जे से संबंधित खंडों का अनावश्यक रूप से विस्तार करेगा।"[19] (2) उसने भूमि पर कब्जे के अधिकार के हस्तातंरण का विरोध किया।[20] (3) लगान में वृद्धि किए जाने के संबंध में, डफरिन ने सर्वप्रथम उन व्यक्तियों की आलोचना की जो यह विश्वास करते थे कि लगान की अधिकतम सीमा के रूप में कुल फसल का 1/5 भाग बहुत अधिक था।[21] बाद में, उसने इस सीमा की "पूर्णतः अविश्वसनीय" कह कर आलोचना की।[22] बंगाल सरकार द्वारा प्रस्तावित नए प्रावधान के संबंध में, अर्थात, लगान वृद्धि 15 वर्षो में रुपए में दो आना से ज्यादा नहीं होगी। डफरिन ने लिखा : "मैं उनके निर्णय को स्वीकार करूंगा। यद्यपि मैं स्वयं वृद्धि को नियमित किए जाने के सिद्धांत को पसंद नहीं करता, न ही जमींदारों को दिए गए धन अथवा उन पर लगाई गई शर्तों से मैं संतुष्ट हूं।"[23] जहां तक गैर-कब्जाधारी रैयत को बेदखल किए जाने पर हर्जाना देने का सवाल था, डफरिन ने 6 जनवरी 1885 को राज्य-सचिव को सूचित किया कि : "आपकी सिफारिश के मद्देनजर हमने दुर्व्यवस्था के कारण मुआवजे को विधेयक से अलग रखा है।"[24] उसने विधेयक की इसलिए भी आलोचना की क्योंकि इसमें ऐसे सभी तत्कालीन समझौतों को निरस्त करने का प्रस्ताव किया गया था जिनके तहत कब्जे का अधिकार बाधित होता था। उसने लिखा कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कब्जा प्राप्त रैयत "अनेक प्रकार से जमींदारों के हितों के विरुद्ध थी, इसलिए जमींदारों ने अपने पट्टों में अपनी सुरक्षा के लिए जिन-जिन खंडों को शामिल किया है, वे मेरी राय में न्यायोचित और विवेकपूर्ण हैं ...।"[25] डफरिन के अनुसार इनके अतिरिक्त विधेयक के अनेक दूसरे पहलू भी थे जिनमें "मेरे विचार से जमींदारों के प्रति अत्यधिक कड़ाई का प्रदर्शन किया गया

है।" परंतु उसने यह वायदा किया कि "जब भारत सरकार सरकारी स्तर पर इन पहलुओं पर विचार करेगी तब इस कठोरता को कम करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।"[26]

यहां यह उल्लेखनीय है कि कभी भी डफरिन ने विधेयक में एक भी किसान समर्थक परिवर्तन पर जोर नहीं दिया जबकि, निस्संदेह वह एक आदर्श विधेयक था। वास्तव में, 17 मार्च 1885 को स्वयं डफरिन ने राज्य-सचिव को सूचित किया था कि "विधेयक को देशी भाषा में प्रकाशित किए जाने के बाद उसमें जो परिवर्तन किए गए, वे लगभग पूर्ण रूप से जमींदारों को दी जाने वाली रिआयतों से संबंधित थे।"[27] डफरिन इन परिवर्तनों के लिए श्रेय लेने से भी नहीं चूका। 16 फरवरी 1885 को उसने महारानी विकटोरिया को सूचित किया :

> अंततः विधेयक बंगाल सरकार, दूसरे शब्दों में, एक कमजोर लेफ्टीनेंट गवर्नर के हाथों में आया, जिसे तीन अथवा चार आयरलैंडवासियों ने प्रभावित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विधेयक का स्वरूप अत्यंत असंतोषप्रद हो गया, और यदि उसे उसकी मूल स्थिति में ही पास कर दिया जाता तो वह जमींदारों के लिए बहुत गलत होता। अपने आगमन के बाद, लार्ड डफरिन ने विधेयक के प्रारूप से अत्यंत आपत्तिजनक अंशों को हटा दिया। अब यह समझा जा सकता है कि यह एक काफी उदार कदम है।[28]

23 मार्च 1885 को अपने सहयोगी, बंबई के गवर्नर, जेम्स फर्ग्युसन को उसने अधिक स्पष्टता के साथ लिखा :

> अनेक (जमींदारों ने) मुझे बताया है कि वे वर्तमान विधेयक से नहीं बल्कि इस भय से चिंतित हैं कि भविष्य में बंगाल सरकार उनके साथ क्या व्यवहार करेगी, जब तक रिवर्स थाम्पसन उसका प्रतिनिधित्व करते हैं मेरा इरादा है कि मैं उस पर कड़ी नज़र रखूंगा ... जमींदारों के लिए यह अच्छा ही हुआ कि विधेयक को मैंने अपने हाथों में ले लिया, नहीं तो उन्हें एक सख्त विधान का सामना करना पड़ता।[29]

डफ़रिन द्वारा भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व पर लगाए गए इस आरोप के एक अजीब पक्ष की जांच करना भी जरूरी है कि वह (नेतृत्व) किसान-विरोधी और जमींदार-समर्थक था। करीब-करीब इस आरोप को लगाने के साथ ही, डफरिन यह घोषणा भी करता है कि ब्रिटिश शासन जमींदारों और अभिजात-वर्ग का मित्र था और उसे उनके साथ सहयोग करना चाहिए, यह कि जमींदार और अभिजात वर्ग ब्रिटिश शासन के शुभचिंतक थे, 'बाबू' जमींदारों और अभिजात वर्ग को खदेड़ रहे थे और यह कि जमींदार और अभिजात वर्ग कांग्रेस विरोधी थे।[30] हमें, अचानक ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम ऐसे संसार में पहुंच गए हैं जो अजूबों से भरपूर है।

II

डफ़रिन ने आय कर और नमक कर के संबंध में भी राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोण को गलत ढंग से पेश किया। राष्ट्रवादियों ने कुल मिला कर आय कर लगाने का विरोध नहीं किया; इसके विपरीत, एक बड़ी संख्या में उन्होंने इसका समर्थन किया।[31] वास्तव में, 1886 से कर लगाने से पूर्व, राष्ट्रवादी इस मुद्दे को लेकर आंदोलन कर रहे थे कि यूरोपीय और भारतीय वेतनभोगी अधिकारियों, पेशेवर व्यक्तियों, दूसरे शब्दों में "शिक्षित बाबू वर्ग" में सफल व्यक्तियों पर 'लाइसेंस कर'' की वर्तमान दर में वृद्धि की जाए।[32] इसी प्रकार उन्होंने, 1880 में जान स्ट्रेची के इस प्रयास का समर्थन किया कि वेतनभोगी और व्यावसायिक आय अर्जित करने वाले व्यक्तियों पर लाइसेंस कर बढ़ा दिया जाए।[33] उस समय के दो प्रमुख राष्ट्रवादी समाचारपत्रों, *अमृत बाजार पत्रिका* और *हिंदू* ने आय कर को लेकर आंदोलन किया।[34] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन में ही प्रस्ताव पास करके सरकार से अनुरोध किया गया कि "वह उन वर्गों, अधिकारियों और गैर-अधिकारियों पर लाइसेंस कर लगाए जो अभी तक इससे बचे हुए हैं।"[35] प्रस्ताव को प्रस्तुत करने और उसका समर्थन करने वालों ने तो आय कर लगाने की भी मांग रखी।[36] अंततः 1886 में जब आय कर लगाया गया, तब राष्ट्रवादी जनमत के शक्तिशाली अंगों ने उसका समर्थन किया।[37] हालांकि कुछ नेताओं ने इसका विरोध किया, परंतु, उनमें से अधिकांश ने कर के स्वरूप का विरोध नहीं किया बल्कि इस आधार पर उसकी आलोचना की कि (i) कर-वृद्धि से जो धन प्राप्त होगा उसका सैनिक अभियानों और प्रशासनिक कार्यों में अपव्यय किया जाएगा, और (ii) उन्होंने महसूस किया कि कपास पर से जो शुल्क समाप्त किया गया था, वह राजस्व का बेहतर स्रोत हो सकता था। परंतु आय कर के इन आलोचकों ने भी वेतनभोगियों और व्यावसायिक वर्गों पर कर लगाने का समर्थन किया।[38] 1886 के पश्चात आय कर को और अधिक लोकप्रियता मिली। किसी भी महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेता ने न तो इसे वापस लिए जाने की मांग की और न ही इसके पीछे आर्थिक औचित्य की आलोचना की। यह बात कांग्रेस के 1887 के अधिवेशन में नाटकीय रूप से सामने आई। एक प्रतिनिधि वी.आर. चक्रवर्ती ने प्रस्ताव नं. 6 में संशोधन का सुझाव देते हुए आय कर को समाप्त करने की मांग रखी। शीघ्र ही, दूसरे प्रतिनिधियों ने उन्हें "नहीं, नहीं, वापसी नहीं" कह कर चुप कर दिया। "यही तो एक कर है जो धनियों पर लगाया जाता है।" "हम कर से बचना नहीं चाहते," "हम इसे नहीं मानेंगे," "बैठ जाओ," और "चुप रहो।" चक्रवर्ती अपना संशोधन वापस लेने को विवश हो गए।[39]

डफ़रिन ने इस तथ्य से लाभ उठाने का प्रयत्न किया कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और दूसरे राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं ने 1886 के आय कर अधिनियम के अंतर्गत छूट की न्यूनतम सीमा पर आपत्ति की। वे चाहते थे कि उसे 500 रुपए से बढ़ा कर

1,000 रुपए कर दिया जाए। परंतु यह मांग इस आधार पर उठाई गई कि इससे छोटी आय वालों को कर अदा करना पड़ता था और इसकी वजह से अधिकारी वर्ग गरीब जनता को परेशान करता था। इसका अर्थ प्रकट रूप से धनी और मध्यम वर्गों को समर्थन देना नहीं था।[40] इससे केवल यह प्रकट होता था कि राष्ट्रवादी तुच्छ बुर्जुआ वर्ग, अर्थात छोटे दुकानदारों, कारीगरों, दस्तकारों और कलर्कों के हितों को सुरक्षित रखना चाहते थे।

जहां तक नमक कर का संबंध है, राष्ट्रवादियों ने भारी बहुमत से इसका विरोध किया। 1882 तक उन्होंने इसमें कटौती करने के लिए दबाव डाला। 1882 और 1886 के दौरान उन्होंने इसमें और अधिक कटौती करने को कहा और इसमें किसी भी प्रकार की वृद्धि के खिलाफ सरकार को चेतावनी दी। जब अंत में, 1888 में इसमें वृद्धि की गई तो प्रमुख राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने इसका जोरदार विरोध किया। इस विरोध में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी जल्दी ही शामिल हो गई।

वास्तव में, राष्ट्रवादी बहुमत ने आय कर और नमक कर के प्रति जो नीति अपनाई वह ब्रिटिश अधिकारियों और व्यवसायियों, भारतीय जनता के तथाकथित संरक्षकों, भारतीय जमींदारों, अभिजात वर्ग, और सामान्य रूप से उच्च वर्गों, जनता के तथाकथित राष्ट्रीय नेताओं के दृष्टिकोण बिलकुल विपरीत थी। जैसा कि पहले ही संकेत दिया गया है, ब्रिटिश आर्थिक और प्रशासनिक नीति और उन दबावों, जो उसकी उत्पत्ति की और ले गए, के विषय पर अभी तक पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं हुआ है। परंतु इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया जा सकता है।

1879-80 में जान स्ट्रेची ने पेशेवर व्यक्तियों और वेतनभोगियों पर लाइसेंस कर लगाने का प्रस्ताव रखा। जैसा कि स्पष्ट किया गया है इस प्रस्ताव को अधिकांश राष्ट्रवादी व्याख्याकारों ने अपना सक्रिय समर्थन दिया। परंतु भारत में बसे अंग्रेजों के विरोध के कारण स्वयं वित्त सदस्य ने उसे वापस ले लिया।[41]

जब 1885 में वित्तीय कारणों से भारत सरकार ने आय कर लगाने की बात सोची, तो डफ़रिन ने राज्य-सचिव, रेंडोल्फ चर्चिल को सूचित किया कि उसके विचार में 3.1/8 प्रतिशत की दर बहुत अधिक थी।[42] इससे एक सप्ताह पूर्व ही उसने राज्य-सचिव को सूचित किया था यदि भारत में यूरोपीय लोगों पर आयकर लगाया गया तो "वह प्रभावित वर्गों से वसूल किया जाने वाला एक मात्र कर होगा।"[43] राज्य-सचिव भी डफ़रिन की इस बात से पूर्णतया सहमत थे : "... 3.1/8 प्रतिशत आय कर का वे कड़ा विरोध करेंगे, जिन्हें हमारे देश में प्रबल समर्थन प्राप्त हैं।"[44] 7 सितंबर 1885 को नार्थब्रूक को लिखे पत्र में डफ़रिन ने परिषद में अपने सहयोगियों को इस बात के लिए राजी करने का श्रेय लेने का दावा किया और कहा कि "एक लंबी लड़ाई के बाद, उन्हें कर की अपेक्षाकृत कम दर पर राजी कर लिया ..."[45] डफ़रिन ने बंगाल के जमींदारों का तुष्टीकरण करने के लिए उन पर लगाए जाने वाले

कर में वृद्धि का भी विरोध किया।[46] दूसरी ओर बहुत कम राष्ट्रवादियों ने इस छूट की आलोचना की।[47] जब जनवरी 1886 में आय कर विधेयक लाया गया तो बड़ी प्रसन्नता के साथ डफ़रिन ने नार्थब्रूक को सूचित किया कि सार्वजनिक सेवा के सदस्यों के अलावा किसी ने भी उसका विरोध नहीं किया।[48]

यह बताना रुचिकर होगा कि स्वयं डफ़रिन के आय कर के प्रति भारतीय राष्ट्रवादी विरोध का देर से "पता" लगा। 1886 में कर लगाए जाने के समय उसने यह स्वीकार किया कि भारतीयों ने उसका समर्थन किया है। 10 जनवरी 1886 को एक पत्र में उसने नार्थब्रूक को सूचित किया कि भारतीय समाचारपत्रों ने आय कर विधेयक का समर्थन किया है।[49] 10 अक्टूबर 1886 को नार्थब्रूक को लिखे अपने दूसरे पत्र में उसने कहा : "मैं यह स्वीकार करता हूं कि कर लगाए जाने के संबंध में देशीय सदस्यों का रवैया बहुत अच्छा था।"[50] डफ़रिन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के प्रस्ताव नं. 6 का उदाहरण देकर यह साबित करने का प्रयत्न किया कि भारतीय जनमत के प्रगतिशील वर्ग ने विधेयक का अनुमोदन किया था।[51]

जहां तक नमक कर का संबंध है हम यह पहले ही देख चुके हैं कि डफरिन के इस वक्तव्य का कि भारतीय राष्ट्रवादियों अथवा "शिक्षित भारतीयों ने उसका समर्थन किया था, कोई वास्तविक आधार नही हैं परंतु इसके अलावा भी, जब एक शासक एक वर्ग को जन-विरोधी कहता है क्योंकि उस वर्ग ने वही कर लगाए जाने का समर्थन किया जिसका उसने पहले विरोध किया था—तो उस शासक के आरोप की वैधता पर शक करना स्वाभाविक ही है। वास्तव में, शिक्षित भारतीयों की यह प्रवृत्ति रही कि उन्होंने "प्रत्येक-ऐसे खर्च का विरोध किया जिससे कर में वृद्धि की संभावना थी।" इसीलिए, डफरिन शिक्षित भारतवासियों को विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व दिए जाने के योग्य नहीं समझता था।[52] इस प्रकार, शिक्षित भारतीयों की दोनों प्रकार से मुश्किल थी : यदि वे नमक कर का समर्थन करते थे तो उन्हें जनविरोधी कहा जाता था, और यदि वे इसका विरोध करते थे तो कहा जाता था कि वे "गैर-जिम्मेदार" हैं और उनमें "प्रशासनिक क्षमता का अभाव है।"

यहां नमक कर के संबंध में सरकारी कार्यपद्धति के संक्षिप्त इतिहास का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। आरंभ से ही, ब्रिटिश-भारतीय वित्तीय प्रशासन ने नमक कर को भारतीय वित्त-व्यवस्था के लिए एक बड़े भंडार के रूप में लिया।[53] इस संबंध में ड्यूक आफ़ अर्गिल ने अपने 21 जनवरी 1869 के पत्र में सरकारी नीति की रूपरेखा को स्पष्ट किया। उसके पत्र का एक अंश नीचे दिया जाता है :

> सामान्य सिद्धांतों के सभी आधारों पर, नमक पर कर लगाना पूर्णतया वैध है। किसी भी देश में सीधे कर लगा कर जनता तक पहुंचना असंभव है। यदि जनता को राज्य के खर्चे में अपना योगदान देना है, तो यह सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं पर कर लगा कर ही संभव हो सकता है। यदि ऐसे करों को ठीक

प्रकार से समायोजित कर दिया जाए तो बड़ी मात्रा में राजस्व इकट्ठा किया जा सकता है। इसका जनता को अहसास भी नहीं होगा और किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं होगी। भारत में कर लगाने के लिए नमक के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है ... इसलिए, मेरी राय है कि भारत में नमक कर को सार्वजनिक राजस्व की एक वैध और महत्वपूर्ण शाखा के रूप में लेना चाहिए ... अप्रत्यक्ष कर लगाने का सबसे बड़ा फायदा यह है कि वह वस्तुओं की कीमत के साथ जुड़ जाता है और उपभोक्ता को उसका पता भी नहीं चल पाता।[54]

9 फरवरी 1879 को बजट पर दिए गए अपने भाषण में लिटन ने इस राय को जोरदार शब्दों में दोहराया। लिटन ने धनी व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष कर लगाने के नुकसान की तुलना गरीब और अमीर दोनों से नमक कर वसूल करने के लाभ से करते हुए विलियम म्योर का उद्धरण दिया, जिसने कहा था : "पहले तरीके से हम देश भर में प्रत्येक वर्ग को उत्तेजित कर देते हैं, दूसरे तरीके से हम किसी की शांति भंग किए बिना वह सब कुछ वसूल कर लेते हैं जिसकी हमें आवश्यकता है।"[55] 1882 में नमक-कर में 8 आना प्रति मन की कटौती करते हुए इ. बैरिंग ने भी उसे वित्तीय भंडार कह कर पुकारा।[56] 24 जनवरी 1888 को स्वयं डफ़रिन ने राज्य-सचिव को बताया कि नमक कर में वृद्धि से जनता को "कोई खास परेशानी" नहीं होगी, "हालांकि हमें नमक कर से डेढ़ करोड की आय होगी, परंतु यह धन करोड़ों व्यक्तियों द्वारा दिया जाएगा ओर किसी अकेले व्यक्ति को इसकी कठिनाई का अनुभव नहीं होगा।"[57] डफ़रिन ने स्वयं अपने आपको इस बात के लिए भी शाबासी दी कि उसने नमक कर में वृद्धि के लिए परिषद के भारतीय और दूसरे सदस्यों का सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार उसने 6 फरवरी 1888 को राज्य-सचिव को लिखा : "मैं अपनी यह कह कर प्रशंसा करूंगा कि ऐसा कोई वायसराय नहीं हुआ जो आय कर लगाता और उसके दो वर्ष बाद ही, बिना किसी हलचल के और अधिक कर लागू कर सरकारी आय को 15 लाख कर देता।"[58]

इस संदर्भ में यह उल्लेख किया जा सकता है कि डफरिन की सरकार नमक कर में वृद्धि करने के स्थान पर आय कर में वृद्धि कर सकती थी। वास्तव में, अधिकांश राष्ट्रवादी यही चाहते थे।[59] उनमें से कुछ ने इस पर बहुत अधिक जोर दिया। उदाहरण के लिए 22 जनवरी 1888 को *मराठा* ने लिखा : "आय कर भी तो था; उसमें वृद्धि की जा सकती थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ! सरकार ने ऐसा नहीं किया क्योंकि आंगल-भारतीय समुदाय इसके विरुद्ध शोर मचाता। गरीब हिंदू शिकायत नहीं करते और इस वजह से उन पर जितना मनचाहे कर लगा दिया जाता है।" 24 जनवरी 1888 को *केसरी* ने लिखा : "यदि आयकर में वृद्धि की जाती है तो इसका बोझ ज्यादातर उच्च यूरोपीय अधिकारियों और व्यापारियों को उठाना पड़ेगा, और चूंकि विनिमय की दर पहले ही बहुत ऊंची है उन्हें यह अत्यंत कष्टदायक

लगेगा और वे बगावत कर देंगे ... क्या लार्ड डफ़रिन जैसा बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार का विरोध उत्पन्न करके अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट करेगा?"[60] ऐसा भी नहीं था कि इन दो विकल्पों में से एक को चुनने के लिए भारत और लंदन में अधिकारियों ने चर्चा न की हो। हम देखते हैं कि डफरिन ने आय कर के स्थान पर नमक कर में वृद्धि किए जाने का समर्थन करने पर भारतीय परिषद के सदस्य ए. ल्याल को धन्यवाद दिया।[61]

III

राष्ट्रवादी नेतृत्व के विरुद्ध अपने आरोपों को साबित करने के लिए डफ़रिन ने बंगाल लगान विधेयक और नमक-कर पर साम्राज्यी विधान परिषद के भारतीय सदस्यों द्वारा किए गए मतदान को एक साक्ष्य के रूप में पेश किया।[62] परंतु, यहां बड़ी चालाकी से काम लिया गया है। यहां श्रोताओं अथवा पाठक का ध्यान "देशीय सदस्य" शब्द पर केंद्रित किया गया है ताकि वे 'नामांकित' शब्द पर ध्यान न दें। परंतु, वास्तविकता यहीं पर छिपी हुई है। बंगाल पट्टेदारी अधिनियम बनाए जाने के समय क्रिस्टोदास, प्यारे मोहन मुखर्जी, महाराजा आफ दरभंगा और सय्यद अमीर अली, सभी भारत सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य थे। वास्तव में, पहले तीन सदस्यों को जानबूझ कर जमींदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत किया गया था।

इसी प्रकार प्यारे मोहन मुखर्जी और दिनशॉ पेटिट, को जिन्होंने नमक कर बढ़ाए जाने के सरकारी प्रस्ताव के पक्ष में अपना मत दिया, सरकार द्वारा "जिम्मेदार वर्गों" का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत किया गया था। वास्तव में, इस समय डफरिन ने प्यारे मोहन मुखर्जी की असाधारण तरीके से प्रशंसा की। उसने 30 जनवरी 1888 को राज्य-सचिव को लिखा : "मुझे यह कहते हुए बहुत प्रसन्नता है कि प्यारे मोहन मुखर्जी, जो स्थानीय जनमत के एक बहुत बड़े नेता हैं, ने स्वयं बड़े जोरदार ढंग से नमक कर में वृद्धि का समर्थन किया। इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा और संभवतः इससे समाचारपत्र भी प्रभावित होंगे।[63] दूसरी ओर बहुत से राष्ट्रवादियों ने नमक कर में वृद्धि को अपना समर्थन देने पर प्यारे मोहन मुखर्जी और दिनशॉ पेटिट की आलोचना की। उन्होंने इन दोनों के व्यवहार को अपने इस कथन के प्रमाण के रूप में पेश किया कि विधान परिषदें दोषपूर्ण थीं। और लोकप्रिय तत्वों को उनमें शामिल करके ही उनका सुधार किया जा सकता था।[64]

IV

यदि राष्ट्रवादियों के विरुद्ध उपेक्षा का रवैया अपनाने, विधान परिषदों में अधिक

लोकप्रिय तत्वों के प्रवेश की मांग को अस्वीकार करने और राष्ट्रवादियों के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाने का मुख्य उद्देश्य जन-विरोधी रवैया अपनाना नहीं था, तो जहां तक डफरिन का संबंध था इस सरकारी रवैए के पीछे वास्तविक उद्देश्य क्या था? संभवतः यह वह स्थान नहीं है जहां उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति डफरिन के रवैए के कारणत्व की जांच की जाए। परंतु यहां कुछ सुझाव दिए जा सकते हैं।

सबसे पहले, डफरिन ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि राष्ट्रवाद का विकास भारत में शासक देश के आधारभूत साम्राज्यी हितों के विरुद्ध था। इसलिए, 26 अप्रैल 1886 को राज्य-सचिव को लिखते हुए उसने यह प्रकट किया कि विधान परिषदों में एक बड़ी संख्या में भारतीय तत्वों का प्रवेश "सहायता की अपेक्षा परेशानी" अधिक पैदा करेगा। "साम्राज्यी हितों को प्रभावित करने वाले सभी प्रश्नों पर वे स्वाभाविक रूप से हमारा विरोध करेंगे।"[65] इसी प्रकार 16 अक्टूबर 1886 को नार्थब्रूक को लिखे अपने एक पत्र में उसने कहा : "... यदि हम, जैसा कि अब है, देशीय मत पर विचार करें, तो हम यह पाएंगे कि वह, बर्मा पर कब्जा करने, सेना में वृद्धि करने, रेलों और हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत की किलेबंदी करने, अमीर की सहायता करने और निस्संदेह उस सभी प्रकार के खर्च के विरुद्ध है जिससे करों में वृद्धि होने और तुरंत लाभ न मिलने की संभावना हो।[66] सभ्य बनाने के उद्देश्य में डफरिन ने विदेशी पूंजी की हिफाज़त को भी जोड़ दिया। भारत में ब्रिटिश शासन को बिना किसी रुकावट के जारी रहना चाहिए, नहीं तो ब्रिटिश निवेशकों की एक बड़ी संख्या के हितों को खतरा पैदा हो जाएगा। यहां डफरिन की 6 नवंबर 1888 की एक लंबी टिप्पणी में से निम्नलिखित उद्धरण असंगत नहीं होगा :

> इन जिम्मेदारियों में मातृभूमि के विशाल वाणिज्यिक हितों की हिफाज़त करने की जिम्मेदारी को भी शामिल किया जाना चाहिए जो 22 करोड़ पौंड स्टर्लिंग से भी ज्यादा उस गारंटीशुदा पूंजी पर आधारित हैं, जिसे या तो राज्य को कर्ज के रूप में दिया गया है अथवा रेलवे और दूसरे भारतीय उपक्रमों में लगाया गया है, चाहे हम खुले रूप में यह स्वीकार कर लें कि भारत पर शासन भारतीयों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए किया जा रहा है, परंतु, उन लोगों के प्रति सरकारी दायित्व की उपेक्षा करना एक अपराध होगा जिन्होंने सरकार की गारंटी पर भारत के विकास में भारी मात्रा में पूंजी-निवेश किया है अथवा जिन्होंने साम्राज्यी भारतीय अधिकारियों के निमंत्रण पर भारतीय कोश में अपनी पूंजी का निवेश किया है। इसी प्रकार निजी ब्रिटिश उद्यमियों द्वारा निर्माण-कार्यों, चाय बागानों, नील, जूट और इसी प्रकार के उद्योगों में जो बड़े पैमाने पर पूंजी-निवेश किया है, उन्हें भी इसी प्रकार की सुरक्षा और रिआयतें मिलनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने भी इस भरोसे पर निवेश किया है कि भारत में ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था जारी रहेंगे।[67]

इसके अतिरिक्त, डफरिन का विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश शासन के निरंकुश रूप के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस और "शिक्षित वर्गों" को संवैधानिक रिआयतें देना संभव नहीं था। 1888 में राज्य-सचिव को लिखे पत्र में उसने कहा, "यद्यपि मैं स्वभाव से उदारवादी हूं, फिर भी यह स्पष्ट है कि केवल संवैधानिक सिद्धांतों पर भारत सरकार का संचालन नहीं किया जा सकता। आने वाले बहुत से वर्षों के लिए यहां उदार निरंकुशता होनी चाहिए।" राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे संगठनों को, "जो हमेशा राजनीतिक प्रश्न उठाते हैं ब्रिटिश भारतीय प्रशासन द्वारा सहन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका वजूद हमारे निरंकुश शासन से मेल नहीं खाता।"[68] इससे भी पूर्व, डफरिन ने सुझाव दिया था कि राष्ट्रवादी नेता सार्वजनिक रूप से अपने कार्यक्रमों के संबंध में कुछ भी कहें, वे वास्तव में राजनीतिक सत्ता के लिए ब्रिटेन के प्रतिद्वंदी थे।[69]

डफ़रिन के अनुसार ब्रिटिश शासन को राष्ट्रवादियों से वास्तविक खतरा उनकी एक सामूहिक आंदोलन को संगठित करने की प्रवृत्ति और क्षमता से था। जहां वह, प्रकट रूप से, परिषदों के विस्तार का इस आधार पर विरोध कर रहा था कि 'बाबू' सही अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे और इसी वजह से वह "अल्पमत के प्रभावहीन होने की" खिल्ली उड़ाता था, वहीं वह इस बात से भी डरता था कि ये बाबू कभी भी जनता के बीच जाकर उसे संगठित कर सकते हैं और उसका नेतृत्व संभाल सकते हैं। 21 मार्च 1886 को उसने राज्य-सचिव को सूचित किया कि राष्ट्रवादी राजनीति में एक नई घटना घटित हो रही थी, अर्थात, "बंगाल के विभिन्न जिलों में रैयत की सामूहिक सभाएं संगठित की जा रही थी"। उसने चेतावनी दी कि यह घटना एक अपशकुन है : "मैं अपने आप से यह पूछे बिना नहीं रह सकता कि भारत सरकार जैसी निरंकुश सरकार कब तक ... इंगलैंड, इससे भी अधिक आयरलैंड से आयात की गई आधुनिक लोकतांत्रिक आंदोलन की मशीनरी के दबाव को बर्दाश्त कर पाएगी।"[70] उसने आगे कहा : "दिन प्रति दिन सैकड़ों जबानदाराज बाबू अंग्रेज दमनकर्ताओं के विरुद्ध जहर उगलते रहते हैं"। इस प्रकार "बाबू" एक बुराई थे; इसलिए नहीं कि वे जनता के हितों के विरोधी थे, बल्कि इसलिए कि वे "अंग्रेज दमनकर्ताओं के विरुद्ध आंदोलन करते थे, क्योंकि वह समय अवश्य आएगा जब उनके द्वारा की जा रही ब्रिटिश प्रशासन की निरंतर निंदा और आलोचना हमारे शासन के विरुद्ध लोगों के मन में शत्रुता उत्पन्न कर देगी।"[71] डफरिन ने 26 अप्रैल 1886 को लिखे गए अपने दूसरे पत्र में भी यही राग अलापा। उसने शिकायत की कि जन-आंदोलन की संगठित व्यवस्था "अधिक विशिष्ट आकार ले रही है।" सुरेंद्र नाथ बनर्जी और दूसरे नेताओं में आयरलैंड के क्रांतिकारियों के दावपेंचों और संगठन का अनुशरण करने की सहज प्रवृत्ति है।" वे रैयत की "सामूहिक सभाओं" को संगठित करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार की एक सभा में 10 हजार व्यक्तियों की उपस्थिति थी "जिन्होंने मि. बनर्जी और उनके मित्रों द्वारा दिए गए भाषणों को सारे

दिन बड़े ध्यान से सुना।" डफरिन ने चेतावनी दी कि खतरा इससे भी ज्यादा गंभीर था। बंगाली बाबू अपनी धरती पर (बंगाल में) संभवतः इतना खतरनाक नहीं था, परंतु उसने अपनी गतिविधियों को केंद्रीय और उत्तरी भारत में भी आरंभ कर दिया था। डफरिन ने अपनी उसी चेतावनी को दोहराया जो वह बार-बार दिया करता था : "भारत ऐसा देश नहीं है जहां यूरोपीय लोकतांत्रिक आंदोलन की मशीनरी को स्वतंत्र रूप से लागू किया जा सके।" उसने गृह मंत्रालय के अधिकारियों को सुझाव दिया कि "जो कुछ देना संभव हो वह सद्भाव के साथ दें।"

इसके साथ ही उसने उन्हें सलाह दी कि "वे सामूहिक सभाओं और उत्तेजक भाषणों पर रोक लगाएं।"[72]

उत्तरी-पश्चिमी प्रांत और अवध के लेफ्टीनेंट गवर्नर ए. कॉलविन द्वारा वायसराय को 10 जून 1888 को लिखे गए पत्र से राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रति सरकारी रवैए के संबंध में बड़ी दिलचस्प जानकारी प्राप्त होती है। इस पत्र को वायसराय ने 29 जून 1988 को अपने पत्र के साथ राज्य-सचिव को भेजा था।[73] कॉलविन ने सुझाव दिया कि कांग्रेस के नेता जो कुछ अपने उद्देश्यों के संबंध में अपने सार्वजनिक भाषणों में कहते हैं और जनता उन उद्देश्यों को किस रूप में लेती है—इन दोनों में एक स्पष्ट अंतर किया जाना चाहिए। यदि जांच से यह साबित होता है कि जनता कांग्रेस के आंदोलन को "भारत में अंग्रेजी अधिकारियों के विरुद्ध समझती है," और यदि कांग्रेस के कार्यकर्ता स्थानीय अधिकारियों के प्रति घृणा फैलाते हैं, उन्हें दमनकर्ता और गैर-संवेदनशील कहते हैं," और असंतोष और घृणा के फलस्वरूप "यदि जनता भारतीय अधिकारियों के लिए चिंता का विषय बन जाती है" तो वह कांग्रेस का विरोध करेगा। अपनी बात को समझाने का कॉलविन ने विशेष प्रयत्न किया। कांग्रेस के प्रति, जिसे बाद में तीन दिन का अजूबा कहा गया, नाराजगी दिखाना जरूरी नहीं था। "आप समझ सकते हैं कि मैं कांग्रेस की समय-समय पर होने वाली सभाओं से चिंतित नहीं हूं।" न ही कांग्रेस की सार्वजनिक रूप से उठाई गई मांगें चिंता का कारण थीं। खतरा उन लोगों की गतिविधियों से था "जो यह स्वीकार करते हैं कि वे जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसे उसकी कठिनाइयों के प्रति सचेत कर रहे हैं, और जो जनता के मध्य सभी स्थानीय अधिकारियों को सभी बुराइयों का स्रोत बताते हैं ...।" इसलिए, कॉलविन कांग्रेस की वार्षिक सभाओं में हस्तक्षेप करना नहीं चाहता था, बल्कि वह जनता के बीच उन सभी पुस्तिकाओं अथवा प्रकाशनों के परिचालन पर रोक लगाने के पक्ष में था, जो असंतोष को बढ़ावा देते थे।

राज्य-सचिव को लिखे गए इस पत्र के साथ ही, चुनिंदा अधिकारियों को उत्तरी-पश्चिमी प्रांत और अवध की सरकार द्वारा एक परिपत्र भी भेजा गया था जिसमें उनसे प्रांत में कांग्रेस के आंदोलन से संबंधित कई प्रश्नों का उत्तर देने को कहा गया था। उनमें से दो प्रश्न ये थे : (i) "क्या आंदोलन को एक ऐसे केंद्र के रूप में

प्रयोग किया जाता है जिसमें सक्रियता से असंतोष और घृणा को बढ़ावा दिया जाता है, या उसे केवल सैद्धांतिक बहस के लिए प्रयोग किया जाता है?", और (ii) "कस्बों अथवा गांवों में क्या वह, विशेषकर उच्च वर्गों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है, अथवा क्या वह शहरी अथवा कृषि से संबंधित मध्यम और निम्न वर्गों को भी अपनी ओर आकृष्ट करता है?"

अंत में, डफरिन राष्ट्रवादियों में से उन मध्यम मार्गीय तत्वों को रिआयतें देने को तैयार था जो अपनी मांगों को एक निश्चित संवैधानिक और सामाजिक-आर्थिक ढांचे के दायरे के अंदर रखने को तैयार थे। ये तत्व, विशेष रूप से भारत में ब्रिटिश शासन के कमजोर आंतरिक राजनीतिक आधार को मजबूती प्रदान कर सकते थे।[74] परंतु, उसे यह डर था कि ये मध्यमवर्गीय तत्व एक व्यवहार्य राजनीतिक ताकत नहीं थे। उनमें 'उग्रवादियों' के आक्रमण का मुकाबला करने की क्षमता नहीं थी। यह भी संभावना थी कि राष्ट्रवादी उनका उपभोग करके अपना रास्ता साफ कर सकते थे। वास्तव में, 30 नवंबर 1888 को डफरिन द्वारा सेंट एंड्रूज दिवस पर दिए गए भाषण का मुख्य उद्देश्य इन उदारवादियों को इस योग्य बनाना था कि वे उग्रवादियों के दबाव का सामना कर सकें। 3 सितंबर 1888 को राज्य-सचिव को लिखते हुए डफरिन ने कहा कि "बंगाली उग्रवादियों, जमींदारों, तालुकेदारों और "जिम्मेदार" व्यक्तियों की दोगली गद्दारी के बीच एक तीसरा विशाल समूह उन लोगों का था जिनकी राय अनिश्चित थी।" कांग्रेस की निरर्थक और बढ़ा-चढ़ाकर रखी गई मांगों की निंदा करते हुए उसने यह आशा व्यक्त की कि वह इस तीसरी शक्ति को अपने प्रभाव में ले लेगा।[76]

V

इस प्रकार अंत में यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक राष्ट्रीय नेतृत्व के चरित्र के संबंध में डफरिन के कथन की प्रारंभिक राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधियों और नजरिए अथवा स्वयं डफ़रिन के रवैए और नीतियों के संदर्भ में जांच की जाए तो उसके कथन का कोई औचित्य साबित नहीं होता। ऐसा लगता है कि उसने पूर्वग्रह और एक साम्राज्यी प्रशासन की आवश्यकताओं को अपने विचारों का आधार बनाया। उस समय उस साम्राज्यी शासन के पितृतात्मक होने के मिथक और उदार चरित्र को चुनौती दी जा रही थी। वास्तव में डफरिन ने पास जो सार्वजनिक तथ्य मौजूद थे उनके आधार पर वह अपने उपरोक्त कथन से कहीं बेहतर बात कह सकता था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. डफरिन नार्थब्रूक को, 16 अक्टूबर 1886, *डफरिन पेपर्स* (आगे जिन्हें डी.पी. कहा जाएगा); डफरिन की 'टिप्पणी' राज्य-सचिव को *होम (पब्लिक)* डिस्पैच नं. 67, 6 नवंबर 1888 (आगे 6 नवंबर 1888 की डफरिन की टिप्पणी के रूप में उल्लेखित); *डफरिन स्पीचेंज*, 1884-88.
2. 6 नवंबर 1888 की डफरिन की टिप्पणी.
3. डफरिन राज्य-सचिव को, 20 मार्च 1887, डी.पी., राज्य-सचिव, लार्ड कर्टिस ने डफरिन को 8 सितंबर 1886 को लिखे पत्र में इस विचार को और अधिक भद्दे तरीके से प्रस्तुत किया : "परंतु, भारत में विशेष रूप से दो ही वर्ग हैं—पहला जनता और दूसरा शिक्षित देशीय लोग." डी.पी.
4. 6 नवंबर 1888 की डफरिन की टिप्पणी.
5. वही.
6. वही.
7. वही.
8. डफरिन राज्य-सचिव को, 26 अप्रैल 1886; डफरिन नार्थब्रूक को, 16 अक्टूबर 1886, डी.पी. और देखिए राज्य-सचिव डफरिन को, 8 सितंबर 1886, डी.पी., और सचिव डफरिन को, 14 अप्रैल 1887, डी.पी.
9. 6 नवंबर 1888 की डफरिन की टिप्पणी.
10. 16 अक्टूबर 1886, डी.पी. डफरिन राज्य-सचिव को भी, 26 अप्रैल 1886, डी.पी.
11. उदाहरण के लिए देखिए, बी.बी. मिश्रा. *दि इंडियन मिडिल क्लासेज*, लंदन, 1961, पृ. 346-50.
12. देखिए मेरी रचना, *दि राइज़ एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया*, नई दिल्ली, 1965.
13. सी.इ. बकलैंड, *बंगाल अंडर दि लैफ्टीनेंट गवर्नर्स*, कलकत्ता 1901, खंड II. पृ. 811-12.
14. मेरा निबंध भी देखिए 'टू नोट्स आन दि एग्रेरियन पालिसी आफ इंडियन नेशनलिस्ट्स, 1880-1905', *दि इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्टरी रिव्यु*, खंड I, नं. 4.
15. डी.पी. डफरिन ने अपने पत्र व्यवहार में बार-बार 'आयरिश खलनायक' शब्द का प्रयोग किया है. 30 नवंबर 1885 को राज्य-सचिव को लिखे अपने पत्र में उसने काश्तकार-समर्थक बंगाल के अधिकारियों को "वाइल्ड आयरिशमैन" कहा. वही; उसके द्वारा 23 मार्च 1885 को फर्ग्यूसन को लिखे *पत्र* को भी देखिए, डी.पी. और महारानी विक्टोरिया को लिखे पत्र को भी देखिए, 16 फरवरी 1885, डी.पी.
16. डी.पी.
17. डफरिन राज्य-सचिव को, 30 दिसंबर 1884, डी.पी.
18. वही.
19. डफरिन राज्य-सचिव को 23 दिसंबर 1884, डी.पी. 6 जनवरी 1885 को उसके द्वारा राज्य-सचिव को लिखा गया *पत्र* भी देखिए, डी.पी.
20. डफरिन राज्य-सचिव को, 23 दिसंबर 1884, डी.पी. राज्य-सचिव को लिखा उसका पत्र भी देखिए, 6 जनवरी 1885, डी.पी. यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि पहले सरकार ने इस प्रावधान के एक प्रगतिशील कदम होने का दावा किया था.
21. डफरिन राज्य-सचिव को, 6 जनवरी 1885, डी.पी.
22. डफरिन एस.सी. बैली को, 29 जनवरी 1885, डी.पी.
23. वही. इससे पूर्व 27 जनवरी 1885 को बैली डफरिन को सूचित कर चुका था : "हमारे विधेयक ने

वृद्धि के आधार को सीमित कर दिया है, लेकिन अब उसे लागू करना अधिक सुविधाजनक हो गया है." डी.पी.

24. डी.पी.
25. डफरिन राज्य-सचिव को, 23 दिसंबर 1884, डी.पी.
26. वही.
27. डी.पी. डफरिन इस पत्र में विधेयक में जमींदार-समर्थक परिवर्तनों की एक लंबी सूची देता है. राज्य-सचिव ने अपने लेजिस्लेटिव डिस्पैच नं. 24, तारीख 23 जून 1885 के *पत्र* में उसकी पुष्टि की.
28. डी.पी.
29. डी.पी. (बल दिया गया).
30. उदाहरण के लिए देखिए, डफरिन नार्थब्रूक को, 30 जुलाई 1882, डी.पी. डफरिन राज्य-सचिव को, 7 अगस्त 1885, डी.पी; डफरिन राज्य-सचिव को. 1 फरवरी 1847, डी.पी; डफरिन राज्य-सचिव को, 17 सितंबर 1888, डी.पी. 6 नवंबर 1888 की डफरिन की टिप्पणी; डफरिन राज्य-सचिव को, 3 दिसंबर 1888, डी.पी. राज्य-सचिव ने भी वायसराय को "सभी प्रतिष्ठित वर्गो का सद्‌भाव और विश्वास खोने के" खतरे के विरुद्ध चेतावनी दी थी, क्योंकि 'मैं महारानी की सरकार की ऐसे ही लोगों के साथ पहचान करता हूं." 11 अक्टूबर 1885, डी.पी.
31. देखिए मेरी रचना *दि राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया.*
32. वही.
33. वही.
34. *अमृत बाजार पत्रिका,* 10 जनवरी 1878, 2 जनवरी 1880, 5 मार्च 1880, 29 दिसंबर 1881; *हिंदू* 19 दिसंबर 1884; *बंगाली* भी देखिए, 17 जनवरी 1880, *इंदु प्रकाश,* 3 मार्च 1884; *स्वदेशमित्रन,* 11 दिसंबर 1884; और बहुत से राष्ट्रवादी समाचारपत्र.
35. प्रस्ताव नं. 6.
36. रिपोर्ट आफ दि इंडियन नेशनल.कांग्रेस फार 1885, 66-72.
37. देखिए *दि राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया.*
38. वही.
39. *रिपोर्ट आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस फार* 1887, पृ. 135.
40. विस्तार के लिए देखिए *दि राइज़ एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया.* राष्ट्रवादियों की मांग को, इस संबंध में, अधिकारियों ने पूर्ण मान्यता दी इसलिए , वित्त-सचिव, एडवर्ड लॉ ने 1903 में कहा : "जहां तक आय कर में छूट की सीमा को बढ़ाने का प्रश्न है, हम यह विश्वास करते हैं कि एक हजार रुपए से नीचे की आय पर आय कर, मुख्य रूप से, छोटे व्यापारियों, वाणिज्यिक और सरकारी कार्यालयों में कलर्को, पेंशन भोगियों द्वारा अदा किया जाता है, जिन्हें, वर्तमान कर में कमी होने के बावजूद इससे बड़ा आघात लगा है ... इसके अतिरिक्त, हमें यह डर भी रहता है कि आय कर का निर्धारण करने वालों की कार्यवाही से निम्न आय वालों को ही सबसे अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि कभी-कभी कर का निर्धारण काफी ऊंची दर पर किया जाता है. वित्तीय वक्तव्य, 1903-04, पैरा 89.
41. पी. बनर्जी, *ए हिस्टरी आफ इंडियन टैक्सेशन,* कलकत्ता, 1930, पृ. 70 और *अमृत बाजार पत्रिका,* 5 मार्च 1880.
42. पत्र, तारीख 14 अगस्त 1885, डी.पी.
43. पत्र, तारीख 7 अगस्त 1885, डी.पी.
44. डफरिन को पत्र, 8 सितंबर 1885 डी.पी.

45. डी.पी. इसके विपरीत 7, 9, और 12 जनवरी 1886 के *हिंदू* ने 1886 के आय कर अधिनियम में प्रगति न होने की आलोचना की. वह चाहता था कि आय कर धीरे-धीरे लगाया जाए. उसने इस बात पर जोर दिया कि 2.5 प्रतिशत की दर उन व्यक्तियों के लिए बहुत कम थी जिनकी आय अधिक थी (*वायस आफ इंडिया,* जनवरी 1886), *बंगवासी* भी देखिए, 9 जनवरी ('रिपोर्ट नेटिव प्रेस, बंगाल, 16 जनवरी, 1886).
46. डफरिन राज्य-सचिव को, 22 दिसंबर 1886, डी.पी.
47. *हिंदू* 7, 9, और 12 जनवरी 1886 (*वायस आफ इंडिया,* जनवरी 1886); *इंडियन नेशन;* 25 फरवरी 1886 (*वायस आफ इंडिया,* फरवरी 1886); *गुजरात मित्र,* 10 जनवरी 1886 (*रिपोर्ट नोटिव प्रेस,* बंबई, 16 जनवरी 1886); जी.वी. जोशी, *राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* पूना, 1912, पृ. 141-42, 161,165, 190, 17 जनवरी 1880 का *बंगाली* भी.
48. *पत्र,* 3 फरवरी 1886, डी.पी. साथ ही देखिए स्थायी राज्य-उप-सचिव जे.ए. गॉडली का पत्र वायसराय के निजी सचिव डी. मेकेंजी वालेस को, 9 अक्टूबर 1885 डी.पी.
49. डी.पी.
50. वही.
51. *ऐब्सट्रेक्ट आफ दि प्रोसीडिंग्स आफ दि कार्उसिल्स आफ दि गवर्नर जनरल आफ इंडिया,* 1886, खंड 24, पृ. 27.
52. नार्थब्रूक को पत्र, 16 अक्टूबर 1886, डी.पी.
53. पी. बनर्जी, पूर्वोद्धृत, पृ. 276-97.
54. जान स्ट्रेची और रिचर्ड स्ट्रेची में उद्धरण, *दि फाइनेंस एंड पब्लिक वर्क्स आफ इडिया फ्राम 1869 टू 1881,* लंदन 1882, पृ. 222-23.
55. लिटन, लेडी बी. बैलफर में उद्धरण, *दि हिस्टरी आफ लार्ड लिटंस इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेशन,* 1876-80, लंदन 1889, पृ. 472-74.
56. *फाइनेंसियल स्टेटमेंट आफ 1882-83,* पैरा 192.
57. डी.पी. इसके विपरीत, देखिए जी.वी. जोशी के विद्वतापूर्ण निबंध *दि बर्मा डेफीसिट एंड दि एनहांसमेंट आफ दि साल्ट ड्यूटीज़* में राष्ट्रवादियों की स्थिति की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति जो (लेख) अप्रैल 1888 के *दि जनरल आफ दि पूना सार्वजनिक सभा* में प्रकाशित हुआ. देखिए उनकी *राइटिंग्स एंड स्पीचेज,* पृ. 137-90.
58. डी.पी.
59. *'मराठा'* 22 जनवरी 1888, *'हिंदू,* 25 जनवरी 1888, *अमृत बाजार पत्रिका,* 26 जनवरी 1888, *'संजीवनी'* 18 जनवरी और 4 फरवरी (*रिपोर्ट नेटिव प्रेस,* बंगाल, 4 फरवरी और 11 फरवरी 1888 क्रमशः) *ट्रिब्यून,* 11 फरवरी (*वायस आफ इंडिया, मार्च,* 1888), *स्वदेशमित्रन,* 28 जनवरी और 25 फरवरी (*'रिपोर्ट नेटिव प्रेस,* मद्रास,' 31 जनवरी और 29 फरवरी क्रमशः) लगभग सप्ताहांत के बंबई के सभी समाचारपत्र 28 जनवरी 1888, *रिपोर्ट नेटिव प्रेस बंबई,* 28 जनवरी 1888, जोशी पूर्वोद्धृत, पृ. 161-66, 190.
60. *रिपोर्ट नेटिव प्रेस,* बंबई, 28 जनवरी 1888.
61. लेटर, 27 फरवरी 1888, डी.पी. डफरिन राज्य-सचिव को 12 जनवरी 1888: "पहले एक वायसराय नियुक्ति से संबंधित एक बड़ी राशि को बचा सकता था... परंतु अब मेरे कलकत्ता प्रवास के दौरान चांदी और आय कर में आई गिरावट के कारण, मेरा खर्च मेरी आय से 250 पौंड से 300 पौंड प्रतिमाह ज्यादा हे. यह मेरे लिए बड़ी गंभीर बात है और मुझे इससे बड़ी कठिनाई होती है. वास्तव में मुझे अपने पूर्वगामी, लार्ड रिपन से 2,000 पौंड कम मिलता है." डी.पी.

62. उपर्युक्त देखिए.
63. डी.पी. सार्वजनिक रूप से उसने और अधिक प्रशंसा की. विधान परिषद में उसने कहा : ''अपने माननीय सहयोगी, राजा प्यारे मोहन मुखर्जी, से यह सुनने के पश्चात मैं अपना संतोष व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने हमारे द्वारा हाल ही में नमक कर में की गई वृद्धि को स्वीकार कर लिया है. चूंकि वे पूर्ण रूप से भारत के देशीय बुद्धिमान और शिक्षित समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं, इस संबंध में उन्होंने जो अपना मत व्यक्त किया है., वह अत्यंत कीमती है.'' ऐक्सट्रेक्ट आफ *दि प्रोसीडिंग्स आफ दि लेजिस्लेटिव काउंसिल आफ दि गवर्नर जनरल,* 1886, खंड 27, पृ. 26.
64. इस पहलू पर तफसील के लिए देखिए *दि राइज़ एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया.* उदाहरण के लिए जी.वी. जोशी ने *जनरल आफ दि पूना सार्वजनिक सभा में लिखा* : ''... यह बहस विधानसभा के लिए अशोभनीय था, क्योंकि उसने राष्ट्र के पवित्र हितों का संरक्षक होते हुए भी स्वयं अपनी स्वतंत्रता का सम्मान नहीं किया और वह कार्यपालक सरकार के विरुद्ध बोलने से डरी; यह देशीय सदस्यों के लिए और भी निंदनीय था, जिन्हें उपने कर्तव्य का अधिक ध्यान होना चाहिए था और सबसे अधिक यह उस व्यवस्था के लिए निंदनीय था जिसमें एक गैर-जिम्मेदार सरकार वास्तविक कठिनाई के विषय में ऐसे ओछेपन का प्रदर्शन कर सकती है. वास्तव में, इस बहस से हम यह समझते हैं कि बंबई, कलकत्ता और मद्रास में हुए कांग्रेस के अधिवेशनों में परिषदों को निर्वाचन के आधार पर पुनर्गठित करने की जो मांग रखी गई थी, वह ठीक थी.'' पूर्वोद्धत, पृ. 144.
65. डी.वी.
66. वही.
67. बल दिया गया.
68. लेटर, 17 अगस्त 1888, डी.पी.
69. ''यह ध्यान रखना चाहिए कि चाहे सामान्य ज्ञान और राजनीतिक मामलों और संसार की जानकारी नेताओं के कार्यक्रम को कितना ही सीमित क्यों न बना दे, भारत में उनके अधिकांश समर्थकों का विश्वास है कि ब्रिटिश सेना विदेशी आक्रमण से उनकी रक्षा करेगी, उन्हें जुल्म से बचाएगी और लोकतांत्रिक मामलों की देखभाल करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देगी, जिसमें वायसराय और कुछ दूसरे व्यक्तियों को छोड़ कर किसी भी अंग्रेज का कोई दखल नहीं होगा.'' राज्य सचिव को *पत्र,* 26 अप्रैल 1886, डी.पी.
70. उसने भारतीय समाचारपत्रों के खिलाफ भी यही आपत्ति उठाई ... एक ऐसा स्वतंत्र और अनियंत्रित प्रेस, जिसका संचालन पूर्णतः धूर्त और अनैतिक व्यक्तियों के हाथों में है, हमारे वर्तमान प्रशासन और उसके किसी भी संभावित परिवर्तित स्वरूप से कहां तक मेल खाता है?
71. डी.पी.
72. (रेखांकन हमारी ओर से) वही.
73. (रेखांकन हमारी ओर से) वही.
74. ''मैं व्यक्तिगन रूप से इसे एक राहत और सहायता कहूंगा यदि महारानी की प्रजा के हितों से संबंधित बहुत सी प्रशासनिक कठिनाइयों का निबटारा करते समय वर्तमान की तुलना में, मैं अपने सहयोगी भारतीय न्यायकर्ताओं की सलाह पर अधिक निर्भर रह सकूं. देशीय लोगों में मैं ऐसे व्यक्तियों से मिला हूं जो अधिकतर योग्य और समझदार हैं और जिनकी वफादारी और सहयोग पर भरोसा किया जा सकता है. उनके समर्थन से सरकार के उन बहुत से कार्यों को लोकप्रियता मिलेगी जिनके बारे में अभी यह प्रतीत होता है कि वे पाशविक शक्ति के आधार पर विधान परिषद में पारित किए गए हैं और यदि उन्हें एक देशीय पार्टी का समर्थन मिल जाए तो जैसा कि अब नजर आता है

भारत सरकार तूफानी समुद्र के बीच में एक अकेली चट्टान की तरह खड़ी नहीं रहेगी.'' डफरिन राज्य-सचिव को, 26 अप्रैल 1886, डी.पी.

75. परंतु, मुझे यह डर है कि जैसा कि इस प्रकार के मामलों में होता है, नरमपंथियों ने पहले ही अपना अधिकांश समर्थन खो दिया है और अंत में उन पर उनके देशवासियों के अधिक उग्र और असंयमित वर्ग का अधिकार हो जाएगा. यदि ऐसा है तो हमारे विधान परिषदों में अधिक संख्या में देशीय तत्वों को शामिल करना सहायता से अधिक हमारी परेशानी को बढ़ा देगा.'' इस खतरे का संकेत करने के पश्चात कि भारतीय सदस्यों द्वारा कानून बनाने में पैदा की गई रुकावटों से ''अशिक्षित और प्रतिनिधित्वहीन ''जनता'' का फायदा होगा, डफरिन ने आगे कहा : ''फिर भी, यदि वे सरकार की सहायता करते हैं तो भी यह संदेहजनक है कि नरमपंथी देशीय सदस्यों में इतनी शक्ति है कि वे समाचारपत्रों के आक्रमण को सहन कर सकें, जिनसे वे बुरी तरह भयभीत हैं.'' डी.पी. नार्थब्रूक को डफरिन का पत्र, 16 अक्टूबर 1886 भी देखिए, डी.पी.

76. डी.पी.

अध्याय ग्यारह

लेनिन और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन

I

हालांकि अक्टूबर क्रांति के दिनों से ही यूरोप उत्तरी अमरीका और आस्ट्रेलिया में समाजवादी आंदोलनों पर लेनिन के विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा लेकिन वह केवल अफ्रीका-एशिया के औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक संसार में ही अत्यधिक क्रांतिकारी परिणामों की ओर ले गई है। इसके अतिरिक्त, लेनिनवाद ही वह मुख्य रूप था जिसमें औपनिवेशिक संसार के लोगों द्वारा मार्क्सवादी विचारों को अपनाया और जज़्ब किया गया। निस्संदेह मार्क्स और एंगेल्स के लेखन में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्या के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कुछ बुनियादी तत्व मौजूद थे;[1] और दूसरे क्रांतिकारियों, उदाहरण के लिए, माओ त्से तुंग, हो ची मिन्ह, किम इल सुंग और चे ग्वेरा ने इसे और आगे विकसित किया। परंतु, इस विषय पर मार्क्स और एंगेल्स के विचार लगभग अपूर्ण थे और उन्हें विश्व-पूंजीवाद के प्रारंभिक युग में विकसित किया गया था। केवल लेनिन के लेखन द्वारा ही उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों के निवासियों को क्रांति के एक सिद्धांत की विस्तृत रूपरेखा प्रदान की गई।

हालांकि औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों की शुरुआत 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हो चुकी थी, लेकिन इन अधिकांश देशों में प्रथम महायुद्ध के दौरान ही शक्तिशाली राष्ट्रवादी आंदोलनों के विकास की बुनियाद डाली गई। अब औपनिवेशिक जनता को साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सफल संघर्ष चलाने के लिए नए सिद्धांतों और विचारधाराओं की तलाश थी। लेनिन ने पूंजीवाद के एकाधिकार के नए चरण—साम्राज्यवाद—और उपनिवेशों में राष्ट्रवादी संघर्षों की विशिष्ट परिस्थितियों के विश्लेषण पर मार्क्सवादी विचारों को लागू किया। उनके विश्लेषण ने औपनिवेशिक लोगों की उन सामाजिक तत्वों को समझने में सहायता की जो साम्राज्यवाद को समाप्त करने में उनकी सहायता कर सकते थे। इसने उनके अपने संघर्ष को संसार की व्यापक क्रांतिकारी प्रक्रिया से जोड़ने में भी सहायता की। लेनिन ने औपनिवशिक लोगों के मन में उनके उद्देश्यों के प्रति विश्वास जगाया और उन्हें स्थिति को समझने और उसमें परिवर्तन लाने के लिए एक विश्लेषणात्मक ढांचा प्रदान किया। लेनिन के राज्य और साम्राज्यवाद के सिद्धांत ने अपने शत्रुओं को देखने और पहचानने और समाज में राजनीतिक शक्ति की केंद्रीय भूमिका को समझने में लोगों की सहायता की और एक

क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांत ने उन्हें अपनी क्रांति को सफल बनाने का औजार दिया।

II

सामाजिक परिवर्तन के मार्क्सवादी विचार में सामाजिक ज्ञान को ऊंचा स्थान दिए जाने के कारण लेनिन ने दूसरे मार्क्सवादियों की भांति राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के सिद्धांत पर बहुत अधिक ध्यान दिया। मार्क्सवाद मानता है कि जिस प्रकार प्रकृति का ज्ञान हमें उसे नियंत्रित और परिवर्तित करने में हमारी सहायता करता है, उसी प्रकार, समाज का अध्ययन करना, उसे समझना और उसमें परिवर्तन करना भी संभव है। सामाजिक विकास केवल छुटपुट घटनाओं के घालमेल ही नहीं रहा है और न है। प्रकृति के नियमों की भांति सामाजिक विकास के भी कानून और प्रवृत्तियां हैं जिनका उनके अंतर्सबंधों को समझ लेने के बाद, इस विकास के संचालन में सचेत रूप से प्रयोग किया जा सकता है।[2] मार्क्स और एंगेल्स, जीवन भर मानवी विकास के, विशेष रूप से पूंजीवाद के युग के लिए, कानूनों के साथ उलझे रहे। इस दृष्टिकोण को अपना आधार बनाते हुए लेनिन ने (आधुनिक साम्राज्यवाद और बाद में विश्व क्रांति की प्रक्रिया के युग में) एक पिछड़े हुए पूंजीवादी देश में क्रांति की प्रक्रिया की एक समझ विकसित करने के लिए संघर्ष किया। इस प्रयास के एक उपोत्पादन के रूप में उन्होंने औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों में सामाजिक विकास के कानूनों की एक समझ को विकसित करने में भी सहायता की।

हम, इस स्थिति में, लेनिन के दृष्टिकोण के एक बुनियादी पहलू पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं जिसका एक ओर तो उसके औपनिवेशिक क्रांति के सिद्धांत में उदाहरण मिलता है और दूसरी ओर वह इस सिद्धांत तक पहुंचने में उसकी सहायता करता है। इस प्रकार लेनिन अपने समकालीनों के दृष्टिकोण से हट कर एक अलग दृष्टिकोण अपनाता है। उन्होंने मार्क्सवादी तरीके के मूल अंगों के किसी भी घटना अथवा स्थिति का ठोस रूप से और उसके विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में अध्ययन पर बल दिया है। मार्क्सवादियों के लिए उन्होंने बार-बार यह संकेत दिया कि उनके लिए ऐतिहासिक संदर्भ के अलावा कोई दूसरा निश्चित सूत्र अथवा "सामान्य वक्तव्य" नहीं हैं।[3] और इस ऐतिहासिक विशिष्टता का एक महत्वपूर्ण पहलू एक देश की विशेषताओं और ऐतिहासिक विकास का ज्ञान है। 1914 में उन्होंने लिखा : "मार्क्सवादी सिद्धांत पूर्ण रूप से यह चाहता है कि प्रत्येक सामाजिक समस्या को निश्चित ऐतिहासिक सीमाओं के अंदर ही जांच की जाए और यदि—इसका संबंध एक देश विशेष से है (अर्थात एक प्रदत्त देश के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम से) तब इन विशेष पहलुओं पर विचार करना चाहिए जो उसी ऐतिहासिक युग में उस देश को दूसरे देशों से अलग करते हैं।"[4]

लेनिन ने प्रथम महायुद्ध के एक ठोस ऐतिहासिक अध्ययन में भी वही तरीका अपनाया जिसका कि वे पहले कई वर्षों तक भावी रूसी क्रांति की प्रकृति और चरित्र के विश्लेषण में प्रयोग कर चुके थे। जहां तक राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण अपनाने का संबंध है, उन्होंने 1914 में रोज़ा लक्जमबर्ग के साथ अपनी बहस के दौरान बताया कि उनका उत्तर तर्क द्वारा नहीं बल्कि राष्ट्रीय आंदोलनों के "ऐतिहासिक और आर्थिक अध्ययन द्वारा तलाश किया जाना चाहिए।"[5] एक बार जब जीवन ने अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन का नेतृत्व उन्हें सौंप दिया तब उन्होंने इस बिंदु को और अधिक शक्तिशाली ढंग से रेखांकित किया। उन्होंने बार-बार औपनिवेशिक लोगों को यह चेतावनी दी कि वे दूसरे देशों के अनुभव पर भरोसा न करें, बल्कि रूसी और दूसरे व्यक्तियों के सामान्य संघर्ष से सीख लेते हुए, स्वयं अपने अनुभव का निरंतर मूल्यांकन करें और इस प्रकार अपनी क्रांतियों की विशेष समस्याओं का हल तलाश करें।[6] 1920 में, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्याओं पर गूढ़ अध्ययन के पश्चात लिखे गए अपने प्रारंभिक लेखों में लेनिन ने स्पष्ट किया कि कम्युनिस्ट पार्टी को "अपनी नीति राष्ट्रीय समस्या पर आधारित करनी चाहिए; अव्यावहारिक और औपचारिक सिद्धांतों पर नहीं, बल्कि, सबसे पहले विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति के एक सही आकलन और मुख्य रूप से आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित करनी चाहिए ...।"[7] राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्याओं पर कमीशन के कार्य की कांग्रेस में अपनी रपट प्रस्तुत करते हुए लेनिन ने और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा : "साम्राज्यवाद के इस युग में, विशेषकर सर्वहारा और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के लिए यह महत्वपूर्ण है कि वे ठोस आर्थिक तथ्यों को स्थापित करें और सभी औपनिवेशिक और राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए, अव्यावहारिक पूर्वधारणाओं के नहीं बल्कि ठोस वास्तविकताओं के आधार पर आगे बढ़ें।"[8] लेनिन के दृष्टिकोण पर इस तथ्य से ज्यादा कोई और बात प्रकाश नहीं डालती कि उन्होंने मानवी इतिहास में महानतम उपलब्धियों में से एक (अक्टूबर क्रांति और साम्राज्यी हस्तक्षेप के विरुद्ध उसके सफल बचाव) नेता के रूप में काकेशस के सोवियत गणतंत्रों के लोगों को सचेत किया कि वे उन दावपेंचों से भयभीत न हों जिनके द्वारा यह उपलब्धि संभव हो सकी है। 14 अप्रैल 1921 को लिखे गए एक पत्र में लेनिन ने इन गणतंत्रों के कम्युनिस्टों से कहा कि उनके कार्य के सफलतापूर्वक पूर्ण होने में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वे अपनी स्थिति, अपने गणतंत्रों की स्थिति, जो कि आर.एस.एफ.एस.आर. की अवस्था और परिस्थितियों से अलग थी, की विशेषता के प्रति पूर्ण रूप से सचेत थे; उन्होंने न केवल हमारे दाव-पेचों की नकल न करने की आवश्यकता को समझा बल्कि भिन्न ठोस परिस्थितियों के मद्देनजर सोच समझ कर, आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी किया।" भारी विषमताओं और बहुत अधिक अंतर्राष्ट्रीय विपरीत परिस्थितियों के बावजूद रूस के

लोगों को "विश्व के पूंजीवाद में पहली दरार डालनी थी" परंतु काकेशस के कम्युनिस्टों के पास अब यह अवसर था कि वे "अधिक सावधानी और सुव्यवस्थित तरीके से नव-निर्माण करें"। विशेष रूप से उन्हें रूसी दावपेंचों की नकल करने से बचाना चाहिए और "उन खास विशेषताओं और परिस्थितियों के कारणों का विश्लेषण करना चाहिए जिनसे वे उत्पन्न हुए और उनके परिणाम सामने आए।" अंत में लेनिन ने उन्हें सलाह दी कि वे "1917-21 के अनुभव के सबक को केवल एक सबक ही न रहने दें बल्कि उस पर अमल भी करें।"[9]

लेनिन के दृष्टिकोण का यह पहलू (वास्तविकता और ऐतिहासिक तत्वों पर बल) औपनिवेशिक क्रांतियों पर उनके विचारों को समझने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह इस विषय पर उनके अपने विचारों के निरंतर विकास और विशेषकर औपनिवेशिक क्रांतियों को समझने में उनके दृष्टिकोण में समय-समय पर आने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करता है, जो निरंतर परिवर्तनशील अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में, साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व क्रांति में अपनी भूमिका निभाएंगे। इससे भी अधिक यह इस बात की व्याख्या करता है कि क्यों औपनिवेशिक समस्याओं पर उनके विचार अस्पष्ट, बहुत सामान्य, और वास्तव में केवल एक प्रारूप बने रहे और एक संपूर्ण सिद्धांत नहीं बन पाए। औपनिवेशिक क्रांति के एक सिद्धांतवादी के रूप में लेनिन को कुछ लाभ भी मिले। आधुनिक साम्राज्यवाद के चरित्र, उसके आर्थिक और राजनीतिक दोनों पहलुओं पर उनकी पकड़ विश्व क्रांति के परिदृश्य को आगे रखने में उनकी क्षमता, एक अर्ध-यूरोपीय, अर्ध-एशियाई देश में बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक और समाजवादी क्रांति दोनों की तैयारी और निर्माण में उनके अनुभव और ज़ार के विस्तृत साम्राज्य की दलित राष्ट्रीयताओं की समस्याओं के अनुभव, सबने मिलकर औपनिवेशिक लोगों की समस्याओं को समझने में उनकी इतनी अधिक सहायता की कि उनका कोई भी समकालीन यूरोपवासी उन्हें इतने सही ढंग से नहीं समझ पाया। परंतु वे इस तथ्य के प्रति भी सचेत थे कि वे औपनिवेशिक क्रांतियों के दृश्य से काफी दूर थे, और न ही उनकी समस्याओं पर विस्तार से विचार करने के लिए उनके पास समय था। इसलिए वे औपनिवेशिक लोगों के लिए कानून बनाने, आदेश देने अथवा कोई ऐसी रूपरेखा बनाने को तैयार नहीं थे जिनका वे अनुसरण करें। हम कह सकते हैं कि लेनिन ने—उपनिवेशों के व्यक्तियों के लिए क्रांति के द्वार खोले, लेकिन उन्होंने उन्हें यह भी शिक्षा दी कि उनके विचारों को ठोस रूप से लागू करना उन्हीं लोगों का कार्य है जो वास्तव में इन क्रांतियों में लिप्त हैं। प्रत्येक देश के व्यक्तियों को अपनी विशेष परिस्थितियों में अपनी क्रांतियों का निर्माण करना है। चीनी, वियतनामी और क्यूबा की क्रांतियों ने इन आदेशों की बुद्धिमानी को साबित कर दिया है। विभिन्न देशों में लेनिन की विचारधारा के प्रति निष्ठा अथवा अवज्ञा ने क्या भूमिका अदा की है उसकी अभिव्यक्ति उन देशों के उतार-चढ़ाव में मिलती है।

वास्तविक परिस्थितियों के अध्ययन और निश्चित अनुभव के आधार पर विश्लेषण और सामान्यीकरण की आवश्यकता पर आग्रह के महत्व को उस समय और अधिक गहराई से महसूस किया गया जब कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर लेनिन पहली बार एशियाई क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। उनके सामने, लेनिन विनम्रता की प्रतिमूर्ति बन गए। यह जानते हुए भी कि उनकी मार्क्सवाद की समझ बिलकुल सतही है, लेनिन ने उन्हें और उनके विचारों को सम्मान दिया क्योंकि वे औपनिवेशिक देशों से आए थे। और इसलिए, वे उनसे (अपने-अपने देशों से) संबंधित प्रत्यक्ष ज्ञान का भंडार थे।[10] वे सरलता से अपने प्रारूप में कुछ परिवर्तन करने को तैयार हो गए। उदाहरण के लिए, कांग्रेस में एम.एन. राय और उनके विचारों को समायोजित करने के लिए लेनिन को अपने विचारों से पीछे हटना पड़ा, हालांकि इस मामले में उनकी विनम्रता उन्हें एक गलती की ओर ले गई क्योंकि उन्होंने सार्वजनिक रूप से इन विचारों की आलोचना नहीं की, और उनमें से कुछ को उन्होंने राय द्वारा प्रस्तावित और कांग्रेस द्वारा स्वीकृत पूरक सिद्धांतों के रूप में रहने दिया।[11]

III

औपनिवेशिक समस्या के साथ लेनिन का उलझाव बहुपक्षीय था और ठोस घटनाओं और वैचारिक मतभेदों के प्रभाव के अंतर्गत एक लंबे समय के दौरान विकसित हुआ था। आरंभ से ही, लेनिन ने पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की समस्याओं पर गंभीर रूप से अपना ध्यान केंद्रित करके स्वयं को अपने समकालीन समाजवादियों से अलग कर लिया था। वास्तव में 1905 की रूसी क्रांति के उनके अनुभव ने इस विषय पर उनके विचारों के विकास में सहायता की। 1920 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्याओं पर उनके द्वारा प्रस्तुत लेखों की प्रारंभिक रूपरेखा में इस समस्या पर उनके विचारों को सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मिली।[12]

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों पर लेनिन के विचारों पर कई शीर्षकों के अंतर्गत बहस की जा सकती है। लेकिन उनमें से कई सर्वविदित हैं और उनकी वास्तविक अहमियत के बावजूद यहां उन पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, लेनिन के विचारों की सफलता की कसौटी यह है कि अब उन्हें कम से कम शब्दों में, सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। लोग यह भूल चुके हैं कि कभी उन पर मतभेद थे। कुछ पहलू ये हैं : लेनिन द्वारा उपनिवेशवाद के ठोस आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं का रहस्योदघाटन, उपनिवेशों में उसकी प्रतिक्रियावादी भूमिका और उसका वर्ग आधार,[13] उपनिवेशों के निवासियों के प्रति उनकी सहानुभूति और आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय की उनकी मांग को मान्यता और समर्थन, उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को

उनका सक्रिय समर्थन और सोवियत संघ में दलित राष्ट्रीयताओं की समस्या का लोकतांत्रिक रूप से समाधान करने में उनकी भूमिका। यह सर्वविदित है कि उन्होंने राष्ट्रीय और औपनिवेशिक समस्या के प्रति रवैए को उन बुनियादी परीक्षाओं में से एक बनाया जिसे किसी व्यक्ति को अपने आपको एक समाजवादी कहने से पहले पास करना होता है। "किसी भी दमनकारी राष्ट्र के किसी भी सामाजिक लोकतंत्रवादी को एक दुष्ट और साम्राज्यवादी कहना हमारा अधिकार और कर्तव्य है जो इस प्रकार के प्रचार (ईसापूर्व दलित देशों में स्वतंत्रता के पक्ष में) का संचालन करने में असफल रहता है।"[14]

लेनिन के कुछ समकालीन समाजवादी, जैसे रोज़ा लक्जमबर्ग, जो सामाजिक-साम्राज्यवादी अर्थात शब्दों से समाजवादी और कार्यों से साम्राज्यवादी नहीं थे, सैद्धांतिक रूप से उपनिवेशों के निवासियों के साथ सहानुभूति जताने में उनकी स्वतंत्रता की मांग करने में लेनिन से सहमत थे, परंतु उनका झुकाव तत्कालीन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों की अनदेखी करने अथवा उनके प्रति एक उदासीनता के रवैए को प्रदर्शित करने की ओर था। इस उदासीनता का एक प्रमुख कारण यह था कि उनकी प्रवृत्ति औपनिवेशिक व्यक्तियों को राजनीतिक रूप से निष्क्रिय देखने की थी। वे उन्हें अपनी स्वतंत्रता अथवा उदीयमान विश्व क्रांति में ऐतिहासिक रूप से एक सक्रिय भूमिका निभाने में अक्षम समझते थे। औपनिवेशिक आंदोलनों को ऐतिहासिक रूप से महत्वहीन समझा गया। उनका विचार था कि उपनिवेशों की स्वतंत्रता को, मुख्य रूप से विकसित पूंजीवादी देशों में सफल समाजवादी क्रांतियों का कार्य होना था।[15]

लेनिन इस दृष्टिकोण से बिलकुल सहमत नहीं थे। उन्होंने औपनिवेशिक लोगों के संघर्ष के प्रति उदासीनता के रवैए का विरोध किया, उसे 'प्रतिक्रियावादी'' कहा और यह विचार प्रस्तुत किया कि उपनिवेशों के लोग स्वतंत्रता प्राप्त करने (हालांकि उन्हें साम्राज्यी देशों के श्रमिकों द्वारा पूर्ण समर्थन दिया जाना चाहिए), अपनी भूमि पर क्रांतियों का निर्माण करने और विश्व-क्रांति की प्रक्रिया में एक सक्रिय और स्वतंत्र भूमिका निभाने में पूर्ण रूप से सक्षम थे। वे वास्तव में उन प्रथम यूरोपीय समाजवादियों में से एक थे जिन्होंने इस तथ्य पर ध्यान दिया कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही उपनिवेशों के नागरिकों ने क्रांति के रास्ते को अपना लिया है। वास्तव में, वे इसे साम्राज्यवाद और विश्व क्रांति के नए युग की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक विशेषता मानते थे।

कुछ विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि औपनिवेशिक लोगों के आंदोलनों की क्रांतिकारी संभावनाओं को दी गई इस मान्यता का संबंध मुख्य रूप से, "दांवपेंचों से था। यह भी कहा जाता है कि लेनिन ने यह मान्यता 1920 के बाद दी जब सोवियत संघ को अपना अस्तित्व बरकरार रखने के लिए, पूर्व में अंतर्राष्ट्रीय मित्रों की आवश्यकता थी और वहां क्रांति की संभावनाएं समाप्त हो गई थीं। प्रकाशित लेखों

के ऐतिहासिक क्रम की एक साधारण सी सूची, जिसमें पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों पर लेनिन के विचार सम्मिलित हैं, इस प्रकार की गलत धारणाओं का खंडन कर देगी। वास्तव में, आरंभ से ही, इस संबंध में लेनिन ने उन्हीं परंपराओं को जारी रखा जिन्हें टाइपिंग क्रांति, 1857 की क्रांति, आयरिश क्रांतिकारी आंदोलन और राष्ट्रीय रूप से दलित व्यक्तियों के इसी प्रकार के दूसरे आंदोलनों पर मार्क्स और एंगेल्स ने अपने लेखन में स्थापित किया था।[16] उपनिवेशों के लोगों की सक्रिय ऐतिहासिक भूमिका के संबंध में उन्होंने समय-समय पर जो अनगिनत टिप्पणियां कीं उनका यहां उद्धरण देना अथवा उन पर बहस करना आवश्यक नहीं है। उनके विचारों को स्पष्ट करने के लिए उनके लेखों से कुछ उद्धरण देना ही पर्याप्त रहेगा।

1908 में अपने प्रसिद्ध लेख "इंफ्लेंबिल मैटीरियल इन वर्ल्ड पालिटिक्स" में लेनिन ने "गहरी नींद" से जागने और पूंजी और पूंजीवादी औपनिवेशिक व्यवस्था का विरोध करने के लिए एशिया के लोगों का स्वागत किया और घोषित किया कि वे "यातना देने वाले स्कूल" में प्रवेश कर रहे हैं जो उन्हें यह शिक्षा देगा कि "किस प्रकार गृह युद्ध का संचालन किया जाए और कैसे क्रांति को विजय तक ले जाया जाए।" "वर्ग-चैतन्य यूरोपीय श्रमिक के पहले से ही एशिया में साथी मौजूद हैं और प्रत्येक दिन और घंटे उनकी संख्या में वृद्धि होगी।"[17] 1912 में "चीन में लोकतंत्र और नारोदवाद" पर लिखते हुए लेनिन चीनी जनता के "असीम आध्यात्मिक और क्रांतिकारी उत्साह" और "करोड़ों व्यक्तियों द्वारा चलाए जा रहे क्रांतिकारी आंदोलनों" पर विचार करते हैं और घोषणा करते हैं कि चीनी जनता केवल अपनी युगों पुरानी दासता पर दुख प्रकट करने और स्वतंत्रता और समानता के सपने देखने में ही नहीं बल्कि युगों पुराने चीनी दमनकर्ताओं के विरुद्ध लड़ने में भी सक्षम हैं।"[18] 1913 में, अपने लेख 'दि अवेकनिंग आफ एशिया' में लेनिन ने तुर्की, पर्शिया, चीन और डच ईस्ट इंडीज़ (इंडोनेशिया) के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रसार पर ध्यान दिया।[19] 1916 में रोजा लक्जमबर्ग के जुनियस पैंफ्लेट का उत्तर देते हुए, जिसका ऊपर उद्धरण दिया गया है, लेनिन ने बलपूर्वक कहा : "साम्राज्यवादी युग में उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों द्वारा छेड़े गए राष्ट्रीय युद्ध संभव ही नहीं बल्कि अपरिहार्य हैं... वहां राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन या तो पहले से ही बहुत शक्तिशाली हैं या विकसित और परिपक्व हो रहे हैं।"[20] प्रथम महायुद्ध और सोवियत क्रांति के पश्चात पूरब के राष्ट्रवादी आंदोलन उग्रता की एक नई अवस्था में पहुंच गए और लेनिन ने इस पर ध्यानपूर्वक विचार किया। प्रावदा की दसवीं वर्षगांठ पर 5 मई 1922 को अपने संदेश में उन्होंने विश्वासपूर्वक यह भविष्यवाणी की कि भारत, चीन और बाकी एशिया के लोग "दृढ़ता और संवेग के साथ ... अपने 1905 के निकट पहुंच रहे हैं।"[21] और 2 मार्च 1923 को जब लेनिन ने अपने अंतिम लेख में यह घोषणा की तब उनकी परिकल्पना बिलकुल स्पष्ट थी :

> अंतिम विश्लेषण में, संघर्ष के परिणाम को इस तथ्य द्वारा निर्धारित किया जाएगा कि रूस, भारत, चीन इत्यादि में संसार की सबसे बड़ी जनसंख्या है। और पिछले कुछ वर्षों में विशेष रूप से इसी बहुसंख्या को असाधारण तेजी के साथ स्वतंत्रता के संघर्ष की ओर आकृष्ट किया गया है ताकि इस संबंध में लेशमात्र संदेह भी न रहे कि विश्व-संघर्ष का अंतिम परिणाम क्या होगा। इस मामले में, समाजवाद की पूर्ण विजय निश्चित है।[22]

लेनिन की यह समझ—कि औपनिवेशिक देशों की जनता अपने स्वयं के इतिहास और विश्व-क्रांति में एक सक्रिय भूमिका निभा सकती है, और यह भूमिका उसने निभाई भी—न केवल विश्व-क्रांति, अर्थात, उसके दांवपेंचों, उसके तत्वों की व्यवस्था इत्यादि के संचालन में, और सामाजिक क्रांति में यूरोपीय जनता का विश्वास जमाने में (जिसकी उन्हें उस समय बहुत अधिक जरूरत थी जब उनके अपने देशों में क्रांतिकारी लहर उतार पर थी) महत्वपूर्ण थी, बल्कि उसने औपनिवेशिक संसार में भी एक सक्रिय, प्रेरणात्मक भूमिका निभाई। यह उन कारणों में से एक है जो औपनिवेशिक लोगों में लेनिनवाद की लोकप्रियता की व्याख्या करता है।

IV

एक बार जब औपनिवेशिक क्रांतियों की सक्रिय ऐतिहासिक भूमिका को मान्यता दे दी गई तब यह प्रश्न उठा कि उन्हें किस प्रकार की क्रांतियां होना था; अथवा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की प्रकृति और चरित्र क्या था; अथवा दूसरे शब्दों में, उनका ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील चरित्र कैसे हैं? आरंभ में ही, लेनिन ने औपनिवेशिक समस्या की यूरोप की गुलाम राष्ट्रीयताओं की समस्या के साथ पहचान बना ली थी। विशेषकर, दोनों के "सैद्धांतिक आधार एक जैसे" थे, क्योंकि दोनों ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में एक सामान्य अवस्था का प्रतिनिधित्व करती थीं। दोनों ही लोकतांत्रिक संघर्ष, बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति का रूप थीं, अर्थात, वे बुर्जुआवादी आर्थिक संबंधों की स्थापना से संबंधित थीं। दोनों आंदोलनों का आर्थिक आधार इस तथ्य में निहित था कि एक बार जब यूरोप अथवा एक उपनिवेश अथवा अर्ध-उपनिवेश में (एक दलित राष्ट्रीयता में) पूंजीवादी वर्ग वजूद में आ जाएगा, तब उसके हितों को एक राष्ट्र-राज्य की जरूरत होगी, जिसे एक शक्तिशाली आंदोलन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[23]

लेनिन के अनुसार बुर्जुआवादी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को एशिया में एक अत्यंत सकारात्मक भूमिका निभानी थी; और इसके कई कारण थे : पहला, 1921 में उन्होंने लिखा कि एशिया में बुर्जुआ वर्ग अभी युवा, शक्तिशाली, और उत्थान की स्थिति में है। वह अपने हितों के लिए उग्रता का मुकाबला करने और इसलिए लोकतांत्रिक मांगों

के लिए लड़ने में बिलकुल सक्षम है।[24] दूसरे, इन आंदोलनों का ऐतिहासिक कार्य परिवर्तनवादी भूस्वामित्व संबंधी सुधारों को लागू करना, अर्थात, "सामंतवाद को उसके सभी रूपों और अभिव्यक्तियों में समाप्त करना है।"[25] तीसरे, वे करोड़ों व्यक्तियों को गहन राजनीतिक सक्रियता और संघर्षों के लिए तैयार कर रहे थे।[26] विशेष रूप से, उन्होंने काश्तकारों में साहस और पहलशक्ति का विकास किया जो इन आंदोलनों का प्रमुख सामाजिक समर्थन था।[27] और इनमें से अधिकांश आंदोलन संसार के लोगों के मुख्य शत्रु, साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलाए जा रहे थे।[28] वास्तव में औपनिवेशिक राष्ट्रवाद के सकारात्मक पहलुओं को देखने का अर्थ उसके वर्ग-चरित्र की अनदेखी करना नहीं था। 1913 में लेनिन ने टिप्पणी की कि "एशियाई क्रांतियों ने उदारवाद की उसी कायरता और घटियापन का (जैसा कि ईसा से पूर्व, यूरोप में) ... और हर तरह के सर्वहारा और बुर्जुआवादियों के मध्य उसी प्रकार से एक गहरी सीमा का प्रदर्शन किया है।" उन्होंने आगे कहा कि, "यूरोप और एशिया दोनों के अनुभवों के पश्चात, जो भी अब वर्गहीन राजनीति और गैर-वर्गीय समाजवाद की बात करता है, उसे पिंजरे में डाल देना चाहिए और आस्ट्रेलिया के कंगारू के साथ उसका प्रदर्शन करना चाहिए।"[29] इसी प्रकार, *प्रेलीमीनरी थीसिस* में लेनिन ने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय प्रश्न पर नीति को दूसरी चीजों के साथ-साथ दलित वर्गो, मेहनतकशों और शोषितों के हितों और पूर्ण रूप से राष्ट्रीय हितों के सामान्य सिद्धांत (जिसका अर्थ है शासक वर्ग के हित) के मध्य एक स्पष्ट अंतर "पर आधारित होना चाहिए।"[30] हमें, इस विषय पर कुछ देर बाद और अधिक विचार करना है।

बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की प्रगतिशील भूमिका का संपूर्ण सिद्धांत लेनिन के क्रांति के विकास (अवस्थाओं द्वारा) के सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। इसका अर्थ यह है कि एक पिछड़े पूंजीवादी अथवा औपनिवेशिक देश में क्रांति की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से दो अवस्थाओं में विभाजित होना है—बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक अथवा उपनिवेशवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी अवस्था और समाजवादी क्रांति की अवस्था।

मार्क्सवाद के अनुसार, अपने विकास के दौरान मानवता विभिन्न ऐतिहासिक युगों अथवा कालों से होकर गुजरती है और प्रत्येक युग की यह विशेषता होती है कि उसमें उत्पादन का तरीका भिन्न होता है। ये युग, स्पष्ट रूप में एक दूसरे से अलग होते हैं; उदाहरण के लिए, यूरोप में सामंतवाद, पूंजीवाद और समाजवाद के युगों को दशकों और सदियों ने भी एक दूसरे से अलग किया है। सैद्धांतिक और व्यावहारिक कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब बहुत से पिछड़े पूंजीवादी देशों में—जैसे 19वीं शताब्दी के मध्य जर्मनी और 20वीं शताब्दी के आरंभ में रूस—बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक, सामंतवाद विरोधी क्रांति में देर हो जाती है और वह उस समय ऐतिहासिक कार्यसूची पर आती है जब एक विश्वव्यापी स्तर पर समाजवादी क्रांति का प्रश्न केंद्रीय बिंदु

बन चुका होता है। यह, एक बड़ी हद तक औपनिवेशिक क्रांतियों पर भी लागू होता है, क्योंकि यहां न केवल ये दोनों तत्व मौजूद होते हैं बल्कि एक नया तत्व पूंजीवाद भी अपने अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यी रूप में मौजूद होता है। क्योंकि दोनों प्रकार की क्रांतियों का मुख्य शत्रु एक ही है। एक ही प्रकार के ऐतिहासिक युग में दो ऐतिहासिक स्तरों पर कार्य करने, सामाजिक संघर्ष को छोड़े बिना राष्ट्रीय संघर्ष को संगठित करने की आवश्यकता ने बहुत सी पेचीदा सैद्धांतिक समस्याओं को जन्म दिया है जिनका बीसवीं सदी के दौरान मार्क्सवादियों को समाना करना पड़ा है। इन सभी पर हुई बहस में लेनिन ने अपना मौलिक योगदान दिया। जिन देशों को अभी भी अपनी बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति को पूरा करना था, उनमें क्रांति के विकास में दो अवस्थाओं का प्रतिपादन, लेनिन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिपादनों में से एक था।

बुनियादी तौर पर लेनिन ने अपने इस सिद्धांत को अपने लेख 'टू टेकटिक्स आफ सोशल डेमोक्रेसी इन दि डेमोक्रेटिक रिवोलूशन' में विकसित किया था जिसे उन्होंने 1905 की क्रांति के दौरान बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति में सर्वहारा की भूमिका की व्याख्या करने के लिए लिखा था। जैसा कि उसे औपनिवेशिक देशों पर लागू किया गया है, क्रांति की अवस्थाओं के सिद्धांत का अर्थ है कि क्रांति की दोनों अवस्थाओं—लोकतांत्रिक और समाजवादी—में भेद किया जाना चाहिए। अपनी पृथक ऐतिहासिक विषय-वस्तु के कारण दोनों अवस्थाओं में स्पष्ट अंतर किया गया है; प्रत्येक अवस्था सामाजिक वास्तविकता में एक गुणात्मक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करती है। पहली अवस्था अथवा बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक अवस्था की विशेषता यह है कि केवल लोकतांत्रिक कार्यों, जिनका अर्थ औपनिवेशिक स्थिति में "विदेश दमन की समाप्ति"[31] होता था, को पूरा करना होता है। क्रांति की बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक अवस्था का यह चरित्र उस समय भी कायम रहा जब क्रांति का राजनीतिक नेतृत्व मजदूरों और किसानों के हाथों में था। इस अवस्था को छोड़ा नहीं जा सकता था क्योंकि वह वस्तुगत ऐतिहासिक वास्तविकता का एक अंग थी।[32] ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, न कि क्रांतिकारियों की व्यक्तिगत इच्छा के अभाव के कारण, वह अपरिहार्य थी। दूसरे शब्दों में, व्यक्तिगत रूप से अत्यधिक क्रांतिकारी नेतृत्व को भी सबसे पहले, ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त कार्य को पूरा करना चाहिए।[33] 1912 सुन यात-सेन के साथ अपने संबंधों पर विचार करते हुए अपने लेख 'डेमोक्रेसी एंड नारोडिज्म इन चाइना' में लेनिन ने एक एशियाई परिदृश्य में इस प्रकार की स्थिति का उदाहरण देते हुए संकेत दिया कि प्रगतिवादी चीनियों की एक बड़ी संख्या व्यक्तिगत रूप से समाजवादी बन चुकी है क्योंकि उन्होंने स्वतंत्रता के अपने विचारों को यूरोप और अमरीका से हासिल किया है जहां "समाजवाद आज की व्यवस्था" है। इसके साथ ही, "चीन जैसे एक पिछड़े कृषि प्रधान, अर्ध-सामंती देश, जिसकी जनसंख्या लगभग 50 करोड़ है, की वस्तुगत परिस्थितियां आज की व्यवस्था में इस दमन और शोषण

के केवल एक निश्चित, ऐतिहासिक रूप से एक सुस्पष्ट रूप, अर्थात, सामंतवाद का स्थान निश्चित करती हैं।" इसके परिणामस्वरूप, "व्यक्तिपरक समाजवादी विचारों से केवल सामंती शोषण की तबाही का एक कार्यक्रम सामने आता है।" दूसरे शब्दों में अपने नारेदवाद और व्यक्तिपरक समाजवाद के बावजूद सुन यात-सेन "पूर्ण रूप से एक पूंजीवादी, सबसे अधिक पूंजीवादी, भूस्वामित्व संबंधी कार्यक्रम" के[34] एक समर्थक के रूप में सामने आया। और चूंकि वस्तुगत, ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त कार्य सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष है, इसलिए जब भी चीनी सर्वहारा की पार्टी अस्तित्व में आएगी तब वह "निश्चित रूप से उसके राजनीतिक और भूस्वामित्व संबंधी कार्यक्रम के क्रांतिकारी-लोकतांत्रिक भाग को सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझकर सावधानीपूर्वक उसकी रक्षा करेगी और उसे आगे विकसित करेगी।"[35] दूसरे शब्दों में, लेनिन के अनुसार राजनीतिक कार्य की क्रांतिकारी गुणवत्ता की कसौटी अव्यावहारिक रूप से अत्यधिक विकसित राजनीतिक कार्यों को हाथ में लेना नहीं है—इस मामले में लोकतांत्रिक क्रांति की अवस्था में समाजवादी कार्य—बल्कि ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त क्रांति की अवस्था के कार्य को जारी रखना है— इस मामले में एक पूर्ण रूप से परिवर्तनवादी तरीके से लोकतांत्रिक क्रांति को जारी रखना; इस प्रक्रिया में करोड़ों दलित व्यक्तियों की राजनीतिक ऊर्जाएं मुक्त हो जाएंगी।[36]

लेनिन के कुछ आलोचकों ने महसूस किया कि उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन के बुर्जुआवादी राष्ट्रवादी चरण को जो महत्व दिया है वह समाजवाद के संघर्ष के महत्व को कम कर देगा, क्योंकि वह, विशेषकर मजदूरों को बुर्जुआवादी नेतृत्व का अनुसरण करने को विवश कर देगा। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि साम्राज्यवाद एक विश्व-व्यवस्था है और विश्व समाजवादी क्रांति द्वारा उसे समाप्त करके ही दलित राष्ट्रों को स्वतंत्र किया जा सकता है।[37] लेनिन ने उत्तर दिया कि बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक अवस्था को अलग रखना है और समाजवाद के संघर्ष के लिए उसे पूरा करना जरूरी है। क्योंकि लोकतंत्र के लिए "एक चौतरफा, ठोस क्रांतिकारी संघर्ष के बिना, कोई भी समाजवादी क्रांति नहीं हो सकती, क्योंकि इसी प्रकार का संघर्ष जनता को समाजवाद के संघर्ष की ओर लाता है।[39] लोकप्रिय जन-ऊर्जा को मुक्त कराने में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष जो अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते थे उसके प्रति लेनिन पूर्णतया सचेत थे। दूसरी ओर, उनका विश्वास था कि "जब तक सामंतवाद, निरंकुशता और विदेशी दमन समाप्त नहीं हो जाते, समाजवाद के लिए सर्वहारा संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।"[40]

अवस्थाओं द्वारा क्रांति के सिद्धांत का एक, समान रूप से महत्वपूर्ण अंग निरंतर क्रांति का सिद्धांत था। क्रांति की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरे से मिलाना नहीं था, लेकिन उन्हें एक ऐतिहासिक अनुक्रम में एक दूसरे का अनुकरण करना था, प्रत्येक अवस्था के कार्य अलग और स्पष्ट थे; इसलिए, इसका अर्थ यह नहीं था कि उन्हें समय की एक लंबी अवधि द्वारा आवश्यक रूप से अलग कर दिया जाना था। लेनिन

ने 1921 में लिखा : "हमने बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति को इस ढंग से पूरा किया है कि हमसे पहले किसी ने भी उसे इस तरह पूरा नहीं किया। हम सावधानी, दृढ़ता और निष्ठा के साथ समाजवादी क्रांति की ओर बढ़ रहे हैं, यह जानते हुए कि उसे बुर्जुआवादी-लोकतांत्रिक क्रांति से चीन की दीवार द्वारा अलग नहीं किया गया है।"[41] इससे पूर्व, 1916 में वे टिप्पणी कर चुके थे : "समाजवादी क्रांति केवल एक अकेला कार्य नहीं है, वह एक मोर्चे पर एक लड़ाई नहीं है बल्कि तीव्र वर्गसंघर्षों का एक संपूर्ण युग सभी मोर्चे पर लड़ाइयों की एक लंबी शृंखला अर्थात, अर्थशास्त्र और राजनीति के सभी प्रश्नों पर लड़ाई है, जो कि बुर्जुआवादियों से स्वामित्व हरण के पश्चात ही समाप्त होगी।[42] इसलिए समाजवादी क्रांति राष्ट्रवादी क्रांति के तुरंत बाद आ सकती थी और यह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक तत्वों के सहसंबंध पर निर्भर करता था।[43] यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक अथवा राष्ट्रीय क्रांति, समाजवादी क्रांति की ओर पहले कदम, अथवा एक भूमिका—हालांकि यह अनिवार्य है—के रूप में कार्य कर सकती है।[44] दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो लोकतांत्रिक क्रांति के पूर्ण होने पर उसके उलटाव के सभी रास्तों को रोकने के लिए उसे समाजवादी क्रांति में ले जाना जरूरी है। जैसा कि 1921 में लेनिन ने कहा : "पहली दूसरी में विकसित होती है। दूसरी, चलते हुए पहली की समस्याओं का निराकरण करती है। दूसरी, पहली के कार्य को मजबूती देती है।"[45] इससे भी पहले 1905 में, लेनिन ने इस दोहरे, क्रमिक परंतु अविरत क्रांतिकारी कार्यक्रम को रूसी क्रांतिकारियों के समक्ष रखा था : "सभी व्यक्तियों और विशेष रूप से किसानों के सामने—पूर्ण स्वतंत्रता के लिए एक निरंतर लोकतांत्रिक क्रांति के लिए—एक गणतंत्र के लिए! सभी मेहनतकशों और शोषितों के सामने—समाजवाद के लिए!"[46]

लेनिन के अनुसार, क्रांति की दोनों अवस्थाओं के मध्य समय के अंतराल की हद का सैद्धांतिक रूप से निर्धारण नहीं किया गया था।[47] यह क्रांतिकारी वर्गों और दलों के अमल और क्रांति की पहली लोकतांत्रिक अवस्था में समाजवादी क्रांतिकारियों की गतिविधि के तरीके पर निर्भर करता था।[48] यहां बुनियादी सवाल ये थे : जन साधारण को किस हद तक लोकतांत्रिक मांगों के संघर्ष के लिए तैयार किया गया था? किस सीमा तक काश्तकारों को भड़काया गया था? क्रांतिकारी आंदोलन के सर्वहारा नेतृत्व को मजबूती के साथ स्थापित किया गया था अथवा नहीं?[49]

अवस्थाओं द्वारा क्रांति के अविरल चरित्र की समझ ने लेनिन को मेनशेविकों से बिलकुल अलग कर दिया, जो बुर्जुआवादियों द्वारा बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति का नेतृत्व करने और इससे पहले कि पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने का कार्य आरंभ हो उसके विकसित और परिपक्व होने की प्रतीक्षा करने के पक्ष में थे। पिछड़े देशों के क्रांतिकारियों के सामने लेनिन ने जो कार्य रखे उनमें से एक दोनों अवस्थाओं के मध्य एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुंचने की अवधि को कम करना, और

इससे भी अधिक पहली अवस्था को दूसरी अवस्था में विकसित होने योग्य बनाना था। 1917 में उन्होंने इस कार्य को सफलतापूर्वक पूरा किया। और, उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का हवाला देते हुए, उन्होंने 1922 में भविष्यवाणी की कि "विश्व क्रांति की आगामी निर्णायक लड़ाइयों में संसार की जनसंख्या के बहुमत का यह आंदोलन—जिसका मूल उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता था—पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध हो जाएगा, और संभवतः हमारी आशा से भी कहीं अधिक एक क्रांतिकारी भूमिका निभाएगा।"[50] पूर्वी यूरोप, चीन, उत्तरी कोरिया, वियतनाम और क्यूबा में लेनिन की भविष्यवाणी, एक बड़ी हद तक पूर्ण हुई। और, हर एक मामले में पहली अवस्था दूसरी अवस्था में विकसित हुई क्रांति में कोई विघ्न नहीं पड़ा; लेकिन हर एक मामले में साम्राज्यवाद विरोधी बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक कार्यों को पूर्ण रूप से पूरा करके और जनसाधारण की बहुमुखी क्रांतिकारी गतिविधि और संगठन द्वारा इस परिणाम तक पहुंचा गया। संघर्ष के बीच में क्रांति की पहली अवस्था को पूरा करने के लिए जनसाधारण को संगठित किया गया। इस प्रकार, लेनिन के क्रांति के विकास की अवस्थाओं के सिद्धांत में साम्राज्यवाद के अत्यधिक पिछड़े पीड़ितों को भी हमारे समय की अत्यधिक सफल क्रांतियों को पूर्ण करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के योग्य बनाया, जो विकसित पूंजीवादी देशों से भी पहले इन देशों में समाजवाद की स्थापना की ओर ले गई। उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में क्रांति की दोनों अवस्थाओं के मध्य स्पष्ट हदबंदी ने क्रांतिकारियों की उनके देशों में मौजूद प्रमुख अंतर्विरोध को खोजने में सहायता की—अर्थात, साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक जनता के मध्य अंतर्विरोध को। इसने उन्हें अपनी ऊर्जा को प्रमुख शत्रु के विरुद्ध केंद्रित करने, और इस प्रकार एक अत्यंत व्यापक राजनीतिक मोर्चा बनाने, विशेषकर सर्वहारा और किसानों का—में भी सहायता की। दूसरी ओर, हमारे समय में लोकतांत्रिक क्रांति के अविरत चरित्र के सिद्धांत ने सर्वहारा और किसानों को लोकतांत्रिक क्रांति में नेतृत्व संभालने, क्रांति की पहली अवस्था के पूरा हो जाने के बाद बुर्जुआवादियों द्वारा सत्ता की बागडोर संभालने की मेनशेविक गलती से बचने और "साहस और गहराई से" क्रांति की लोकतांत्रिक अवस्था के कार्यों को तेजी से पूरा करने के बाद बहादुरी से समाजवाद की ओर बढ़ने में सहायता की।

V

मूल प्रश्नों में से एक प्रश्न जिस पर लेनिन ने विचार किया वह यह था कि बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के दौरान कम्युनिस्टों को बुर्जुआवादियों (और अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन) के प्रति क्या रवैया अपनाना था। इन आंदोलनों में बुर्जुआवादियों और काश्तकारों की भूमिका को परिभाषित करने का प्रमुख प्रश्न भी

इससे जुड़ा था।

लेनिन ने यह संकेत देते हुए शुरुआत की कि "पूंजीवाद की दोनों अवधियों के मध्य अंतर किया जाना है।" पहली अवधि इसके चढ़ाव की है जब सामंतवाद और निरंकुशता के विरुद्ध इसका संघर्ष इसे राष्ट्रीय जन-आंदोलनों के निर्माण की ओर ले जाता है जिसमें "जनसंख्या के सभी वर्गों को राजनीति की ओर आकृष्ट किया जाता है," विशेष रूप से जनसंख्या के सबसे बड़े वर्ग, काश्तकारों को। दूसरी अवधि इसके उतार की है "पूंजीवाद की समाप्ति की पूर्वसंध्या"—जब यह सर्वहारा का मुकाबला करता है। इस अवधि का प्रतिरूप "बुर्जुआवादी-लोकतांत्रिक जन आंदोलनों का अभाव" है।[51]

स्पष्ट रूप से उपनिवेश और अर्ध-उपनिवेश उस समय पूंजीवाद के पहले, ऐतिहासिक रूप प्रगतिशील चरण में थे। इन देशों में, एक ओर तो, पूंजीवाद के प्रति काफी उत्साह था और, दूसरी ओर साम्राज्यवाद द्वारा इसका दमन किया जाता था। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्र-राज्य के निर्माण के अपने प्रयास के कारण पूंजीवाद का साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष था, इसमें (राष्ट्र-राज्य) में पूंजीवाद को सर्वाधिक लाभ पहुंच सकता था।[52] कई देशों में, बुर्जुआवादियों का भी स्थानीय सामंतवादी और मध्यकालीन तत्वों से संघर्ष था जो पूंजीवाद के रास्ते में एक अवरोधक का काम करते थे। और जिनके साथ साम्राज्यवाद का गठबंधन था।[53] इससे औपनिवेशिक बुर्जुआवादी जन साधारण के और निकट आए।

इसके साथ ही लेनिन ने विशेष मामलों में बुर्जुआवादियों की साम्राज्यवाद और सामंतवाद के बीच डांवाडोल रहने और उनके साथ समझौता करने की प्रवृत्ति पर भी ध्यान दिया। उन्होंने इस तथ्य पर भी ध्यान दिया कि बुर्जुआवादियों के कुछ वर्ग साम्राज्यवाद से मिल जाते हैं और श्रमिकों को धोखा देने के लिए राष्ट्रीय नारों का प्रयोग करते हैं।[54] इसलिए, लेनिन ने औपनिवेशिक बुर्जुआवादियों के 'सामान्य रूप से' परिवर्तनवादी अथवा 'सामान्य रूप से' प्रतिक्रियावादी चरित्र पर एकतरफा बल देने से अधिक उनकी हिचकिचाहटपूर्ण भूमिका (सकारात्मक और नकारात्मक दोनों संभावनाओं के साथ) पर बल दिया।[55] पहला बल बुर्जुआवादियों की भूमिका का गुणगान करेगा, उन्हें 'सम्मान' देगा और सर्वहारा को उनका अनुसरण करने को कहेगा; जबकि दूसरा उपनिवेशों में बुर्जुआवादियों की भूमिका को पूर्ण रूप से नकारने की ओर ले जाएगा, और राष्ट्रीय आंदोलन में विशुद्ध रूप से जोखिम भरे दावपेंचों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करेगा जो बड़ी तेजी से कम्युनिस्ट आंदोलन को किसानों और शहरी तुच्छ बुर्जुआवादियों से अलगाव की ओर ले जाएगी।

लेनिन के दृष्टिकोण का दूसरा महत्वपूर्ण भाग यह है कि उन्होंने किसानों की भूमिका को उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति के मर्म के रूप में देखा। किसानों को इस क्रांति के न केवल मुख्य तत्व के रूप में बल्कि

उसके मुख्य सामाजिक आधार अथवा क्रांतिकारी बुर्जुआवादियों के प्रतिरूपी प्रतिनिधियों के रूप में भी देखा गया।[56] जहां तक उपनिवेशों में कम्युनिस्ट कार्य का संबंध था, किसानों के मध्य कार्य को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी।[57] इसके अतिरिक्त, किसानों के भाग्य में "विश्व क्रांति के अगामी चरणों में एक बहुत बड़ी क्रांतिकारी भूमिका को निभाना लिखा था।"[58] 'प्रेलीमिनरी थीसिस' में, लेनिन ने "किसान आंदोलन को विशेष समर्थन देने" की आवश्यकता पर बल दिया और कम्युनिस्टों को "किसान आंदोलन को सर्वाधिक क्रांतिकारी चरित्र प्रदान करने के लिए प्रयत्न करने" को प्रेरित किया।[59] उनको यह विश्वास भी था कि उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में 'किसानों, और दूसरे 'सोवियत मेहनतकशों' को 'स्थापित' करने के लिए प्रयास करने का वह उपयुक्त समय था।[60] लेनिन ने इस विचार पर भी काम किया कि इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी भूमिका का (उसकी सदस्यता, विशेष कार्यो इत्यादि का) किसानों के स्तर पर सामंजस्य बैठाना चाहिए। उन्होंने लिखा : "इन देशों में यही मूल प्रश्न है। इस पर सोचने और इसके ठोस उत्तर तलाश करने की जरूरत है।"[61]

लेनिन, यहां उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में क्रांति के सिद्धांत और अमल में एक प्रमुख योगदान दे रहे थे। निस्संदेह, मार्क्स और एंगेल्स ने किसानों में जब वे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से संबंधित हों, संभवतः कुछ क्रांतिकारी गुण देखे थे।[62] इसी प्रकार दूसरे, विशेष रूप से माओ त्से तुंग, राष्ट्रीय आंदोलन के साथ भूस्वामित्व संबंधी विद्रोह को जोड़ने, एक औपनिवेशिक परिदृश्य में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को एक किसान-युद्ध के रूप में देखने, अथवा बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक क्रांति को मूल रूप से एक किसान-क्रांति समझने में लेनिन से आगे निकल गए। लेकिन यह महत्वपूर्ण संबंध लेनिन द्वारा स्थापित किया गया था और उन्हीं के द्वारा पहला कदम उठाया गया था। बुनियाद उन्होंने ही रखी थी।[63] वे इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते थे। वे दूसरे व्यक्तियों की क्रांतियों के पैगंबर या रूपरेखा के निर्माता नहीं थे। वे एक क्रांतिकारी विचारक और एक ऐसे पथ प्रदर्शक थे जिसने मार्क्सवाद की समझ और रूसी और संसार की क्रांतिकारी प्रक्रिया के आधार पर औपनिवेशिक संसार की प्रत्यक्ष वास्तविकता को देखा और उसका विश्लेषण किया। उनके सामाजिक विचारों को आगे गहराई तक ले जाना उन लोगों का कार्य था (और वे ऐसा कर सकते थे) जो वास्तव में औपनिवेशिक क्रांतियों के निर्माण में व्यस्त थे।

लेनिन का एक लंबे समय तक यह दृढ़ विश्वास रहा कि उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में बुर्जुआ वर्ग की प्रगतिशील भूमिका के मद्देनजर और चूंकि उसकी क्रांतियां अभी तक बुर्जुआ लोकतांत्रिक चरण में थी—कम्युनिस्टों को तत्कालीन बुर्जुआ लोकतांत्रिक स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेना चाहिए और, अस्थायी रूप से ही सही, इन आंदोलनों में सक्रिय रूप से भागीदारी कर रहे सभी बुर्जुआ तत्वों से गठबंधन करना चाहिए।[64] दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के उन सभी तत्वों को

एक साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे के रूप में लेना चाहिए जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने को तैयार थे।

1920 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में, जब लेनिन ने 'प्रेलीमिनरी थीसिस' में अपने इस विचार को रखा तब इस मुद्दे पर निर्णयात्मक रूप से चर्चा हुई और उनके विचार को स्वीकार कर लिया गया जबकि एम.एन. राय और सेराटी के इस विचार को कि मजदूरों और किसानों को बुर्जुआ नेतृत्व में चलाए जा रहे आंदोलन से अलग एक स्वतंत्रता आंदोलन चलाना चाहिए, अस्वीकार कर दिया गया।[65] लेनिन के इस विचार को व्यापक समर्थन मिला कि बुर्जुआ लोकतांत्रिक मुक्ति आंदोलनों को समर्थन दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही एम.एन. राय ने भी अंततः उसे, कम से कम औपचारिक रूप में, स्वीकार कर लिया— इसके तुरंत बाद ही एक बड़ा विवाद छिड़ गया जिससे वर्षो तक औपनिवेशिक संसार में कम्युनिस्ट आंदोलन प्रभावित होते रहे। विवाद इस प्रश्न पर हुआ कि तत्कालीन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के प्रति कौन से ठोस दावपेंचों को अपनाया जाए। जहां तक इन आंदोलनों का संबंध था, साम्राज्यवाद और सामंतवाद के संदर्भ में, उनके वर्गीय स्वरूप, कार्यक्रम और परिवर्तनवादी दृष्टिकोण में भिन्नता थी। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह था किस प्रकार के बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्वों का सर्मथन करना था और उनके साथ गठबंधन करना था।

वास्तव में, यह विवाद लेनिन के ''प्रेलिमिनरी ड्राफ्ट आन दि नेशनल एंड कालोनियल क्वैश्चन'' की भाषा में एक परिवर्तन के कारण पैदा हुआ। जब इस विषय पर कमीशन में बहस के पश्चात मसौदे को अंतिम रूप दिया गया तब उसमें जहां-जहां लेनिन ने ''बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलनों को समर्थन" शब्दों का प्रयोग किया था उनके स्थान पर ''राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों को समर्थन'' कर दिया गया।[66]

यह परिवर्तन क्यों किया गया? 'क्रांतिकारी' शब्द का यहां क्या अर्थ था?

कमीशन के सामने अपनी रपट प्रस्तुत करते हुए लेनिन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि परिवर्तन का उद्देश्य राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बुर्जुआ लोकतांत्रिक चरित्र की उनकी संपूर्ण समझ और आंदोलनों को समर्थन देने अथवा उनके साथ गठबंधन करने की नीति को अस्वीकार करना नहीं था।[67] कमीशन के सामने राय के विचारों का विरोध करते हुए लेनिन ने कहा था : ''रूस में उदारवादियों के स्वतंत्रता आंदोलन ने जब ज़ारशाही का विरोध किया तो हमने उसका सर्मथन किया। भारतीय कम्युनिस्टों को उसमें विलीन हुए बिना बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक आंदोलन का समर्थन करना चाहिए।''[68]

यह परिवर्तन उन बुर्जुआवादी लोकतांत्रिक आंदोलनों के चरित्र को निश्चित करने के उद्देश्य से किया गया जिनके साथ कम्युनिस्ट गठबंधन कर सकते थे। लेनिन इन आंदोलनों के सुधारवादी और साम्राज्यवाद-समर्थक तत्वों और पहलुओं को क्रांतिकारी तत्वों और पहलुओं से अलग करना चाहते थे।[69] दलित राष्ट्रों के ढुलमुल बुर्जुआ

चरित्र की अपनी समझ को ध्यान में रखते हुए जिसमें उनकी औपनिवेशिक समझ भी सम्मिलित थी, वे इस प्रकार की ढुलमुल नीति अथवा विश्वासघातों के दुष्परिणामों से सर्वहारा को बचाए रखना चाहते थे। इसलिए, उन्होंने कम्युनिस्टों को केवल उन्हीं आंदोलनों को समर्थन देने के लिए प्रेरित किया जो "वास्तव में क्रांतिकारी" थे। दूसरी ओर, उन्होंने उन्हें "सुधारवादी बुर्जुआ वर्ग का मुकाबला करने के लिए" भी प्रेरित किया।[70]

अपनी *प्रेलिमिनरी थीसिस* में लेनिन ने परिवर्तन क्यों किया, इसका एक महत्वपूर्ण कारण, हमारी समझ से, यह था कि वे औपनिवेशिक बुर्जुआवादियों की प्रगतिशील भूमिका की एक यांत्रिक व्याख्या का विरोध करना चाहते थे। औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग वस्तुगत और, इसलिए संभावित रूप से साम्राज्यवाद के विरुद्ध तो था परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह अथवा उसकी सभी श्रेणियां हमेशा साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाते। कम्युनिस्ट उसकी केवल उन्हीं श्रेणियों के साथ गठबंधन करेंगे जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ते हैं और जो इस कारण से क्रांतिकारी हैं। क्रांति के काल में, आर्थिक प्रभावों को नजरअंदाज करते हुए, लेनिन ने सामान्य और व्यावहारिक स्थितियों के मध्य अंतर को जो महत्व दिया वह एक समस्या के राजनीतिक पहलुओं में से एक था।

वास्तव में, हमें अभी और अधिक गहराई से यह समझना है कि "वास्तविक रूप से क्रांतिकारी" शब्दों से लेनिन का क्या तात्पर्य था? और यहां हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए, जैसा कि इस निबंध के प्रथम भाग में संकेत दिया गया था, कि लेनिन ने कभी भी, सैद्धांतिक स्थिति से अलग, एक राजनीतिक स्थिति को एक सामान्य अथवा अव्यावहारिक संदर्श में नहीं बल्कि हमेशा सही रूप में एक निश्चित ऐतिहासिक संदर्श में परिभाषित किया। यहां यह संकेत दिया जा सकता है कि आरंभ में ही 1920 से पूर्व ही उन्होंने एक क्रांतिकारी और एक सुधारवादी बुर्जुआ लोकतांत्रिक राष्ट्रीय आंदोलन में भेद किया था।[71] 1913 में उन्होंने चीन में उदारवादी बुर्जुआ वर्ग (जो कि जनता के साथ गद्दारी कर रहा था और साम्राज्यवाद के साथ समझौता करना चाहता था) की जो भर्त्सना कि उससे यह भेद स्पष्ट होता है।[72]

"वास्तविक रूप से क्रांतिकारी" शब्दों के प्रयोग का अर्थ संभवतः यह नहीं हो सकता था कि औपनिवेशिक संघर्ष, सीधे समाजवाद की ओर ले जाएंगे अथवा उनका बुर्जुआ लोकतांत्रिक चरित्र समाप्त हो जाएगा,[73] और यह कि साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के पश्चात जनसाधारण के प्रति और सामाजिक प्रश्न पर बुर्जुआ वर्ग, संभावित रूप से, जो रवैया अपनाएगा वह साम्राज्यवाद विरोधी चरण में उसके क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रियावादी चरित्र का निर्णय करेगा। न ही इसका यह अर्थ था कि क्रांतिकारियों द्वारा राष्ट्रवादियों को समर्थन देने की बात बुर्जुआ वर्ग को नहीं बल्कि किसानों को समर्थन देने के लिए कही गई थी, क्योंकि क्रांतिकारी, सुधारवादी और साम्राज्यवाद-समर्थक

शब्दों का प्रयोग बुर्जुआ वर्ग के संदर्भ में ही सार्थक हो सकता था। औपनिवेशिक संदर्श में किसान वर्ग एक क्रांतिकारी वर्ग था, जिसे कम्युनिस्ट पार्टी अपना आधार बना सकती थी। उसे समर्थन देने का तो सवाल ही नहीं था; उसे तो राष्ट्रीय क्रांति की शक्ति का आधार होना था और उसी से सर्वहारा वर्ग को जुड़ना था।

लेनिन के चिंतन का यह पहलू उनके और एम.एन. राय और सेराटी (इटली) के विचारों में अंतर को स्पष्ट करता है। उन दोनों के साथ लेनिन के केवल शब्दावली पर मतभेद नहीं थे। ये मतभेद ऐसे भी नहीं थे जिन्हें केवल और अधिक व्याख्या की आवश्यकता थी, बल्कि उन दोनों (राय और सेराटी) ने चरणबद्ध क्रांति के विकास के सिद्धांत के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा था। राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर कमीशन के सामने अपना पक्ष रखते हुए राय ने विचार व्यक्त किया कि भारतीय जनता "राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नहीं है। वह विशेष रूप से एक आर्थिक और सामाजिक प्रकृति की समस्याओं में रुचि ले रही है"। इसलिए, उसकी किसी भी प्रकार के बुर्जुआ-राष्ट्रवादी नारों में रुचि नहीं है; केवल एक नारे–जमीन जोतने वाले को भूमि–में ही वह रुचि ले सकती है"। इसके अतिरिक्त, "जहां तक विस्तृत जनसमूह का संबंध है, भारत में क्रांतिकारी आंदोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में कोई समानता नहीं है"। इसलिए, उन्होंने 'थीसिस' के दूसरे पैरा को निकालने का सुझाव दिया और बुर्जुआ लोकतांत्रिक मुक्ति आंदोलनों का समर्थन करने के लिए कम्युनिस्टों से आग्रह करते हुए कहा कि "भारत में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को केवल कम्युनिस्ट आंदोलन के निर्माण और विकास में सहायता करनी चाहिए, और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को केवल जनसाधारण को संगठित करना चाहिए ताकि वे अपने वर्ग-हितों के लिए लड़ सकें"।[74]

यहां इस बात का उल्लेख भी किया जाना चाहिए कि राय के दिमाग में यह बात बिलकुल स्पष्ट थी कि भारत में कौन से व्यक्ति "क्रांतिकारी राष्ट्रवादी" हैं। ये वे लोग थे जो असहयोग आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे।[75] उन्होंने सुधारवादी राष्ट्रवादियों अथवा साम्राज्यवाद समर्थक उदारवादियों के मुकाबले में क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों के पक्ष में दलील नहीं दी। उन्होंने, स्पष्ट रूप से, "क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों को समर्थन देने के विरुद्ध दलील दी, हालांकि बाद में, कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में लेनिन ने जब उनकी दलील को अस्वीकार कर दिया तब उन्होंने विवश होकर 'सप्लीमेंट्री थीसिस' में उस स्थिति को स्वीकार कर लिया।[76]

कांग्रेस के पूर्णाधिवेशन में अपने विचार रखते हुए सेराटी ने राय के दृष्टिकोण का समर्थन किया, हालांकि उनका दृष्टिकोण संभवतः एक अलग मान्यता पर आधारित था। सेराटी ने कहा कि "सामान्य रूप से, बुर्जुआ लोकतांत्रिक वर्गों द्वारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की कोई भी कार्यवाही–चाहे उसमें विद्रोह के तरीकों का प्रयोग किया गया हो–क्रांतिकारी कार्यवाही नहीं होती। उन्होंने बुर्जुआ-लोकतंत्रवादियों, और उन्हें भी "जिन्हें

क्रांतिकारी कहा जाता है"[77] को किसी प्रकार का समर्थन देने अथवा उनके साथ गठबंधन करने का विरोध किया। कांग्रेस ने उनके इस सुझाव को भी अस्वीकार कर दिया।

VI

अब हम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न कर सकते हैं : जब लेनिन ने अंतिम 'थीसिस' में "क्रांतिकारी राष्ट्रवादी" शब्दों का प्रयोग किया तो उनका तात्पर्य क्या था?

यदि लेनिन के संपूर्ण चिंतन पर विचार किया जाए और इस विचार को ध्यान में रखा जाए कि वे एक निश्चित स्थिति के संबंध में कोई 'आदेश' नहीं दे रहे थे बल्कि एक बड़ी संख्या में औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों के इतिहास में एक संपूर्ण ऐतिहासिक युग पर विचार कर रहे थे, तब यह कहा जा सकता है कि विस्तृत अर्थों में क्रांतिकारी शब्द का संबंध उस संपूर्णता और वचनबद्धता से है जिसके तहत क्रांति के बुर्जुआ-लोकतांत्रिक चरण में ठोस, ऐतिहासिक कार्यों के लिए संघर्ष किया जाता है, और अधिक स्पष्ट रूप से, और औपनिवेशिक स्थिति में, "क्रांतिकारी राष्ट्रवादी" शब्दों के दो व्यापक लेकिन स्पष्ट अर्थ हैं।

इसकी पहली कसौटी साम्राज्यवाद के प्रति अपनाया गया रवैया था। क्रांतिकारी राष्ट्रवादी वही थे जिन्होंने साम्राज्यवाद का विरोध किया और उसके विरुद्ध संघर्ष किया। उनके दशों में साम्राज्यवाद उनका प्रमुख शत्रु था; साम्राज्यवाद के साथ अंतर्विरोध प्रमुख अंतर्विरोध था। इसलिए, एक नेतृत्व के क्रांतिकारी गुण की मात्रा को इस अंतर्विरोध के संबंध में देखा जाना था।

कामिंटर्न कांग्रेस के पूर्णाधिवेशन के सामने राष्ट्रीय और उपनिवेशी प्रश्नों पर कमीशन की ओर से अपनी रपट प्रस्तुत करते हुए लेनिन ने कहा कि बुर्जुआवादियों का वह वर्ग, जिसे समर्थन नहीं दिया जाना है, "वह साम्राज्यवाद समर्थक है, जिसे साम्राज्यवाद ने ही रोपित किया है और जो साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर कार्य कर सकता है, अर्थात सभी क्रांतिकारी आंदोलनों और क्रांतिकारी वर्गों के विरुद्ध उसका (साम्राज्यवाद का) साथ दे सकता है"। इस बात पर एक बार फिर बल दिया जाना चाहिए कि यह विभेद किसी सिद्धांत पर आधारित न होकर कमीशन के सामने किए गए 'अकाट्य प्रतिपादन' पर आधारित था।[78] वास्तव में, औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग की यह साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका उसे समर्थन देने की नीति का मुख्य आधार थी।[79] जब औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग ने इसका परित्याग कर दिया तो वे प्रतिक्रियावादी हो गए।[80]

एक राष्ट्रीय आंदोलन के क्रांतिकारी चरित्र की दूसरी पहचान जन-साधारण की भूमिका और आंदोलन में सामूहिक गतिविधि का प्रसार थी। जैसा कि पहले संकेत

दिया गया है कि पूंजीवाद के उत्थान के चरण में लेनिन ने जिन सकारात्मक विशेषताओं को रेखांकित किया उनमें से जनसाधारण का राजनीतीकरण और जन आंदोलन में उनकी सामूहिक भागीदारी भी एक सकारात्मक विशेषता थी। एक आंदोलन जनसाधारण में किस हद तक जागृति ला सकता था, उन्हें गोलबंद कर सकता था, राजनीति में ला सकता था और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही द्वारा किस हद तक उनकी छिपी हुई ऊर्जाओं को प्रकट कर सकता था—यही एक बुर्जुआ राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रगतिर्शील और क्रांतिकारी चरित्र की महत्वपूर्ण पहचान थी। दूसरी ओर, जब जनता के पीठ पीछे उच्च स्तर पर सौदेबाजी द्वारा राजनीतिक अथवा प्रगतिशील निर्णय लिए जाते हैं, ऐसी स्थिति में आंदोलन को सुधारवादी कहा जा सकता है। 1913 में लेनिन ने सुन यात-सेन की जो इतनी अधिक प्रशंसा की उसका मुख्य कारण यही था। उन्होंने लिखा : "क्रांतिकारी बुर्जुआ लोकतंत्र, जिसका सुन यात-सेन प्रतिनिधित्व करते हैं, चीन के पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से राजनीतिक सुधार और भूमि सुधार लागू करने में जनता की पहल, दृढ़ निश्चय और साहस का सही उपयोग कर रहा है"।[81] 1914 में लिखी गई उनकी एक प्रमुख रचना *दि राइट आफ नेशंस टु सेल्फ डिटर्मीनेशन* में आयरलैंड के संघर्ष से संबंधित एक लंबे उद्धरण से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है :

> हालांकि मार्क्स, सैद्धांतिक रूप से संघवाद के विरोधी थे, फिर भी इस विशेष परिस्थिति में उन्होंने संघवाद की संभावना को भी मंजूरी दी, ऐसी स्थिति में जबकि आयरलैंड की स्वतंत्रता को सुधारवादी तरीके से नहीं बल्कि आयरलैंड की जनता द्वारा एक आंदोलन चला कर क्रांतिकारी तरीके से हासिल किया जाता। उस आंदोलन को इंगलैंड के श्रमिक वर्ग का समर्थन प्राप्त होता। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि ऐतिहासिक समस्या का यह समाधान सर्वहारा वर्ग के सर्वाधिक हित में और सामाजिक प्रगति में सहायक होता ... आयरलैंड की जनता और इंगलैंड का सर्वहारा वर्ग दोनों कमजोर साबित हुए। अब केवल अंग्रेज उदारवादियों और आयरलैंड के बुर्जुआ वर्ग के बीच घटिया सौदेबाजी द्वारा आयरलैंड की समस्या का समाधान किया जा रहा है।[82]

... इस संबध में, लेनिन ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में किसानों की सामूहिक गतिविधि की भूमिका को जो महत्व दिया था, उस पर हम पहले ही विस्तार से विचार कर चुके हैं।

जहां तक जनता की भूमिका का संबंध है राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के बुर्जुआ नेतृत्व को समर्थन देने के लिए लेनिन ने एक दूसरी शर्त भी रखी थी। शर्त यह थी कि बुर्जुआ नेतृत्व "किसानों को शिक्षित और संगठित करने और शोषित जनता के मन में क्रांति की भावना उत्पन्न करने के कम्युनिस्टों के प्रयास"[83] का विरोध नहीं

करेगा। दूसरे शब्दों में कम्युनिस्टों को किसी भी स्थिति में किसानों और जन आंदोलनों को औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग के नियंत्रण में देकर अथवा उन सीमाओं में रखकर जो बुर्जुआ वर्ग को स्वीकार थीं—बुर्जुआ वर्ग का तुष्टीकरण नहीं करना था।[84] इसके अतिरिक्त, कम्युनिस्टों को हर हालत में अपना अलग अस्तित्व, "सर्वहारा वर्ग के आंदोलन की आत्मनिर्भरता" को कायम रखना था, और मजदूरों और किसानों की राजनीतिक गतिविधि और संगठन को बुर्जुआ वर्ग की गतिविधि और नेतृत्व में कभी भी विलीन नहीं होने देना था।[85]

लेनिन द्वारा जनता की भूमिका और कम्युनिस्टों के स्वतंत्र संगठन पर बल देने का एक स्पष्ट अर्थ था : एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलन को केवल उसी समय समर्थन देना चाहिए जब वह सर्वहारा वर्ग और कम्युनिस्टों को क्रांति के अगले चरण की तैयारी करने और उसके लिए मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हो।

इस प्रश्न का उत्तर कि लेनिन का "क्रांतिकारी राष्ट्रवादी" शब्दों से क्या अभिप्राय था, एक दूसरे तरीके से खोजा जा सकता है, अर्थात पूर्व के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रति उनकी विचार-पद्धति पर विचार करके। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपरोक्त दोनों कसौटियां, जिन पर विचार किया जा चुका है, के आधार पर वे बहुत से आंदोलनों को "क्रांतिकारी" मान सकते थे।

1912 में लिखी गई अपनी रचना *इंफ्लेमेबल मैटिरियल इन वर्ल्ड पालिटिक्स* में लेनिन ने "विभिन्न यूरोपीय और एशियाई देशों में क्रांतिकारी आंदोलन" का स्वागत किया और यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उन्होंने "भारत में क्रांतिकारी संघर्ष" और पर्शिया और टर्की में "क्रांतिकारी" आंदोलनों का हवाला दिया।[86] 1912 में उन्होंने एक बार फिर पर्शिया में "एशियाई लोकतंत्रवादियों के क्रांतिकारी आंदोलन" का उल्लेख किया और चीनियों के क्रांतिकारी संघर्ष के "अंतर्राष्ट्रीय महत्व की ओर संकेत करते हुए कहा कि वह (संघर्ष) एशिया में आजादी लाएगा और यूरोपीय बुर्जुआ वर्ग के बर्चस्व को समाप्त कर देगा"।[87] 1913 में लिखा गया संपूर्ण लेख '*डेमोक्रेसी एंड नारोडिज्म इन चाइना*' डा. सुन यात-सेन की अगुआई में चीन में चल रहे क्रांतिकारी आंदोलन का एक विश्लेषण था। आंदोलन की विशेषकर इसलिए प्रशंसा की गई थी क्योंकि "उसने जनता की परिस्थितियों और जन संघर्ष के प्रश्न को स्पष्ट रूप से सामने रखा है"।[88] उसी वर्ष उन्होंने अपने लेख 'दि अवेकनिंग आफ एशिया' में संपूर्ण एशिया में लोकतांत्रिक क्रांति के प्रसार की ओर संकेत किया और महत्वपूर्ण नए विकास, अर्थात, '*डच इंडीज में क्रांतिकारी लोकतांत्रिक आंदोलन के प्रसार*' का भी उल्लेख किया।[89] 1915 में अपने एक प्रमुख निबंध *सोशलिज्म एंड वार* में लेनिन ने कहा कि चीन, पर्शिया, भारत और दूसरे गुलाम देशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन करोड़ों व्यक्तियों को विदेशी दमन के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित कर रहे हैं[90] (इस प्रकार उपरोक्त दोनों शर्तें पूरी हो रही थीं)।

चीन और भारत में राष्ट्रीय आंदोलनों का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ, और लेनिन ने इन आंदोलनों का जो मूल्यांकन किया वह काफी शिक्षाप्रद है। अमृतसर में जालियांवाला नृसंश कत्लेआम के बाद असहयोग आंदोलन ने जिस प्रकार जन चेतना को जाग्रत किया और जन-ऊर्जाओं का प्रयोग किया उससे लेनिन बहुत प्रभावित हुए। पहली आल रशियन कांग्रेस आफ टॉयलिंग गॉसक्स के समक्ष अपनी रपट प्रस्तुत करते हुए लेनिन ने टिप्पणी की कि भारत में "राजनीतिक चेतना और क्रांतिकारी आंदोलन दिन प्रतिदिन विकसित हो रहे हैं।"[91] 1921 में, जब असहयोग आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर था, लेनिन ने लिखा कि एशिया की जनता "विश्व की राजनीति और साम्राज्यवाद के क्रांतिकारी विध्वंस का सक्रिय कारण बन रही है" और यह कि "ब्रिटिश भारत इन सभी देशों का नेतृत्व कर रहा है" क्योंकि भारत में "क्रांति बड़ी तेजी से परिपक्व हो रही है।"[92] एम.एन. राय ने अपने 'मेमोइर्स' में गांधी के संबंध में 1920 में लेनिन के साथ हुई अपनी बहस का जिक्र किया है। उन्हीं के शब्दों में : "लेनिन का विश्वास था कि राष्ट्रीय आंदोलन के एक प्रेरक और नेता के रूप में वे क्रांतिकारी थे।"[93] इन संक्षिप्त शब्दों से हमें यह ज्ञान होता है कि लेनिन किस प्रकार बुर्जुआ लोकतांत्रिक स्वतंत्रता आंदोलन का मूल्यांकन करते थे। गांधी का यह सकारात्मक मूल्यांकन केवल उस समय तक ही कायम रहा जब तक कि जन-आंदोलन जारी रहा। फरवरी 1922 में, भारत में जन-आंदोलन को वापस ले लिया गया; और गांधीवादी नेतृत्व का यह सकारात्मक मूल्यांकन भी गायब हो गया। हालांकि इस दौर के भारत पर लेनिन की कोई टिप्पणी उपलब्ध नहीं है लेकिन नवंबर 1922 में हुई चौथी कामिंटर्न कांग्रेस में जिस *थीसिस आन ईस्टर्न क्वेश्चन* को स्वीकृति दी गई उसे लेनिन की विचारधारा के एक आंशिक पथप्रदर्थक के रूप में लिया जा सकता है। "भारत में राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन के तूफानी विकास"[94] का उल्लेख करने के पश्चात यह 'थीसिस' भूस्वामित्व संबंधी विद्रोहों के बढ़ते हुए डरों के कारण बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्व के "अनिश्चय और हिचकिचाहट" की ओर संकेत करती है। "जैसा कि भारत में असहयोग आंदोलन के दावपेंचों के दिवालिएपन से जाहिर होता है बुर्जुआ नेतृत्व की इस "कायरता" ने (विश्वासघात अथवा प्रतिक्रियावाद नहीं—इस पर ध्यान दिया जाए—लेखक) "जनता को संगठित करने और उसे एकत्रित करने के रास्ते में बाधाएं उत्पन्न की थीं।"[95] दूसरे शब्दों में, जनता को "संगठित और एकत्रित करने" की भूमिका ने पहले गांधी को एक क्रांतिकारी नेता बना दिया था, लेकिन जब यह भूमिका आगे नहीं निभाई गई तब यह कहा जा सकता था कि गांधीवादी नेतृत्व राजनीतक दिवालिएपन की हद तक पहुंच गया था।

चीन में सुन यात-सेन की अगुआई वाले कामिंटांग के प्रति लेनिन और कामिंटर्न का रवैया भी इतना ही महत्वपूर्ण है। उस समय कामिंटांग न केवल लेनिन के दोनों मापदंडों पर खरी उतरी बल्कि उसने कम्युनिस्टों को संगठित होने और जनता के मध्य

कार्य करने में भी उनकी सहायता की।[96] लेनिन और कामिंटर्न ने कम्युनिस्ट पार्टी को सुन यात-सेन और कामिंटांग के साथ एकताबद्ध होने और इसके साथ ही अपना अलग अस्तित्व कायम रखने के लिए प्रोत्साहित किया।[97]

VII

अंत में, इस बात पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि इस प्रश्न पर मार्क्सवादियों के बीच बाद में उत्पन्न हुए मतभेद इस वजह से पटरी से उतर गए क्योंकि उनमें से बहुत से व्यक्तियों ने उन दोनों मापदंडों के तहत, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, तत्कालीन बुर्जुआ राष्ट्रवादी आंदोलनों की भूमिका का एक ठोस आकलन करना बंद कर दिया था। इसके बजाए, उन्होंने औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग और उसकी विभिन्न श्रेणियों की स्थिति और भूमिका की अव्यावहारिक और सैद्धांतिक बहस पर अधिक ध्यान दिया और जीवन से दूर, संकुचित मार्क्सवादी ज्ञान अथवा व्यवस्था को आधार मान कर राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए दावपेंच तैयार करने का प्रयत्न किया। यह अकादमिक अवधारणाओं और तर्क-पद्धति द्वारा आंदोलनों के मार्गदर्शन करने की प्रवृत्ति का एक महत्वपूर्ण पहलू था जो कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र और वास्तविक क्रांतिकारी अनुभव के एक ठोस अध्ययन के बजाए शाब्दिक पांडित्य और तार्किक मीमांसा के अधिक निकट था। विचाराधीन प्रश्न पर यह वास्तव में औपनिवेशिक देशों में बुर्जुआ वर्ग की भूमिका को या तो 'अधिक मूल्यांकन' या 'कम मूल्यांकन' की ओर ले गया। उस समय इस प्रकार के विश्लेषण और निरंतर मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन को बुर्जुआ वर्ग के साथ समझौते करने और उसके सामने समर्पण करने के लिए प्रयोग किया जा सकता था और किया गया; और यह वास्तविक राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रति पूर्ण रूप से शून्यवादी दृष्टिकोण था। दूसरी ओर, लेनिन की समस्त विचार पद्धति में न केवल आर्थिक विश्लेषण पर आधारित बुर्जुआ वर्ग की वस्तुगत भूमिका पर बल्कि औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग की विभिन्न श्रेणियों के ठोस राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन और मूल्यांकन पर भी जोर दिया गया।[98] इसी प्रकार, लेनिन द्वारा किए गए औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग के दुलमुल, दोहरे चरित्र के आकलन को न केवल ठोस बुर्जुआ वर्ग भूमिकाओं और व्यवहार और उनके आधार पर उसके प्रति ठोस राजनीतिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए प्रयोग किया गया, बल्कि अवसर के अनुसार कभी एक और कभी दूसरी नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए भी किया गया।

औपनिवेशिक प्रश्न पर लेनिन की विचार-पद्धति की प्रमुख बातों को समझने में जो अंतर था वह भारतीय और चीनी कम्युनिस्टों के सिद्धांत और व्यवहार में विशेष रूप से जाहिर हुआ। उदाहरण के लिए चीनी कम्युनिस्टों ने सैद्धांतिक रूप में च्यांग

काई शेक को सामंतवादी और साम्राज्यवाद समर्थक पूंजीवादी ताकतों का प्रतिनिधि माना जिनके साथ कम्युनिस्ट तालमेल नहीं कर सकते थे। फिर भी, 1936 के बाद जब राष्ट्रवादी जनमत के दबाव में आकर च्यांग काई शेक ने जापानी साम्राज्यवाद से लड़ने की प्रवृत्ति दिखाई तब उन्हें जापान विरोधी संघर्ष में बर्चस्व की मांग अथवा दावा किए बिना एक संयुक्त मोर्चे में शामिल होने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।[99] यह स्पष्ट है कि गठबंधन का मूल आधार साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के संबंध में लेनिन द्वारा सुझाया गया मापदंड ही था।

इसी प्रकार, बहुत से ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें बुर्जुआ वर्ग के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को देखने पर जो बल दिया गया वह ऐतिहासिक प्रक्रिया में बुर्जुआ वर्ग की भूमिका पर आवश्यक ध्यान केंद्रित करने से भी आगे दूसरे परिणामों की ओर ले गया। ऐसा तब हुआ जब बुर्जुआ वर्ग की भूमिका को नकारात्मक ठहराया गया। व्यावहारिक रूप में इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्स और लेनिन ने जनता की भूमिका पर जो बल दिया था, उसकी अवहेलना की गई। बुर्जुआ वर्ग की क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रियावादी भूमिका का आकलन करने के प्रयास में कम्युनिस्टों में, बुर्जुआ लोकतांत्रिक राष्ट्रवादी स्वतंत्रता संघर्ष के संदर्भ में, मजदूरों और किसानों को जाग्रत और संगठित करने की स्वयं अपनी क्रांतिकारी भूमिका की अवहेलना करने की प्रवृत्ति आ गई।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. देखिए मार्क्स और एंगेल्स, *आन कालोनियलज्म,* मास्को (कोई तारीख नहीं); आन ब्रिटेन, मास्को, 1953; डोना टोर (संपादक) *मार्क्सिज्म, नेशनलिटी एंड वार,* खंड 2, लंदन 1941; हॉरेस बी. डेविस, *नेशनलिज्म एंड सोशलिज्म,* न्यूयार्क, 1967; डी. बार्सनर, *दि बोलशेविक्स एंड दि नेशनल कालोनियल क्वेश्चन,* जनीवा, 1957; एम.एन. अग्रवाल, *सोवियत नेशनलिटीज पालिसी,* आगरा, 1969; हैलन सी- दाकौस और स्टुअर्ट आर श्राम, *मार्क्सिज्म एंड एशिया,* लंदन, 1965.
2. इस संबंध में मार्क्सवादी विचारधारा के एक सामान्य वक्तव्य के लिए देखिए फ्रेंज मारेक, *फिलासफी आफ वर्ल्ड रिवोलूशन,* न्यूयार्क, 1969.
3. वी.आई. लेनिन (इसके बाद क.व. के रूप में उल्लेखित) खंड 22, मास्को, 1964, पृ. 149, पा.टि.
4. लेनिन, *दि नेशनल लिबरेशन मूवमेंट इन दि ईस्ट* (इसके बाद *ने.लि.मू.ई. के* रूप में उल्लेखित) दूसरा संस्करण, मास्को, 1969, पृ. 70-71.
5. वही, पृ. 65. रोजा लक्जमबर्ग के विरुद्ध उनकी शिकायत यह थी कि रूसी समाजवादी आंदोलन के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर विचार करते समय उन्होंने ऐसा नहीं किया. उन्होंने लिखा : हम एक विशेष देश रूस के मार्क्सवादियों के लिए एक विशेष युग में—बीसवीं शताब्दी के आरंभ में राष्ट्रीय कार्यक्रम पर चर्चा कर रहे हैं. क्या रोजा लक्जमबर्ग ने उस ऐतिहासिक युग पर विचार किया है जिससे रूस गुजर रहा है; इस विशेष युग में, इस विशेष देश के राष्ट्रीय आंदोलनों और राष्ट्रीय समस्या की क्या विशेषताएं हैं? वही, पृ. 71.

6. वही, पृ 235.
7. वही, पृ. 250.
8. वही, पृ. 264.
9. वही, पृ. 283-85.
10. देखिए, उदाहरण के लिए एम.एन. राय के 'मेमोइर्स', बंबई, 1964, पृ. 346-47, 380. 1912 में सुन यात-सेन के विचारों पर लेनिन की टिप्पणी से एक अंश उनकी विचार पद्धति के इस पहलू को प्रदर्शित करता है. सुन यात-सेन के विचारों की गहन समीक्षा करते हुए उन्होंने उन विचारों का इस प्रकार वर्णन किया : "हमारे सामने वास्तव में महान लोगों की एक महान विचारधारा है..." लेनिन, *ने. लि.मू.ई.*, पृ. 42.
11. एम.एन. राय, पृ. 380-81. यह हानि इस तथ्य द्वारा पूरी हुई कि कामिंटर्न द्वारा अपने बाद के ग्रंथ के अनुपूरक प्रबंध की पूर्ण रूप से अवहेलना की गई.
12. लेनिन, ने.लि.मु.ई., पृ. 349 और आगे. मूल पाठ में अब इन थीसियों का प्रलिमिनरी थीसिस कह कर उल्लेख किया जाएगा. संशोधित थीसियों को जिन्हें कामिंटर्न की कांग्रेस द्वारा स्वीकृति दी गई थी, अब उन्हें जेन डेगरास के *कम्यूनिस्ट इंटरनेशलन*, 1919-1943, डाक्यूमेंट्स, खंड 1, 1919-1922, लंदन, पृ. 138 आगे देखा जा सकता है.
13. विशेष रूप से समकालीन समाजवादियों के एक वर्ग के दृष्टिकोण से तुलना करने पर, जिन्होंने मार्क्स तथा एंगेल्स की प्रारंभिक परंपराओं को त्याग दिया था. इन समाजवादियों की भूमिका के लिए देखिए बोर्सनर, पृ. 29-32; डि एनकॉस एंड श्राम, पृ. 15-16, 125-33; ए.एम. मैकब्रायर, *फेबियन सोशलिज्म एंड इंगलिश पालिटिक्स;* लंदन, 1962, अध्याय 5.
14 क.व. खंड 22, पृ. 346. *ने.लि.मू.ई.* भी देखिए, पृ. 92.
15. देखिए बार्सनर, पृ. 29, 32, 42-43, 57. रोजा लक्जमबर्ग की प्रसिद्ध लघु पुस्तिका *जूनियस* (1916) का निम्नलिखित गद्यांश इस विचारधारा का एक अच्छा उदाहरण है : "जब समय उपयुक्त होगा तब केवल यूरोप से, केवल प्राचीन पूंजीवादी राष्ट्रों से सामाजिक क्रांति का संकेत मिलेगा जो मानवता को स्वतंत्रता देगा. केवल अंग्रेज, फ्रांसीसी, बेल्जियम, जर्मन, रूसी और इतावली मजदूर एक साथ मिलकर पांच उपमहाद्वीपों के शोषितों और गुलामों की सेना का नेतृत्व कर सकते हैं. जब समय आएगा तब केवल वे ही पूंजीवाद से उन अपराधों का हिसाब मांग सकते हैं जो उसने सभी आदिम लोगों के विरुद्ध किए हैं. संसार में पूंजीवाद ने जो बर्बादी की है उसका बदला केवल वे मजदूर ही ले सकते हैं." *दि एनकॉस एंड श्राम,* पृ. 143, 44 से उद्धरण.
16. उदाहरण के लिए, 12 सितंबर 1882 को कॉट्स्की को लिखे अपने पत्र में एंगेल्स ने भारत और अलजीरिया और मिस्र जैसे दूसरे देशों में भी एक सफल क्रांति की संभावना की कल्पना की थी. उन्हीं के शब्दों में : "भारत में क्रांतिकारी प्रबल संभावना है". मार्क्स एंड एंगेल्स, *सलेक्टेड करस्पोंडेंस,* 1846-1865, न्यूयार्क, 1942, पृ. 399.
17. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 12, 13, पृ. 19 भी देखिए.
18. वही, पृ. 42, 44.
19. वही, पृ. 59.
20. क.व., खंड 22, पृ. 310.
21. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 297.
22. वही, पृ. 315.
23. वही, पृ. 365-66, 69, 76.
24. वही, पृ. 43.

25. वही, पृ. 43-46, 90, 97, 234; क.व. खंड 22, पृ. 146.
26. *ने.लि.मू.ई.,* पृ. 44, 53, 55, 59, 104, 234.
27. वही, पृ. 43, 47, 51-52.
28. वही, पृ. 170.
29. वही, पृ. 55.
30. वही, पृ. 250.
31. क.व., खंड 23, पृ. 59. रूस में क्रांति के संबंध में, लेनिन ने 1905 में लिखा कि "वह (क्रांतिकारी विकास की मध्यवर्ती अवस्थाओं की एक शृंखला के बिना) पूंजीवाद की बुनियादों को प्रभावित करने में असफल रहेगी ... लोकतांत्रिक क्रांति शीघ्रता से बुर्जुआ सामाजिक और आर्थिक मंबंधों की सीमाओं को समाप्त नहीं करेगी....." क.व. खंड 9, 1965, पृ. 56-57. उन्होंने 1921 में लिखा : "क्रांति की बुर्जुआ-लोकतांत्रिक विषय-वस्तु का अर्थ यह है कि देश के सामाजिक संबंधों को (व्यवस्था, संस्थाएं) मध्ययुगीनता, गुलामी और सामंतवाद से पाक कर दिया जाए". क.व., खंड 33, पृ. 52.
32. बाद में, 1919 में लेनिन ने उन लोगों को जिन्होंने "घृणित बुर्जुआ वर्ग के आत्म-निर्णय के अधिकार" को मान्यता देने पर आपत्ति की थी, यह कहकर डांट पिलाई कि इस प्रकार की मान्यता "जो कुछ वास्तविकता थी उसी के अनुसार" है; यदि इसे हटा दिया जाए तो इसका परिणाम अकल्पनीय होगा" और यह कि "जो वास्तव में मौजूद है हम उसकी अवहेलना नहीं कर सकते; वह स्वयं हमें अपने आपको मान्यता देने को विवश करेगा." *ने.लि.मू.ई.,* पृ. 211, 216.
33. लेनिन ने *टू टेकटिक्स आफ सोशल डेमोक्रेसी* में लिखा : प्रगतिशील और एक मात्र क्रांतिकारी वर्ग के प्रतिनिधियों के रूप में, और ऐसे क्रांतिकारी के रूप में जिन्हें कोई संकोच, संशय नहीं है, हमें जनता को, जितना भी संभव हो सके व्यापक और साहसपूर्ण तरीके से लोकतांत्रिक क्रांति के कार्यों के लिए तैयार करना है. इन कार्यों की खिल्ली उड़ाना सैद्धांतिक मार्क्सवाद की खिल्ली उड़ाने के समान है...." क.व. खंड 9, पृ. 112.
34. वही, पृ. 44, 45.
35. वही, पृ. 47.
36. देखिए क.व. खंड. 22, पृ. 145.
37. बॉर्सनर, पृ. 47, 50.
38. क.व. खंड. 22, पृ. 144. दूसरी ओर, उन्होंने 1913 में लिखा कि "समूहवाद का रास्ता लोकतंत्र से होकर जाता है." *ने.लि.मू.ई.,* पृ. 61. इससे पहले 1905 में भी उन्होंने कहा था : "लेकिन हम मार्क्सवादियों को मालूम होना चाहिए कि सर्वहारा वर्ग और किसानों की वास्तविक स्वतंत्रता के लिए बुर्जुआ वर्ग की स्वतंत्रता और प्रगति के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है और न हो सकता है...." क.व. खंड. 9, पृ. 112.
39. *ने.लि.मू.ई,* पृ. 103-4, क.व. खंड, पृ. 371.
40. वही, पृ. 97.
41. क.व. खंड. 33, 1966, पृ. 51-52.
42. क.व. खंड., 22, पृ. 144.
43. बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रांति द्वारा समाजवादी क्रांति का रूप लेने की संभावना का ठोस विश्लेषण लेनिन ने 1917 में, 'लेटर्स फ्राम अकार' में किया था.
44. वही, पृ. 317. कम्युनिस्टों ने अपना ध्यान, मुख्य रूप से जर्मनी पर केंद्रित किया क्योंकि उस देश में एक ऐसी बुर्जुआ क्रांति होने वाली है जो यूरोप में अधिक सभ्यता की स्थिति में, इंगलैंड के सत्रहवीं सदी और फ्रांस में अठारहवी सदी के सर्वहारा वर्ग की तुलना में अधिक विकसित सर्वहारा वर्ग द्वारा

लाई जाएगी. इसके परिणामस्वरूप जर्मनी की बुर्जुआ क्रांति, उसके तुरंत बाद होने वाली सर्वहारा क्रांति की भूमिका होगी. भाग, 4.

45. क.व. खंड. 33, पृ. 54.
46. क.व. खंड. 9, पृ. 114.
47. "संघर्ष केवल संघर्ष ने ही फैसला किया कि दूसरी, पहली के महत्व को कम करने में कहां तक सफल होती है", उन्होंने 1921 में लिखा. क.व. खंड 33, पृ. 54.
48. उन्होंने 1905 में लिखा, "लोकतांत्रिक क्रांति के कार्यों को जितना भी संभव हो सके उतने साहस और विस्तार से पूरा किया जाना चाहिए." क.व., खंड. 9, पृ. 12. खंड 33, पृष्ठ. 54 भी देखिए. 1916 में उन्होंने क्रांति की पहली अवस्था के दूसरी अवस्था में अविरत रूप से परिवर्तित करने की रूपरेखा तैयार की थी : क्रांतिकारी मांगों को स्पष्ट किया जाना चाहिए और उन्हें एक सुधारवादी ढंग से नहीं बल्कि क्रांतिकारी ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए; उन्हें बुर्जुआ वर्ग की वैधता की सीमाओं को तोड़ना चाहिए; उन्हें संसदों में भाषणों और मौखिक प्रतिरोधों से आगे निकल कर जनता को एक निर्णायक कार्यवाही के प्रति आकृष्ट करना चाहिए. हमें प्रत्येक क्रांतिकारी मांग के लिए, बुर्जुआ वर्ग पर सर्वहारा वर्ग के सीधे आक्रमण के लिए, अर्थात, समाजवादी क्रांति के लिए तैयार रहना है". क.व. खंड. 22, पृ. 145.
49. देखिए क.व. खंड. 9, पृ. 112-14, खंड 23, पृ. 295 और आगे, खंड. 33, पृ. 52.
50. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 290.
51. वही, पृ. 70-71.
52. स्पष्ट रूप से यह उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों पर लागू होता है. जब एक देश इन दोनों में से एक भी नहीं होता तब वहां पूंजीवाद के दोनों रूपों के बीच संघर्ष होता है जिनमें से एक बड़ा और अधिक साम्राज्यवादी हो सकता है.
53. देखिए उपर्युक्त. और देखिए, *ने.लि;मू.ई.*, पृ. 62, 65, 69, 76, 92, 274; क.व. खंड. 22, पृ. 151-52.
54. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 43, 47, 52, 266; क.व. खंड. 11 पृ. 148.
55. "इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि लेनिन ने यह सिद्धांत वास्तविक मामलों के लिए निर्मित किया था और यह औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग के सामान्य चरित्र की विशेषता के रूप में प्रतिपादित नहीं किया गया था. उदाहरण के लिए 1913 में चीनी बुर्जुआ वर्गों के बीच क्रांतिकारी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि के रूप में सुन यात-सेन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने युआन शी काई का उदार बुर्जुआ वर्ग के उन नेताओं के रूप में हवाला दिया था जो विश्वासघात कर सकते हैं". *ने.लि.मू.ई.*, पृष्ठ. 43. देखिए वही, पृ. 47, 52. इसी ठोस वास्तविकता के आधार पर *प्रेलिमिनरी थीसिस* में भी सिद्धांत विरूपण किया गया.
56. 1913 में उन्होंने लिखा : "एशियाई बुर्जुआ वर्ग जो अब भी ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील उद्देश्य के लिए लड़ने में सक्षम है उसका मुख्य प्रतिनिधि अथवा सामाजिक आधार किसान है." वही, पृ. 43.
57. 1920 में लेनिन ने कहा कि किसान आंदोलन के साथ निश्चित संबंधों की स्थापना किए बिना और उसे प्रभावकारी समर्थन दिए बिना कम्युनिस्ट पार्टियां औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक संसार में कार्य नहीं कर सकतीं." वही, पृ. 266.
58. वही, पृ. 290.
59. वही, पृ. 255. और देखिए, डेगरास में, *कामिंटर्न एक्जीक्युटिव्स अपील आन दि फोर्थकमिंग कांग्रेस आफ ईस्टर्न पीपुल्स एट बाकू*, पृ. 106 और आगे.
60. *ने.लि.मू.ई.*, 255, 263, 267-68.

61. क.व. खंड 42, 1969, पृ. 202.
62. देखिए फ्रेंज मारेक, पृ. 67-68; डी. एनकास एंड श्राम, पृ. 121-23.
63. वास्तव में उनके जीवन काल में ही कृषक वर्ग को अधिक महत्वपूर्ण कार्य दिया जाने लगा. देखिए डेग्रास में कामिंटर्न के चौथे अधिवेशन (नवंबर, 1922) की 'थीसिस', पृ. 386-87, 394-98.
64. क.व. खंड. 42, पृ. 151-52 और *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 236, 251-52, 254-55.
65. राय और सेराटी के विचारों के लिए देखिए डि एनकॉस और श्राम, पृ. 150-52, 159-63, 165-67. कांग्रेस द्वारा स्वीकृत '*थीसिस आन दि नेशनल एंड कालोनियल क्वेशचन*' के लिए देखिए *डेग्रास*, पृ. 139-44.
66. परिवर्तनों के लिए *प्रेलिमिनरी ड्राफ्ट* (*ने.लि.मू.ई.*, पृ. 250-56) की कांग्रेस द्वारा स्वीकृत अंतिम मसौदे से (डेग्रास में पृ. 139-40) तुलना कीजिए. डि एनकॉस और श्राम ने अंतिम *थीसिस* के साथ ही, लेनिन के पिछले मसौदे में दिए गए परिवर्तनों को भी दिया है. देखिए, पृ. 152-56.
67. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 266.
68. डि एनकॉस एंड श्राम, पृ. 151.
69. ऐसा अंतर जो सामान्य सैद्धांतिक विचारों पर आधारित नहीं था लेकिन जिसे वास्तविकता में स्पष्ट किया गया था. वह कुछ औपनिवेशिक देशों की ठोस ऐतिहासिक घटना थी. देखिए, *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 266.
70. वही.
71. क.व. खंड. 22, पृ. 151-52, पृ. 145 भी देखिए.
72. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 43, 51-52, 62.
73. वही, पृ. 266.
74. *डि एनकॉस* और *श्राम*, पृ. 150-51.
75. वही, पृ. 163.
76. वही, पृ. 162.
77. वही, पृ. 165-67.
78. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 266.
79. हमें यहां इस प्रश्न पर राय की सैद्धांतिक लेकिन गलत स्थिति का उल्लेख करना चाहिए. राय ने इस दलील के तर्क को स्वीकार कर लिया था लेकिन उन्होंने कहा कि भारत जैसे अपेक्षाकृत विकसित देशों में, स्थानीय पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के बीच अंतर्विरोध कम हो गया है और दोनों में एक समझौता हो गया है क्योंकि दोनों ने जनता की क्रांतिकारी लहर से खतरा महसूस किया और क्योंकि साम्राज्यवाद की इन देशों में पूंजीवादी उपक्रम विकसित करने में रुचि थी. देखिए *डि एनकॉस एंड श्राम*, पृ. 190-92.
80. औपनिवेशिक जनता के संघर्ष के इस साम्राज्यवाद विरोधी पहलू पर लेनिन द्वारा बार-बार जोर दिया गया था. उदाहरण के लिए देखिए, *ने.लि.मू.ई.*, 234. लेनिन के जीवन काल में कामिंटर्न ने भी इस पर बार-बार जोर दिया था. देखए *डेग्रास*, पृ. 385, 394-96.
81. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 47. पृ. 22, 42, 44, 235 और क.व. खंड. 23, पृ. 31 भी देखिए.
82. क.व. खंड. 20, पृ. 441. खंड. 22, पृ. 145 भी देखिए.
83. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 266.
84. क.व. खंड. 22, पृ. 145.
85. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 255. पृ. 235 और *डि एनकॉस एंड श्राम*, पृ. 151. (कमीशन में लेनिन का भाषण) भी देखिए.

86. *ने.लि.मू.ई.*, पृ. 12-13. साथ ही पृ. 18 भी देखिए. 1919 में लेनिन ने भारतीय इतिहास के इस काल का फिर उल्लेख किया और कहा कि 1905 के बाद भारत में एक 'क्रांतिकारी आंदोलन' विकसित हुआ था, वही, पृ. 233.
87. वही, पृ. 39-40.
88. वही, पृ. 42.
89. वही, पृ. 59.
90. वही, पृ. 101.
91. वही, पृ. 244.
92. वही, पृ. 288.
93. राय, पृ. 379.
94. *डेग्रास*, पृ. 383.
95. वही, पृ. 286-87.
96. चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस (1922) के प्रबंध के अनुसार : यदि कम्युनिस्ट दक्षिणी चीन के मजदूर संघों में सफलतापूर्वक कार्य करना चाहते हैं .... तो हमें दक्षिणी चीन के राष्ट्रवादियों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध कायम रखने चाहिए." इ.एच. कार की *बोल्शेविक रेवोलूशन*, 1917-23, खंड, 3 में उद्धरित, पेंगुइन संस्करण, पृ. 527.
97. देखिए बेंजामिन आई, शुआर्ज, *चाइनीज कम्युनिज्म एंड दि राइज आफ माओ,* कैंब्रिज मैसा, 1966, अध्याय 3.
98. तत्कालीन इतिहास का यही विश्लेषण मार्क्स ने *दि एटींथ ब्रूमेयर आफ लुई बोनापार्ट* में किया था.
99. स्टुअर्ट आर. श्राम, *दि पालिटिकल थाट आफ माओ त्से तुंग*, न्यूयार्क, 1963, पृ. 38 और आगे.

अध्याय बारह

समकालीन भारत में कृषक वर्ग और राष्ट्रीय एकीकरण

I

औपनिवेशिक काल में कृषि संबंधी ढांचा

उपनिवेशवाद के आने से महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुआ, जिसके दौरान सदियों पुराने सामाजिक और आर्थिक संबंध और संस्थाएं समाप्त हो गईं और नए संबंधों और संस्थाओं ने उनका स्थान ले लिया। कृषि के क्षेत्र में भी, नए भू-स्वामित्व संबंधों और वर्ग संरचना का उदय हुआ। नए वर्गों—शीर्ष पर दूर बसने वाले जमींदारों, साहूकारों और निम्न स्तर पर पट्टेदारों, काश्तकारों और कृषि-श्रमिकों—का भी उदय हुआ। एक नए भूमि संबंधी ढांचे का भी उदय हुआ जो न तो पारंपरिक अथवा सामंतवादी था और न ही पूंजीवादी था। पट्टेदारों, राज्य और जमीन को जोतने वाले काश्तकारों के बीच इतने अधिक बिचौलिए पैदा हो गए कि भारतीय इतिहास में इसकी मिसाल नहीं मिलती। 1931 के आते-आते एक तिहाई ग्रामीण आबादी के पास कोई भूमि नहीं बची, बाकी बची दो तिहाई आबादी में से अधिकांश व्यक्ति पट्टेदार कृषक, बटाईदार अथवा छोटे भूस्वामी थे।[1] ऐसा नहीं था कि एक सामंतवादी और वर्गहीन समाज में पहली बार शोषक तत्वों का समावेश हुआ था। इससे पहले भी आर्थिक असमानता मौजूद थी, जमींदारों, मालिकों इत्यादि द्वारा राजनीतिक और आर्थिक दमन किया जाता था और लोगों की सामाजिक हैसियत में अंतर के साथ-साथ एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व भी था। परंतु, अब इस प्रकार के शोषण और प्रभुत्व का रूप बदल गया था। इसके अतिरिक्त, पुरानी प्रथाओं और संबंधों को जानबूझकर समाप्त नहीं किया गया था बल्कि उन पर नई प्रथाओं और संबंधों को थोप दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराने संबंधों में दरार पड़ गई और इस वजह से पुराने ढांचे की सीमाओं के अंतर्गत पारस्परिक सहायता और प्रथाओं के प्रचलन से निम्न जातियों और वर्गों को जो सामाजिक संरक्षण मिलता था, वह समाप्त हो गया।

पुराने और नए संबंधों की अन्योन्य क्रिया से नए संबंधों का उदय हुआ; परंतु, सामाजिक क्रांति के बिना ही यह परिवर्तन हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि का नया सामाजिक आधार न तो आर्थिक विकास और न ही आर्थिक खुशहाली का

कारण बना। यहां प्रश्न यह नहीं है कि नया ढांचा पहले से बेहतर अथवा अधिक खराब था, न ही यह कि पुराने समाज का विघटन हो गया था, बल्कि यह है पुराने ढांचे का स्थान जिस नए ढांचे ने लिया वह यदि पुराने से अधिक प्रतिगामी नहीं तो भी कृषि के विकास में अधिक सहायक नहीं था। नए ढांचे अथवा संबंधों अथवा अधिशेष की वसूली और उसके उपयोग के तरीकों से (1) कृषि में लगे किसी भी वर्ग को अपनी स्थिति में सुधार करने का अवसर नहीं मिला और (2) कृषि और कृषकों के संसाधनों का दूसरे क्षेत्रों में प्रयोग किया जाता रहा।

यदि विस्तार से कहा जाए तो ये परिवर्तन नई भूमि-व्यवस्थाओं को लागू करने, भू-राजस्व की बढ़ती हुई मांग, कानूनी और राजनीतिक परिवर्तनों, घरेलू उद्योगों की बर्बादी, कृषि और उद्योग में लंबे समय से चले आ रहे संबंधों के विघटन, एक अधीनस्थ स्थिति में विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ने और सबसे ज्यादा इस बात का परिणाम थे कि भारतीय अर्थव्यवस्था और कृषि में एक वाणिज्यिक क्रांति आई थी, परंतु इसके साथ-साथ औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। यदि अधिक स्पष्टता से कहा जाए तो भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण तो हुआ, परंतु उसके तकनीकी आधार अथवा उत्पादन-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

भारतीय अर्थव्यवस्था और कृषि के उपनिवेशीकरण का एक मुख्य परिणाम यह हुआ कि कृषि-उत्पादन में गतिरोध आ गया, उत्पादकता में कमी आई, प्रति व्यक्ति खाद्य की उपलब्धता में गिरावट आई और सामान्य रूप से कृषकों में गरीबी तेजी से बढ़ने लगी।[2] तथापि यहां हम, मुख्य रूप से, काश्तकारों की गरीबी और कष्टों का नहीं बल्कि तत्कालीन औपनिवेशिक और उसके पश्चात औपनिवेशिक काल के बाद की कृषि संबंधी वर्ग संरचना का जिक्र कर रहे हैं।

हमने इन परिवर्तनों पर बड़े विस्तार से बहस की है और अकसर प्रादेशिक अंतरों की उपेक्षा की है। यदि अनेक रूपी और लंबी औपनिवेशिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण संपूर्ण देश के भूमि संबंधी ढांचे में आए विभेदों का सामान्यीकरण किया जाए तो यह बहुत अटपटा लगेगा। परंतु, हमने ऐसा इसलिए किया है क्योंकि औपनिवेशिक कृषि और वर्ग संरचना के सामान्य तत्व संपूर्ण देश में समान थे। इसके साथ ही, देश के विशेष भागों से आंकड़े और दूसरे साक्ष्य अकसर इसी वजह से दिए गए हैं क्योंकि वे देश के सभी भागों में कम से कम, संदर्भ के उद्देश्य से, आसानी से उपलब्ध नहीं हैं।

(क) कृषि संबंधी वर्ग संरचना के शीर्ष पर जमींदार या भूस्वामी थे जिनका अधिकांश भूमि पर स्वामित्व अथवा नियंत्रण था। 1920 का दशक आते-आते, जमींदारी और रैयतवाड़ी दोनों पट्टेदारी क्षेत्रों में भूस्वामित्व उस समय की प्रमुख विशेषता बन चुका था। इसके अतिरिक्त, उप-सामंतीकरण की वजह से बिचौलियों की संख्या में भारी वृद्धि हो गई थी। बड़ी संख्या में ऐसे लोग जमींदार अथवा भूस्वामी बन गए

थे जिनके लिए कृषि का कार्य नया था। अधिक भूराजस्व की मांग, लगान वसूली में कड़ाई, और नई कानून और प्रशासनिक व्यवस्था के कारण पुराने उच्च वर्गों और जमीन के मालिक काश्तकारों को बेदखली का सामना करना पड़ा। व्यापारी, साहूकार, सट्टेबाज, अधिकारी, पेशेवर व्यक्ति जमींदारों अथवा भूस्वामी काश्तकारों से जमीन खरीद कर जमींदार बन गए। अधिकांश नए जमींदार और भूस्वामी अपनी कृषि की भूमि से दूर रहते थे और उनका भूमि से बहुत कम संबंध था। पुराने जमींदारों की भांति वे भी पूंजीपति भूस्वामी होने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते थे, और अकसर लगान वसूली की मशीनरी को संगठित करने में भी उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने, सहर्ष ही भूमि के उप-सामंतीकरण की पद्धति अपनाई और इस प्रकार लगान की मांग और लगान के हिस्सेदारों की संख्या बढ़ गई। इसलिए, बिचौलियों ने जमीन पर खेती करने वाले काश्तकार से ज्यादा से ज्यादा वसूली करने के लिए हर प्रकार के कानूनी अथवा गैर-कानूनी तरीके अपनाए। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भी धीरे-धीरे भूमि जमींदारों और साहूकारों के कब्जे में जा रही थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि भूमि के मालिक काश्तकार द्वारा भूमि का हस्तांतरण करने का अर्थ काश्त का हस्तांतरण नहीं होता था बल्कि पिछले मालिक नए काश्तकार और राज्य के बीच एक नए बिचौलिए का आगमन हो जाता था। 1947 तक ब्रिटिश भारत में लगभग 70 प्रतिशत कृषि की भूमि पर जमींदारों और भूस्वामियों का कब्जा था। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में लगभग 30 से 50 प्रतिशत तक भूमि जमींदारों के पास थी और बाकी पर भारी कर्ज था।[3]

महाजन, जमींदार और भूस्वामी तो बनते ही थे बल्कि अधिकांश जमींदार और भूस्वामी भी कर्ज देने का धंधा आरंभ कर देते थे। 1931 में यू.पी. बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी ने अपनी रपट में कहा कि यू.पी. में ग्रामीण कर्जों का सबसे बड़ा स्रोत भूस्वामी थे; वे कुल कर्ज का लगभग 40 प्रतिशत भाग जमीन पर कर्ज के रूप में देते थे।[4]

भूस्वामी-जमींदारों की वृद्धि के इस काल में आर्थिक अवसरों की कमी के कारण औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में जो गतिरोध उत्पन्न हुआ था, उसने जमींदारों और भूस्वामियों के वर्ग में गहरे विभेदीकरण को जन्म दिया। इस प्रकार 1945 में यू.पी. में 0.4 प्रतिशत अथवा 804 जमींदारों के पास 27 प्रतिशत भूमि थी, जबकि 1.49 प्रतिशत के पास 57.77 प्रतिशत भूमि थी।[5] आगरा प्रांत में 85.5 प्रतिशत भूस्वामी 25 रुपए प्रतिवर्ष लगान अदा करते थे, जबकि अन्य 13.2 प्रतिशत 25 रुपए से लेकर 250 रुपए प्रतिवर्ष लगान अदा करते थे।[6] 1893 में, बंगाल में 9.8 प्रतिशत क्षेत्र पर 85.4 प्रतिशत रियासतों का नियंत्रण था, इससे प्रत्येक रियासत के पास लगभग 49 एकड़ भूमि आती थी, शुद्ध लगान 29 रुपए, चार हिस्से, और प्रति हिस्सा लगान से आय 7 रुपए थी। शेष 13.8 प्रतिशत रियासतों के पास 39.3 प्रतिशत भूमि थी; प्रत्येक रियासत के पास 1,229 एकड़ भूमि थी, 6 हिस्सों पर शुद्ध लगान 1,172 रुपए था और लगान से शुद्ध आय 285 रुपए प्रति हिस्सा थी। 7 भूस्वामियों में

इस गहरे विभेदीकरण का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ना था। अधिकांश लगान वसूल करने वालों की आय और जीवनशैली में और अमीर और बिचौलिए काश्तकारों की आय और जीवन शैली में भेद करना काफी कठिन था। वे गरीब थे और अधिक गरीब हो रहे थे। वे उपनिवेशवाद के विरोधी बनते जा रहे थे और चूंकि वे शिक्षित परिवारों से थे और एक हैसियत के मालिक होने के साथ-साथ राजनीतिक और प्रशासनिक नेतृत्व के भी आदी हो चुके थे, इसलिए वे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में एक सक्रिय भूमिका निभा सकते थे (और उन्होंने निभाई भी) और उसके लिए जन समर्थन भी जुटा सकते थे, और विशेष रूप से 1919 के पश्चात सीमित मताधिकार मिलने पर वे जन-समर्थन जुटाने में समर्थ भी थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के 'सामूहीकरण' में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फिर भी, अपनी गरीबी के साथ-साथ, वे लगान भी वसूल करते थे। इसने राष्ट्रीय कांग्रेस के सामाजिक कार्यक्रम और राष्ट्रीय-एकीकरण के उसके स्वरूप को निश्चित रूप से प्रभावित किया।

इसी प्रकार, उदीयमान काश्तकार आंदोलन में, विशेषकर 1920 के दशक में, भी वे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। उनका इस आंदोलन पर सीधा प्रभाव तो था ही लेकिन वे अमीर और मध्यम किसानों पर और उनके द्वारा काश्तकार आंदोलन और उसके कार्यक्रम को प्रभावित करने की स्थिति में थे।

भारत में पहले व्यापारी बुर्जुआ वर्ग की बर्बादी हुई, लेकिन बाद में विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के जुड़ने के साथ ही उसका विकास हुआ। इससे भारत के आंतरिक व्यापार में उन्नति हुई। कृषि संबंधी कच्चे माल और खाद्यान्न के निर्यात और भारतीय अर्थव्यवस्था के विकासशील एकीकरण, कृषि उत्पादों के आंतरिक व्यापार और राज्य, जमींदार और साहूकार के काश्तकारों पर राजस्व अदा करने के बढ़ते हुए दबाव के कारण व्यापारिक बुर्जुआ वर्ग को विकसित होने का अवसर मिला। गांव के बाजार की संरचना और फसल के तुरंत बाद अपने माल को किसानों द्वारा बेचने और उसके बाद अपने उपयोग के लिए खरीदने की विवशता ने व्यापारी को कृषि अधिशेष पर प्रमुख रूप से काबिज कर दिया। कृषि के वाणिज्यीकरण की वजह से फसल भी व्यापारी द्वारा उधार दिए गए धन से उगाई जाती थी और बाजार में भी उसी के द्वारा बेची जाती थी। इससे व्यापारी की स्थिति और सुदृढ़ हो गई। अब वह व्यापारी होने के साथ-साथ साहूकार भी बन गया। अब एक अनुपस्थित भूस्वामी के रूप में बड़ी तेजी से भूमि पर भी उसका नियंत्रण हो गया।

अर्थव्यवस्था के उपनिवेशीकरण, प्रशासनिक और कानूनी ढांचे, भूराजस्व व्यवस्था, और ग्रामीण जीवन के तेजी से बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण से ग्रामीण साहूकार के लिए एक अनुकूल राजनीतिक और आर्थिक फिजा उत्पन्न हो गई। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में वह बर्चस्व की स्थिति में पहुंच चुका था और अब वह काश्तकार-भूस्वामियों, पट्टेदारों और जमींदारों की भूमि पर कब्जा करने लगा। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति तनावपूर्ण

हो गई और इसके दो दिलचस्प परिणाम सामने आए। देश के अधिकतर भागों में, एक समान शत्रु, अर्थात, साहूकार के विरुद्ध छोटे और बड़े जमींदार काश्तकारों का समर्थन जुटा सकते थे। दूसरे, गैर-काश्तकार, सूदखोर साहूकार के अतिक्रमण से उत्पन्न ग्रामीण तनावों के कारण सामाजिक और राजनीतिक शांति खतरे में पड़ गई, जिसकी वजह से औपनिवेशिक प्रशासक सूदखोर महाजन पर नियंत्रण रखने को विवश हो गए। परंतु, सूदखोर औपनिवेशिक अधिशेष वसूली के तंत्र में एक महत्वपूर्ण कड़ी था। राजस्व मशीनरी और दूसरी कृषि संबंधी प्रक्रियाओं को जारी रखने में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वह निर्यात फसलों के उत्पादन और उसके बाद उनके निर्यात में भी सहायक था। उसकी सहायता से ही किसान अपने कृषि-कार्यों को न्यूनतम स्तर पर जारी रख पाता था। वास्तव में, वह औपनिवेशिक राज्य और काश्तकार के बीच भी वही बिचौलिए वाली भूमिका निभाता था जो पहले जमींदार अथवा लगान अदा करने वाले किसान निभाते थे। इसलिए औपनिवेशिक प्रशासन उसे बुरा भला कहने और कोसने के साथ-साथ यह भी मानते थे कि उनके लिए महाजन की उपस्थिति अनिवार्य थी।[8]

यदि साहूकार जमींदार हो गए, तो बहुत से भूस्वामी और श्रेष्ठ रैयत में से धनी और मझौले काश्तकार साहूकार बन गए। विशेष रूप से वे उन छोटे काश्तकारों, बटाईदारों और कृषि मजदूरों को उधार देने लगे जिनके पास जमानत देने को कुछ नहीं था और जो नियमित साहूकार के ग्राहक नहीं बन सकते थे। अपने धन की वसूली के लिए जमींदार और धनी किसान अपनी सामाजिक और जातीय स्थिति और आपसी संबंधों का प्रयोग कर सकते थे। 1951-52 में, पेशेवर साहूकारों द्वारा दिए गए 44.8 प्रतिशत कर्ज की तुलना में भूस्वामियों और धनी किसानों द्वारा दिया गया कर्ज समस्त ग्रामीण कर्ज का लगभग 25 प्रतिशत था।[9] जमींदारों, धनी किसानों और पारंपरिक महाजनों के बीच मनमुटाव और तनाव का कारण कर्ज देने की होड़ था। इस वजह से जमींदारों और धनी किसानों ने झूठे परिवर्तनवादी होने का पाखंड रचा जो सूदखोरी का सार्थक रूप में विरोध किए बिना सूदखोर का विरोध करता था।

इस उपखंड के अंत में यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक काल में भूस्वामी, व्यापारी और साहूकार की ताकत में जो वृद्धि हुई वह भूमि-संबंधों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। इसके अतिरिक्त, कृषि के वाणिज्यीकरण की बदौलत कृषि की आय में जो भी वृद्धि हुई उसका लाभ भी इन्हीं वर्गों को मिला।

(ख) वास्तविक खेती करने वाले किसान की स्थिति बड़ी तेजी से लगान अदा करने वाले पट्टेदार अथवा बटाईदार की हो गई, जिसकी पट्टेदारी की शर्तों में निरंतर गिरावट आ रही थी। 1951 में, 27.8 प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवार काश्तकार-भूस्वामियों के परिवार थे जबकि बाकी परिवार पट्टेदारों और खेतिहर मजदूरों के थे।[10] औपनिवेशिक युग समाप्त होते-होते काश्तकारों पर लगान और ब्याज का बोझ 14000 मिलियन रुपए

अथवा लगभग 5000 मिलियन डालर प्रतिवर्ष हो गया।[11]

हाल में समाप्त हुए औपनिवेशिक काल में काश्तकारों में आंतरिक विभेदीकरण और स्तरीकरण की अत्यधिक मात्रा भूस्वामित्व संबंधी वर्ग संरचना की एक प्रमुख विशेषता थी।

शीर्ष पर धनी किसानों के एक खास वर्ग का उदय हुआ जो जमीन के मालिक और सुरक्षित पट्टेदार थे; भूमि पर अपने नियंत्रण, रैयतवाड़ी पट्टेदारों के पक्ष में और गैर-कृषकों को भूमि हस्तांतरण करने के विरुद्ध बनाए गए कानूनों, बेदखल किए गए काश्तकारों से भूमि खरीदने के अवसर और साहूकारी और व्यापार की सुविधा प्राप्त होने की वजह से वाणिज्यीकरण का सर्वाधिक लाभ इसी वर्ग को मिला। कुछ क्षेत्रों में अनेक धनी काश्तकार–भूस्वामी अथवा पट्टेदार रैयत–अधिक लगान प्राप्त होने के अवसर मिलने के कारण वास्तव में जमींदार बन गए, जबकि उन्होंने अपनी काश्तकार की स्थिति को कायम रखा; दूसरे क्षेत्रों में वे पूंजीवादी अथवा अर्ध-पूंजीवादी खेती करने का प्रयास करने लगे।

धनी किसान-साहूकारों का उदय ग्रामीण क्षेत्रों में हुए विभेदीकरण का एक महत्वपूर्ण पहलू था। 1951-52 में न केवल ग्रामीण कर्ज का लगभग 25 प्रतिशत किसान साहूकारों द्वारा दिया गया था, वरन, इसके अतिरिक्त कर्ज का 14.4 प्रतिशत धन किसान साहूकारों के संबंधियों द्वारा दिया गया था।[12]

लगान और भूराजस्व अदा करने वाला किसान साम्राज्यवाद और जमींदार दोनों के विरुद्ध था। परंतु, एक वास्तविक बिचौलिए के रूप में, जिसकी कानूनी स्थिति अभी तक एक काश्तकार-भूस्वामी और पट्टेदार रैयत की थी, अथवा एक संभावित बिचौलिए के रूप में उसका भूमि संबंधी और राजनीतिक दृष्टिकोण अत्यधिक रूढ़िवादी था; इसके अतिरिक्त किसी भी मामले में संपत्तिवान व्यक्ति और मजदूरों के मालिक के रूप में सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उसका दृष्टिकोण परिवर्तनवादी नहीं था। धनी किसानों का यह रूढ़िवादी चरित्र राष्ट्रीय कांग्रेस के रूढ़िवादी भूस्वामित्व संबंधी कार्यक्रम और पट्टेदारों, बटाईदारों, और कृषि-मजदूरों के पक्ष में वामपंथी राष्ट्रवादियों द्वारा एक परिवर्तनवादी कार्यक्रम निर्मित करने में असफलता के लिए जिम्मेदार था। धनी किसानों के निचले स्तर पर मध्यम किसान आते थे, जो सामाजिक और आर्थिक स्थिति और राजनीतिक तथा कृषि-संबंधी दृष्टिकोण में धनी किसानों के बहुत निकट थे, वे विघटन और बेदखली की औपनिवेशिक प्रक्रियाओं से बच गए थे।

काश्तकारों की एक बड़ी संख्या, धीरे-धीरे, भूमिहीन कृषि मजदूरों और छोटे भूस्वामियों में तबदील होती जा रही थी, जिन्हें सुरेंद्र जे. पटेल ने बौना जोतदार कहा है। उनमें से कुछ छोटे भूस्वामी, पट्टेदार और बटाईदार थे जिनका या तो भूमि पर अधिकार नहीं था या फिर वे कर्ज की गिरफ्त में थे।[13] इन बौने जोतदारों के संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि वे एक संक्रमण की अवस्था में थे; वे ऐसे काश्तकार

थे जो सर्वहारा बनने के मार्ग पर चल रहे थे। उन्हें छोटे काश्तकारों के रूप में लिया जा सकता था क्योंकि उनका दृष्टिकोण, आशाएं और भय काश्तकारों जैसे ही थे; अथवा उन्हें अर्ध-सर्वहारा के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि उनके सामाजिक हित भी भूमिहीन किसानों के हितों के अनुरूप होते जा रहे थे। परंतु, हम इस विषय पर उत्तर औपनिवेशिक काल में कृषकों की वर्गीय संरचना पर विचार करते हुए और अधिक प्रकाश डालेंगे।

बेदखल किए गए काश्तकारों, व्यावसायिक रूप से चौपट हुए दस्तकारों और बढ़ती हुई आबादी के उन व्यक्तियों के कारण जिन्हें औद्योगिक अथवा सरकारी क्षेत्रों में रोजगार नहीं मिल सका था, कृषि मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि हो रही थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि कृषि मजदूरों से ग्रामीण सर्वहारा का एक नया सामाजिक वर्ग वजूद में आ रहा था जो जमीन के मालिक काश्तकारों से बिलकुल अलग था। बौने जोतदारों और भूमिहीन श्रमिकों की कुल संख्या ग्रामीण आबादी में आधे से अधिक थी। वे न केवल सर्वाधिक गरीब और शोषित थे, बल्कि वास्तविकता यह थी कि कृषि व्यवस्था में किसी प्रकार का सुधार करके भी उनकी समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता था। वास्तव में भूमि-व्यवस्था के अंतर्गत उनका समाधान नहीं हो सकता था।

कृषक-आबादी को विभिन्न ग्रामीण वर्गों में संख्यावार विभाजित करना एक कठिन कार्य है और इस दिशा में पूर्ण रूप से प्रयत्न भी नहीं किया गया है। सभी आर्थिक और सामाजिक दलीलें इसके विरुद्ध हैं और केवल भूमि के स्वामित्व और कब्जे से संबंधित आंकड़े उपलब्ध हैं। परंतु, यहां भी हमें वर्गीकरण करते समय अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। सुरेंद्र जे. पटेल का कहना है कि जिन कृषकों के पास 5 एकड़ अथवा उससे कम भूमि है उन्हें बौने जोतदारों और भूमिहीन कृषि-मजदूरों की श्रेणी में रखना चाहिए। उनके अनुसार 1931 में ऐसे कृषक कुल कृषि आबादी का 71.1 प्रतिशत थे, जबकि 37.8 प्रतिशत भूमिहीन कृषि-मजदूरों की श्रेणी में आते थे।[14] मेरा विश्वास है कि जिनके पास 2.5 एकड़ से कम भूमि है उन्हें निश्चित रूप से सर्वहारा अथवा अर्ध-सर्वहारा अथवा बौने जोतदारों की श्रेणी में रखना चाहिए। जो भी हो, इससे यह प्रदर्शित होता है कि औपनिवेशिक काल का अंत आते-आते काश्तकारों के बीच विभेदीकरण बहुत अधिक बढ़ चुका था। 1951 की एग्रीकल्चरल लेबर इंक्वायरी के अनुसार, 19 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास कोई जमीन नहीं थी।[15] जिन परिवारों के पास जमीन थी, उनमें 38.1 प्रतिशत के पास 2.5 एकड़ से कम जमीन थी जो कुल जमीन का 5.6 प्रतिशत थी (16.8 प्रतिशत के पास 1 एकड़ से कम और 21.3 प्रतिशत के पास 1 और 2.5 एकड़ के बीच में)। इन्हें अर्ध-सर्वहारा अथवा बौने जोतदारों के रूप में लिया जा सकता है। 21 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास 2.5 से लेकर 5 एकड़ तक भूमि थी जो कुल कृषि क्षेत्र का 9. 9 प्रतिशत थी। उन्हें छोटे काश्तकार कहा जा सकता है। 19.2 प्रतिशत परिवारों के

पास 5 से 10 एकड़ भूमि थी जो कुल कृषि क्षेत्र का 17.6 प्रतिशत थी। उन्हें छोटे और मझोले काश्तकार कहा जा सकता है। 16.2 प्रतिशत परिवारों के पास 10 से 25 एकड़ भूमि थी जो कुल क्षेत्र का 32.5 प्रतिशत थी। उन्हें मध्यम और धनी किसान कहा जा सकता है। 4.2 प्रतिशत परिवारों के पास 25 से 50 एकड़ भूमि थी जो कुल क्षेत्र का 19 प्रतिशत थी। वे स्पष्ट रूप से धनी किसान थे। 1.4 प्रतिशत परिवारों के पास 50 एकड़ अथवा इससे अधिक भूमि थी और 15.4 प्रतिशत क्षेत्र पर उनका नियंत्रण था। ये वे भूस्वामी थे जो अब जमींदारों की श्रेणी में आते थे।[16]

काश्तकारों के बीच यह विभेदीकरण सारे देश में हो रहा था। उदाहरण के लिए 1939 में पंजाब में कुल जोतों में से 48.8 प्रतिशत भूमि 3 एकड़ तक की थी जो समस्त कृषि क्षेत्र का 6 प्रतिशत थी। 25 एकड़ से अधिक भूमि की जोत 6.3 प्रतिशत थी जो संपूर्ण क्षेत्र का 52.8 प्रतिशत थी।[17] 1946 में संयुक्त प्रांत में, जोत की भूमि 2 एकड़ से कम थी जो कुल भूमि का 14.2 प्रतिशत थी जबकि 0.9 प्रतिशत जोतदारों के पास 25 एकड़ भूमि थी और उनका 12.9 प्रतिशत भूमि पर नियंत्रण था।[18] मद्रास के रैयतवाड़ी क्षेत्र में 22.8 प्रतिशत भूस्वामियों के पास 1 एकड़ से कम भूमि थी जो संपूर्ण भूमि का 3.4 प्रतिशत थी, जबकि 0.8 प्रतिशत भूस्वामियों के पास 18 एकड़ से अधिक भूमि थी जो कुल भूमि का 13.1 प्रतिशत थी।[19]

II

उत्तर औपनिवेशिक काल में कृषक वर्गीय ढांचा

आजादी के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व कृषि संबंधी ढांचे में परिवर्तन लाने के लिए वचनबद्ध था। इसके साथ ही उसे एक ऐसा संस्थात्मक ढांचा भी विकसित करना था जो आगे चलकर आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक हो सके। आरंभ से ही राष्ट्रीय नेतृत्व के कुछ अड़चनों का आभास था : (i) औद्योगीकरण के द्वारा सभी ग्रामीण बेरोजगारों और आर्थिक रूपों से बेरोजगारों को काम देना संभव नहीं था; इसलिए उन्हें गांवों में ही रहना था। पूंजीवादी कृषि द्वारा भी उन सभी को रोजगार मुहय्या नहीं कराया जा सकता था। (ii) कृषि उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए और कृषि अधिशेषों को शहरों में आना चाहिए। छोटा काश्तकार-उत्पादक इस कार्य को अंजाम नहीं दे सकता था। इसे पूंजीवादी किसान ही कर सकते थे। (iii) भारत जैसे अपेक्षाकृत अधिक आबादी वाले देश में पूंजीपति किसानों द्वारा काश्तकार-भूस्वामियों को बेदखल करने की अनुमति नहीं दी जा सकती थी, क्योंकि इससे बेरोजगार सर्वहारा एक बड़ा सामाजिक और राजनीतिक खतरा उत्पन्न कर सकते थे। इसलिए, एक नए संस्थात्मक ढांचे की आवश्यकता महसूस की गई जिसे न तो सामंतवादी अथवा अर्ध-सामंतवादी

और न ही पूर्ण रूप से पूंजीवादी होना था; जिसके अंतर्गत एक ओर तो बाजार में बिकने योग्य कृषि अधिशेष का उत्पादन होगा और दूसरी ओर वह ढांचा औद्योगीकरण के दशकों बाद तक छोटे और बौने काश्तकारों को सुरक्षित रखते हुए विशाल ग्रामीण आबादी को तब तक कृषि के कार्य में लगाए रखेगा जब तक कि उसे गैर-कृषि क्षेत्र में काम न मिल जाए। इस ढांचे का आधार छोटे और बौने काश्तकारों की संपत्ति और शीर्ष पर पूंजीपति-किसान की खेती थी। वास्तव में, जस्टिस रानाडे ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चौथाई भाग में अपना यह सुझाव रखा था। उनका ही चिंतन राजनीतिक और बौद्धिक परंपराओं द्वारा भारत के योजना निर्माताओं तक पहुंचा था।[20] जमींदारी व्यवस्था के विरुद्ध तर्क देते हुए, जिसे उन्होंने अर्ध-सामंतवाद कहा था, जस्टिस रानाडे ने 'खेत जोतने वाले के लिए भूमि' की नीति की वकालत की जिसके अंतर्गत पुराने जमींदारों को पूंजीपति किसानों में तबदील किया जाना था। उन्होंने लिखा : "जो लोग भूमि पर खेती करते हैं, उन्हें उस भूमि से अलग करना एक राष्ट्रीय बुराई है और उससे भी अधिक दोषपूर्ण यह है कि समस्त भूमि पर एक ही स्तर के छोटे किसान खेती करते हैं। बड़े और छोटे पैमाने पर कृषि.... ग्रामीण समाज का यह मिश्रित गठन देश के स्थायित्व और प्रगति के लिए आवश्यक है।"[21] धनी और मध्यम किसानों द्वारा जमींदारी का स्थान लेने की इस नीति को 1947 के बाद कांग्रेस पार्टी और भारत सरकार ने स्वीकार किया—इसके अंतर्गत छोटे और जीवन निर्वाह योग्य भूमि रखने वाले और आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले किसान को सुरक्षित रखने की नीति अपनाई गई ताकि काश्तकारों का विघटन न हो और उनमें सर्वहारा वर्ग विकसित न हो।[22] कभी-कभी उन दक्षिणपंथियों की ओर से इस नीति की आलोचना की जाती रही है जो पूंजीपति किसानों को ज्यादा रिआयतें दिलाना चाहते हैं और कभी-कभी वे वामपंथी भी इस नीति की आलोचना करते हैं जो यह चाहते हैं कि भूमि का अधिक न्यायसंगत वितरण हो। दक्षिणपंथ की आलोचना का प्रभावपूर्ण जवाब दिया गया है क्योंकि पूंजीवाद के विकास की संभावना बनी रही है और भूमि के निर्बाध संकेंद्रण के खतरों को सभी महसूस करते हैं। तकनीकी आधार पर की गई इस आलोचना का कि छोटे भूस्वामियों की एक बड़ी संख्या आर्थिक रूप से व्यवहार्य नहीं हैं, दो प्रकार से उत्तर दिया गया है। 1950 के दशक में कृषि सहकारी संस्थाओं के विकास पर जोर दिया गया। यह नीति दो कारणों से विफल हुई (i) भूमिहीन और साधनहीन व्यक्तियों को सहयोग से विकास में सहायता नहीं मिलती और देश के तत्कालीन वर्गीय और राजनीतिक ढांचे में निर्धारित की गई सीमाओं का उल्लंघन करते हुए धनी और पूंजीपति किसानों ने बड़ी संस्थाएं बना लीं। दूसरा उत्तर यह रहा है कि छोटे किसान को सक्षम बनाने के लिए राज्य द्वारा समर्पित ऋण और बिक्री के ढांचे, आधुनिक प्रौद्योगिकी और साधनों का प्रयोग किया जाए।

वामपंथ द्वारा वर्तमान कृषि संबंधी रणनीति की आलोचना भी प्रभावहीन रही है,

क्योंकि वह, एक बड़ी हद तक, भ्रमात्मक आर्थिक और राजनीतिक धारणाओं पर आधारित थी। सर्वप्रथम, शासक वर्गों पर अर्ध-सामंतवाद को सुरक्षित बनाए रखने का आरोप लगाया गया, जबकि वे (शासक वर्ग) कृषि संबंधी ढांचे को बदल रहे थे। वे ऐसा भूमिहीन काश्तकार को भूमि देकर नहीं बल्कि धीरे-धीरे भूस्वामियों को धनी और पूंजीपति किसान बनाकर और मध्यम और बड़े काश्तकारों को जमीन का स्वामी बनाकर कर रहे थे। उसके बाद वामपंथ ने भूमि की सीमा निर्धारित करने पर जोर दिया। बड़े भूस्वामी अपनी भूमि को अपने संबंधियों और बच्चों में बांट कर इस कानून से आसानी से बच गए। इस प्रकार भूमि की सीमा निश्चित हो जाने से वितरण के लिए भूमि तो नहीं मिली लेकिन इससे धनी किसानों को जोतें अवश्य मिल गईं। अब वामपंथियों ने भूमि सीमा को कम करने की मांग रखी। लेकिन इस उपाय द्वारा वितरण के लिए पर्याप्त भूमि तब ही उपलब्ध हो सकती थी जब धनी किसानों से भूमि ले ली जाती। यह राजनीतिक रूप से एक ऐसी सरकार के लिए व्यावहारिक नहीं था जो राजनीतिक और आर्थिक रूप से धनी और मध्यम किसानों पर निर्भर रहती है। वास्तव में, वामपंथियों ने भी धनी काश्तकारों की आलोचना करने का साहस नहीं दिखाया। वे या तो सामंतवाद का राग अलापते रहे या फिर धनी किसान को अर्ध-सामंतवादी जमींदार कहकर उसकी आलोचना करते रहे। सच्चाई यह है कि भारत में कृषक वर्गीय ढांचे का इतना अधिक वर्गीकरण हो चुका है कि धनी किसानों को सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा तत्वों का मुकाबला करने के लिए मध्यम और छोटे काश्तकारों का भी समर्थन जुटाना पड़ता है।

कृषि संबंधी वर्गीय संरचना पर भूमि सुधारों और दूसरी नीतियों का क्या प्रभाव पड़ा है : (i) जमींदारों और अर्ध-सामंती कृषि संबंधी ढांचे का लोप हो चुका है अथवा वे लुप्त हो रहे हैं। परंतु प्रमुख बिचौलियों को हटाए जाने से भूमिहीनों में वितरण के लिए बहुत कम भूमि हाथ लगी है : वास्तविकता यह है कि शुरू में भूस्वामियों ने अपनी भूमि पर खेती करने वाले अनेक काश्तकारों को बेदखल कर दिया और धनी किसानों और स्वामी जोतधारी के रूप में उन्हें अपनी भूमि पर खेती करने की अनुमति मिल गई। (ii) भूमि सुधार इन अर्थों में भूस्वामी समर्थक था कि भूस्वामियों को कृषि संबंधी वर्गीय ढांचे के शीर्ष पर रहने की अनुमति मिल गई, हालांकि, धीरे-धीरे उन्हें अपनी वर्गीय हैसियत बदलने के लिए विवश किया गया। (iii) मालिक-काश्तकारों के उदय के साथ ही, कृषि पर धनी काश्तकार का राजनीतिक और सामाजिक वर्चस्व हो गया अथवा हो रहा है। बहुत सी कृषि संबधी नीतियां, उदाहरण के लिए भूमि से संबंधित, जिन्हें वामपंथियों द्वारा प्रतिक्रियावादी और सामंतवाद और जमींदार समर्थक कहा जाता है, वे वास्तव में धनी किसानों के हितों को महत्व दिए जाने के कारण निर्मित की गई थीं। (iv) भूमि सीमा निश्चित किए जाने से बड़ी भूसंपत्तियों में कमी आई, लेकिन इससे भूमिहीनों में वितरण के लिए कोई भूमि नहीं मिली। इसका मुख्य

प्रभाव यही हुआ कि धनी किसानों ने भूमि खरीदने में उत्साह नहीं दिखाया, परंतु अब वे अपने आर्थिक अधिशेष का प्रयोग भूमि खरीदने में नहीं बल्कि भूमि की दशा सुधारने में करने लगे (अब वे भूमि खरीदने के बजाए उसे छोटे भूस्वामियों से पट्टे पर ले लेते हैं)। इस प्रकार छोटे जोतदार को बेदखल किए बिना और भूमि का और अधिक संकेंद्रण हुए बिना कृषि में पूंजीवाद की स्थिति मजबूत हो गई। इस प्रकार कृषि के क्षेत्र में धनी, मध्यम और छोटे किसानों को लाभ हुआ है और बहुत बड़े भूस्वामियों को हानि हुई है। पूंजीवाद में वृद्धि होने से रोजगार के अवसर भी बढ़ गए हैं। (v) पूंजीवाद के विकास ने जो रूप लिया है उससे धनी किसान को बढ़ावा मिल रहा है। (vi) पट्टेदारी बहुत कम हो गई है। इस संबंध में पहले की तुलना में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अब वह खुलेआम नहीं होती। इसी वजह से पट्टेदारी के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना भी बहुत कठिन हो गया है। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रों में कृषि विकसित हुई है अथवा जो पिछड़े क्षेत्रों के लिए भविष्य का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं, वे करीब-करीब अर्ध-सामंती पट्टेदारी से मुक्त हैं। (vii) इसके साथ ही, कृषि मजदूरों की तादाद और अनुपात में इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि आज वे ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे बड़े सामाजिक वर्ग के रूप में उभरे हैं। परंतु जैसा कि कभी-कभी विश्वास किया जाता है यह वृद्धि छोटे काश्तकारों के बेदखली के कारण नहीं हुई है। वास्तव में, 1950 के दशक में बेदखली की प्रक्रिया की शुरुआत के बाद, छोटे किसानों की बेदखली ज्यादा देखने में नहीं आई।[23]

अब हम देखेंगे कि भूमि सुधारों और दूसरे भूमि संबंधी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कृषि संबंधी ढांचा किस प्रकार विकसित हुआ। सारणी नं.1[24] में विभिन्न आकार की खेती करने वाली आबादी और उसकी जोत के आकार के क्षेत्रफल का प्रतिशत दिया

सारणी नं. 1

जोत का आकार (एकड़ों में)	आबादी का प्रतिशत	क्षेत्र का अनुपात
0—2.5	48.23	6.71
2.5—5.0	17.43	12.17
5.0—10.0	16.59	19.95
10.0—15.0	7.29	13.85
15.0—20.0	3.46	9.42
20.0—25.0	2.09	7.20
25.0—30.0	1.37	5.53
30.0—50.0	2.35	12.99
50.0 और अधिक	11.18	12.19

गया है। सारणी नं. 2 को 1971-72 में रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा किए गए सर्वेक्षण से लिया गया है। लेकिन यह सारणी प्रत्येक आकार की जोत के परिवारों का प्रतिशत

प्रस्तुत करती है और उसे तुलनात्मक उद्देश्यों से यहां दिया जा रहा है।

सारणी नं. 2

कृषि अधीन भूमि (एकड़ों में)	कुटुंबों का प्रतिशत		
0.0	27.750		
0.01—0.50	7.553	42.192	
0.50—1.00	6.889		
1.00—1.25	4.342		60.854
1.25—2.50	14.320	18.662	
2.50—5.00	16.330		
5.00—7.50	8.614		
7.50—10.00	4.239		
10.00—15.00	4.626		
15.00—20.00	2.062		
20.00—25.00	1.239		
25.00—30.00	.668		
30.00—50.00	1.043		
50.00 और अधिक	.384		

सारणी नं. 1 और नं. 2 की पूरी तरह से तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि एक कुटुंब में आबादी का अनुपात जोत की भूमि के आकार के साथ ही बढ़ जाता है। इसलिए हमने सारणी नं. 1 को अपनी बहस का आधार बनाया है।

यदि समस्त ग्रामीण आबादी को किसान आबादी माना जाए तो भूमि-नियंत्रण में भारी असमानता है। परंतु, यदि हम उस आबादी में से उन 48 प्रतिशत को निकाल लें जिन्हें लेनिन की शब्दावली में छोटे किसान नहीं बल्कि सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा कहा गया (इसी प्रकार धनी किसानों को ग्रामीण बुर्जुआ और मध्यम किसानों को तुच्छ बुर्जुआ कहा गया है, तो धनी, मध्यम और छोटे किसानों के आधार पर विभेदीकरण का अर्थ यह होगा कि वे अभी तक एक ही वर्ग के अंग हैं)। जैसा कि सारणी नं. 3 से प्रदर्शित होता है कि खेती से जीवन निर्वाह करने वालों की वही तसवीर सामने आती है जो असमानता और विभेदीकरण के अर्थों में, आधुनिक युग के यूरोपीय किसानों की तसवीर से मिलती है। इसमें इटली, फ्रांस और जर्मनी भी शामिल हैं, हालांकि वहां भूमि पर किसानों का स्वामित्व भिन्न प्रकार का है।

भूस्वामियों, विशेषकर 5 एकड़ भूमि के स्वामियों में यह विषमता इतनी अधिक नहीं है। शासक वर्ग कानून बनाकर और आर्थिक नीतियां निर्मित करके इन वर्गों को स्थायी और व्यवहार्थ बनाने का हर संभव प्रयास कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त, स्थानीय

सारणी नं. 3

जोत का अकार (एकड़ में)	भूमि पर स्वामित्व रखने वाली आबादी का प्रतिशत जो कुल ग्रामीण आबादी का 51.77 प्रतिशत है.	भूमि के स्वामित्व से युक्त आबादी द्वारा नियंत्रित क्षेत्र (जिसका उपयोग में आने वाले कुल क्षेत्र के 93.29 प्रतिशत पर नियंत्रण है).
2.5—5.0	33.67	13.05
5.0—10.0	32.04	21.38
10.0—15.0	14.08	14.85
15.0—20.0	6.68	10.10
20.0—25.0	4.04	7.72
25.0—30.0	2.65	5.93
30.0—50.0	4.54	13.92
50.0 और अधिक	2.30	13.07

और प्रांतीय राजनीति में भी इन वर्गो की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है इसलिए उनमें अपने हितों को सुरक्षित रखने की क्षमता भी है। भूमि की सीमा को निश्चित करने की वही नीति सफल हो सकती है, जिसमें परिवार की जोत को एक परिवार की जोत के आकार तक सीमित रखा जाए। राजनीतिक रूप से यह कदम भूमि के सामूहीकरण के प्रस्ताव से कम परिवर्तनवादी नहीं होगा। विशेषकर इसलिए भी क्योंकि प्रभावी किसानों में अपेक्षाकृत समानता और एकता अधिक है।

शासक वर्गों के सामने वास्तविक समस्या उस 48 प्रतिशत ग्रामीण आबादी ने खड़ी की है जिसके पास कोई भूमि नहीं है, जिसे पर्याप्त रोजगार मुहय्या नहीं कराया जा सकता अथवा जीवनयापन के साधन उपलब्ध नहीं कराए जा सकते, और जिसका दोबारा 'काश्तकारों' के साथ एकीकरण नहीं किया जा सकता। फिर भी, यदि वे अपनी परिवर्तित सामाजिक स्थिति के प्रति सचेत हो जाते हैं तो उनकी राजनीति का रुख पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध मुड़ जाएगा। इस वर्ग चेतना के उदय को रोकना, उन्हें संतुष्ट रखना (जबकि वर्तमान सामाजिक ढांचा उन्हें संतुष्ट रखने में सक्षम नहीं है) राजनीति और विचारधारा का काम है। यह कार्य, एक हद तक, इस विचार को कायम रख कर किया जाता है कि वे 'काश्तकारों' का ही एक हिस्सा है और यह लालच भी दिया जाता है कि भूमि-वितरण के फलस्वरूप उन्हें किसी न किसी दिन जमीन भी मिलेगी। बौने-जोतदारों को इतनी भूमि दे दी जाती है कि उनके मन में स्वामी काश्तकार होने का विचार बना रहता है। इसके अतिरिक्त, इससे उन सभी के बीच एकता भी स्थापित नहीं होने वाली जो वास्तव में ऐतिहासिक और स्थायी रूप से भूमिहीन हैं। बाकी काम सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय एकता के विचार से हो जाता

है, जिसका कि वास्तविक जीवन में एक बड़ा आधार भी है। यहां प्रश्न यह है क्या इन्हीं 48 प्रतिशत सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा से और उनके साथ 34 प्रतिशत छोटे और मध्यम काश्तकारों अथवा ग्रामीण तुच्छ बुर्जुआ वर्ग से मिलकर राष्ट्र बनेगा। या उन्हें राष्ट्रीय एकीकरण के नाम पर, सामाजिक व्यवस्था से अलग रह कर, दशकों तक इंतजार करना पड़ेगा—जब तक कि उनका 'राष्ट्र' के साथ एकीकरण करने के लिए पूंजीवाद का पर्याप्त रूप से विकास न हो जाए।

III

1947 से पूर्व किसान और राष्ट्रीय एकीकरण

साम्राज्यवाद-विरोधी तत्वों की आक्रामक क्षमता को बढ़ाने के लिए भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किसानों का राष्ट्र और राष्ट्रीय आंदोलन के साथ एकीकरण करना चाहता था। इस आक्षेप से दुखी होकर कि राष्ट्रीय आंदोलन केवल कुछ गिने चुने पढ़े लिखे 'बाबुओं' की 'सूक्ष्म अल्पसंख्या' का नेतृत्व करता था और जिसकी कमोबेश औपनिवेशिक अधिकारियों के द्वारा उपेक्षा की जाती थी—राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व ने किसानों को शामिल करके एक विस्तृत सामाजिक संगठन को तैयार करने का निश्चय किया ताकि अपनी दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई मांगों को मनवाने के लिए औपनिवेशिक शासकों पर दबाव डाला जा सके। राष्ट्रवादी नीति में यह परिवर्तन उसी समय हुआ जब उपनिवेशवाद के सारे परिणाम भारतीय किसान के सामने आ रहे थे और उसे बढ़ते हुए असंतोष और आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के युग में ढकेल रहे थे।

(क) राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों को शामिल करने के लिए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने दो प्रकार के एकीकरण के सिद्धांतों को बढ़ावा दिया। पहला, यह विचार कि काश्तकार अथवा किसान एक संयुक्त सामाजिक समूह अथवा एक सुखी परिवार हैं। इसका एक उद्देश्य जातीय, सांप्रदायिक अथवा स्थानीय आधारों पर काश्तकारों के विभाजन को रोकना था। किसान अथवा काश्तकार होने की भावना के पीछे वर्गीय एकता और वर्गीय चेतना के तत्व भी मौजूद थे। बाद में परिवर्तनवादी किसान नेतृत्व ने इन्हीं तत्वों पर बल दिया और उनका उपयोग भी किया। परंतु, राष्ट्रीय नेतृत्व ने इस भावना को जमींदारों और भूस्वामियों के विरुद्ध वर्ग संघर्ष खड़ा करने के लिए बढ़ावा नहीं दिया था। बल्कि इस भावना को एक ऐसे औजार के रूप में लिया गया था जिससे वे आंतरिक विभाजनकारी प्रवृत्तियां समाप्त हो जाएंगी जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकताबद्ध राष्ट्रीय संघर्ष को कमजोर करती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि काश्तकार अथवा किसान होने की भावना को बड़े स्तर पर प्रचार किया गया, परंतु किसानों में 'वर्ग'-चेतना अधिक जाग्रत नहीं हुई और देश में कई भागों में तो

इसका वजूद तक नहीं था। किसान चेतना बड़ी धीमी गति से फैली और वह भी तब जबकि जमींदारों और भूस्वामियों को धीरे-धीरे राजनीतिक रूप से अलग-थलग कर दिया गया।

किसानों के बीच तेजी से बढ़ते हुए विभेदीकरण को ढकने के लिए किसानों की सामाजिक एकता के विचार का प्रयोग किया गया। वास्तव में छोटे और बर्बाद हो चुके भूस्वामियों को किसानों में सम्मिलित करने के लिए इस विचार का प्रयोग किया गया।

एकीकरण के दूसरे सिद्धांत का उद्देश्य यह था कि किसानों को यह महसूस कराया जाए कि वे राष्ट्र का एक अंग हैं। इस उद्देश्य को न केवल इस बात पर जोर देकर हासिल किया गया कि राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों के हितों को सर्वाधिक महत्व दिया जाए बल्कि यह भी कहा गया कि किसान एक राष्ट्र 'थे' अथवा राष्ट्र के मूल अंग थे। इसी आधार पर कांग्रेस का शक्तिशाली नेतृत्व किसानों के अलग संगठन को पसंद नहीं करता था। जैसा कि 1928 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में पास किए गए एक प्रस्ताव में जोर दिया गया : "कांग्रेस ने पहले ही पूर्ण रूप से किसानों के किसान यूनियनों में संगठित होने के अधिकार को मान्यता दे दी है। इस पर भी, यह याद रखना चाहिए कि कांग्रेस स्वयं अपने आप में ही मुख्य रूप से एक किसान संगठन है"।[28]

(ख) भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व द्वारा किसानों को अपने और बाकी राष्ट्र के साथ लेकर चलने का क्या औचित्य था वह इस तथ्य से प्रकट होता है कि इस काल के दौरान किसानों का प्रारंभिक अंतर्विरोध साम्राज्यवाद के साथ था। इस तथ्य को रजनी पाम दत्त और ए.आर. देसाई ने अपनी कृतियों में बड़े सुंदर ढंग से स्पष्ट किया है। इसलिए, साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन ने केवल किसानों की सामूहिक शक्ति का 'उपयोग' ही नहीं किया अथवा उसके हितों को बुर्जुआ अथवा मध्यम वर्गों के हितों के अधीन नहीं किया, जैसा कि एक नकली उपनिवेश समर्थक 'परिवर्तनवाद' द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीय आंदोलन, एक हद तक किसानों के साम्राज्यवाद-विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करता था। दादा भाई नौरोजी और जस्टिस रानाडे से आरंभ होकर और महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू तक राष्ट्रीय नेतृत्व ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के संदर्भ में भारतीय गरीबी को समझने का जो प्रयास किया, वह निश्चित रूप से औपनिवेशिक अधिकारियों और साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा किए गए इस दावे से कहीं बेहतर था कि भारतीय गरीबी का उपनिवेशवाद से कोई संबंध नहीं था। 19वीं सदी के स्वतः विकसित उग्र किसान आंदोलनों के नेताओं का चिंतन भी इससे आगे नहीं जा सका।

दूसरे, भारत के आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में एकीकरण के साथ, जिसमें उसकी कृषि भी सम्मिलित थी—उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के दौरान यह भी आवश्यक हो गया कि किसानों को अखिल भारतीय स्तर पर अपने हितों के संबंध में सोचना

और उनके अनुसार कार्य करना चाहिए। इसके लिए उन्हें यह महसूस करने और सोचने की जरूरत थी कि वे उस विस्तृत समुदाय का अंग हैं जिसमें किसान और राष्ट्र दोनों सम्मिलित हैं। 1930 और 1940 के दशकों के दौरान जब स्वतः ही किसान आंदोलन का विकास हुआ तो उसने इन दोनों पहलुओं को पूर्ण मान्यता दी। किसान आंदोलन ने किसानों के सामाजिक विकास और इस संघर्ष में अपनी भूमिका का हवाला देते हुए साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के महत्व पर बल दिया । वास्तव में, 1936 के पश्चात राष्ट्रीय नेतृत्व और राष्ट्रीय संघर्ष पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यह आंदोलन बराबर प्रयत्न करता रहा।

इसके अतिरिक्त, ऐसा भी नहीं था कि राष्ट्रीय नेतृत्व ने किसानों और उनके आंदोलनों का 'उपयोग' किया था अथवा उन्हें राष्ट्रवाद की बेदी पर कुर्बान कर दिया गया था—यह एक विडंबना ही थी कि बाद में सारे संसार में कुछ रूढ़िवादी 'किसान-समर्थकों' ने संपूर्ण वामपंथी, समाजवादी और कम्युनिस्ट नेतृत्व पर यह आरोप लगाया।[29] राष्ट्रवाद ने किसानों में जागृति लाने में सहायता की और उन्हें उनकी आवश्यकताओं, मांगों और सबसे अधिक सामाजिक और राजनीतिक विकास में एक सक्रिय भूमिका की संभावना के प्रति सचेत किया। राष्ट्रवाद ने किसान आंदोलन को उसके 'पांव पर खड़ा होने' और 1920 और 1930 के दशकों में उसे फैलने और अपनी जड़ें जमाने में सहायता दी। उसने किसानों में एकता स्थापित की, उनमें अखंडता की भावना भरी और उन्हें आधुनिक संगठन के तत्वों से परिचित कराया; धर्म के नाम पर अथवा बड़े जमींदारों की सहायता से 19वीं शताब्दी में चलाए जा रहे किसान आंदोलनों की शिथिलता और क्षेत्रीयता को भी राष्ट्रवाद ने समाप्त किया। इसके बाद भी, 1930 और 1940 के दशकों में जब किसान सभा के नेतृत्व ने अपनी संकीर्णता के कारण स्वयं को राष्ट्रीय नेतृत्व से दूर कर लिया तो वह एक वास्तविक अखिल भारतीय किसान आंदोलन या अखिल भारतीय संघर्ष नहीं चला पाया। वास्तव में, किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन राष्ट्रवादी नेतृत्व और उसके राष्ट्रीय एकीकरण के नमूने की खामियों को तब ही दूर कर सकते थे जब वे बुर्जुआ-राष्ट्रवाद के विरोध में किसान हितों को न रखते; किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ और अधिक एकताबद्ध करते, साम्राज्यवाद-विरोध को और गहरा करते और आंदोलन पर वर्गीय नेतृत्व के एक अलग पैटर्न को स्थापित करते।

दो वर्तमान विद्वानों, माजिद सिद्दीकी और के.एन. पणिक्कर ने राष्ट्रीय किसान आंदोलनों के संबंध का बड़ा स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया है। 1920 से 1922 तक संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलनों पर किए गए अपने अध्ययन के अंत में सिद्दीकी ने लिखा है कि : "राष्ट्रीय राजनीति के साथ किसानों के संबंध ने किसान आंदोलनों और राजनीतिक आंदोलनों दोनों को फायदा पहुंचाया, क्योंकि दोनों ने विभिन्न चरणों में एक दूसरे को प्रेरणा दी और समर्थन भी दिया। इस प्रकार राजनीति ने किसान

आंदोलन को नीचे से प्रारंभिक प्रोत्साहन दिया।[30] इसी प्रकार, के.एन. पणिक्कर ने अपनी रचना के अंत में 19वीं और 20वीं शताब्दियों में मालावार में किसान विद्रोह और 1921 में किसान और राष्ट्रीय आंदोलनों के विलय का उल्लेख करते हुए लिखा है : "इस गठबंधन से किसानों में एकता और अखंडता की भावना जाग्रत हुई और इससे उन्हें एक प्रभावशाली संगठन बनाने में भी मदद मिली"।[31]

(ग) जिस तरीके से राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसानों को एकताबद्ध किया गया उसकी तीन नकारात्मक विशेषताएं थीं :

(1) औपनिवेशिक भूमि-संबंधी ढांचे की अनदेखी करते हुए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने कुल मिलाकर भूस्वामी-विरोधी संघर्ष को दबाया। राष्ट्रीय नेतृत्व के शक्तिशाली घटक भूस्वामी-विरोधी विचारधाराओं, नीतियों और आंदोलनों के विरोधी थे। वे अहिंसा और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की एकता की दुहाई देकर किसानों की भूस्वामी-विरोधी सभी गतिविधियों का विरोध करते थे। यह कहा गया कि किसानों के अलग वर्गीय संगठनों से राष्ट्रीय आंदोलन कमजोर और विभाजित होता था। किसानों की स्वतंत्र गोलबंदी का विरोध करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि किसानों की गोलबंदी तब ही कारगर साबित होगी जब वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध विस्तृत राष्ट्रीय गोलबंदी का एक अंग हो। इस प्रकार, फरवरी 1921 में संयुक्त प्रांत के आंदोलनकारी किसानों को गांधी ने सलाह दी : "यदि जमींदार आप लोगों पर जुल्म करते हैं तो आपको थोड़ा सहन करना चाहिए। हम जमींदारों से लड़ना नहीं चाहते। जमींदार भी गुलाम हैं और हम उन्हें परेशान करना नहीं चाहते"।[32] मई 1921 में उन्होंने फिर लिखा :[33]

> यह नहीं सोचा गया है कि असहयोग के किसी भी चरण में हम जमींदारों को उनका लगान वसूल नहीं करने देंगे। किसान आंदोलन किसानों की स्थिति में सुधार और जमींदारों और किसानों के बीच संबंधों को बेहतर बनाने तक ही सीमित रहना चाहिए। किसानों को यह सलाह दी जानी चाहिए कि वे जमींदारों के साथ किए गए अपने अनुबंध की शर्तों का कड़ाई से पालन करें, चाहे यह अनुबंध लिखित हो या परंपरा के अनुसार हो।

इसी प्रकार, कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव में, जिसके तहत 1922 में असहयोग आंदोलन को स्थगित किया गया, दस में से दो खंडों में जमींदारों के 'कानूनी' अधिकारों पर अधिक ध्यान दिया गया था।[34] 1930 के दशक के आरंभ में, कांग्रेस कार्यकारिणी ने जमींदारों को दोबारा विश्वास दिलाया कि वह उनकी विरोधी नहीं थी और यह कि वह 'संपत्ति को जब्त करने' और 'वर्ग-युद्ध' के खिलाफ थी।[35] संयुक्त प्रांत कांग्रेस के नेतृत्व ने भी, जो कि भूस्वामित्व संबंधी प्रश्न पर वामपंथियों के ज्यादा नजदीक था और किसान आंदोलन का समर्थन और संगठन कर रहा था, अखिल भारतीय

नेतृत्व को विश्वास दिलाने के लिए सार्वजनिक रूप से यह कहना जरूरी समझा कि वह "जमींदारों और पट्टेदारों के बीच सौहार्द के लिए" कार्य करता है और वह वर्ग-युद्ध की सलाह नहीं देता।[36]

संयुक्त प्रांत को छोड़कर 1920-22 और 1930-32 के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व ने विशेष रूप से भूराजस्व और दूसरे करों जैसे नमक कर की भारी और बोझिल मांगों में कमी को लेकर साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए किसानों की गोलबंदी पर अपना ध्यान केंद्रित किया। गांधी ने अपने किसान आंदोलनों को भी विशेष रूप से ब्रिटिश प्रशासन अथवा, एक मामले में ब्रिटिश बागान मालिकों के विरुद्ध संगठित किया था। 1930 में गांधी के प्रसिद्ध 11 बिंदुओं में किसानों की दो मांगें सम्मिलित थीं, लगान में 50 प्रतिशत की कमी और नमक कर की समाप्ति।[37] विश्व-मंदी के शिखर पर जब भारतीय किसान लगान, सूदखोरी और भूराजस्व के बोझ के तले दबे जा रहे थे उन्होंने नमक कर के प्रश्न पर किसानों को संगठित करने का प्रयत्न किया क्योंकि जमींदारों को प्रभावित किए बिना यही रैयतवाड़ी और जमींदारी क्षेत्रों से किसानों को संगठित कर सकता था।

यहां यह सुझाव दिया जा सकता है कि इस आधार पर कांग्रेस के नेतृत्व की आलोचना नहीं होनी चाहिए कि उसने 'खेत जोतने वाले किसान को भूमि' के नारे को अपना आधार बनाकर सामंतवाद-विरोधी क्रांति को बढ़ावा नहीं दिया। इससे छोटे और बड़े भूस्वामी साम्राज्यवाद की 'गोद' में चले जाते। यह सभी वर्गों के राष्ट्रवादी मोर्चे के लिए ने केवल असंभव था, बल्कि 1939 से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ताकत के मद्देनजर ऐसा करना अल्पकालिक दावपेंचों को प्रयोग करने के समान और अदूरदर्शी होता, क्योंकि किसी भी प्रभावकारी साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के उद्देश्य को पूर्ण रूप से शत्रु को अलग-थलग करना था। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी कि देश के छोटे और बड़े भूस्वामियों को उसके मित्रों के रूप में साम्राज्यवाद के सुपुर्द कर दिया जाए। विभिन्न हितों, वर्गों और सामाजिक श्रेणियों को एक विस्तृत राष्ट्रीय मोर्चे में एकताबद्ध और संगठित करने और जो इस मोर्चे में शामिल नहीं हो सकते थे उन्हें तटस्थ बनाने की आवश्यकता एक ऐसी नीति के अपनाए जाने का संकेत थी जिसके तहत आंतरिक विरोधी वर्गों के बीच समझौता कराया जा सके, उनके परस्पर विरोध को महत्व न दिया जा सके और उनके विभिन्न हितों के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके।

परंतु, परस्पर विरोधी हितों में संतुलन स्थापित करने का अर्थ निश्चित रूप से, दोनों ओर से कुर्बानी करना और सामंजस्य स्थापित करना होता है। यदि एक वर्ग-समझौता होना था तो वह किन शर्तों पर होना था? वह समझौता किसके हित में होता? क्या यह समझौता वास्तविक था अथवा वह कुछ वर्गों और घटकों का दूसरों के समक्ष आत्मसमर्पण था? मान लिया कि जमींदारी उन्मूलन की मांग नहीं रखी

जानी थी, परंतु किसानों की दूसरी मांगों जैसे बेगार, बेदखली, जबरन वसूली गैर-कानूनी लगान, कर्ज का बोझ, पट्टेदारी की मुद्दत की सुरक्षा और कृषि मजदूरों को न्यायोचित मजदूरी के विषयों पर कितना संघर्ष किया गया? किसान संगठनों ने भी अपनी दीर्घकालिक और अल्पकालिक मांगों में भेद करके राजनीतिक यथार्थ की पर्याप्त समझ का परिचय दिया।[38] यदि कम्युनिस्टों जैसा नजरिया अपनाना संभव नहीं था, तो क्या जवाहरलाल नेहरू जैसा नजरिया भी नहीं अपनाया जा सकता? 1930-32 के दौरान नेहरू और दूसरे वामपंथी कांग्रेसी लगान अदा न करने को लेकर नहीं बल्कि न्यायपूर्ण लगान के लिए लड़े।[39] निश्चित रूप से, किसी भी वास्तविक सामाजिक समझौते के लिए किसानों की अधिकांश मांगों को स्वीकार करना संभव होना चाहिए था।

परंतु, ऐसा नहीं किया गया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय एकता के नाम पर किसानों के वर्गीय हितों की कमोबेश कुर्बानी दे दी गई। राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए किसानों की एकतरफा कीमत चुकानी पड़ी।

अनेक वर्षों तक राष्ट्रीय कांग्रेस एक विस्तृत कृषि संबंधी कार्यक्रम विकसित करने में असफल रही। गांधी द्वारा चलाए गए तीनों प्रमुख आंदोलन, अर्थात, 1920, 1930 और 1942 के आंदोलन, ऐसे किसी कार्यक्रम के बिना आरंभ किए गए। गांधी और राष्ट्रीय नेतृत्व ने रचनात्मक कार्यक्रम के नाम पर किसानों के सामने ज्यादा से ज्यादा कुछ हलके सुधारवादी 'स्वावलंबन' के उपायों का प्रस्ताव रखा। उन्होंने स्वराज्य और कृषि संबंधी परिवर्तन की अस्पष्ट बातों पर अधिक बल दिया। जमींदारों को उनके बुनियादी वर्ग हितों की गारंटी देकर राष्ट्रीय आंदोलन में बनाए रखना था, और किसानों को राष्ट्रवाद की विचारधारा द्वारा संगठित करना था।

1930 के दशक में, कुछ जमींदार-विरोधी किसान मांगें उठाई गईं और 1931-32 में संयुक्त प्रांत के एक मामले में किसानों और जमींदारों के बीच एक वास्तविक समझौते की बात रखी गई। संयुक्त प्रांत की कांग्रेस और गांधी ने 1930 में यह मांग रखी कि लगान के भुगतान में पट्टेदारों को 50 प्रतिशत और गैर-पट्टेदार रैयत को 60 प्रतिशत की छूट दी जाए। बाद में 1931 में, गांधी ने इस मांग को घटाकर क्रमशः 25 प्रतिशत और 50 प्रतिशत कर दिया। परंतु, किसानों की उग्रता के बावजूद गांधी और अखिल भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा इन मांगों पर जोर नहीं दिया गया।[40] जैसा कि एस. गोपाल ने लिखा है कि बाद में गांधी ने "भूस्वामियों पर दबाव डालने, लगान अदा न करने की अपीलों, लगान में 50 प्रतिशत कटौती करने के प्रस्ताव और अपनी निजी क्षमता से कम लगान अदा करने की कड़ी निंदा की।"[41] यहां यह भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि बिहार में जहां कट्टर गांधीवादियों का कांग्रेस के नेतृत्व पर नियंत्रण था राष्ट्रवादियों ने भूस्वामियों के विरुद्ध किसानों की किसी भी प्रमुख मांग को नहीं उठाया। केवल किसानों पर ही नहीं, उनके नेतृत्व पर भी नियंत्रण रखा जाना था।[42]

1937 के चुनावों की तैयारी करते हुए और कांग्रेस के अंदर वामपंथियों को तुष्ट करते हुए और उनकी चुनौती को रोकने के लिए शक्तिशाली कांग्रेसी नेतृत्व ने भूराजस्व, लगान, सिंचाई की दर और कर्ज के बोझ को कम करने, सामंती देनदारियों को समाप्त करने, पुराने कर्ज की अदायगी पर रोक लगाने, बकाया लागन को समाप्त करने, अलाभकारी भूमि पर लगान का भुगतान अदा न करने की छूट देने, बेदखलियों पर प्रतिबंध लगाने, पट्टेदारी की अविधि निर्धारित करने और उसके साथ मौरूसी अधिकारों को मान्यता देने, सस्ते कर्ज का प्रावधान करने, बेगार और गैर-कानूनी वसूली को समाप्त करने, कृषि मजदूरों को न्यायसंगत मजदूरी देने, कृषि से होने वाली आय पर प्रगतिशील आय कर लगाने, सहकारी खेती को बढ़ावा देने और किसान संघों को मान्यता देने से संबंधित किसानों की कुछ तत्कालिक मांगों को अस्पष्ट ढंग से उठाया।[43] परंतु, इन मांगों के संबंध में कांग्रेस ने मुश्किल से ही कोई आंदोलन, संघर्ष और प्रचार अभियान चलाया। इस संबंध में 1937 से लेकर 1939 तक के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का रिकार्ड भी काफी निराशाजनक रहा। उनका भूमि संबंधी कानून कमजोर और अपर्याप्त था। केवल महाजनों से ही किसानों को कुछ राहत मिली।[44] किसान आंदोलनों के प्रति उनका रवैया भी अच्छा नहीं था। जहां प्रत्येक चरण में भूस्वामियों से परामर्श किया गया और उनसे सामंजस्य बिठाया गया, वहीं सामूहिक लामबंदी द्वारा दबाव डालने के किसान यूनियनों के प्रयत्नों की निंदा की गई और पार्टी और प्रशासनिक स्तर पर उनका दमन किया गया।[45] नेहरू ने क्रोधित होकर संयुक्त प्रांत के मुख्यमंत्री, जी.बी. पंत को लिखा : ".....कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में क्रांतिविरोधी प्रवृत्ति आ रही है, निसंदेह ऐसा जान बूझ कर नहीं किया गया है, परंतु जब भी चयन करना होता है, झुकाव प्रति-क्रांति की ओर होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य रवैया भी स्थिर है।"[46]

कुछ संकेतों से पता चलता है कि जीवन के अंतिम चरण में कृषि संबंधी प्रश्न के प्रति गांधी के रवैए में परिवर्तन आ रहा था। 9 जून 1942 को लुइस फिशर के सवाल "किसानों की दशा में सुधार करने के लिए आपके पास क्या कार्यक्रम है?" के उत्तर में गांधी ने कहा कि "किसान भूमि पर अपना कब्जा कर लेंगे। हमें ऐसा करने के लिए उनसे कहना नहीं पड़ेगा"। और जब फिशर ने पूछा, "क्या जमींदारों को हर्जाना दिया जाएगा?" तो गांधी ने उत्तर दिया : "नहीं, यह वित्तीय दृष्टि से असंभव होगा"। दो दिन के बाद दूसरे इंटरव्यू में फिशर ने पूछा : "ठीक है, आप अपने हाल में आरंभ होने वाले सविनय अवज्ञा आंदोलन के बारे में क्या सोचते हैं"? गांधीजी ने उत्तर दिया : "गांवों में किसान लगान देना बंद कर देंगे, वे सरकारी निषेध आज्ञा के बावजूद नमक बनाएंगे .... दूसरा कदम जमीन पर कब्जा करना होगा"। फिशर ने पूछा : "हिंसा से"? गांधी ने उत्तर दिया : "हिंसा हो सकती है। परंतु, फिर भी भूस्वामी सहयोग कर सकते हैं ..... वे वहां से भाग कर सहयोग कर सकते हैं"। इस पर फिशर ने कहा कि "भूस्वामी हिंसक प्रतिरोध का रास्ता अपना सकते

हैं।" गांधी का उत्तर था : "हो सकता है कि 15 दिन के लिए अव्यवस्था फैले, परंतु मेरे विचार में, हम शीघ्र ही इस पर नियंत्रण कर लेंगे"। फिशर ने पूछा : "इसका क्या अर्थ यह है कि बिना हर्जाना दिए ही भूमि जब्त की जाएगी"? गांधी ने उत्तर दिया : "बिलकुल, वित्तीय रूप से किसी के लिए भी हर्जाना देना असंभव होगा।"[48] इसी प्रकार उन्होंने जेल में मीराबैन को बताया कि आजादी के बाद या तो स्वैच्छिक आत्मसमर्पण द्वारा या कानून बना कर जमींदारों की भूमि पर राज्य द्वारा कब्जा कर लिया जाएगा और खेत जोतने वालों में उस भूमि को बांट दिया जाएगा।[49] 1946 तक वे यह मानने लगे थे कि इतिहास में सदा ही वर्ग संघर्ष रहा है और वह तब ही समाप्त हो सकता है जब पूंजीपति स्वेच्छा से अपनी सामाजिक भूमिका को त्याग दें और मजदूर बन जाएं। उन्होंने कहा कि आखिरकार पूंजी का निर्माण मजदूर करते हैं, पूंजीपति नहीं।[50] परंतु, यह बौद्धिक और वैचारिक विकास इतनी देर से हुआ कि राष्ट्रीय नेतृत्व और भारतीय बुर्जुआ वर्ग पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ जो अब उनकी (गांधी की) 'सनक' के कारण उन्हें छोड़ने को तैयार थे। स्वयं गांधी के लिए भी यह समझ इतनी अस्पष्ट और उनके विचारों के संपूर्ण ढांचे से इतनी अलग थी कि वे उन्हें अर्थपूर्ण राजनीतिक गतिविधि की ओर नहीं ले जा सकती थी। वह उनकी ईमानदारी और यथार्थ को समझने के निरंतर प्रयास की अभिव्यक्ति करती और अंत में, एक गहरी व्यक्तिगत और राजनीतक त्रासदी की सूचक थी जो अंतिम दिनों में उन्हें चारों ओर से घेर रही थी। क्योंकि इससे अधिक दुखपूर्ण बात और क्या हो सकती है कि इस महान और नैतिक व्यक्ति ने बुर्जुआवादी राजनीति का एक ऐसा ढांचा निर्मित किया था और नेतृत्व का एक ऐसा खाका तैयार किया था जिसमें स्वयं उनके अर्थपूर्ण संशयों को भी कोई महत्व नहीं था।

अपने विश्लेषण को फिर से शुरू करने के लिए यह बताना आवश्यक है कि 1945-46 में कांग्रेस ने सभी मध्यस्थों को समाप्त करने के लक्ष्य को स्वीकार किया;[51] वास्तव में, युद्ध के बाद के वर्षों में किसान-विरोधी तरीके से इस लक्ष्य को प्राप्त किया गया। अर्ध-सामंतवाद अथवा जमींदारी पर आक्रमण करके और धीरे-धीरे उसे समाप्त कर दिया गया; इससे किसानों की विशाल संख्या को कोई लाभ नहीं पहुंचा। यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि न तो आजादी से पूर्व की और न आजादी के बाद की राष्ट्रीय कांग्रेस ने साधारण जोतदारों, अथवा बटाईदारों अथवा कृषि श्रमिकों की भलाई के लिए साधारण सुधारात्मक कदमों पर भी जोर नहीं दिया। और तो और, विभिन्न आंदोलनों में भी राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन वर्गों और श्रेणियों की मांगों और हितों की कमोबेश पूरी तरह उपेक्षा की।

यह सब ऐसा क्यों था? यहां यह कहा जा सकता है कि जमींदारों के प्रति यह अत्यंत कमजोर और समझौतेवादी नीति मुख्य रूप से उन बड़े जमींदारों (अर्थात, जागीरदारों, तालुकेदारों और बड़े भूस्वामियों) के हितों को सुरक्षित रखने के लिए नहीं

अपनाई गई थी, जिनके विरुद्ध स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों के उद्देश्य को प्राप्त करना था। यह नीति निम्नलिखित पांच श्रेणियों के हितों और दृष्टिकोण को सामने रख कर बनाई गई :

(*i*) उदीयमान धनी किसानों की श्रेणी में संपत्ति पर अपना अधिकार रखने की रूढ़िवादी सहज प्रवृत्ति मौजूद थी। वे तेजी से भूस्वामी बनते जा रहे थे और महाजनी के धंधे को अपना रहे थे और जो देहातों में चलने वाले सामूहिक राष्ट्रीय आंदोलन और उदीयमान किसान संगठनों और आंदोलनों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर रहे थे। जमींदारी क्षेत्रों में उनकी मुख्य रुचि पट्टेदारों को सुरक्षित रखने में और भूमि के कब्जे और स्वामित्व को हस्तांतरित करने में थी। और रैयतवाड़ी क्षेत्रों में इस बात में अधिक रुचि लेते थे कि भूराजस्व में कमी कर दी जाए और महाजन-व्यापारी पर रोक लगाई जाए, क्योंकि वह उनका उत्पीड़न भी करता था और उनके साथ स्पर्धा भी करता था।

(*ii*) छोटे और बर्बाद हुए भूस्वामी जिनकी बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति में उन्हें एक बड़े स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन और 1920 और 1930 के दशकों में किसान आंदोलनों में भी भागीदारी करने को विवश किया था, और गांवों में जिनकी स्थापित सामाजिक हैसियत और अपेक्षाकृत शिक्षा के उच्च स्तर ने इन आंदोलनों के नेतृत्व को अपने हाथों में लेने योग्य बना दिया था। यहां यह बताना रुचिकर होगा कि 1935-36 में जब बिहार के किसान नेता, स्वामी सहजानंद भारती, ने जमींदारी उन्मूलन के कार्यक्रम को स्वीकार किया, तो उन्होंने यह घोषणा भी की कि केवल बड़े जमींदार ही जमींदार थे जबकि छोटे जमींदार किसान थे।[52] इससे पहले उन्होंने समाजवादी बहुमत से पारित किए गए प्रस्ताव के विरोध में बिहार किसान सभा की कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया था जिसमें जमींदारी उन्मूलन की मांग की गई थी। त्यागपत्र का आधार यह था कि इससे किसान सभा के वे समर्थक नाराज हो जाएंगे जो छोटे जमींदार और बड़े किसान थे।[53]

(*iii*) मध्यम और बुद्धिजीवी वर्गों के पेशेवर और दूसरे सदस्य जो गांवों के आसपास छोटे कस्बों में काम करते थे, जो अकसर छोटी भूमि के स्वामी होते थे और जिनके साहूकाराना संबंध भी थे और जो इन ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय आंदोलन की रीढ़ की हड्डी बने हुए थे।

(*iv*) व्यापारी और महाजन जिनका वाणिज्यीकरण शोषण, सूदखोरी और लगान वसूल करने के माध्यम से किसानों के साथ प्रत्यक्ष संबंध था।

(*v*) एक संपत्तिवान समूह के रूप में बुर्जुआ वर्ग की सहज प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति कभी भी परिवर्तनवादी नहीं होती, क्रांतिकारी होने की तो बात ही अलग है।

इस तथ्य ने कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन चुनावी राजनीति और वह भी आबादी के दस से लेकर 15 प्रतिशत संकीर्ण चुनावी आधार पर बहुत अधिक भरोसा करता

था, उसे इन वर्गों और श्रेणियों पर निर्भर रहने के लिए विवश कर दिया। विशेषकर, ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश मतदाता धनी किसान और छोटे भूस्वामी थे। दूसरी ओर, गरीब काश्तकारों और कृषि मजदूरों को मत देने का अधिकार नहीं था।

(2) राष्ट्रीय आंदोलन की दूसरी प्रमुख कमजोरी यह थी कि विशुद्ध रूप से सरकार-विरोधी मांगों के स्तर पर भी किसान आंदोलन को पनपने की अनुमति नहीं दी गई। आंदोलन को कुछ विशेष वर्गों की विशेष मांगों तक ही सीमित रखने का प्रयत्न किया गया और उन्हें इस ढंग से उठाया गया ताकि तत्काल राहत प्राप्त की जा सके। संयुक्त प्रांत के बाहर कांग्रेस की अगुआई में चलाए जा रहे किसान आंदोलनों को विस्तृत रूप से संगठित नहीं किया गया क्योंकि वहां भी उन्हें इस उद्देश्य के तहत चलाया जा रहा था कि एक विशेष वर्ग के लिए राहत प्राप्त की जा सके। चंपारन और केरा के आंदोलनों का क्षेत्र बहुत सीमित था, हालांकि वे राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण थे। 1921 में, गुंटूर में 'लगान अदा न करने' के अभियान को बड़ी तेजी से दबा दिया गया। 1928 में बारदोली सत्याग्रह को उसके नेता, सरदार पटेल द्वारा गैर-राजनीतिक घोषित किया गया।[54] 1937 के बाद, कांग्रेस के भूमि-संबंधी कार्यक्रम के समर्थन में किसानों के प्रदर्शनों को संगठित करने के प्रयत्नों पर भी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने नुकताचीनी की।[55] इसके अतिरिक्त, यह आकस्मिक नहीं था कि गांधी और कांग्रेस ने कोई भी ऐसा अभियान नहीं चलाया जिसमें सामान्य कर अदा न करने के लिए कहा गया था।

(3) तीसरे, कृषि मजदूरों की राजनीति और राजनीतिक तथा वर्ग चेतना पर धनी किसानों और भूस्वामियों की राजनीति, राजनीतिक और वर्ग चेतना छाई हुई थी।

इस प्रकार ग्रामीण गरीबों के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय एकीकरण के दोनों पहलुओं की अवहेलना की गई। राष्ट्रीय नेतृत्व के राष्ट्र के सिद्धांत को शहरी बुर्जुआ वर्ग के हितों और राजनीतिक और उसके 'काश्तकारों' के सिद्धांत को भूस्वामियों और उदीयमान ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग के हितों और राजनीति के अधीन कर दिया गया।

(घ) राष्ट्रवाद अथवा साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के स्तर पर भी राष्ट्रीय एकीकरण के भारतीय राष्ट्रवादी नमूने की प्रमुख कमजोरियां सामने आईं।

(*i*) चूंकि किसानों की वर्ग मांगों को नहीं उठाया गया और ज्यादातर साम्राज्यवाद-विरोधी अपील पर भरोसा किया गया, इसलिए सिवाय उन क्षेत्रों में जहां कुछ समय के लिए कम्युनिस्टों की अगुआई में किसान आंदोलन चलाए गए, संघर्ष में किसानों की भागीदारी अपेक्षाकृत कम रही। सरकारी दमन के मद्देनजर यदि यह आंदोलन लंबे समय तक जारी रहता तो धनी किसान को बहुत नुकसान उठाना पड़ता। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी भी राष्ट्रवादी आंदोलन को, जो मुख्यतः शहरों पर आधारित था, उसे एक या दो वर्षों से अधिक जारी नहीं रखा जा सका।

इसलिए, बड़े स्तर पर किसानों की प्रभावकारी भागीदारी के अभाव में, किसी

भी चरण में राष्ट्रवादी आंदोलन 'दबाव-समझौता-दबाव' अथवा पी.सी.पी. की रणनीति से आगे नहीं बढ़ सका।[56] और अकसर सरकार पर दबाव बनाने के लिए इस रणनीति को कार्यान्वित करना भी मुश्किल हो गया।

(*ii*) कुछ क्षेत्रों में, किसान भूस्वामी और किसान-व्यापारी-महाजन के अंतर्विरोधों के साथ-साथ जातीय और धार्मिक भेदभाव भी मौजूद थे। इससे सांप्रदायिक और जातीय शक्तियों को वर्गीय और आर्थिक आधार पर समर्थन प्राप्त करने में सहायता मिलती थी, क्योंकि वर्गीय आधार पर की गई अपील, शीघ्र ही धार्मिक अथवा जातीय रंग अख्तियार कर लेती थी। इस प्रकार, पंजाब में पहले वर्षों तक भूस्वामियों, धनी किसानों और औपनिवेशिक अधिकारियों ने कृषि करने वाली जातियों के नाम पर जातिवादी राजनीति की और बाद में, 1937 के पश्चात उन्होंने मुस्लिम सांप्रदायिकता का दामन थाम लिया। व्यापारी-महाजन ने भी हिंदू सांप्रदायिकता का दामन थाम कर अपने हितों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। बंगाल में मुस्लिम काश्तकारों ने, आरंभ में हिंदू भूस्वामियों और महाजनों के विरुद्ध एक धर्म निरपेक्ष किसान आंदोलन चलाने का प्रयास किया, परंतु अंत में उन्होंने बंगाल कांग्रेस के भूस्वामी समर्थक और अत्यधिक कमजोर भूस्वामी-विरोधी राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय नेतृत्व की हिंदुत्व की भावना को देखते हुए मुस्लिम सांप्रदायिकता के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। केरल में 1920-21 का उग्र पट्टेदार आंदोलन भी सांप्रदायिक भावनाओं की भेंट चढ़ गया। महाराष्ट्र, आंध्र और तमिलनाडु में जोतदार और भूस्वामी परस्पर विरोधी जातीय वर्गों में बंट गए और एक दूसरे के सामने आ डटे।

इन सभी स्थितियों में, वर्ग-संघर्ष के तत्वों को सम्मिलित किए बिना किसान और राष्ट्रीय एकीकरण का राष्ट्रवादी ढांचा सफल नहीं हो सकता था। शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा ऐसा न करने का परिणाम यह हुआ कि पंजाब और बंगाल में राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को सफलता नहीं मिली और वहां अंत में, सांप्रदायिक शक्तियों की विजय हुई। केरल, आंध्र उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रांत में और कुछ हद तक संयुक्त प्रांत में इसके बिलकुल विपरीत हुआ, वहां कृषि-संबंधी परिवर्तनवाद पर आधारित राष्ट्रवाद की सांप्रदायिक और जातिवादी ताकतों पर विजय हुई। पंजाब और बंगाल में असफलता के कारण ही अंत में देश का विभाजन हुआ।

इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय एकीकरण केवल वर्ग चेतना के द्वारा ही स्थापित किया जा सकता था और यह कि प्रभावशाली राष्ट्रवादियों की धारणा के विपरीत, साम्राज्यवाद का विरोध करने में किसानों की वर्ग चेतना से भारतीय समाज का विभाजन नहीं हुआ, बल्कि विघटनकारी सांप्रदायिक और जातिवादी विचारधाराओं और आंदोलनों को विरोध करने के लिए केवल वर्ग-चेतना ही एक प्रभावकारी साधान थी। इन्हीं विचारधाराओं और आंदोलनों से साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिलता था। राष्ट्रीय एकता और एकीकरण को वर्ग विभेदों की उपेक्षा करके अथवा

ग्रामीण गरीबों के हितों को ग्रामीण धनी वर्ग के हितों के अधीन करके नहीं बल्कि विभिन्न वर्गों को एकताबद्ध करने के एक सचेत राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित होना था। भारत में, एक अमूर्त, गैर-वर्गीय एकीकरण का कार्यक्रम आधुनिक झूठी चेतना पर आधारित, जिसमें पारंपरिक संस्कृति, मूल्यों और संस्थाओं के तत्व भी सम्मिलित थे, सामाजिक एकीकरण के विकास को रोकने में असफल रहा।

(ङ) यहां इस बात का उल्लेख करना भी जरूरी है कि काश्तकार और किसान आंदोलन भी स्वयं अपने और राष्ट्र के लिए एकीकरण के बेहतर सिद्धांतों को विकसित करने में असफल रहे। किसान वर्ग भी अपने विचारक अथवा बौद्धिक वर्ग अथवा अपना दृष्टिकोण अथवा अपने संगठनकर्ता पैदा नहीं कर पाया। राजनीतिक रूप से जाग्रत किसानों की राजनीति का मार्गदर्शन वामपंथी राष्ट्रवादियों द्वारा किया जाता था जो किसानों को परिवर्तनवादी शहरी युवाओं और छोटे कसबाती बुद्धिजीवियों के साथ एकताबद्ध करने के विचार की चमक दिखाकर एक अस्पष्ट किसान समर्थक कार्यक्रम के तहत राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित करना चाहते थे। यह कार्यक्रम सुधारवादी कदमों अथवा एक विशुद्ध रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम की सीमाओं से आगे नहीं जा सका।

(च) कम्युनिस्ट और दूसरे वामपंथी वर्गों ने किसानों की सामंतवाद-विरोधी मांगों के प्रति एक बेहतर जागरूकता का प्रदर्शन किया, परंतु, वे भी कुल मिलाकर उन्हीं दोनों दिशाओं में असफल रहे जिनमें कि राष्ट्रीय नेतृत्व असफल रहा।

एक हद तक वामपंथियों ने किसानों के बीच राजनीतिक कार्य पर अधिक बल नहीं दिया। वे किसानों में सामंतवाद-विरोधी चेतना उत्पन्न करने और उनकी स्थिति के प्रति उन्हें सचेत करने में असफल रहे। हालांकि उन्होंने किसानों में उदीयमान वर्ग विभेदीकरण और विभाजनों के प्रति अपनी चेतना का प्रदर्शन किया परंतु वे इस विकास का अध्ययन करने अथवा किसानों को, विशेष रूप से बौने जोतदारों और कृषि श्रमिकों को इसके प्रति सचेत करने में असफल रहे। जहां भी किसान आंदोलन उनके मार्गदर्शन में चल रहा था, वहां उन्होंने भूस्वामियों के विरुद्ध किसानों को एकताबद्ध अवश्य किया परंतु वे धनी किसानों अथवा छोटे भूस्वामियों के वर्चस्व से किसान आंदोलन को न बचा सके। जैसा कि 1944 में स्वामी सहजानंद भारती अपने अत्यंत परिवर्तनवादी चरण में महसूस किया : "किसान सभा में अधिकतर मध्यम और बड़े कृषक थे और वे किसान सभा का अपने लाभ के लिए उपयोग कर रहे हैं...."। स्वामी जी अब किसान सभा को खास तौर पर कृषि मजदूरों और गरीब काश्तकारों पर आधारित करने का आग्रह करने लगे।[57]

इसके अतिरिक्त, बंगाल में तेभागा आंदोलन जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर, अब सैद्धांतिक रूप से और कार्यक्रमों में पट्टेदारों, बटाईदारों और कृषि मजदूरों की वर्गीय स्थिति को मान्यता दी गई, तब भी व्यावहारिक रूप से 'किसानों की मांगों

और हितों को लेकर थोड़े से ही आंदोलन और संघर्ष चलाए गए। जिस प्रकार राष्ट्रीय एकता के नाम पर अकसर कांग्रेसी नेतृत्व ने भूस्वामियों के हितों पर काश्तकारों के हितों की कुर्बानी दी उसी प्रकार किसान एकता के नाम पर वामपंथियों ने भी ग्रामीण बुर्जुआ अथवा तुच्छ बुर्जुआ वर्ग के हितों पर ग्रामीण सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा के हितों की बलि दे डाली।

वामपंथियों की एक बहुत महत्वपूर्ण असफलता यह थी कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के ढांचे से बाहर किसानों के रूप में किसानों के आत्म-निर्भर वर्ग संगठन पर तो बल दिया, परंतु, वे किसानों की सामंतवाद-विरोधी और आर्थिक चेतना को साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से जोड़ने में असफल रहे। विशुद्ध रूप से आर्थिक मांगों पर बल देने की उनकी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि उन्होंने किसानों की राजनीतिक भूमिका पर अधिक बल नहीं दिया और इस प्रकार किसान आंदोलन का भी अधिक विकास नहीं हो पाया।

ऐतिहासिक कार्य यह था कि एक साथ ही किसानों की वर्ग मांगों को उठाया जाता और उन्हें अधिक उग्र और साम्राज्यवाद-विरोधी बनाया जाता। यह कहकर आलोचना करना—जैसा कि बहुत से समकालीन और बाद के वामपंथी लेखक करते हैं—कि राष्ट्रीय आंदोलन ने किसान-मांगों के मुकाबले में राष्ट्रवाद को अधिक तरजीह दी थी, अपर्याप्त है और इससे इस बात की व्याख्या नहीं होती कि वामपंथी जो उग्र रूप से सामंतवाद विरोधी होने का दावा करते थे, सिवाय केरल और कुछ हद तक आंध्र को छोड़कर, दूसरे प्रदेशों में क्यों अपना आधार नहीं बना पाए। किसान आंदोलन को साम्राज्यवाद-विरोधी धारा से अलग रखने के प्रयत्न ने स्वयं किसान आंदोलन को कमजोर कर दिया। उदाहरण के लिए, 1921 में, संयुक्त प्रांत में, उदारवादियों का वर्चस्व था।

राष्ट्रवादी असहयोग आंदोलन से किसान आंदोलन को अलग रखने का किसान सभा का प्रयत्न असफल हो गया जिसके परिणामस्वरूप स्वयं उसी का विघटन हो गया, हालांकि उसकी मांगें कांग्रेस समर्थक किसान सभा की मांगों से अधिक उग्र थीं।[58] इसी प्रकार, 1942 में जब बिहार किसान सभा और उसके लोकप्रिय नेता सहजानंद सरस्वती ने राष्ट्रीय आंदोलन विरोधी दृष्टिकोण अपनाया तो बिहार के किसानों में उनके प्रभाव में बड़ी तेजी से गिरावट आई।[59] 1930-34 के दौरान समकालीन राष्ट्रीय आंदोलन के साथ अपने सही संबंध स्थापित न कर पाने के कारण कम्युनिस्ट भी अलग-थलग पड़ गए। वास्तविकता यह थी कि जबकि किसानों की वर्ग मांगों की उपेक्षा करने के कारण राष्ट्रवादी नेतृत्व किसानों को संगठित करने में असफल रहा, वामपंथी भी किसानों की साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं के साथ सही संबंध स्थापित नहीं कर पाए। यहां स्पष्ट रूप से 'दोनों टांगों पर चलने' की नीति सही होती।

IV

1947 के बाद किसान और राष्ट्रीय एकीकरण

1947 के बाद के काल में देश में प्रमुख परिवर्तन आए। देश को राजनीतिक आजादी प्राप्त हुई और अब राज्य-सत्ता पर उन विदेशी शासकों का कब्जा भी नहीं रहा, जो राष्ट्रीय विघटन के तत्वों को बढ़ावा देते थे। परंतु, राष्ट्र के साथ किसानों के एकीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाई और इसलिए वह अब भी जारी है। राष्ट्रीय विघटन की शक्तियां बार-बार सिर उठाती रही हैं जिन्होंने कभी-कभी किसानों के वर्गों को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। वस्तुगत दृष्टि से भी कृषि दिन-प्रतिदिन अधिक राष्ट्रीय हो रही है। प्रभावशाली राजनीतिक नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीवादी विकास के लिए किसानों को संगठित करने का प्रयत्न करता रहा, वह अब एकीकृत करने की वही भूमिका निभा रहा है जो इससे पूर्व साम्राज्यवाद-विरोध ने निभाई थी। अखिल भारतीय राजनीतिक दल, चुनावी प्रक्रिया शिक्षा का प्रसार, आधुनिक संचार माध्यम और एक हद तक अखिल भारतीय किसान संगठन और राष्ट्रीय सेना राष्ट्रीय एकीकरण के मुख्य औजार रहे हैं।

(क) राष्ट्रीय एकीकरण के कार्य के अभी तक कुछ सकारात्मक और अपूर्ण पहलू थे इसलिए उन्हें अधिकांश राजनीतिक दलों और राजनीतिक रूप से सचेत भारतीयों द्वारा समर्थन दिया जा रहा है।

(*i*) भारत को लगातार आर्थिक स्वतंत्रता के लिए और नवउपनिवेशवाद के खतरे के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करना पड़ा। राष्ट्रीय एकता सुरक्षा और राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता का एक बुनियादी पहलू है।

(*ii*) राष्ट्रीय और आर्थिक पुनर्निर्माण केवल एक राष्ट्रीय स्तर पर हो सकता है। भारतीय समाज के विकास की धारणा अभी तक लोगों के दिलों पर अपना प्रभाव छोड़ती है और छोड़ा भी था।

(*iii*) भारत के राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक और संवैधानिक एकीकरण को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक सत्ता को अंत में एक राष्ट्रीय स्तर पर ही हासिल किया जा सकता था और राष्ट्रीय स्तर पर ही उसका उपयोग हो सकता था।

(*iv*) और अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाए तो भूमि सुधारों में ग्रामीण जनता के हितों, ज्यादा मजदूरी, औद्योगिक कीमतों के मुकाबले में कृषि की कीमतों, राज्य-कोष से कर्ज के लिए धन के आबंटन, और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास, विरासत के कानून, स्त्रियों की सामाजिक हैसियत, शिक्षा, रेडियो, फिल्म इत्यादि के लिए सबसे अच्छे तरीके से और सफलतापूर्वक राष्ट्रीय स्तर पर ही लड़ा जा सकता था।

(*v*) समाज के स्तर पर विभाजनकारी शक्तियों जैसे, जाति, सांप्रदायिकता, और

भाषाई झगड़ों ने जहां राष्ट्रीय एकीकरण पर बुरा प्रभाव डाला वहीं उन्होंने आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों, अर्थात, ग्रामीण जनता के विभिन्न वर्गों के वर्ग संघर्षों में भी बाधा उत्पन्न की। उन पर जब भी विजय पानी थी। उदाहरण के लिए, अब भी प्रभावशाली ग्रामीण वर्ग जाति का प्रयोग अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए करते हैं, वे पहले भी ऐसा ही करते थे। जाति के आधार पर भूस्वामियों द्वारा निम्न वर्गों को दबाकर रखा जाता था और इस कार्य में मध्यम और छोटे किसानों की मदद ली जाती थी। अब भी ऐसा ही किया जाता है। ये विभाजनकारी ताकतें आंशिक रूप से इसलिए और शक्तिशाली रही हैं क्योंकि 1947 से पूर्व और उसके बाद किसानों में आधुनिक विचारों को प्रसारित करने और पुराने रूढ़िवादी विचारों और संस्कृति को उखाड़ फेंकने का बहुत कम प्रयत्न किया गया।

(ख) जबकि ऐतिहासिक स्थिति में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य निश्चित रूप से सकारात्मक था, उसे पुराने तरीके से प्राप्त नहीं किया जा सकता था। 1947 के पश्चात धीर-धीरे, राष्ट्र में किसानों के एकीकरण का पारंपरिक तरीका अधिक महत्व हासिल करता जा रहा है। राष्ट्र के भावी एकीकरण को 'एक राष्ट्र और वर्गहीन किसान' के नारे के तहत जारी नहीं रखा जा सकता था, क्योंकि अब एक सामान्य शत्रु का अस्तित्व नहीं था; बल्कि अब एकीकरण की प्रक्रिया तब ही जारी रह सकती थी जबकि राष्ट्र और गांवों दोनों के अंदर नए राष्ट्रीय अथवा आंतरिक शत्रु अथवा शत्रुओं की पहचान कर ली जाती। अब राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को लोकतंत्र वर्ग-संघर्ष, दूरगामी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन और समाजवाद के द्वारा जारी रखना था।

(*i*) अब यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि 1951 से कृषि-विकास का लाभ, मुख्य रूप से धनी और मध्यम किसानों को हुआ है। वर्ग-विन्यास के अतिरिक्त, किसानों को एक एकीकृत वर्ग, एक एकीकृत ग्रामीण समाज और एक गांव अथवा ग्रामीण समाज मानने की धारणा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[60] इसलिए, भारतीय योजना की प्रक्रिया को "ग्रामीण क्षेत्रों के लिए", "समुदाय विकास" के नारे के अंतर्गत आरंभ किया गया वर्ग-सम्मिश्रण की इसी अवधारणा के आधार पर ग्रामीण सहकारी संस्थाओं और पंचायती राज का निर्माण किया गया।[61] इसके अतिरिक्त, ग्रामीण समुदाय के सिद्धांत को सचेत रूप से आगे बढ़ाया गया और उसे ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष के एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम, पंचायती राज, और ग्रामीण सहकारी संस्थाओं को उन धनी किसानों और भूस्वमियों से किसान बने लोगों के हाथों में अपनी स्थिति को मजबूत करने के औजार बनना था जो बालिग मताधिकार के कारण राजनीतिक रूप से अत्यंत शक्तिशाली बन कर उभरे थे।

(*ii*) सब से ज्यादा किसानों के एकल स्वरूप की विचारधारा ने ग्रामीण क्षेत्रों

में वर्ग-संघर्ष के पूर्ण उदय में बाधा उत्पन्न की।

यह विचारधारा 1947 के बाद—1947 से पूर्व की भांति—धनी किसानों और छोटे भूस्वामियों द्वारा उदीयमान सामाजिक श्रेणियों अथवा छोटे, गरीब किसानों, बौने जोतदारों और भमिहीन कृषि मजदूरों पर प्रभुत्व जमाने का औजार बनी। ऊपर खंड II में स्पष्ट की गई किसानों की उस परिकल्पना ने इस तथ्य को छिपा लिया है कि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग, तुच्छ बुर्जुआ वर्ग, अर्ध-सर्वहारा और सर्वहारा में विभाजित करने की शक्तिशाली प्रवृत्ति उभर रही है। वास्तव में, इसी उद्देश्य के लिए ग्रामीण उच्च वर्ग भी अकसर जाति और सांप्रदायिकता की विभाजनकारी विचारधाराओं का प्रयोग करते हैं।

इस संबंध में आजादी से पूर्व और अब की स्थिति में एक महत्वपर्ण अंतर का उल्लेख करना आवश्यक है। उस समय समस्त किसान वर्ग वस्तुगत रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी था, हालांकि विभिन्न किसान श्रेणियों के हित अलग-अलग थे। परंतु, 1947 के बाद विभिन्न कृषक वर्गों और श्रेणियों में कोई भी बात सामान्य नहीं है।

ग्रामीण क्षेत्रों, राज्य विधान परिषदों, सरकारों और केंद्र में भी धनी किसानों की शक्तिशाली स्थिति से (किसानों की संकल्पना से भी उन्हें मदद मिलती है) यह अंदाज लगाया जा सकता है कि कृषि संबंधी सुधारों की गति धीमी क्यों रही और सिवाय केरल और दूसरे छोटे स्थानों को छोड़कर वामपंथी दल कृषि श्रमिकों और बौने जोतदारों को संगठित करने में असफल क्यों रहे?

सभी किसानों का एक वर्ग होने की विचारधारा ने—चाहे उन्हें औपचारिक रूप से धनी, मध्यम और गरीब किसानों में विभाजित किया गया है—अधिकांश वामपंथी दलों को (जिनमें सी.पी.आई., सी.पी.एम. और सी.पी. (एम.एल.) धड़े भी शामिल हैं) किसानों से संबंधित गतिविधि के लिए आधार प्रदान किया है। उनके मतभेद चाहे जैसे भी रहे हों, सामान्यतया उनकी विचारधारा का आधार यही रहा है कि ग्रामीण भारत में मुख्य राजनीतिक कार्य (अथवा समस्त भारत में) सामंतवाद-विरोधी क्रांति लाना और उसे पूरा करना था। इसके परिणामस्वरूप, समस्त वर्गीय आधारों पर किसानों को संगठित करने के प्रयास में ग्रामीण सर्वहारा और अर्ध-सर्वहारा वर्ग के संगठन पर ध्यान नहीं दिया गया; यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई।

इसका एक राजनीतिक और सामाजिक परिणाम यह हुआ कि खेतिहर मजदूरों पर अभी तक रूढ़िवादी राजनीतिक ताकतों का प्रभाव कायम है।

वामपंथियों के विपरीत किसान परितर्वनवादियों ने ग्रामीण वर्गीय ढांचे के प्रति अपनी सहज प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वर्ग-संघर्ष, सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन इत्यादि के स्थान पर समानता के नारे को बुलंद किया है। सत्तारूढ़, राजनीतिक नेतृत्व

ने भी बड़ी तेजी से समानता के इस लक्ष्य को अपनाया है और इस प्रकार कृषि-संबंधी परिवर्तनवाद को किसान नजरिए के दायरे में सीमित कर दिया है। यह नारा, वास्तव में, छोटे और मझोले किसानों, निम्न जाति के खेतिहर मजदूरों और धनी किसानों को भी आकर्षित करता है, जो इसे इस संदर्भ में देखते हैं कि उनकी जीवन शैली और शहरी बुर्जुआ वर्ग, यहां तक कि मध्यम वर्गों की जीवन शैली में कितना अंतर है।

(*iii*) एक वर्ग के रूप में किसानों की परिकल्पना के कारण वामपंथियों ने निम्न जातियों के ग्रामीण गरीबों की ऐतिहासिक समस्याओं की भी उपेक्षा की है; उन्हें समाज के निम्न स्तर पर बनाए रखने में उनकी जाति का प्रयोग किया गया है और अब भी किया जा रहा है। आज इस पहलू को एक 'सामंतवादी अवशेष' के रूप में नहीं लिया जा सकता। यह इस समस्या का एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप है जिसके अंतर्गत धनी किसान और छोटे भूस्वामी खेतिहर मजदूरों, बौने जोतदार बटाईदारों और पट्टेदारों को दबाए रखते हैं। इसी वजह से इन निम्न जातियों से संबंधित बुर्जुआ और तुच्छ बुर्जुआ वर्ग अपनी राजनीति चलाने और अपने हितों को हासिल करने के लिए ग्रामीण गरीबों को संगठित करते रहते हैं। वास्तव में, जैसा कि पहले संकेत दिया गया था, उच्च जाति के लोग भी जाति के प्रयोग द्वारा छोटे और मझोले किसानों को अपने साथ रखने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों प्रकार की बनावटी एकताओं को तोड़ने के लिए जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता है।

(iv) किसानों का राष्ट्र का अंग होने और एक वर्ग होने की परिकल्पना ने गांवों की गरीब शोषित जनता की शहरी क्षेत्रों की शोषित जनता और परिवर्तनवादी बुद्धिजीवियों के साथ भी एकता स्थापित नहीं होने दी। इसके परिणामस्वरूप 1947 से पहले की भांति, भारतीय लोक दल (अथवा बी.एल.डी.) और उसके अनेक संस्करण और अकाली दल जैसी पार्टियां शहरी-ग्रामीण अंतर को कायम रखने का प्रयत्न कर रही हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. एस.जे. पटेल, 1952, पृ. 148.
2. जार्ज ब्लायन, पृ. 102, 119, 122.
3. मनीलाल बी. नानावटी, पृ. 374.
4. भवानी सेन, पृ. 103.
5. *रिपोर्ट आफ दि यूनाइटेड प्राविंसेज जमींदारी एबोलीशन कमेटी*, पृ. 343.
6. इ. स्टोक्स, पृ. 114, पृ. 129-32 भी देखिए.
7. अशोक सेन, टेबल III.
8. बिपन चंद्र, 1972, पृ. 96-99.
9. *आल इंडिया रूरल क्रेडिट सर्वे*, खंड 2, पृ. 167.

10. '*एग्रीकल्चरल लेबर इंक्वायरी, रूरल मैन पावर एंड आक्युपेशनल स्ट्रक्चर*, पृ. 9.
11. एस.जे. पटेल, 1956, पृ. 7.
12. *आल इंडिया रूरल क्रेडिट सोसाइटी*, खंड 2, पृ. 167.
13. एस.जे. पटेल, 1952, पृ. 148.
14. वही.
15. *एग्रीकल्चरल लेबर इंक्वायरी*, खंड 1, परिशिष्ट 7, टेबल I
16. वही, टेबल नं. II
17. जी. कोटोव्हिस्की, पृ. 12.
18. एच.डी. मालवीय, पृ. 107.
19. वही, पृ. 179.
20. एम.जी. रानाडे, अध्याय 10, 11, 12, बिपन चंद्रा, 1966, पृ. 486 और आगे.
21. एम.जी. रानाडे, पृ. 287.
22. देखिए तरलोक सिंह, पृ. 300 और आगे; भवानी सेन, अध्याय 8.
23. देखिए तालिब और मजीद; वी.ए. गांगुली, वी.एस. व्यास और शीला भल्ला.
24. उत्सा पटनायक, 1975, टेबल I.
25. *आल इंडिया डेट एंड इनवेस्टमेंट सर्वे*, 1971-72, खंड 1, टेबल II, पृ. 17 से लिया गया.
26. मूलपाठ की टेबल न. I से लिया गया.
27. उदाहरण के लिए निम्नलिखित टेबल, देखिए :

(क) 1945 में इटली की भूमि की जोतें

जोत का आकार (एकड़ में)	कुल इकाइयों का प्रतिशत	कुल रकबे का प्रतिशत
5 तक	83.3	17.4
5 से 25	13.6	24.2
25 से 125	2.6	23.2
125 से 250	0.3	9.1
250 से 1,250	0.1	17.3
1,250 से अधिक	0.07	8.7

(ख) 1808 में फ्रांस में भूमि की जोतें

जोत का आकार (हेक्टेयर में)	जोतों की संख्या	कुल जोतों का प्रतिशत
छोटी 1 से 10	25,23,713	73.84
मध्यम 10 से 40	7,45,862	21.82
बड़ी 40 से 100	1,11,497	3.47
बहुत बड़ी 100 से अधिक	29,541	0.86

(ग) 1873 में भूमि की जोतें

जोतों का आकार (एकड़ में)	कुल इकाइयों का प्रतिशत	कुल रकबे का प्रतिशत
छोटे मालिक 1 से 100	85.07	12.53
छोटे योमैन 101 से 300	9.55	13.19
बड़े योमैन 301 से 1000	3.74	15.27
स्कैवर 1000 से 3000	0.98	13.74
बड़े भूस्वामी 3000 से अधिक	0.50	27.03
पीयर	0.16	18.24

(घ) 1907 में जर्मनी में भूमि की जोतें

जोतों का आकार(हेक्टेयर में)	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	
	एल्ब के पूर्व में	एल्ब के पश्चिम में
12.5 तक	8.5	22.0
12.5 से 50 तक	22.7	40.0
50 से 250 तक	28.5	30.0
250 से अधिक	. 40.3	8.0

एस.बी. क्लाओ, क्रमशः 326, 322, 319, 323 पर आधारित.

28. प्रस्ताव में आगे कहा गया : किसान सभा के किसानों को संगठित करने के अधिकार को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हुए, कांग्रेस स्वयं को किसी भी ऐसी गतिविधि के साथ संबद्ध नहीं कर सकती जो उसके बुनियादी सिद्धांतों के अनुसार नहीं है और उन कांग्रेसियों की किसी भी ऐसी गतिविधि को बर्दाश्त नहीं करेगी उसे जो किसान सभाओं के सदस्यों के रूप में कांग्रेस के सिद्धांतों और नीति के विरुद्ध वातावारण बनाने में सहायता करते हैं. इसलिए, कांग्रेस प्रादेशिक कांग्रेस कमेटियों से यह आग्रह करती है कि उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए जब भी आवश्यक हो, उनके अनुसार उपयुक्त कार्यवाही करें." "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1938–39" पृ. 16-17.
29. एक परिवर्तनवादी समाजशास्त्री द्वारा इस आलोचना के लिए देखिए डी.एन धनाग्रे, *दि पालिटिक्स आफ सर्वाइवल*, पृ. 49.
30. एम.एच. सिद्दीकी, पृ. 216-17.
31. के.एन. पणिक्कर, पृ. 627.
32. *होम पालिटिकल, डिपाजिट*, फाइल नं. 87, 1921 से उद्धरण, एम.एच. सिद्दीकी में उद्धरित, पृ. 180. इस भाषण के दूसरे पाठांतर के लिए दखिए गांधी, *कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 19, पृ. 352.
33. गांधी, *कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 20, पृ. 106.
34. प्रस्ताव में कहा गया था : "कार्यकारिणी के पास यह शिकायत आई है कि रैयत जमींदारों को भूराजस्व अदा नहीं कर रही है; कार्यकारिणी कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और संगठनों को यह सलाह देती है कि वे रैयत को सूचित करें कि इस प्रकार की गैर-अदायगी कांग्रेस के प्रस्तावों के विपरीत है और वह

देश के हितों के लिए भी नुकसानदायक है. कार्यकारिणी जमींदारों को विश्वास दिलाती है कि कांग्रेस का आंदोलन किसी भी ढंग से उनके अधिकारों पर आक्रमण नहीं करता और वहां भी जहां रैयत की शिकायतें हैं, उन मामलों में कार्यकारिणी की यह इच्छा है कि उन्हें आपसी सलाह मशविरा करके सुलझाया जाए." *दि इंडियन नेशनल कांग्रेस 1920-23*, पृ. 178.

35. उसकी 29 दिसंबर 1931 से 1 जनवरी 1932 तक और 17 और 18 जून 1934 को उसकी बैठकों में पारित प्रस्ताव. *दि इंडियन नेशनल कांग्रेस 1930-34*, पृ. 138 और 184-85.
36. आर. क्रेन, पृ. 59 और एस. गोपाल, पृ. 164.
37. पी. सीतारमैया, पृ. 619-20.
38. देखिए आर. क्रेन, पृ. 86-88 और डब्ल्यु हॉसर, पृ. 95-96, 107.
39. नेहरू, *आटोबायोग्राफी*, पृ. 312 और 232.
40. देखिए एन. गोपाल, पृ. 155-57, आर. क्रेन, पृ. 59-60. गांधी का इमर्शन के नाम *पत्र* भी देखिए 23 मार्च 1931 (*कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 46, पृ. 335).
41. देखिए एस. गोपाल, पृ. 157.
42. वही, पृ. 159.
43. कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन का प्रस्ताव, *दि इंडियन नेशनल कांग्रेस 1934-36*, पृ. 79-80, कांग्रेस चुनाव घोषणापत्र और कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन, 1936 का प्रस्ताव, 'दि इंडियन नेशनल कांग्रेस'. 1936-37, पृ. 5 और 96-97. एस. गोपाल भी देखिए, पृ. 214.
44. एस. गोपाल, पृ. 229; एच.डी. मालवीय, पृ. 66-69; आर. क्रेन, पृ. 102-50; डब्ल्यु हॉसर, पृ. 127.
45. आर. क्रेन, पृ. 102-8, डब्ल्यु हॉसर, पृ. 110-11.
46. नेहरू, *सेलेक्टेड वर्क्स*, खंड 8, पृ. 365.
47. एल फिशर, पृ. 42-43.
48. वही, पृ. 72-73.
49. *हरिजन*, 29 दिसंबर 1951, एच.डी. मालवीय में उद्धरित, पृ. 72-73.
50. एच.डी. मालवीय, पृ. 76; गांधी ने श्रमिकों की सफलता के लिए दो शर्तें रखी थीं : 'श्रमिकों के अपनी ताकत के प्रति सचेत होना आवश्यक था और उनके एक हाथ में सत्य और दूसरे हाथ में अहिंसा का होना आवश्यक था.' मालवीय में उद्धरित.
51. वही, पृ. 75.
52. डब्ल्यु हॉसर, पृ. 100-1.
53. वही, पृ. 99-100.
54. महादेव देसाई, पृ. 42, 102-3; पी. सीतारमैया, पृ. 549.
55. देखिए ऊपर पा.टि. 45, विशेष रूप से देखिए आर. क्रेन, पृ. 104-7.
56. देखिए बिपन चंद्र, 1979.
57. डब्ल्यु हॉसर में, उद्धरित, पृ. 118-19. डी.एल. धनाग्रे भी देखिए, *दि पालिटिक्स आफ सर्वाइवल* पृ. 42.
58. एम.एच. सिद्दीकी, पृ. 13, 127, 186-87.
59. डब्ल्यु हॉसर, पृ. 35, 151, 156.
60. तरलोक सिंह, पृ. 310 और 306; पी.सी. जोशी, 1960 में उल्लेखित सरकारी स्रोत भी देखिए.
61. तरलोक सिंह, पृ.. 309.
62. वही, पृ. 308-09.

ग्रंथ सूची

खंड 1 और 2 के लिए ग्रंथ सूची (भूमि संबंधी ढांचा)

1. एग्रीकल्चरल लेबर इंक्वायरी,
   (क) लेबर एंप्लायमेंट, *अंडर डवलपमेंट एंड लेवल्स आफ लिविंग,* खंड 1, नई दिल्ली, 1954.
   (ख) *रूरल मैनपावर एंड आक्युपेशनल स्ट्रकचर,* नई दिल्ली, 1969.
2. *आल इंडिया डैट एंड इवेस्टमेंट सर्वे,* 1971-72, खंड 1, भारतीय रिजर्व बैंक, 1975.
3. *आल इंडिया रूरल क्रेडिट सर्वे,* खंड 2, बंबई, 1954.
4. पी.एस. आपू (क) *नोट आन लैंड पालिसी एंड नोट आन सीलिंग आन एग्रीकल्चरल होलडिंग्स,* योजना आयोग, भारत सरकार, 1972, मीमियोग्राफ.
   (ख) *टेनेंसी रिफार्म इन इंडिया : इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली,* विशेष अंक, अगस्त 1975, संख्या 33-35.
5. अमियकुमार वाचगी, *रिफ्लेक्शंस आन पैटर्न्स आफ रीजनल ग्रोथ इन इंडिया ड्यूरिंग दि पीरीयड आफ ब्रिटिश रूल,* सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कलकत्ता, मीमियोग्राफ, 1975.
6. जी.एस. भल्ला, *चेंजिंग स्ट्रक्चर आफ एग्रीकलचर इन हरियाणा,* चंडीगढ़, 1975.
7. शीला भल्ला, 'न्यू रिलेशंस आफ प्रोडक्शन इन हरियाणा एग्रीकल्चर', *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली,* मार्च 1976, खंड XI, संख्या 13.
8. एस.बी. क्लाओ, *यूरोपियन इकानामिक हिस्टरी,* न्यूयार्क, 1968.
9. कृष्णा भारद्वाज, *प्रोडक्शन कंडीशंस इन इंडियन एग्रीकल्चर*, कैंब्रिज, 1974.
10. श्री ब्लिन, *एग्रीकल्चरल ट्रैंड्स इन इंडिया,* 1891-1947', पेंसिलवेनिया यूनीवर्सिटी प्रेस, 1966.
11. वी.एम. डांडेकर '*इकानामिक थ्योरी एंड एग्रेरियन रिफार्म,* एम.ए. खुसरो में उद्धरित.
12. एम.एल. दौलतवाला, 'स्माल फारमर्स, नाट स्माल फार्मस, एम.ए. खुसरो में उद्धरित.
13. ए.आर देसाई, (क) *सोशल बैकग्राउंड आफ इंडियन नेशनलिज्म,* बंबई 1959. (ख) *रीसेंट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म,* बंबई. (ग) *रूरल सोशियोलोजी इन इंडिया,* बंबई, 1969.
14. आर. पाम दत्त, इंडिया टुडे, बंबई, 1949.
15. फ्रांसिस आर. फ्रेंकलिन, *इंडियाज ग्रीन रिवोल्युशन,* प्रिंस्टन, न्यू जर्सी, 1971.
16. बी.एन. गांगुली, 'दि इंडियन पीजेंट एज एन एनेलिटीकल कैटेगरी', *सोशियोलाजीकल बुलेटिन,* सितंबर 1974, खंड 23, सं. 2.
17. *भारतीय केंद्रीय जांच समिति की रिपोर्ट,* भारत सरकार, 1971.
18. पी.सी. जोशी, (क) '*कम्युनिटी डवलपमेंट प्रोग्राम : ए रीजनल इंक्वायरी*, नं. 3, 1960, दिल्ली.ए. एम. सुखरो में भी उद्धरित.
   (ख) 'एग्रेरियन सोशल स्ट्रक्चर एंड सोशल चेंज', *इंडियन स्टेटीकल मैगजीन,* सीरीज बी, खंड 31, भाग 3 और 4, 1969.
   (ग) *लैंड रिफार्म्स इन इंडिया,* 1975.
19. ए.एम. सुखरो, संपादक, *रीडिंग इन एग्रीकल्चरल डवलपमेंट,* बंबई, 1968.
20. जी काटोविस्की, *एग्रेरियन रिमार्क्स इन इंडिया,* न्यू दिल्ली, 1964.
21. वूल्फ लेडजिंस्की, *टेनोरियल कंडीशंस एंड दि पैकेज प्रोग्राम,* उपरोक्त ए.एम. खुसरो में.

22. इ.एम.एस. नंबूदिरीपाद, *इकानामिक्स एंड पालिटिक्स आफ इंडियाज सोशलिस्ट पैटर्न*, नई दिल्ली, 1966.
23. मनीलाल बी. नानावटी, *मिनिट आफ डाईसेंट, दि फेमीन इंक्वायरी कमेटी कमीशन, फाइनल रिपोर्ट*, मद्रास, 1945.
24. नानावटी और अंजारिया, *दि इंडियन रूरल प्राब्लम*, बंबई.
25. एस.जे. पटेल, (क) *एग्रीकल्चरल लेबरर्स इन माडर्न इंडिया एंड पाकिस्तान*, बंबई 1952.
(ख) 'डिस्ट्रीब्यूशन आफ नेशनल इनकम आफ इंडिया', *इंडियन इकानामिक रिव्यु*, खंड III, संख्या 1, 1956.
26. उत्सा पटनायक, (क) कैपीटलिज्म इन एग्रीकल्चर', *सोशल साइंटिस्ट* नं. 2 और 3, सितंबर और अक्तूबर 1972. (ख) "कंट्रीब्युशन टु दि आउटपुट एंड मार्केटेबिल सरप्लस आफ एग्रीकल्चरल प्राडक्ट्स बाई कलटीवेटिंग ग्रुप्स इन इंडिया 1960-61", *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली*, 27 दिसंबर 1975, खंड 10, नं. 52.
27. के.एन. राज, 'ओनरशिप एंड डिस्ट्रीब्युशन आफ लैंड', *इंडियन इकानामिक रिव्यु*, अप्रैल 1970, खंड V (न्यू सीरीज) नं. 1.
28. सी.एच. हनुमंता राव, 'सोशियो पालिटिकल फैकटर्स इन एग्रीकल्चरल पालिसीज, *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली*, विशेष नंबर, अगस्त 1974, खंड 9, नं. 32-34.
29. *रिपोर्ट आफ दि यूनाइटेड प्रोविंसेज जमींदारी ऐबोलीशन कमेटी*, इलाहाबाद, 1948.
30. अशोक सेन, *प्रापर्टी, लेबर एंड इंटरप्राइज इन बंगाल्स एग्रीकल्चर* (1860-1900), सिनापसिस', नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, मिमियोग्राफ.
31. भवानी सेन, *इबोल्यूशन आफ एग्रेरियन रिलेशंस इन इंडिया*, न्यू दिल्ली, 1969.
32. एरिक स्टोक्स, 'दि स्ट्रक्चर आफ लैंड होलडिंग इन उत्तर प्रदेश 1860-1948', *दि इंडियन इकानामिक एंड सोशल हिस्टरी रिव्यु*, अप्रैल-जून 1975, खंड XII, नं. 2.
33. तालिब और मजीद, 'दि स्माल फारमर्स आफ पंजाब', *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली*, 26 जून 1976, खंड 11, नं. 26.
34. वी.एस. व्यास, 'स्ट्रकचरल चेंज इन एग्रीकल्चर एंड दि स्माल फार्म सेक्टर', *इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली*, 10 जनवरी 1967, खंड XI नं. 1 और 2.

खंड 3 और 4 की ग्रंथ सूची
(कृषक वर्ग और राष्ट्रीय एकीकरण)

35. हमजा अलवी, *पीजेंट्स एंड रिवोल्युशन*, सोशलिस्ट रजिस्टर 1965, संपादक राल्फ मिलिबैंड और जान सैवील, लंदन, 1965.
36. बालाबोशेविक और डयाकोव, *ए कंटेंपोरेरी हिस्टरी आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1964.
37. बिपन चंद्रा, (क) *दि राइज एंड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया*, नई दिल्ली, 1966.
(ख) इस खंड में "ब्रिटिश एंड इंडियन आइडियाज आन इंडियन इकानामिक डवलपमेंट, 1858-1905," *स्टडीज इन माडर्न इंडियन हिस्टरी* में भी नं. 1, बी.आर. नंदा और वी.सी. जोशी द्वारा संपादित, नई दिल्ली, 1972.
(ग) *एलीमेंट्स आफ कंटीनुइटी एंड चेंज इन दि अर्ली नेशनलिस्ट्स एकटीविटी*, इसी खंड में, और *स्टडीज इन हिस्ट्री* में भी, खंड 1, नं. 1, 1979.

38. राबर्ट क्रेन, *दि इंडियन नेशनल कांग्रेस एंड दि इंडियन एग्रेरियन प्राब्लम, 1919-1930, ए हिस्ट्रोरीकल स्टडी*, अप्रकाशित पी-एच.डी. शोध, येल यूनिवर्सिटी, 1951, माइक्रोफिल्म.
39. महादेव देसाई, *दि स्टडी आफ बारदोली*, अहमदाबाद, 1957.
40. डी.एन. धनाग्रे, (क) *दि पालिटिक्स आफ सर्वाइवल* : पीजेंट्स आर्गेनाइजेशन्स एंड दि लेफ्ट विंग इन इंडिया, 1925-46, सोशियोलॉजिकल बुलैटीन, खंड 24, नं. 1 मार्च 1975.
(ख) *ऐग्रेरियन मूवमेंट्स एंड गांधीयन पालिटिक्स*, इंस्टीच्यूट आफ सोशल स्टडीज', आगरा यूनीवर्सिटी, आगरा, 1975.
41. एम.के. गांधी, *कलेक्टेड वर्क्स*, अहमदाबाद.
42. एस. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू, ए. बायोग्राफी*, खंड 1, लंदन, 1975.
43. वाल्टर हॉसर, *दि बिहार प्राविंसीयल किसान सभा, 1929-1942*, अप्रकाशित पी-एच.डी. शोध, शिकागो विश्वविद्यालय, 1961 माइक्रोफिल्म.
44. *इंडियन नेशनल कांग्रेस : रिजोल्यूशंस आन इकानामिक्स पालिसी, प्रोग्राम एंड एलाइड मैटर्स*, 1924-1961, नई दिल्ली, 1969.
45. इंडियन नेशनल कांग्रेस रिजोल्यूशंस पास्ड बाई दि कांग्रेस, दि आल इंडिया कांग्रेस कमेटी एंड दि वर्किंग कमेटी ड्यूरिंग 1920-23, 1930-34, 1936-38, 1938-39', इलाहाबाद.
46. के.बी. कृष्णा, *प्राब्लम्स आफ माइनोरिटीज*, लंदन, 1939.
47. एच.डी. मालवीय, *लैंड रिफार्म्स इन इंडिया*, नई दिल्ली, 1954.
48. इ.एम.एस. नंबूदिरीपाद, *दि नेशनल क्वैश्चन इन केरल*, बंबई, 1952.
49. जवाहरलाल नेहरू, *एन आटोबायोग्राफी*, बंबई, 1962 और *सलेक्टेड वर्क्स* एस. गोपाल द्वारा संपादित.
50. एस.एम. पांडे, *दि इमर्जेंस आफ पीजेंट मूवमेंट्स इन इंडिया : ऐन एरिया स्टडी, इंडियन जनरल आफ इंडस्ट्रीयल रिलेशंस*, खंड 7, नं. 1, जुलाई 1971.
51. के.एम. पणिक्कर, 'पीजेंट रिवोल्ट्स इन मालाबार इन दि नाइनटींथ एंड ट्वेंटीएथ सेंचुरीज', संपादक, ए.आर. देसाई, *पीजेंट स्ट्रगल इन इंडिया* में, दिल्ली, 1979.
52. टी. रामकृष्णा, *किसान मूवमेंट इन इंडिया*, नेहरू म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली, *मीमियोग्राफ.*
53. एम.जी. रानाडे, *एसेज इन इंडियन इकानामिक्स*, बंबई 1898.
54. एम.ए. रसूल, *ए हिस्टरी आफ दि आल इंडिया किसान सभा*, कलकत्ता, 1974.
55. मजीद हयात सिद्दीकी, *ऐग्रेरियन अनरैस्ट इन नार्थ इंडिया*, नई दिल्ली, 1978.
56. तरलोक सिंह, *इंडियाज रूरल इकानामी एंड इट्स इंस्टीट्यूशनल फ्रेम वर्क : ए. रीएकजामीनेशन स्टीडीज इन इंडियन इकानामिक्स* में जे.पी. भट्टाचार्य द्वारा संपादित, बंबई, 1958.
57. पट्टाभि सीतारमैया, *हिस्टरी आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस*, खंड I, इलाहाबाद.

अध्याय तेरह

तिलक

किसी लोकप्रिय नायक की जीवनी लिखना सदा ही एक कठिन कार्य होता है। लेखक में बड़ी सरलता से नायक का गुणगान करने अथवा उसके दोषों को उजागर करने की प्रवृत्ति आ जाती है। इसलिए तिलक जैसे महान देशभक्त के बारे में वस्तुनिष्ठ होकर लिखना और भी कठिन हो जाता है। जिस पुस्तक* की हम यहां समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं उसे महाराष्ट्र के दो अंग्रेजी के प्राध्यापकों द्वारा लिखा गया है। उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है, हालांकि यह पूर्णतया एक सफल प्रयास नहीं है। उन्होंने इस पुस्तक में एक ऐसे व्यक्ति के जीवन के संबंध में वस्तुनिष्ठता और उत्साह के साथ लिखा है, जिसे निश्चय ही भारतीय राष्ट्रवाद का जनक कहा जा सकता है।

आज तक लिखी गई तिलक की जीवनियों में संभवतः यह सर्वाधिक उपयुक्त जीवनी है। लेखक, इस पुस्तक में, इस तथ्य की व्याख्या करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक का सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने इस बात पर सर्वाधिक बल दिया कि जनसाधारण द्वारा की गई राजनीतिक कार्यवाही से ही भारत पर अंग्रेजों की पकड़ ढीली हो सकती है। वे यह संकेत करते हैं कि "तिलक को विश्वास था कि हमारे राजनीतिक संघर्ष का केंद्र बिंदु हमारी जनता की संगठित शक्ति थी, जिसकी नौकरशाही द्वारा किए गए प्रत्येक अन्याय के विरुद्ध लड़ाई में अभिव्यक्ति होती थी।" अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत करते हुए 1890 के दशक के आरंभ में एक जननायक के रूप में तिलक ने अपने सामने जनता को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाने का लक्ष्य रखा। वे उस समय के लोकप्रिय प्रश्नों पर व्यापक आंदोलन द्वारा जनसाधारण को भारतीय राजनीति में लाना चाहते थे। दिन प्रति दिन *केसरी* और *मराठा* में संपादकीय लेख लिखकर वे जनता तक कांग्रेस का संदेश पहुंचाते थे; और बंगाल के विभाजन के विरुद्ध आंदोलन के अनुभव के पश्चात उन्होंने लिखा : "जनता को संघर्ष के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए छेड़ा जाएगा, और यह तब ही हो सकता है जब संघर्ष में उनकी भागीदारी कराई जाए।"

इसके अतिरिक्त, तिलक को जनसाधारण और उनकी राजनीतिक गतिविधि में अटूट विश्वास था। राजनीतिक चिंतन और कार्यवाही में उनका मार्गदर्शन करते हुए उन्होंने कभी भी एक निर्णायक की भूमिका नहीं निभाई। इस संबंध में, अरविंद घोष

---

*ज़ी.पी. प्रधान तथा ए.के भागवत, 'लोकमान्य तिलक'—ए बायोग्राफ़ी, बंबई, 1959.

के रहस्यात्मक राष्ट्रवाद के विपरीत, वे एक युक्तियुक्त, लोकतांत्रिक राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे, जो जनता में उनके विश्वास और उसके प्रति प्रेम पर आधारित था; और इसी वजह से उनका राष्ट्रवाद कभी भी क्षणिक विफलताओं से हतोत्साहित नहीं होता था। वे प्रत्येक विफलता को जनता के राजनीतिक शिक्षण के रूप में लेते थे।

इससे तिलक और उदारवादियों के मध्य अंतर स्पष्ट होता है। जनसाधारण के प्रति तिलक ने जो कार्य-पद्धति अपनाई थी उदारवादी उसका विरोध करते थे। बुनियादी तौर पर तिलक और उदारवादियों में राजनीतिक कार्यवाही के तरीकों और लक्ष्यों के प्रश्न पर मतभेद नहीं था। जैसा कि तिलक ने बार-बार संकेत किया कि उनके लक्ष्य समान थे; और तिलक भी, सामान्य रूप से, संवैधानिक तरीकों में विश्वास करते थे। जहां तक बलिदान और साहस का संबंध में है जी.के. गोखले तिलक से रत्ती भर भी कम नहीं थे। परंतु, गोखले का जनता में विश्वास नहीं था, उन्हें डर था कि किसी भी जन आंदोलन से अंग्रेज सरकार क्रोधित हो जाएगी और इसका परिणाम मौजूदा राजनीतिक आंदोलन का विनाश होगा। इसके विपरीत, जनता की कार्यवाही की ताकत में तिलक को अनंत विश्वास था। उन्हें विश्वास था कि एक जन आंदोलन के अनुचित दमन का परिणाम भारतीय जनता को और अधिक जाग्रत करना होगा, और इससे एक उग्र राजनीतिक संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा। इस प्रकार नरमपंथियों ने एक विदेशी सरकार पर दबाव डालने के लिए आंदोलन किया, जबकि तिलक ने जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करने और सक्रिय बनाने के लिए कार्य किया, अथवा जैसा कि लेखकों ने संकेत दिया है, "तिलक जनता और बहुमत की ओर देखते थे, जबकि उदारवादी जनता की जागृति से उत्पन्न होने वाली शक्ति से भयभीत थे।" इसी वजह से तिलक की कार्यवाहियों अथवा उनकी और महात्मा गांधी की नैतिकता की जो तुलना की जाती है—और ऐसा प्रधान और भागवत ने भी किया है—वह यदि भ्रामक नहीं तो अप्रासंगिक अवश्य है। तिलक के विचार में साधन अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं थे। वास्तविक प्रश्न यह था कि क्या वे उस नैतिक लक्ष्य अर्थात, जनता में जागृति लाने के लिए उपयुक्त थे। वो सभी साधन "जो संभवतः नए तत्वों को कमजोर करते थे और नई चिंगारियों को बुझाते थे," उनकी दृष्टि में बुरे थे।

इसके साथ ही, जनसाधारण के संबंध में तिलक की धारणा अपर्याप्त थी, हालांकि वह उस समय के लिहाज से सबसे अधिक प्रगतिशील थी। यही वह तथ्य है जिस पर प्रकाश डालने में प्रधान और भागवत असफल रहे हैं। जनता के संबंध में तिलक की एक व्यापक धारणा थी। उनके विचार में, लोगों में विभेदीकरण नहीं हो सकता था। और चूंकि उस समय राजनीति में भारतीयों का जो वर्ग सक्रिय था वह शहरों का तुच्छ बुर्जुआ वर्ग, ऊंचे स्तर के किसान और छोटे भूस्वामियों का वर्ग था, इसलिए तिलक की नजर में वे ही जनसाधारण थे। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय एकता के प्रति

अत्याधिक जागरूक होने और यह देखने में असफल रहने के कारण कि दलित वर्ग की मांगों को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, ताकि भारतीयों में विभाजन न हो, तिलक ने विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आधार को अपने प्रतिवेदन का मुख्य स्रोत बना कर गलती की। इसमें संदेह नहीं है कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सभी भारतीयों की अधिकांश आर्थिक मांगों को शक्तिशाली ढंग से उठाया। परंतु, वे यह देखने में असफल रहे कि किसानों का भारतीय जनता में भारी बहुमत था, और भूस्वामियों और साहूकारों के माध्यम से विदेशी शासन का बोझ उन्हें ही झेलना पड़ता था। इस प्रकार, प्रारंभिक वर्षों में जब राष्ट्रवाद एक भावना के रूप में अर्धविकसित था और वे आर्थिक समस्याओं को स्पष्ट रूप से देखने में असमर्थ थे तिलक ने राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के लिए 'सहमति की आयु' का विरोध करके और गणपति और शिवजी के त्योहारों का आयोजन करके धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं का सहारा लिया।

तिलक की गतिविधियों के इस चरण और सामाजिक सुधारों के सामान्य प्रश्न के प्रति उनके रवैए पर लेखकों ने विस्तार से प्रकाश डाला है। उस समय की सामाजिक समस्याओं पर तिलक के प्रतिक्रियावादी नजरिए को न्यायसंगत ठहराने के लिए यह कहा गया है कि वे उदीयमान राजनीतिक आंदोलन को विभाजित करना और सामाजिक रूप से रूढ़िवादी वर्गों को अलग करना नहीं चाहते थे। लेखक यह स्वीकार करते हैं कि इसमें कुछ सच्चाई है। वे संकेत करते हैं कि तिलक ने स्वयं 15 सितंबर 1885 के *केसरी* में लिखा था कि तत्काल सामाजिक सुधार लाने के प्रयास समाज में विभाजन लाएंगे और इसके फलस्वरूप राजनीतिक संघर्ष कमजोर हो जाएगा, और यह कि, "हमारी दासता के कारण इतना पतन हो चुका है कि जब तक राजनीतिक स्थिति में सुधार न किया जाए लोगों की सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता, और इसलिए, सामाजिक सुधार पर केंद्रित होना और राजनीतिक सुधार की अनदेखी करना आत्मघाती होगा।" इसके अतिरिक्त, प्रधान और भागवत संकेत करते हैं कि तिलक लोगों को शिक्षित करके, न कि एक विदेशी सरकार के कानूनों द्वारा सामाजिक सुधार आरंभ करने में विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि जनता पर किसी भी प्रकार के सुधार थोपने का प्रयास नेताओं और जनता के मध्य विभाजन को बढ़ावा देगा। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, तिलक ने 31 मई 1887 के *केसरी* में लिखा : "केसरी ने हमेशा हमारे समाज में बुरी प्रवृत्तियों और बुरे रीति-रिवाजों को दोष दिया है और उनकी आलोचना की है। केसरी का सदैव यही मत रहा कि उन्हें धीरे-धीरे हटाया जाए, परंतु इस दृष्टिकोण और मि. मोदक के दृष्टिकोण में अंतर है। उनके विचार में, इनका उपाय केवल कानून है, और हमारे विचार में जनमत की शिक्षा।" फिर 1 नवंबर 1890 की एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने कहा : "सामाजिक सुधार के बारे में बहुत सी बातें की गई हैं। परंतु, हमें यह याद रखना होगा कि हमें जनता

को सुधारना है, और यदि हम स्वयं को उससे अलग कर लेंगें, तो सुधार असंभव हो जाएंगे।"

यह सब सही है, फिर भी यह सामाजिक समस्याओं पर तिलक द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण का पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं है। 'सहमति की आयु' से संबंधित विधेयक का विरोध करते हुए तिलक ने अपने भाषणों और लेखों में हिंदुओं में बाल विवाह से संबंधित तत्कालीन प्रथा का समर्थन किया। अपनी पूर्व स्थिति को कायम रखते हुए, वे विधेयक का समर्थन करने से इनकार कर सकते थे अथवा इस आधार पर उसका विरोध कर सकते थे कि वह भारतीय सामाजिक प्रथाओं में एक विदेशी सरकार का हस्तक्षेप था। इसके बजाए उन्होंने हिंदू धर्मग्रंथों के अपने ज्ञान का सहारा लेकर तत्कालीन प्रथाओं को धार्मिक रूप से सही और आवश्यक बता कर उन्हें न्यायसंगत ठहराया। इस प्रकार, व्यावहारिकता में, तिलक अकसर केवल रूढ़िवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते थे। इस संबंध में तिलक के विद्वान जीवनी लेखकों ने एक सही दिशा अपनाई है। वे संकेत करते हैं कि हालांकि तिलक का अभिप्राय राजनीतिक परिवर्तनवाद, अर्थात, राष्ट्रवाद को मजबूत करना था, व्यवहार में वे स्वयं को समाज सुधारों से अलग रख कर "प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करते थे।" परंतु, यह आवश्यक नहीं था क्योंकि जैसा कि लेखकों ने कहा है कि प्रारंभिक वर्षों में तिलक के एक मित्र और सहयोगी आगरकर, एक राजनीतिक परिवर्तनवादी और एक सामाजिक क्रांतिकारी दोनों थे।

इस संदर्भ में इस पुस्तक के वे पृष्ठ अत्यंत रोचक हैं जिनमें तिलक और आगरकर की तुलना की गई है। यह हमारे लिए एक नई बात है कि अपनी युवावस्था में तिलक एक अज्ञेयवादी और आगरकर एक निरीश्वरवादी थे। संभवतः इसी वजह से आगरकर ने दार्शनिक परिवर्तनवाद अपनाया, और तिलक बाद में रूढ़िवादी हो गए।

जिस ग्रंथ की समीक्षा की जा रही है उसमें आगरकर के बारे में जो कुछ लिखा गया है, उसने हमारी जिज्ञासा को बढ़ाया है और हम यही आशा कर सकते हैं कि इस मराठा लेखक, शिक्षक, पत्रकार, नेता और दार्शनिक की शीघ्र ही अंग्रेजी में एक जीवनी प्रकाशित होगी क्योंकि वे इस योग्य हैं कि महाराष्ट्र से बाहर के लोग भी उनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करें।

इसके साथ ही, प्रधान और भागवत इस तथ्य को भी स्पष्ट करते हैं कि तिलक एक पुनरुत्थानवादी अथवा एक संप्रदायवादी नहीं थे। यह सही है कि 1890 के दशक में उन्होंने पुनरुत्थानवाद को "जनता के विभिन्न वर्गों में जागरूकता लाने के लिए एक शक्तिशाली तत्व के रूप में" प्रयोग किया। उन्होंने 1902 में लिखा : "हमने अपना गौरव, अपनी स्वतंत्रता, अपना सब कुछ खो दिया है। केवल धर्म का खजाना ही हमारे पास बचा है। यदि हम इसे भी छोड़ देंगे तो हम ईसप की कहानियों के उस मूर्ख मुर्गे के समान हो जाएंगे जिसने एक मणि को फेंक दिया था। आज के

संसार में हमारे पास जो कुछ भी है, उसका हमें इस ढंग से प्रदर्शन करना है कि हमें अत्याधिक लाभ हो।" लेकिन जिसका उपयोग तिलक एक दास के रूप में करना चाहते थे, वही कम प्रतिभावान व्यक्तियों के हाथों में पड़कर मालिक बन गया। 1895 में तिलक ने लिखा : "यदि हम अपनी धार्मिक और सामाजिक पूर्वधारणाओं से चिपके रहेंगे और कल्याण के लिए लाभप्रद ज्ञान को अपने मस्तिष्क में प्रवेश नहीं करने देंगे, तो हम कभी उन्नति नहीं कर सकेंगे। यदि हम अपनी दुराग्रह को छोड़ दें, और सावधानी पूर्वक, जहां से भी संभव हो, ज्ञान अर्जित करें, तो हम सही रूप से कार्य करना सीख जाएंगे ....।" वास्तव में, भारतीयों को जागरूक करने के सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थानवाद से बेहतर तरीके मौजूद थे, और इस बात का पहले ही अनुमान लगा लिया जाना चाहिए था कि पुनरुत्थानवाद में मालिक बन बैठने की एक स्पष्ट प्रवृत्ति थी। यह हमारे वर्तमान इतिहास की एक त्रासदी है कि भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण के वर्षों में—अर्थात 1885 से लेकर 1919 तक—राजनीतिक राष्ट्रवाद के साथ-साथ सामाजिक प्रतिक्रिया और राजनीतिक रूढ़िवाद के द्वारा सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। इसके लिए यह तथ्य कहां तक जिम्मेदार था कि उस समय के भारतीय तुच्छ बुर्जुआ वर्ग, जो राजनीतिक रूप से समाज का परिवर्तनवादी तत्व था, की उत्पत्ति अर्ध-सामंती वर्गों, अर्थात छोटे भूस्वामियों और साहूकारों से हुई थी। इसका एक विस्तृत सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण से ही पता लगाया जा सकता है।

एक और विषय में, तिलक को राजद्रोह के लिए दो बार दंडित किए जाने के संबंध में लेखकों ने उनके पूर्व जीवनी लेखकों से अलग दृष्टिकोण अपनाया है, जो उचित है। लेखकों ने अपनी इस पुस्तक में तिलक को 'निरपराध' साबित करने का प्रयत्न नहीं किया। लेखकों ने जस्टिस स्ट्रेची की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने 1897 में तत्कालीन राजद्रोह के कानून का गलत विस्तार किया, वहीं यह भी स्वीकार किया है, बल्कि घोषित किया है कि तिलक राजद्रोह की किसी खास कार्यवाही के दोषी नहीं थे, लेकिन वे राज्य के विरुद्ध असंतोष फैलाने के अवश्य ही दोषी थे। तिलक ने कभी भी इस बात पर विश्वास नहीं किया कि अंग्रेज भारत में एक "दैविक उद्देश्य" लेकर आए थे। राजनीतिक जीवन की शुरुआत से ही तिलक को विश्वास हो गया था कि अंग्रेज भारत में अपने स्वार्थ सिद्ध करने और भारतीयों का शोषण करने के लिए राज्य कर रहे थे। इस वजह से तिलक ने भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के असली रूप को समझाने का प्रयोजन अपने हाथों में लिया। वे इस तथ्य को हमेशा ध्यान में रखते थे कि भारत में मुख्य अंतर्विरोध भारतीय जनता और ब्रिटिश शासन के मध्य है। अंग्रेजों को भारत से निकालने का मन बनाने से पहले भी तिलक की अधिकांश गतिविधियों का झुकाव इसी ओर था। इसलिए, तिलक के विरुद्ध चलाए गए अभियोगों की केवल इस दृष्टि से निंदा नहीं की जानी चाहिए कि वे अन्यायपूर्ण थे, क्योंकि उनसे भारत में ब्रिटिश राज्य

का असली दमनकारी स्वरूप सामने आया।

पुस्तक में एक बड़ी कमी यह नजर आती है कि इसमें तिलक के जीवन की ऐतिहासिक समीक्षा नहीं की गई है। और इससे इस पुस्तक के महत्व में भी कमी आती है। इसमें ऐतिहासिक आख्यानों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से नहीं जोड़ा गया है। भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर तिलक ने अपनी भूमिका उस समय निभाई जब भारत के आर्थिक और वर्गीय ढांचे में जनता की चेतना और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चरित्र में तीव्रता से परिवर्तन हो रहा था। दोनों लेखकों ने इसकी अनदेखी की है। उनकी समीक्षा 'तदर्थ', तार्किक और नैतिक अवश्य है, परंतु ऐतिहासिक नहीं है। तिलक के ज्यादातर कार्यों की आलोचना अथवा निंदा नैतिक दृष्टिकोण से की गई है। उदाहरण के लिए लेखकों ने लिखा है : "तिलक का सदैव यही कहना था कि नैतिकता भारतीय संघर्ष का आधार है और उन्हें भारत की परंपरा पर गर्व था। भारतीय जीवन में नैतिकता व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार थीं।" यहां इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया है कि यह संघर्ष ऐतिहासिक होने के कारण ही नैतिक था। जिस समय भारतीय ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, वे अपने सामाजिक जीवन में अनेक अनैतिक प्रथाओं को जारी रखे हुए थे।—उदाहरण के लिए छुआछूत की प्रथा। लेखकों ने अपने इस गैर-ऐतिहासिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप तिलक के कार्यों की नैतिकता (विशेष रूप से गांधी के उत्तरवर्ती दर्शन और कार्यों की तुलना में) को महामंडित करने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। तिलक वास्तव में स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान जन्मे उन व्यक्तियों में से थे जो एक दृढ़ लोकतंत्रवादी थे। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा की जाए तो उनका जीवन और उनके कार्य गांधीवादी अथवा किसी अन्य कसौटी पर खरे उतरेंगे।

अध्याय चौदह

तानाशाही और लोकतंत्र के सामाजिक स्रोत

डॉ. मूर* ने तुलनात्मक इतिहास के द्वारा समग्र ऐतिहासिक परिस्थिति को, विशेषकर उच्च भूस्वामी वर्ग और किसानों की भूमिका को समझाने का प्रयत्न किया है, जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक लोकतंत्र, फासीवाद और साम्यवाद का उदय हुआ है। यद्यपि उनके अध्ययन में इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका, जापान, चीन और भारत की राजनीतिक घटनाओं की चर्चा की गई है, तथापि यह चर्चा समस्त विश्व के अनुभव (जिसमें जर्मनी, रूस और इटली का अनुभव भी शामिल है) की पृष्ठभूमि में की गई है। हाल के ऐतिहासिक शोध को लोकतंत्र और तानाशाही के परिप्रेक्ष्य से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार यह रचना उसी श्रेष्ठ बौद्धिक परंपरा में है जिसमें मार्क्स, बेबर, टाने, डाब अथवा सी. राइट मिल्स की रचनाएं थीं। दुर्भाग्यवश यह समानता प्रयत्न के स्वरूप तक ही सीमित है, इस प्रयत्न का जो फल निकला है वह संपूर्ण रूप से उतना श्रेष्ठ नहीं है। पुस्तक में अनेक स्थलों पर विलक्षण और मूल्यवान सूझबूझ देखने को मिलती है और अनेक सार्थक प्रश्न भी उठाए गए हैं।

दूसरी ओर जो विस्तृत सामान्यीकरण किए गए हैं वे या तो साधारण स्तर के हैं—कम-से-कम आधुनिक इतिहास के उन्नत विद्यार्थी की दृष्टि में—या पूर्णतः व्याख्यात्मक अथवा भविष्य की घटनाओं के सूचक नहीं हैं। डॉ. मुर ने व्याख्यात्मक शैली की अपेक्षा निश्चयात्मक शैली कम अपनाई है। इसके अतिरिक्त, उनके कमजोर और सशक्त पक्ष क्षेत्रानुसार विभाजित हैं। उन्होंने इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका और किसी हद तक जापान के राजनीतिक विकास का नियंत्रित और सफल विश्लेषण किया है। भारत और चीन से संबंधित अध्याय और टिप्पणियां निराशाजनक प्रतीत होते हैं। कदाचित इसका एक कारण यह हो सकता है कि इन दोनों देशों में ऐतिहासिक शोध की गुणवत्ता और विस्तार इतना नहीं है। जो भी हो, इससे समीक्षक का काम कठिन हो गया है। उनकी रचना में भारत और चीन के विषय में अनेक बातों की गहरी समझ जहां-तहां देखने को मिली है, साथ ही उसमें जो तथ्यात्मक और विश्लेषणात्मक त्रुटियां हैं उनका विवरण और ठोस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनकी मुख्य अवधारणाएं कहां तक अपर्याप्त हैं इसकी व्याख्या, दोनों ही बहुत लंबे हो जाएंगे।

डा. मूर की मूल अवधारणा कुछ इस प्रकार है : लोकतंत्र का भूमि-संबंधी पक्ष इस तथ्य से बहुत अधिक प्रभावित होता है कि किसानों के उच्चतर वर्गों ने समाज

---

* बैरिंगटन मूर, जू. *द सोशल ऑरिजिंस ऑफ डिक्टेटरशिप एंड डेमोक्रेसी*, बोस्टन, 1966.

के पूंजीवादी विकास (जिसे आधुनिकीकरण भी कहा गया है) के प्रति क्या नीति अपनाई और उस नीति का किसानों पर क्या प्रभाव पड़ा? इस प्रक्रिया में, किसानों के पारंपरिक उच्चतर वर्गों की प्रतिक्रिया, मजबूरन, राज्यशाही, कृषि के वाणिज्यीकरण, साधारण किसानों, और शहरी बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध होती है। इंगलैंड में उनका राज्यशाही से विरोध हुआ, उन्होंने स्वयं ही कृषि का वाणिज्यीकरण किया और इस प्रकार क्रमशः स्वयं बुर्जुआ बन गए, किसानों का विनाश किया और उनके स्थान पर पूंजीवादी किसानों और खेतिहर मजदूरों को जन्म दिया, और फिर, एक ओर शहरी बुर्जुआ वर्ग से सांठगांठ की और दूसरी ओर, मज़दूर वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए 19वीं सदी में उससे स्पर्धा की।

फ्रांस में किसानों के उच्च वर्गों को राज्यशाही से संघर्ष नहीं करना पड़ा और उन्होंने दूसरे तरीके से वाणिज्यिक कृषि को अपनाया, इसके लिए उन्होंने किसानों को जमीन पर रहने दिया लेकिन उन्हें अपने उत्पादन का एक भाग देने के लिए विवश किया जिसे वे बाजार में जाकर बेचते रहे। इसके फलस्वरूप 1789 में किसानों ने क्रांति का समर्थन किया और राजा और भूस्वामियों के अभिजात वर्ग के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग से गठजोड़ किया, इस अभिजात वर्ग के समाप्त होने पर लोकतंत्र का सामाजिक रूप निर्मित हुआ। इस प्रक्रिया का यह भी परिणाम हुआ कि किसान बराबर बने रहे, इसीलिए तभी से फ्रांस के लोकतंत्र में बराबर उतार-चढ़ाव आते रहे।

अमरीका में, ऐतिहासिक रूप से किसान वर्ग का अस्तित्व नहीं था और गृहयुद्ध के कारण उस भूस्वामी वर्ग की कमर टूट गई जो दासता की प्रथा पर, अर्थात कृषि क्षेत्र के दमनकारी राजनीतिक नियंत्रण पर, निर्भर करते थे। इसके अतिरिक्त, 'उच्चतर वर्गों की... भारी हिंसा' के परिणामस्वरूप किसानों के सामाजिक स्वरूप का अंत हो गया अथवा उनका बुर्जुआ हितों के लिए उपयोग किया जाने लगा।

जापान में, और जर्मनी में भी, बड़े भूस्वामियों ने राज्यशाही के विरुद्ध संघर्ष नहीं किया और बाजार के लिए उत्पादन करने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया अर्थात, वाणिज्यीकरण को अपना लिया। किसान पर दमनकारी सामाजिक और राजनीतिक नियंत्रण कायम करके उसे अपना मूल पारंपरिक स्वरूप बनाए रखने देकर ऐसा किया गया। नतीजा यह हुआ कि भूस्वामियों और पट्टेदारों पर आधारित भूमि-व्यवस्था विकसित होकर उसने स्थायी रूप ले लिया। इसके साथ ही, भूस्वामियों के उच्च वर्ग ने बुर्जुआ वर्ग से सांठगांठ कर ली, जिनका काफी विकास हुआ था लेकिन जिनमें भूस्वामियों के विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति नहीं थी। दोनों ने मिलकर शीर्ष से प्रतिक्रियावादी आधुनिकीकरण आरंभ किया और विगत से बलात् संबंध नहीं तोड़ा। आबादी में किसानों की संख्या भी कम नहीं हुई क्योंकि औद्योगिक प्रयत्न कमजोर रहे। फलतः जर्मनी में बिस्मार्क का और जापान में मेजी का वर्चस्व हुआ।

उपर्युक्त दोनों ही देशों में निरंकुशता की आरंभिक स्थिति निर्मित हुई : शहरी

और ग्रामीण उच्चतर स्तर के हित किसानों और मजदूरों के हितों के विरुद्ध आपस में मिल गए और दोनों ने राजनीतिक गठजोड़ करके व्यवस्था और स्थायित्व को कायम किया। बाद में, जब भारी मंदी से शांति और व्यवस्था को खतरा हुआ, दोनों ही देशों ने, भूस्वामियों और अमीर किसानों को प्रतिक्रियावादी लक्ष्य के आधार पर आकर्षित करके और राजनीतिक प्रणाली में घुसे हुए उच्च ग्रामीण वर्गों, सशस्त्र सेना, और अफसरशाही का उपयोग करके फासीवाद को अपनाया।

किसानों और शहरी निम्नवर्गों को संगठित करने और उनका समर्थन प्राप्त करने में एक सफल साम्राज्यवादी आक्रामक विदेशी नीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। डॉ. मूर के अनुसार, इस प्रकार, जापान और जर्मनी ने, हिंसक बुर्जुआ क्रांति से बचने की जो कीमत अदा नहीं की थी, उससे कई गुनी कीमत उन दोनों देशों और शेष विश्व को, कई वर्षों बाद चुकानी पड़ी। यहां यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज की दुनिया में फासीवाद से बचने का कारण यह भी हो सकता है कि अब दूसरे देशों के विरुद्ध युद्ध में होने वाली विजय को उतना गौरवपूर्ण माने जाने की संभावना कम है। इसका एक उदाहरण यह है कि वियतनाम में सैनिक विफलता के फलस्वरूप अमरीका में बहुत विपरीत प्रतिक्रिया नहीं हुई। दूसरा उदाहरण यह है कि 1965 के भारत-पाक युद्ध के गतिरोध की वजह से देर से उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप अयूब शासन का पतन हो गया। भारत में भी ऐसी ही सफलता न मिलने से उत्पन्न स्थिति से फासीवादी राजनीतिक शक्तियों को भी ऐसी ही चेतावनी मिली है।

इस प्रकार डॉ. मूर ने बड़े प्रभावशाली ढंग से ये प्रदर्शित किया है कि पूंजीवादी समाजों ने जो राजनीतिक रास्ता चुना उसमें भूमि-संबंधी समस्या के समाधान के स्वरूप की क्या भूमिका रही। यह तो स्पष्ट है कि कोई भी दमनकारी लगान वसूल करने वाला भूस्वामी वर्ग राजनीतिक लोकतंत्र को पूरी तरह काम करने नहीं देता—यदि लोकतंत्र का यह अर्थ लिया जाए कि अपनी संख्या अधिक होने के कारण, मताधिकार तथा संघ बनाने के अधिकार आदि का प्रयोग करके किसान भूस्वामित्व और भूमि पर लगान की अदायगी तथा भूमि पर भूस्वामी के नियंत्रण के आधार पर ही आक्रमण करता, जैसा कि होना अनिवार्य भी था। इसी प्रकार, उनका यह कहना भी सही है कि जब तक कृषि में पूंजीवाद का पूर्णतः प्रवेश नहीं होता और उसके परिणामस्वरूप दमनकारी भूस्वामित्व का अंत नहीं होता, तब तक बुर्जुआ और भूस्वामी के गठबंधन से निरंकुशवाद का खतरा बना रहता है।

इस प्रश्न का दूसरा पक्ष यह है कि क्या गांव में गैर-आर्थिक क्षेत्रों में भूस्वामियों का प्रभुत्व रहता है अथवा क्या किसानों ने इस प्रभुत्व का सफलतापूर्वक अंत कर दिया है? लेकिन, डॉ. मूर के समान हम इस प्रश्न को यहीं नहीं छोड़ सकते। ऐसी स्थिति में जो 20वीं सदी के मध्य में भारत में थी, शहरी क्षेत्र में जब ग्रामीण श्रमिकों

को शरण देने की क्षमता सीमित हो, यह संभावना नहीं रहती कि गांवों का पूंजीवादी वर्ग राजनीतिक लोकतंत्र का समर्थन करेगा जैसा कि ब्रिटेन के पूंजीवादी किसानों ने किया था। इस बात की संभावना अधिक है कि दमनकारी भूस्वामियों के रूप में उन्हें खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों के संगठन या मतपेटी तक पहुंच से खतरा मालूम होगा। दूसरे शब्दों में, इसमें संदेह है कि कृषि में पूंजीवाद के प्रसार से आज के भारत में लोकतंत्र मजबूत होगा, जब तक कि हम यह कल्पना न करें कि शहरी पूंजीपतियों और गांव के गरीबों के बीच लंबे समय तक राजनीतिक गठबंधन कायम रहेगा।

दुर्भाग्यवश, डॉ. मूर ने फासीवाद में भूमि-संबंधी ढांचे की भूमिका को दिग्दर्शित करने के लिए पिछले दो सौ वर्षों में पूंजीवाद में हुए परिवर्तनों की भूमिका को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया है, बल्कि उसका विकृत रूप प्रस्तुत किया है। जर्मनी और जापान में फासीवाद का उदय सामंतवाद के अवशेषों की प्रतिक्रिया स्वरूप इतना नहीं हुआ, यद्यपि उसे थोड़ा जन-समर्थन और अफसरशाही सेना तथा भूस्वामियों का समर्थन अवश्य मिला क्योंकि भूमि क्रांति के द्वारा, अथवा विघटित हो रहे एकाधिकारी पूंजीवाद के राजनीतिक साधन के रूप में, कृषि क्षेत्र में पूंजीवाद के विकास के द्वारा भूस्वामियों का सफाया नहीं हुआ था। डॉ. मूर ने यह अवश्यक कहा है कि फासीवाद का उदय तभी होता है जब पूंजीवाद अपने कार्य में विफल होता है अथवा अपने आंतरिक तनावों को नहीं सुलझा पाता है। साथ ही फासीवाद से सबसे अधिक लाभ जर्मनी और जापान के एकाधिकारी पूंजीपतियों को हुआ और फासीवादी आंदोलनों के उन्मूलनवादी दक्षिणपंथियों का, जिनसे प्रमिगामी भूस्वामी आकर्षित थे, विजयी फासीवादी शासनों ने तुरंत सफाया कर दिया।

दूसरे संदर्भों में, डॉ. मूर ने बार-बार यह बात दोहराई है कि किसी आंदोलन के चरित्र का मूल्यांकन उसके नेताओं अथवा उसके भागीदारों के आधार पर नहीं वरन उसके लाभार्थियों के आधार पर होता है। उनके शब्दों में : 'एक शब्द में, असल बात यह नहीं कि कौन लड़ता है, बल्कि असल बात यह है कि लड़ाई किस बारे में होती है।' इसी आधार पर डॉ. मूर ने इंगलैंड, फ्रांस और अमरीका की क्रांतियों का बुर्जुआ क्रांतियों के रूप में चित्रण किया है। लेकिन फासीवाद का चित्रण उन्होंने इस आधार पर आरंभ नहीं किया है। एकाधिकारी पूंजीवाद की भूमिका को कम करके आंकना आश्चर्यप्रद है। जबकि हम देखते हैं कि उनके विश्लेषण में एक अन्य सामान्यीकरण स्पष्ट देखने को मिलता है, और वह यह है कि राजनीतिक लोकतंत्र तभी पैदा होता और कायम रहता है जब पूंजीवाद अपने पीछे निचले स्तर के वर्गों को संगठित कर पाता है।

डॉ. मूर की तीसरी अवधारणा किसान क्रांतियों से संबंधित है जिनका उदाहरण चीन (और रूस) है। अब उच्चतर कृषक वर्ग और भूमि से संबंधित अफसरशाही कृषि और उद्योग में वाणिज्यीकरण का निश्चित प्रत्युत्तर नहीं दे पाते और साथ ही

किसानों के विस्तृत समुदाय के प्रचलित सामाजिक संगठन को विनष्ट नहीं कर पाते, जब वे किसानों का तीव्र शोषण करने लगते हैं और इस प्रकार उनके सभी वर्गों में एकता स्थापित होने का अवसर देते हैं, जब देशीय बुर्जुआ वर्ग इतना कमजोर होता है कि वह क्रांति के द्वारा अथवा प्रतिक्रियावाद के तरीके से ऊपर से आधुनिकीकरण नहीं कर पाता, जब भूस्वामियों के उच्च वर्ग का बुर्जुआ वर्ग पर पूरी तरह प्रभुत्व कायम हो जाता है, तब देश का आधुनिकीकरण नहीं होता और संपूर्ण देश विद्रोह करता है।

जबकि फ्रांस में किसान विद्रोह पहले बुर्जुआ वर्ग से जुड़ता है फिर हमला करता है, चीन (और रूस) में किसान कम्यूनिस्ट पार्टी से जुड़ते हैं फिर हमला करते हैं। यहां डॉ. मूर ने, अन्य गलतियों के अलावा, दो गलतियां की हैं। प्रथम, मजदूर वर्ग की भूमिका को शून्य समझा गया है। (फासीवाद के संदर्भ में भी उन्होंने यही किया है)। चीन की कम्यूनिस्ट क्रांति को (और इससे ये ज्यादा रूस की क्रांति को) प्रमुख रूप से किसानों की क्रांति के रूप में देखना एक बड़ी अत्युक्ति है। इससे पता चलता है कि इतिहास को समझने में उन्होंने बड़ी गलती की है।

अपनी पुस्तक के पूर्व भाग में डॉ. मूर ने स्वयं इस तथ्य का विशद वर्णन किया है कि फ्रांसीसी क्रांति के भौतिक और राजनीतिक संघर्षों में किसानों ने और शहरी गरीब वर्ग ने कितनी भूमिका निभाई और परोक्ष रूप से भी यह नहीं कहा है कि इस कारण वह मूलतः किसानों की या शहरी गरीबों की क्रांति थी। निस्संदेह, चीन की क्रांति में किसानों की मुख्य और रूस की क्रांति के पीछे उनकी बड़ी ताकत थी। लेकिन इन क्रांतियों में मजदूर वर्ग की निर्णायक भूमिका को न पहचानना एक ऐसी गलती है जो समझ में नहीं आती।

इसके साथ ही, दो और ग़लतियां हैं जिनमें सटीक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है। इंगलैंड और फ्रांस के अपने विशद अध्ययन के दौरान उन्होंने राजनीतिक घटनाक्रम की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, अर्थात सामाजिक वर्गों, सामाजिक स्तरों और सामाजिक समूहों के संदर्भ में चर्चा की है। उन्होंने किसी अमूर्त राजनीतिक वर्ग या समूह का उस रूप में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है जहां उसका स्वतंत्र स्वप्रायोजित अस्तित्व हो और वह किसी सामाजिक समूह का प्रतीक न हो या फिर उसके हितों का प्रतिनिधित्व न करता हो। उदाहरणार्थ, किसानों के समर्थक अथवा विरोधी अथवा उनका नेतृत्व करने वाले, अथवा उनका उपयोग करने वाले, अथवा उनके सहयोगी के रूप में भूस्वामियों के उच्च वर्ग, अथवा शहरी बुर्जुआ वर्ग अथवा किसी अन्य सामाजिक स्तर के वर्ग को प्रस्तुत किया गया है। किंतु चीनी और रूसी क्रांतियों के संदर्भ में किसानों का कम्यूनिस्ट पार्टी से संबंध स्थापित किया गया है जिसका अमूर्त और शुद्धतः राजनीतिक अस्तित्व बताया गया है और जिसके वर्गीय अथवा सामाजिक आधार अथवा चरित्र का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

दूसरे, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि इंगलैंड और फ्रांस की क्रांतियों और ऐतिहासिक घटनाक्रम के वास्तविक विश्लेषण में सामाजिक शब्दावली के विस्तृत दायरे वाले 'विशिष्ट वर्ग' (elite) शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया गया। यह ठीक ही रहा क्योंकि इस शब्द के प्रयोग से स्थिति स्पष्ट होने के स्थान पर भ्रामक ही होती। हम जानते हैं कि फ्रांसीसी क्रांति के विभिन्न चरणों के विश्लेषण के संदर्भ में इस शब्द के प्रयोग से कितनी भ्रांति पैदा हो सकती है। लेकिन भारत और चीन के राजनीतिक घटनाक्रम के विश्लेषण में, जो कि अपेक्षाकृत कम कठोर है, डॉ. मूर ने इस शब्द का प्रयोग किया है।

डॉ. मूर ने सबसे गंभीर गलती यह की है कि उन्होंने चीन और भारत में साम्राज्यवाद की भूमिका की पूर्णतः अनदेखी की है। उदाहरणार्थ इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि चीनी क्रांति उतनी ही साम्राज्यवाद-विरोधी थी जितनी हमारी थी। 1927 और 1945 के बाद कोमिंटांग की प्रतिक्रिया को (और उससे पूर्व के सैन्यवाद को) शुद्धतः भूस्वामियों पर आधारित प्रतिक्रिया के रूप में देखा गया है। डॉ. मूर के अनुसार, चीनी औद्योगिक प्रयत्नों को देशीय भूस्वामियों ने ही रोका। डॉ. मूर का प्रायः यह विचार रहा है कि मार्क्सवादियों तथा राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवाद को बलि का बकरा बनया है।

यहां अन्य उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना काफी होगा कि साम्राज्यवाद के उल्लेख का लगभग पूर्णतः लोप होने से आधुनिक चीन और आधुनिक भारत के ऐतिहासिक यथार्थ के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश का लोप हो गया है। इसी के परिणामस्वरूप, उन्होंने पश्चिमी अनुभव पर आधारित ऐतिहासिक प्रतिमान का अमूर्त, औपचारिक और यांत्रिक उपयोग किया है, इससे भारत और चीन से संबंधित उनका विश्लेषण निष्प्रयोजन हो गया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने यह नहीं देखा है कि भारत और चीन में पूंजीवादी वर्ग विभाजित था और उसने विभिन्न खंडों में और विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक भूमिकाएं निभाई। इसी प्रकार, कोमिंटांग काल के चीन में तानाशाही केवल बुर्जुआ वर्ग के भूस्वामियों से गठबंधन या उनकी अधीनता पर ही आधारित नहीं थी, वरन इस तथ्य पर भी आधारित थी कि बुर्जुआ और भूस्वामी, दोनों ही वर्ग विदेशी साम्राज्यवाद के अधीन थे।

वास्तव में, हाल के समय में, भूतपूर्व उपनिवेशों में दक्षिणपंथी तानाशाही का यह अनिवार्य आधार रहा है। इसके उदाहरण लैटिन अमरीका, पश्चिम एशिया, दक्षिण कोरिया, और दक्षिण वियतनाम हैं। दूसरी ओर, भारत में राजनीतिक लोकतंत्र के कायम रहने का मुख्य कारण यह है कि वह विदेशी नियंत्रण से अपेक्षाकृत मुक्त है। वे साम्राज्यवाद की भूमिका के अध्ययन में तो विफल रहे ही हैं साथ ही भारत और चीन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी अनभिज्ञ हैं। फलतः, उनके अन्यथा विचारोत्तेजक ग्रंथ में, भारत और चीन की घटनाओं की चर्चा ने एक विषमता पैदा कर दी है।

इसके साथ ही डॉ. मूर के यूरोप और जापान के अध्ययन से संबंधित भाग में पाठक को चिंतन और गंभीर शोध के लिए अनेक उपयोगी दिशाएं मिलेंगी। विशेषकर, उन्होंने भूस्वामित्व के खतरे को इस रूप में देखा है कि वह न केवल आर्थिक विकास अथवा सामाजिक न्याय के मार्ग में बाधक है, वरन उससे राजनीतिक जनतंत्र को संभावित और अनिवार्य खतरा भी है—यह एक सामाजिक विवेचन है। उनकी रचनाओं से निश्चय ही भारतीय इतिहासकारों और इससे भी ज्यादा समाजशास्त्रियों और राजनीति-विज्ञानियों का ध्यान भारत की भूमि-व्यवस्था के ढांचे के अध्ययन की ओर जाएगा—जबकि यह कार्य अभी तक केवल कृषि अर्थशास्त्रियों के अध्ययन का विषय रहा है। राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष की विरासत के रूप में हमें एक लोकतांत्रिक राजनीतिक ढांचा मिलता है जिसका आधार तब तक मजबूत नहीं हो सकता जब तक भूमि-व्यवस्था में से अधिनायकवाद को निर्मूल नहीं किया जाता ताकि उदीयमान शहरी तानाशाही शक्तियों को ग्रामीण क्षेत्र के धनिक वर्ग का समर्थन न मिल सके। डॉ. मूर के अध्ययन की समसामयिकता इस तथ्य से प्रकट होती है कि भारत में फासीवाद के समर्थकों को, हाल के वर्षों में उत्तरी भारत के उच्च वर्गों और ग्रामीण समाज के उच्च स्तरीय वर्गों का समर्थन मिला है।

डॉ. मूर ने समाजशास्त्र को रीतिशास्त्रीय सीमाओं और क्षुद्र धारणाओं की जड़ता से मुक्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया और उसे फिर से वह महानता प्रदान की है जिसके अंतर्गत सार्थक विषयों का विस्तृत विवेचन किया जाता है और केवल ऐसे विषयों पर चर्चा नहीं की जाती जिनसे शैक्षिक क्षेत्र में केवल तात्कालिक उत्सुकता जागृत हो अथवा तात्कालिक ख्याति मिलती हो, भले ही शैक्षिक पद लंबे काल के लिए मिल जाता हो। उन्होंने सांस्कृतिक व्याख्याओं की भूमिका के महत्त्व को ठीक ही कम आंका है और सामाजिक वर्गों और स्तरों की भूमिका के महत्त्व पर ठीक जोर दिया है। वे यह नहीं मानते कि सामाजिक परिवर्तन एक असाधारण घटना है और उन्होंने समाजशास्त्रियों से भी यह अपेक्षा की है कि वे यथास्थिति और स्थायित्व की, और उनको कायम रखने वाली तथा उनसे लाभान्वित होने वाली सामाजिक शक्तियों की व्याख्या करें।

उन्होंने इस विचार को अस्वीकार किया है कि सभी प्रतिक्रियावादी विचार विगत के अवशेष हैं और उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की है कि हाल ही के बीते हुए समय और वर्तमान काल में उनका जो सामाजिक आधार रहा है उसकी समीक्षा की जाए। उन्होंने क्रांतिकारी हिंसा की ऐतिहासिक भूमिका के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है और यह भी उल्लेख किया है कि उदारवाद की कितनी ऐतिहासिक कीमत चुकानी होती है और एक अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का दिन-प्रतिदिन कार्यकाल कहां तक और कितनी हिंसा पर आधारित है।

लेकिन पूर्व-धारणाएं इतनी आसानी से नहीं त्यागी जातीं—विशेषकर जब उनका

संबंध किसी समाज की आधारभूत समस्याओं से होता है और जिनमें ऐसे वैचारिक परंपराएं भी अंतर्ग्रस्त होती हैं जिनकी जड़ें मजबूत हों। हर प्रकार का क्रांतिकारी संबंध-विच्छेद (विशेषकर वैचारिक परंपराओं से) बहुत कठिन कार्य होता है। लेकिन, डॉ. मूर के शब्दों में, वैचारिक जगत में भी, क्रांति न करने की भारी कीमत चुकानी होती है। अतः इस दिशा में किए गए किसी भी प्रयास का हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिए।

अनुक्रमणिका